हिन्दी गद्य-साहित्य में राजनीतिक तत्त्व

(१८५०-१९५०)

(प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिए प्रस्तुत)

●

शोध-प्रबन्ध

●

प्रस्तुतकर्त्री
कु० मंजु वहाल
एम० ए०

●

निर्देशक
डा० शैल कुमारी
रीडर, हिन्दी विभाग

●

हिन्दी विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय
प्रयाग

दिसम्बर, १९७१ ई०

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोधग्रन्थ का विषय साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के साथ ही पराधीन भारत के सौ वर्षों के इतिहास को अपने में समेट लेता है और ब्रिटिश भारत का राजनीतिक विश्लेषण करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यह चिन्तन को नई दिशा प्रदान करता है और तथ्या-तथ्य निरूपण में विशेषरूप से सहायक है, क्योंकि ब्रिटिश भारत के इतिहास के जिन कटुतिक्त पक्षों पर इतिहासकार मौन रहे हैं, उनकी अभिव्यक्ति भी तत्कालीन हिन्दी गद्य साहित्य में की गई है। सामयिक राजनीतिक परिस्थितियों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से ही सम्भवतः गद्य की विधा निबंध का उद्भव और विकास हुआ। राजनीतिक सन्दर्भों ने निबंध को वर्ण्य-विषय प्रदान करके लेखक की चिर बहुमुखी अन्तश्चेतना को आन्दोलित किया, उसकी अभिव्यक्ति के लिए तीखी, चुटीली, पैनी और साथ ही सहज, रोचक, और ओजस्वी भाषा का जन्म हुआ। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि भाषा की चित्रात्मकता, सरलता और चुटीलापन, तेजस्विता आदि गुण राजनीतिक सन्दर्भों की ही देन हैं। राजनीतिक सन्दर्भों की अभिव्यक्ति से ही हास्य और व्यंग्य शैली की उद्भावना भी हुई।

ऐतिहासिक, राजनीतिक और साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के कारण ही मैंने प्रस्तुत विषय पर शोध कार्य करने का निश्चय किया। अपने शोध कार्य में राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति के स्वरूप का विश्लेषण करना ही मेरा मुख्य ध्येय रहा है। विषय अत्यधिक विस्तृत है, इसलिए मैंने उसकी सीमा का निर्धारण करने के हेतु गद्यकार साहित्य

(निबन्ध,लेख,सम्पादकीय एवं टिप्पणी आदि)की है। इसे अध्ययन का सीमा बनाया है। प्रश्न उठ सकता है कि क्या सामयिक पत्रिकाओं के सम्पादकीय आदि गम्भीर साहित्य के अन्तर्गत आते हैं अथवा साहित्य के शाश्वत मूल्यों की पूर्ति करते हैं। इस सम्बन्ध में विचारणीय यह है कि राजनीतिक सन्दर्भों से अनुप्राणित यह सामयिक साहित्य भी भाषा की समृद्धि, उसकी सशक्तता, रोचकता, ओजस्विता और चुटीलेपन के लिए जिम्मेदार है। उन्नीसवीं शताब्दी की भाषा की रचना भी इस सामयिक साहित्य की ही देन है और निबन्ध का विकास भी तो पत्रिकाओं के माध्यम से ही हुआ है। इसके साथ ही सामयिक राजनीतिक घटनाओं और गतिविधियों की अभिव्यक्ति का माध्यम प्रारम्भ में प्रायः सामयिक पत्रिकाएं ही होती हैं, क्योंकि यह पत्रिकाएं त्वरित गति से राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने में समर्थ हैं। यदि मैं सामयिक पत्रिकाओं के इस साहित्य को अपने अध्ययन में सम्मिलित न करती तो सम्भवतः राजनीतिक तत्व के व्यावहारिक पक्ष की अभिव्यक्ति बहुत कुछ अधूरी ही रह जाती। इसके साथ ही पत्रिकाओं का यह सामयिक साहित्य हिन्दी के माने जाने साहित्य-कारों द्वारा सृजित है, अतः उसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति नितान्त आकर्षक है।

अपने कार्यकाल में मुझे डा० शिवकुमारी जी का कुशल निर्देश और सहयोग समय-समय पर प्राप्त होता रहा, प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध उनके सतत् निर्देशन द्वारा प्रेषित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उनके प्रति शब्दों द्वारा कृतज्ञता ज्ञापन करना मात्र औपचारिकता सिद्ध होगी। विभागाध्यक्ष डा० [illegible] जी [illegible] के प्रति मैं अत्यन्त आभारी हूं, जिन्होंने मुझे शोध-कार्य में उचित दिशा प्रदान की है। सामग्री संकलन की दृष्टि से मुझे प्रयाग विश्वविद्यालय के पुस्तकालय, भारती भवन

पुस्तकालय, सम्मेलन संग्रहालय और राजकीय पुस्तकालय से विशेष सहायता और सहयोग प्राप्त हुआ है। मैं उपर्युक्त पुस्तकालयों के अधिकारियों और कर्मचारियों के प्रति हृदय से आभारी हूँ।

-0-

दिसम्बर, १९७९ ई०   (कु० मंजु सहाय)

विषय-सूची

विषय | पृष्ठसंख्या

विषय | पृष्ठसंख्या

भूमिका

साहित्य में राजनीतिक तत्व की परम्परा

(क) संस्कृत साहित्य में राजनीतिक तत्व की परम्परा ।

(ख) हिन्दी साहित्य में राजनीतिक तत्व की परम्परा ।

(ग) आधुनिक बोध और आधुनिक हिन्दी साहित्यकार की राजनीतिक चेतना ।

-0-

भूमिका

-0-

साहित्य में राजनीतिक तत्व की परम्परा

(क) संस्कृत साहित्य में राजनीतिक तत्व की परम्परा

मनोरम प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में स्वच्छन्द विचरण करने वाले संस्कृत के साहित्यकारों ने राजनीति को अपने साहित्य का एक अंग बनाकर अपनी राजनीतिक बुद्धिमत्ता, पाण्डित्य और दूरदर्शिता का भी परिचय दिया है। वैदिक और लौकिक संस्कृत के साहित्य में राजनीति का अविरल अजस्र स्रोत साहित्यकारों का जीवन के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण और युगीन राजनीतिक आदर्शों के प्रति आस्था व्यक्त करता है। संस्कृत के इस पुरातन साहित्य में जिन शाश्वत राजनीतिक सिद्धान्तों की स्थापना की गई है, वह आज भी अपनी व्यावहारिक उपादेयता के कारण राजन्य वर्ग का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। उदाहरण के लिए राजतंत्र के उस युग में भी प्रजासम्मत राज्य की कल्पना करके संस्कृत के साहित्यकारों ने जिन आदर्शों की स्थापना की, वह हमारी आज की प्रजातान्त्रिक शासन-पद्धति में भी हमारा मार्गदर्शन करने में समर्थ हैं। इसी प्रकार देशप्रेम, देशोन्नति और राष्ट्रीय भावना, जिसे हम आज विदेशी शासकों का प्रभाव समझते हैं, उसका मूल भी संस्कृत साहित्य में निहित है। एक प्रकार से स्वतन्त्र भारत के साहित्यिक-चिन्तन की पूर्ण अभिव्यक्ति संस्कृत साहित्य में हुई है। विश्वबन्धुत्व का सन्देशवाहक भारत सदैव से राष्ट्रीय एकता का प्रतीक रहा है। फलतः संस्कृत साहित्य में राष्ट्रमण्डल की भावना, एक राष्ट्र की कल्पना, राष्ट्र को जीवित इकाई मानने की बुद्धि पूर्ण रूप से पाई जाती है।

वैदिक साहित्य

सप्तसिन्धु प्रदेश के आदिवासी आर्यों ने सदैव ही इस शस्य-श्यामला भूमि को अपनी मातृभूमि समझकर उसके प्रति अपने उद्गार व्यक्त किए हैं। वैदिक आर्यों ने तो पृथ्वी को माता और आकाश को पिता के रूप में माना है। यही दोनों उनके प्राचीनतम देव रहे हैं। माता-पिता की यह युग्म कल्पना 'द्यौष्पितर' तथा 'पृथ्वी' के रूप में वेदों के मन्त्रों में उपलब्ध होती है।

द्यौर्मे पिता जनिता (ऋग्वेद १।१६४।३३)

द्यौः पिता जनिता (अथर्ववेद ६।१०।१२)

द्यौर्मे पिता पृथिवी मे माता (का ठसंहिता३७।१५।१५)

यं मे नाभिरिह मे सधस्थम् (ऋग्वेद १०।६१।१६)

अथर्ववेद का पृथ्वी सूक्त (अथर्व१२ कांड, १ सूक्त) वैदिक आर्यों के राष्ट्र-प्रेम का ज्वलन्त उदाहरण है। इस पूरे सूक्त में वर्णित पृथ्वी के साहित्यिक वर्णन से आर्यों का देश में अनुराग और देश-भक्ति के सरस भाव व्यक्त होते हैं। आथर्वण ऋषि ने पृथ्वी की महिमा का यह वर्णन तिरसठ मन्त्रों में करते हुए मातृरूपिणी भूमि को समस्त पार्थिव पदार्थों की जननी तथा पोषिका के रूप में उद्बोधित किया है तथा प्रजा को समस्त बुराइयों, क्लेशों तथा अनर्थों से बचाने तथा कुल की सम्पत्ति की वृद्धि करने के लिए प्रार्थना की है।

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।

इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।

सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥[१]

---

१ जिसे आश्विन ने नापा, जिसपर विष्णु ने अपने पाद-प्रक्षेपों की रक्षा, जिसे सामर्थ्य के स्वामी (शचीपति) इन्द्र ने अपने वास्ते शत्रुओं से रहित बनाया, वह भूमि मुझे उसी प्रकार दूध दे जिस प्रकार माँ अपने बेटे को दूध पिलाती है।'
--बलदेव उपाध्याय : 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', पृ० १२६

एक दूसरे मंत्र में ऋषि ने यह प्रार्थना की है कि जहाँ युद्ध के समय सैनिकों का गर्जन होता है तथा नगाड़ा बजता है, वह पृथ्वी हमारे सब शत्रुओं को भगा डाले, तथा हमारे शत्रुओं का नाश कर हमें शत्रु-विहीन कर दे--

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबा: ।
युद्धयन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभि: ।
सा नो भूमि: प्रणुदतां सपत्नान्
असपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ।।

(मन्त्र ४१)

इसी प्रकार ऋग्वेद के नदी सूक्त(१०।७५) में देश की पवित्र नदियों के प्रति जो अनुराग व्यक्त कियागया है, और ऋषियों ने अपनी कामना पूर्ति के लिए जो विनय की है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक आर्यों ने देश की इन पवित्र नदियों को निर्जीव न मान कर कल्याण करने वाली सजीव देवता माना है । कृषि प्रधान भारत की नदियों से कल्याण की कामना करना आर्यदेश की एकता तथा अखण्डता का परिचायक है ।

वेदों में देव-स्तुतियों के अतिरिक्त तत्कालीन दानशील उदार राजाओं की स्तुतियाँ भी मिलती हैं । ऋग्वेद में (५।६१) श्यावाश्व ऋषि ने अपने आश्रयदाता राजा तरन्त तथा उनकी विदुषी महिषी शशीयसी के दान की प्रशंसा की है । इसी प्रकार अथर्ववेद, राजा परीक्षित के राज्य-काल में अनुभूयमान सौख्य की विपुल प्रशंसा में कतिपय मन्त्रों का उल्लेख करता है[१] । विशेषत: ब्राह्मणों में प्राचीन यशस्वी राजाओं के विषय में अनेक ग्राह्य कथाएं भी उद्धृत की गई हैं, जिनमें प्राचीन ऐतिहासिक राजाओं के जीवन की किसी विशिष्ट घटना का साहित्यिक उल्लेख प्राप्त होता है । ऐतरेय ब्राह्मण के शुन:शेप तथा ऐन्द्रमहाभिषेक वाले अंशों में भी ऐसी मान्य गाथाएं उद्धृत की गई हैं ।

---

१ बलदेव उपाध्याय : 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' -- अथर्ववेद, काण्ड २० सूक्त १२७।

उत्तर-वैदिक युग में धर्म शास्त्रों में राज्य-व्यवस्था और कर-कानून की समुचित व्यवस्था का वर्णन किया गया है। इन ग्रंथों से विदित होता है कि राजा प्रजावत्सल होता था और उसके लिए चतुर्वर्ण एक समान होते थे। शासन-विधान का आधार श्रुतियां थीं और शासन-व्यवस्था प्रजा के हितार्थ थी। राजा और प्रजा के बीच भेद-भाव नहीं था। किन्तु दण्डनीति बड़ी असमान और पक्षपातपूर्ण होने के कारण शासन में वर्ण व्यवस्था थी। जहाँ शूद्र जातियों के लिए अंग-भंग जैसे कठोर विधानों की व्यवस्था थी, वहाँ ब्राह्मणों के लिए साधारण दण्ड का विधान था और कभी-कभी वे उससे भी मुक्त कर दिए जाते थे। दण्ड-व्यवस्था की यह असमानता उत्तरवर्ती धर्मशास्त्र विषयक स्मृति ग्रन्थों में नहीं दिखाई देती।

पुराण

पुराणों में भी राष्ट्र की एकता और देश-भक्ति के भाव व्यक्त किए गए हैं। प्रत्येक पुराण में भारतवर्ष को एक इकाई के रूप में मानकर उसके विभिन्न प्रान्तों, नदियों, पर्वतों, सरोवरों, तीर्थों, आश्रमों आदि का उल्लेख किया गया है। विष्णु पुराण तथा भागवत में देश-प्रेम तथा देश की अखण्डता का चित्रण बड़ी सुन्दरता से किया गया है। विष्णु पुराण तथा भागवत दोनों में ही मोक्ष की अपेक्षा कर्मभूमि भारत में जन्म लेना अधिक अच्छा माना गया है, क्योंकि यहाँ जन्म लेकर मनुष्य अपने कल्याण का सम्पादन करते हुए नारायण के अभयपद को सद्यः प्राप्त कर लेता है[1]।

धर्म में अगाध आस्था रखने वाले भारतीयों के दैनिक जीवन पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन दिनों के भारत में धार्मिक कृत्यों में भी राष्ट्रीय भावना पर्याप्त मात्रा में पाई जाती थी। संकल्प मन्त्र के उच्चार पर प्रत्येक उपासक अपने सामने अखण्ड भारत का भौगोलिक चित्र प्रस्तुत करता था। यह

---

1. गायन्ति देवा: किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे।
स्वर्गापवर्गास्पद मार्ग-भूते भवन्ति भूय: पुरुषा: सुरत्वात्॥(विष्णुपुराण २।३।२४)
कल्पायुषां स्थानजयात् पुनर्भवात् क्षणायुषां भारत भूजयो वरम्।
क्षणेन मर्त्येनकृतं मनस्विन: संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरे:॥(भाग० ५।१९।२३)

अपने स्नान या दान के वाक्य में देश, काल, कर्ता तथा कर्म इन चारों वस्तुओं का योग कर अपने-आपको बृहत्तर भारत का एक प्राणी बतलाकर गर्व का अनुभव करता है। वह जानता है कि जिस अविमुक्त क्षेत्र वाराणसी में वह भागीरथी में स्नान कर रहा है, वह जम्बू द्वीप के भरतखण्ड तथा भारतवर्ष के 'कुमारिका खण्ड' के अन्तर्गत विद्यमान होती है। भारतवर्ष को ही गुप्तकाल में 'कुमार द्वीप' की संज्ञा प्रदान की गई थी क्योंकि भारतवर्ष की लम्बाई दक्षिण में कन्याकुमारी से लेकर उत्तर में गंगा के उद्गम स्थान तक माना जाता था --

'आयामस्तु कुमारीतो गंगायाः प्रवहावधिः ।' (मत्स्य०११४।१०)

स्नान के समय जिस क्षण स्नानार्थी भारत की सप्त-सिन्धुओं से अपने जल में समावेश के लिए इस मंत्र में प्रार्थना करता है, उस समय उसके मानस-पटल पर भारतवर्ष के अखण्ड रूप का चित्र प्रस्तुत हो जाता है --

'गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।

नर्मदे सिंधु कावेरि जले स्मिन् सन्निधिं कुरु ।।

इसी प्रकार पूजा के समय उपयुक्त वस्त्र के विधान से स्पष्ट है कि भारत में खद्दर का प्रचार प्राचीन काल से था। पूजा के समय स्वदेशी वस्त्रों के पहनने पर विशेष बल दिया जाता था। इस प्रकार धर्म-शास्त्र में भारत की अखण्डता, स्वदेशी (खद्दर) वस्त्र का धारण तथा सप्त सिंधुओं का मांगलिक स्मरण इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि धार्मिक विधि-विधानों में भी राष्ट्रीय भावना का प्रचार था।

स्मृति

स्मृतियों में बहुत आधारों से बृहद् भारत की शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार किया गया है। स्मृतियों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत का संविधान बड़े अध्यवसाय और परीक्षण के बाद तैयार किया गया था। ब्राह्मण ग्रन्थ और सूत्र ग्रन्थ भी जिस राजधर्म की विस्तृत मीमांसा और व्यवस्था के सम्बन्ध में मौन थे, स्मृतियों ने उस पर भी प्रकाश डाला। 'मनुस्मृति'

में ही सर्वप्रथम राजधर्म एवं व्यवहार को अर्थशास्त्र से अलग कर धर्म की सीमाओं में बद्ध कर धर्मशास्त्र का उपजीवी बना दिया गया । सातवाहन युग के बाद गुप्तकाल में विरचित 'बृहस्पति स्मृति' और 'कात्यायन स्मृति' में हम राजधर्म (अर्थशास्त्र) की न्यूनता और धर्म की अधिकता पाते हैं ।

महाकाव्य

प्राचीन भारत में राजनीति धर्म का ही एक अंग था। इसलिए राजदरबारों से दूर रहने पर भी आदि कवि वाल्मीकि और महर्षि व्यास ने अपने महाकाव्य 'रामायण' और 'महाभारत' में क्रमशः अपने युग की राजनीतिक परिस्थितियों को चित्रित किया है । राम-राज्य की कल्पना आज भी भारतीय राजनीति में आदर्श मानी जाती है । वाल्मीकि सम्पूर्ण राष्ट्र के हितचिन्तक कवि थे । राष्ट्र का केन्द्र राजा है । अतः उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य राजाओं की प्रकृति में अन्तर दिखाते हुए यह स्पष्ट किया है कि भारतीय राजा स्वेच्छाचारी नरपति न होकर प्रजारंजक,प्रजा का हितचिन्तक और राष्ट्र का उन्नायक होता है ।इस प्रसंग में 'अराजक जनपद' की दुरवस्था का वर्णन वाल्मीकि की मनोवृत्तियों को समझने में सहायक होता है । अयोध्याकाण्ड के ६७ वें सर्ग का नाराजके जनपदे' वाला लोक-गायन भारतीय राजनीति के सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए महत्वपूर्ण है । राजा राष्ट्र का केन्द्र है और राष्ट्र,धर्म तथा सत्य का उद्भव स्थल है(अयोध्या काण्ड ६७। ३३,३४) । अतः उसके अभाव में राष्ट्र के हित और कल्याण की कल्पना भी नहीं की जा सकती ।

'नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः ।
शेरते विवृत द्वाराः कृषिगोरक्षा जीविनः ।।
(अयोध्याकाण्ड ६७।१८)

महर्षि व्यास विरचित 'महाभारत' राजनीतिक दृष्टि से एक गौरवपूर्ण ग्रन्थ है । इसमें राजनीति को धर्म-शास्त्र के अन्तर्गत रखा गया है । राजा और प्रजा के पृथक्-पृथक् कर्तव्यों तथा अधिकारों का समुचित वर्णन

इसकी महत्ता दिखलाता है । धर्म ही भारतीय संस्कृति का प्राण है । इसीलिए व्यास जी ने अधर्म से देश का नाश तथा धर्म से राष्ट्र के अभ्युत्थान की बात बड़ी ही सुन्दर आख्यानों के द्वारा बतलाई है । धर्म की व्यवस्था एवं संचालन के लिए राजा ही उत्तरदायी है । वह प्रजा का पालन नहीं करता, तो प्रजा में अराजकता के फैलने से वेदत्रयी के अस्तित्व का लोप हो जायगा और विश्व को धारण करने वाला धर्म भी रसातल में चला जायगा ।

राजमूलो महाप्राज्ञ । धर्मो लोकस्य लक्ष्यते ।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम् ।
मज्जेद् धर्मः त्रयी न स्याद्यदि राजा न पालयेत् ।।
(शान्ति० ६८ अ०)

राजधर्म के बिगड़ने पर समाज तथा राष्ट्र का सर्वनाश हो जाता है । राजनीतिक नेता के लिए महाभारतकार ने जो आदर्श उपस्थित किए हैं, वह आज भी उतने ही सुन्दर रूप में अनुकरणीय और ग्राह्य है । व्यास जी का आग्रह है कि भारत जैसे कृषि प्रधान देश में जो नेता स्वयं अपने हाथों से कृषि नहीं करता, खेत नहीं जोतता- बोता, उसे नेता बनकर राष्ट्र की संसमिति में जाने का कोई अधिकार नहीं । --

न नः स समितिं गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत् कृषिम् ।[1]

जनता के व्यक्ति की भावना का मूल रूप महाभारत के राजनीतिक नेता के आदर्शों में मिलता है । व्यास जी ने भारतीय राजाओं को प्रजातन्त्र युग के अधिनायकों के दुर्गुणों से मुक्त और स्वेच्छाचारी राजाओं के दोषों से विहीन प्रजा का हितचिन्तक तथा मंगलकारक माना है । राजा को राष्ट्र का केन्द्र मानने पर भी जनमत की अवहेलना वह नहीं कर सके । महाभारत की मूल कथा कौरव-पाण्डव युद्ध से सम्बन्धित है । इसलिए कवि ने अपने युग की उन्नत युद्ध-कला

---

१ उद्योगपर्व ३६।३१

के वर्णन द्वारा भारतीयों की सैनिक वृत्तियों को स्पष्ट करते हुए भारतीय जन-समाज की वीरता और शौर्य का जीता-जागता चित्र खींचा है। द्रौपदी के स्वयंवर में सीता-स्वयम्वर के समान केवल एक धनुष को तोड़ देना ही वीरत्व का मापदण्ड नहीं है, प्रत्युत एक विशिष्ट प्रकार से लक्ष्य-भेद करना वीरता की कसौटी है। लंका युद्ध में योद्धागण परस्पर पत्थरों और वृक्षों से प्रहार करते हैं, परन्तु महाभारत युद्ध में सैनिक विशिष्ट सेनापति की देख-रेख में युद्ध करते हैं। व्यूह-रचना इस युद्ध की महती विशेषता है, जिसमें अल्पसंख्यक सैनिक बहु-संख्यक सेना के आक्रमण को रोकने में समर्थ होते हैं।

संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में राजनीतिक-तत्त्वों के विश्लेषण की दृष्टि से रामायण और महाभारत के पश्चात् कालिदास का 'रघुवंश' और 'कुमारसम्भव', भारवि का 'किरातार्जुनीय', भट्टि का भट्टि काव्य या 'रावणवध', कुमारदास का 'जानकी-हरण', माघ का 'शिशुपालवध' और कल्हण की 'राजतरंगिणी' महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

महाकवि कालिदास ने अपने 'रघुवंश' महाकाव्य में रघुवंशी राजाओं का वर्णन किया है। प्रथम सर्ग में राजा दिलीप के गुणों का वर्णन करते हुए महाकवि ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि दिलीप प्रजापालक, नीति-निपुण तथा योग्य राजा था। उसके राज्य में कर (मालगुजारी) भी प्रजा के कल्याण के निमित्त ही था।

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥१८॥

उसकी सेना केवल ठाट-बाट ही के लिए थी (श्लोक १९)। कोषशालता तो मानो उसमें कूट-कूट कर भरी थी। शत्रुओं की बात जान लेने पर भी वह चुप ही रहता था (श्लोक२२)।

तृतीय सर्ग में कवि ने दिलीप के पुत्र रघु की वीरता का वर्णन करते हुए भारतीय राजाओं की युद्धप्रियता की ओर लक्ष्य किया है।

गिना दिलीप के १०० वें अश्वमेध यज्ञ में इन्द्र के द्वारा बाधा डाले जाने पर घोड़े के रक्षार्थ वीर रघु ने इन्द्र से युद्ध कर इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है कि भारतीय राजा ईश्वर से भी युद्ध करने में समर्थ हैं । चतुर्थ सर्ग में रघु की धर्मनीति का वर्णन किया गया है और अष्टम सर्ग में रघु-पुत्र अज का वर्णन करते हुए महाकवि ने भारतीय राजाओं की परोपकार वृत्ति का निदर्शन किया है । रघुवंशी अज का धन ही दूसरों के उपकार के लिए न था, प्रत्युत उसके समस्त सद्गुण दूसरों के कल्याणार्थ थे । उसका बल पीड़ितों के भय तथा दुःख का निवारण करता था तथा उसका शास्त्र-अध्ययन विद्वानों के आदर-सत्कार में लगाया गया था --

बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां सत्कृतये बहुश्रुतम् ।
वसु तस्य विभोर्न केवलं गुणवत्तापि परप्रयोजना ।।[1]

राजा की सार्थकता प्रजा-पालन से है । 'राजा प्रकृतिरञ्जनात्' -- हमारी राजनीति का आदर्श वाक्य है । साथ-ही-साथ प्रजा का कर्तव्य भी राजा की भक्ति और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा करना है । तेजस्वी रघु का त्याग,वीरता तथा उदारता भारतीय-नरेशों का आदर्श रहा है । रघुवंशी प्रजावत्सल तथा दिलीप,रघु,अज आदि की विशेषताओं को बतलाने के साथ ही भारतीय आदर्श के विपरीत कामुक और पतित अग्निवर्ण का चित्रण कर कालिदास ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उस युग में भी कुछ इने-गिने ऐसे राजा हो गए हैं,जिन्होंने वसुन्धरा का भोग तो किया किन्तु प्रजापालन और राज्य कार्य के निरीक्षण से विमुख रहे । अग्निवर्ण इस प्रकार के अधःपतित नरेशों का प्रतिनिधि था । राजभक्त प्रजा प्रातःकाल अपने राजा का मुख देखकर 'सुप्रभात' मनाने आती थी । किन्तु वह तो दिन-रात अन्तःपुर में ही विहार करता रहता था । मन्त्रियों के आग्रह से अग्निवर्ण यदि कभी अपनी प्रजा को दर्शन देता भी था तो खिड़की से लटका कर केवल पैर भर । प्रजा राजा का मुख देखने आती थी,किन्तु

---

१ रघुवंश ८।३

पैर का दर्शन पाकर लौटती थी --

> गौरवाद्यदपि जातु मंत्रिणां दर्शनं प्रकृतिकांक्षितं ददौ ।
> तद्गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन कल्पितम् ॥[1]

पार्थिव भोग-विलास के दास अग्निवर्ण के कुकृत्यों का परिणाम देश और राष्ट्र के विनाश के रूप में सामने आता है । उसके दुश्चरित्र का कुफल कवि ने बड़े ही प्रभाव-शाली शब्दों में व्यक्त किया है । राष्ट्र-मंगल के भाव व्यक्त करते हुए कवि ने कहा कि -- "राजा प्रजाओं के उपकार में लगें, वेद की पवित्र वाणी का महत्त्व बढ़े, और स्वयंभूत शिव युक्त भगवान् नीलकण्ठ हमें मुक्त करें --

> प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिव:
> सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम् ।
> ममापि च क्षपयतु नीललोहित:
> पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभू: ॥[2]

कालिदास ने देशोन्नति, देश-प्रेम और राष्ट्र-मंगल का जो सन्देश दिया, उस पर अमल कर आज दो हजार वर्षों के अनन्तर भी हम स्वराष्ट्र, स्वदेश और स्वधर्म की अभ्युन्नति में दत्तचित्त रह सकते हैं । उन्होंने आ-ध्यात्मिक एकता के माध्यम से राष्ट्रीय एकता को चिरस्थायी बनाने का प्रयास किया है । शिव की अष्टमूर्तियों की स्तुति कर उनके माध्यम से कवि ने अखण्डित भारत की कल्पना की है । अभिज्ञानशाकुन्तल तथा मालविकाग्निमित्र की नान्दी

---

१ रघुवंश १९।७

२ बलदेव उपाध्याय : 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', पृ० १८८

तथा कुमारसम्भव में शिव की अष्टमूर्तियों की उपासना में राष्ट्रीय एकता के लिए आग्रह देखा जा सकता है[1]। अतः इन अष्टमूर्तियों के कर्ता शंकर की स्तुति कालिदास के हृदय में कल्पित अविभाज्य भारत की कल्पना का मूर्त रूप है।

कवि भारवि ने अपने महाकाव्य 'किरातार्जुनीय' की कथावस्तु महाभारत के वनपर्व से लेकर उसमें राजनीति का प्रदर्शन करते हुए साम, दाम, दण्ड और भेद का बहुत गम्भीरता से चित्रण किया है। भारवि ने प्रथम सर्ग में द्रौपदी और द्वितीय सर्ग में भीमसेन के मुख से ओजस्वितापूर्ण एवं उग्र द्वितीय सर्ग में युधिष्ठिर के मुख से अतिशय शान्तिपूर्ण राजनीति का प्रसंग उपस्थित किया है। द्वितीय सर्ग में भीमसेन और युधिष्ठिर का सम्वाद राजनीति के गूढ़तत्वों से भरा हुआ है। कवि ने इस सम्वाद के माध्यम से इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है कि जो राजन्य वर्ग अनुत्साहपूर्वक, शत्रुओं की क्रमशः वृद्धि और राजकीय शक्तियों की उपेक्षा करते हैं, राज्यश्री शीघ्र ही मानो लोकापवाद के भय से उनसे अलग हो जाती है --

अनुपालयतामुदेष्यतीं प्रभुशक्तिं द्विषतामनीहया ।
अपयान्त्यचिरान्महीभुजां जननिर्वादभयादिव श्रियः ।।[2]

इसके विपरीत यदि राजा दुर्बल होने पर भी उत्साही हो तो जनता उसका स्वागत करती है और वह विजयी होता है--

---

१(क) या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री ये द्वे कालं
विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।
यामाहुः सर्वबीज प्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः ।
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ।।
(अभिज्ञान शाकुन्तल-- नान्दी)

(ख) अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः । (मालविकाग्निमित्र--नान्दी)

(ग) कालिताव्योन्यथामथ्यैः पृथिव्यादिभिरात्मभिः ।
येनेदं ध्रियते विश्वं धुर्यैयानमिवाध्वनि ।। (कुमारसम्भव--६।७६)

२ किराता०- द्वितीय सर्ग, श्लोक १० ।

ओ'ययुक्तमपि स्वभावजं दधतं धाम शिवं समृद्धये ।
प्रणमन्त्यनपायमुत्थितं प्रतिपच्चन्द्रमिव प्रजानृपम्[1]।।

राजा के व्यवहार के सम्बन्ध में कवि ने द्वितीय सर्ग के श्लोक संख्या ३८,४६,५१ और ५३ में क्रमश: यह स्पष्ट कर दिया है कि जो राजा यथा समय और यथावसर कोमलता और क्रूरता दोनों का व्यवहार करता है, वही सूर्य के समान समस्त विश्व पर अपना आधिपत्य बनाये रखता है[2]। किन्तु उद्दण्ड नरपति के अहं और अज्ञानता के कारण नीति-पथ से विमुख होने पर प्रजा भी उससे अलग हो जाती है[3]। अन्तरंग अमात्यादिकों के क्रोध से प्रादुर्भूत अल्पमात्र भी विरोध राजा का नाश कर देता है[4] और शत्रु के दुर्व्यवहार से मित्रादि प्रजावर्ग और अन्तरंग मंत्रिवर्ग में भेद उत्पन्न होने पर समीपवर्ती राष्ट्र उस पर आक्रमण कर विजयी बन जाता है[5]।

द्वितीय सर्ग के अतिरिक्त अन्य सर्गों में भी राजनीति के ऊंचे सिद्धान्त यथास्थान मिलते हैं। पन्द्रहवें और सोलहवें सर्ग में अर्जुन और शिव के भीषण युद्ध का चित्रण कर महाकवि ने यह स्पष्ट कर दिया है कि कर्मभूमि भारत

---

१ किरात० सर्ग२,श्लोक ११

२ समवृत्तिरुपैति मार्दवं समये यश्च तनोति तिग्मताम् ।
अधितिष्ठति लोकमोजसा स विवस्वानिव मेदिनीपतिः ।।
(किरात० द्वितीय सर्ग,श्लोक ३८)

३ मदमानसमुद्धतं नृपं न वियुङ्क्ते नियमेन मूढता ।
अतिमूढ उदस्यते नयान्नयहीनादपरज्यते जनः ।।
(किरातार्जुनीय-- द्वितीय सर्ग,श्लोक ४६)

४ अणुरप्युपहन्ति विग्रहः प्रभुमन्तः प्रकृति प्रकोपजः ।
अखिलं हि हिनस्ति भूधरं तरुशाखाऽन्तनिघर्षजोऽनलः ।।
(किरातार्जुनीय २।५१)

५ लघुवृत्तितया भिदां गतं बहिरन्तश्च नृपस्य मण्डलम् ।

के निवासी सामान्य मानव से ही नहीं, वरन् देवताओं से युद्ध कर विजय-लाभ करने में भी समर्थ हुए हैं। अर्जुन और शिव का युद्ध भारतीयों के शौर्य का प्रमाण है। महाकवि भारवि का राजनीति का ज्ञान उनके व्यावहारिक कार्यों के अवलोकन का ही परिणाम प्रतीत होता है। क्योंकि राजनीति के तत्वों का तथा राजदूतों का जितना सजीव वर्णन किरात में मिलता है वह केवल कवि कल्पना नहीं हो सकता है वह तो आँखों से देखा हुआ स्वानुभूत यथार्थ वर्णन ही प्रतीत होता है।

कविवर भट्टि ने अपने 'भट्टि काव्य' या 'रावण वध' काव्य में भारतीय नरेशों के सम्वादों के माध्यम से अपने राजनीतिक सिद्धान्तों को व्यक्त न करके लंकाधिपति रावण के कनिष्ठ भ्राता विभीषण के भाषण के माध्यम से अपने राजनीतिक ज्ञान का परिचय दिया है। कुमारदास ने भी 'जानकीहरण' में अपने राजनीतिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए रामायण की प्रसिद्ध कथा का ही आधार लिया है। दशम सर्ग में राजा दशरथ ने एक लम्बी वक्तृता के द्वारा राजनीति के सिद्धान्तों को व्यक्त किया है। रामचन्द्र जी का यौवराज्याभिषेक सर्व सम्मति से किया जाना जनमत के आदर का परिचायक है। त्रयोदश सर्ग में वानर सेना एकत्र की जाती है और चतुर्दश सर्ग में वानर लोग समुद्र के ऊपर सेतु बनाते हैं। कवि ने यहाँ सेना के समुद्र पार जाने का चमत्कारी वर्णन किया है। पन्द्रहवें सर्ग में अंगद जी रावण की सभा में दूत बनकर जाते हैं। सत्रहवें से लेकर बीसवें सर्ग तक संग्राम का वर्णन होता है और अन्त में रामचन्द्र जी रावण पर विजय प्राप्त करते हैं।

माघ ने अपने शिशुपालवध में राम-कथा की परम्परा से हटकर कृष्ण द्वारा शिशुपाल के वध की कथा को वर्णित किया है। माघ राजनीति के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने अपने राजनीतिक आदर्शों को अपने महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में उद्धव और बलराम के मुख से व्यक्त करवाया है। बलराम के ओजस्वितापूर्ण कथन और उद्धव के शान्तिपूर्ण कथनों में राजनीति का सुविचार दर्शायी गई है। द्वितीय सर्ग के दसवें श्लोक में स्वयं कृष्ण ने इस भाव को व्यक्त किया है कि शत्रु की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि बढ़ने वाले शत्रु रोग के समान ही घातक

हैं । इसी प्रकार श्लोक संख्या तीन में बलराम ने भी कहा है कि अपनी उन्नति और शत्रु की हानि करना ही राजनीति है । तत्पश्चात् श्लोक संख्या ३६ में शत्रु और मित्र की व्याख्या करते हुए प्राकृत और कृत्रिम शत्रु की पहिचान बताई है । बलराम जी ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि युद्ध काल में शत्रु की सेना को घेर कर उसकी रसद आदि पहुँचने में भी बाधा पहुँचानी चाहिए (श्लोक ६४) । इसके उपरान्त उद्धव जी ने विजयाभिलाषी राजा के लिए बुद्धि और उत्साह दोनों को बनाए रखने पर बल दिया है (श्लोक ७६) । क्योंकि सर्वाधिक तेजस्वी राजा ही सार्वभौम सम्राट होता है । अतएव तेजोवृद्धि का प्रयत्न करना चाहिए (श्लोक ६२) । कवि ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि गुप्तचर राज्य की व्यवस्था के लिए आवश्यक है । राजा के नीतिवान होने पर भी गुप्तचरों की नियुक्ति के बिना राजनीति शोभित नहीं होती । पंचम सर्ग में कवि ने कृष्ण भगवान् के सेनानिवेश का विस्तृत वर्णन किया है । त्रयोदश सर्ग में महाराज युधिष्ठिर की राजसभा और चतुर्दश सर्ग में राजसूय यज्ञ का वर्णन है । सोलहवें सर्ग में श्लोक संख्या २-१५ कवि ने शिशुपाल के दूत की वाक्-कुशलता का वर्णन किया है । उन्नीसवें और बीसवें सर्ग में श्रीकृष्ण भगवान् और शिशुपाल के युद्ध का वर्णन है । स्पष्ट है कि कवि का उद्देश्य प्रस्तुत महाकाव्य में शिशुपाल तथा यादव-पाण्डवों के रोमांचकारी युद्ध का वर्णन करना है ।

शिशुपालवध में अलंकारशास्त्र के नियमों के सहारे राजनीति के गूढ़ तत्वों को समझाया गया है । राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति की यह पद्धति माघ के राजनीतिक पाण्डित्य की परिचायक है । ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने कौटिल्य के अर्थशास्त्र का गहन अध्ययन किया होगा और राज-परिवारों से भी उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा । युधिष्ठिर, भीम, उद्धव आदि अनेक पात्रों के मुख से निकले कथनों को पढ़कर यह विश्वास होता है कि नीति और अर्थ का ज्ञाता कोई राज्यमंत्री ही राजनीति की इतनी बारीकियों को जान सकता है । माघ की इस राजनीतिक बुद्धि का परिचय शिशुपालवध के २, ५, १६ और २०वें सर्ग में देखने को मिलता है । सम्राट के असाधारण गुणों का वर्णन करते हुए माघ

ने लिखा है कि "बुद्धि ही जिसका शास्त्र है, स्वामी, अमात्य आदि प्रकृतियां ही जिसके अंग हैं, गुप्तचर ही जिसके नेत्र हैं और दूत ही जिसका मुख है, ऐसा पृथ्वीपति विरला ही देखने को मिलता है।"

'बुद्धिशस्त्रः प्रकृत्यंगो घनसंवृतिकञ्चुकः ।
चारेक्षणो दूत मुखः पुरुषः कोऽपि पार्थिवः ॥'[2]

इसी प्रकार उन्नतिशील विजिगीषु (विजय की इच्छा रखने वाले) राजा के सम्बन्ध में कहा है कि 'विजिगीषु राजा बारह प्रकार के राजाओं में अकेला रहने पर भी बारहों आदित्यों के मध्य में सूर्य की भांति, अपनी प्रतिष्ठा को न छोड़ते हुए अपनी उन्नति में निरन्तर चेष्टावान् बना रहता है--

'उदेतुमत्यजन्नीहां राजसु द्वादशस्वपि ।
जिगीषुरेको दिनकृदादित्येष्विव कल्पते ॥'[2]

इस प्रकार राजनीति एवं शासन सम्बन्धी अनेक वर्णन शिशुपालवध में देखने को मिलते हैं, जिनसे माघ की तत्विषयक अभिज्ञता का पता चलता है।

कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी की रचना सुस्सल के पुत्र राजा जयसिंह के राज्यकाल(११२७-११५०ई०) में की थी। यह काश्मीर के राजनीतिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक विवरण, सामाजिक व्यवस्था, साहित्यिक समृद्धि तथा आर्थिक दशा जानने के लिए एक विश्वकोष है। महाकवि ने तत्कालीन राजनीतिक संघर्ष तथा परिवर्तन के युग में अपने को अधिकार पद से वंचित कर राज-दरबारों की गाथा निबद्ध करने में ही निमग्न किया है। इसलिए वह घटनाओं का निष्पक्ष दृष्टि से अवलोकन कर सके हैं। पक्षपात और संकीर्ण जातीयता से उन्मुक्त

---

१ शिशुपालवध(२।८२,पृ०८८)

२ ,, (२।८१,पृ०८७)

कवि ने स्वयं काश्मीरी होने पर भी काश्मीरियों की भीरुता तथा मिथ्या भाषण, संग्राम से पलायन वृत्ति, परस्पर कलह, तथा विद्रोह, पक्षपात तथा दुराग्रह, संघर्ष तथा संग्राम, कुटिलता तथा हृदय दौर्बल्य का सविस्तार वर्णन किया है। ब्राह्मणों के दोषों को बतलाने तथा निकालने में भी वह पराङ्मुख नहीं होता। वह काश्मीरी सैनिकों की भीरुता तथा दगाबाजी की निन्दा करता है, परन्तु अन्य प्रान्तीय राजपूत सिपाहियों की वीरता की प्रशंसा करने में वह सदा अग्रसर है। राजतरंगिणी राजाओं के उथल-पुथल का इतिहास होने के साथ ही उदात्त मानवीय भावनाओं को अंकित करने का एक श्लाघनीय प्रयत्न है। हरिजनों के साथ बर्ताव, राजनीतिक उद्देश्य से उपवास करना आदि अनेक घटनाएं वर्तमान युग की राजनीतिक समस्याओं के सुलझाने की दिशा की ओर पूर्ण संकेत करती है।

गीतिकाव्य

गीतिकाव्य के क्षेत्र में हाल, क्षेमेन्द्र और दामोदर गुप्त ने सर्वप्रथम राजनीति को अपना वर्ण्य विषय बनाया। हाल ने गाथा सप्तशती में सामान्य लोक-जीवन का चित्रण किया है। संस्कृत के कवि माननीय राजाओं की छत्रछाया में काव्य-रचना करने पर भी जनता के सुख-दुःख राग-द्वेष का निरीक्षण परीक्षण करके उसे अपने साहित्य का विषय बनाते थे। कवि क्षेमेन्द्र ने अपनी आंखों से महाराज अनन्तदेव से ग्यारह शतक पूर्व के काश्मीर की जनता की दुरवस्था देखी थी और उनका करुण क्रन्दन सुना था। अतः उन्होंने अपनी कविता के माध्यम से तीव्र हास्य और व्यंग्य मिश्रित मार्मिक उपदेश दिये हैं। कवि ने अपने हास्योपदेशक काव्य देशोपदेश और नर्ममाला में अपनी अनुभूति के आधार पर काश्मीर के शासक वर्ग तथा समाज का रोचक और प्रभावोत्पादक व्यंग्य-चित्र खींचा है। नर्म-माला के तीन परिच्छेदों में कायस्थ तथा नियोगी आदि अधिकारियों के कुत्सित कार्यों का वर्णन किया गया है। कायस्थों के काले कारनामे, दुष्टों की नाना

प्रकार से नाचना, रिश्वत लेना (उत्कोच), जालसाजी करना (कूटलेख) आदि का वर्णन बड़ा ही सजीव, रोचक और तथ्यपूर्ण है । इसी प्रकार गृहकृत्याधिपति (गृहमंत्री), परिपालक (गवर्नर), चाक्रिक (खुफिया पुलिस), लेखकोपाध्याय (हिसाब-किताब करने वाला), गन्जदिविर (अर्थ मंत्री) ग्रामदिविर (पटवारी) गुरु, वैद्य तथा अन्य पात्रों का चित्र भी बहुत ही स्वाभाविक है । स्वार्थ तथा मद के प्रभाव से कायस्थ समाज का कितना अहित करके, अपने स्वार्थ की पूर्ति करता है, इस विषय को चमत्कारिक ढंग से निम्नपद में कवि ने व्यक्त किया है --

'अहो भगवती कायी-परिविलिप्ता मही ।
अहो प्रबलमान कोऽपि कल्प: कमलाश्रय: ।। (२।६६)

क्षेमेन्द्र के ग्रन्थों के अवलोकन से यह सिद्ध हो जाता है कि उन्होंने तत्कालीन समाज और धर्म का गहन अध्ययन किया था । दामोदर गुप्त ने भी अपने कुट्टनी मत में राजाओं के चारित्रिक पतन का ही वर्णन किया है ।

संस्कृत काव्य साहित्य इस बात का प्रमाण है कि अनेक संस्कृत कवियों ने राजाओं की छत्र-छाया में रहने पर भी केवल उनके प्रशस्ति-गान ही नहीं गाए वरन् उनकी त्रुटियों का अवलोकन कर आगे आने वाले राजाओं का पथ-प्रदर्शन भी किया । संस्कृत कवियों के विस्तृत दृष्टिकोण और विशाल हृदय ने उन्हें किसी वर्ग-विशेष तक ही सीमित नहीं रखा, वरन् उन्होंने लोक-जीवन को भी अपने काव्य का विषय बनाकर अपने युग का एक ऐसा जीता-जागता चित्र खींचा दिया जो आज भी जनता और राजन्य वर्ग दोनों के लिए विभिन्न परिस्थितियों में सहायक सिद्ध होता है । उल्लेखनीय यह है कि संस्कृत के साहित्यकार अपने विस्तृत दृष्टिकोण के कारण लोक-जीवन की ओर अधिक आकर्षित तो हुए, किन्तु राजाओं की छत्र-छाया ने उन्हें अपने आश्रय दाताओं की प्रशंसा से विमुख होने का अवसर नहीं दिया । सामयिक परिस्थितियों को देखते हुए यह उचित भी था ।

नाटक

नाटक के क्षेत्र में राजनीति के सिद्धान्तों का समावेश करके संस्कृत के साहित्यकारों ने प्राचीन भारतीय राजनीति को स्थायित्व प्रदान किया नाटक दृश्यकाव्य है, अतः समय-समय पर जन-समाज के मध्य इन नाटकों के अभिनय ने सामान्य जनता को राजनीति की गतिविधियों को समझने का अवसर प्रदान किया । इन ग्रन्थों में वर्णित राजनीति प्राचीन होने पर भी हमारी वर्तमान राजनीतिक समस्याओं को समझने और उसका समाधान खोजने में सहायक सिद्ध होती है । इसी से भारतीय राजनीति की प्रौढ़ता सिद्ध हो जाती है । नाटक के क्षेत्र में राजनीतिक तत्त्व का विश्लेषण करने वाले प्रमुख नाटककार भास, विशाखदत्त और शूद्रक हैं ।

भास : -- भास ने प्रतिज्ञा यौगन्धरायण और स्वप्न वासवदत्ता की रचना करके संस्कृत नाटकों के क्षेत्र में राजनीति की कूटनीतिक चालों को व्यक्त किया है । भास का 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' कूटनीति के स्तम्भ पर आश्रित महनीय नाट्य प्रासाद है, जिसमें उदयन के मंत्री यौगन्धरायण की दृढ़ प्रतिज्ञा और कुटिल नीति का प्रदर्शन किया गया है । कौशाम्बी नरेश उदयन को जब उज्जयिनी के महाराज महासेन ने कृत्रिम हाथी के छल से पकड़ लिया तब मंत्री यौगन्धरायण ने अपनी कूटनीति के द्वारा न केवल राजा को बंधन मुक्त करवाया, वरन् वासवदत्ता का भी कपट से हरण करवाया भास राजमहलों के शाही जीवन से पूर्णतया परिचित थे । इसीलिए उन्होंने अपने प्रसिद्ध नाटक 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' का केन्द्र अन्तःपुर के विलासमय जीवन को ही बनाया । राजनीति के छोटे-छोटे दांव-पेंच नाटक में यत्र-तत्र दृष्टिगत होते हैं, किन्तु उनसे किसी साम्राज्य की राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण नहीं होता ।

स्वप्नवासवदत्ता में (जो वास्तव में यौगन्धरायण का ही उत्तरार्द्ध है) नाटककार ने कुशल मंत्री की दूरदर्शिता और नीति-कुशलता का स्पष्ट निदर्शन किया है । राजा प्रद्योत के महल से वासवदत्ता का हरण करने के पश्चात् महाराज उदयन कामातुर होकर राज्यकार्य से विमुख हो जाते हैं । परिणामस्वरूप

आरुणि को आक्रमण करने का अवसर मिलता है । कर्तव्यपरायण मंत्री शत्रु को पराजित करने के लिए मगध-नरेश दर्शक की सहायता आवश्यक समझता है । अतः वह वासवदत्ता के आग में जल जाने की झूठी खबर फैलाकर उसे दर्शक की भगिनी पद्मावती के पास वेश बदलकर रख जाता है । जब वत्सराज का विवाह पद्मावती से हो जाता है और वह विजयी भी हो जाता है, तब वासवदत्ता उदयन के सामने लाई जाती है और दोनों का पुनर्मिलन होता है । स्वप्न-वासवदत्ता के अन्त में भास ने भरतवाक्य में ईश्वर से प्रार्थना की है कि उनका राजा हिमालय से विन्ध्याचल के बीच एकछत्र राज्य करे । उनकी यह प्रार्थना उनके ऊँचे राष्ट्रीय विचारों का द्योतक है ।

इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम् ।[1]
महीमेकातपत्राङ्कां राजसिंहः प्रशास्तु नः ।।

(हमारे राजसिंह अर्थात् राजाओं में श्रेष्ठ उदयन समुद्र तक विस्तृत हिमालय और विन्ध्याचल रूपी दो कर्ण कुण्डलों से युक्त एक छत्र से चिन्हित इस सम्पूर्ण पृथ्वी का पालन करें ।)

भास भी समाज की व्यवस्था के लिए वाल्मीकि और व्यास के समान ही राजा की आवश्यकता का अनुभव करते हैं । अराजक जनपद की जिस दुरवस्था को वाल्मीकि ने अयोध्याकाण्ड में और व्यास ने शान्ति पर्व में व्यक्त किया है, उसी का अविकल प्रभाव हमें भास की निम्न पंक्तियों में दृष्टिगत होता है--

गोपहीना यथा गावो विलयं यान्त्यपालिताः ।
एवं नृपतिहीना हि विलयं यान्ति वै प्रजाः ।।[2]

---

१ पृ० २६५ अंक षष्ठ

२ प्रतिमा ३।२३

रक्षक गोप के अभाव में जिस प्रकार बिना पाली गायें विलय को प्राप्त होती है, उसी प्रकार मनुष्यों को पालन करने वाले शासक से रहित प्रजा नाश को प्राप्त होती है । अर्थात् प्रजा की रक्षा के लिए शासक का होना आवश्यक है ।

विशाखदत्त ने अपनी नाट्य चातुरी से राजनीति जैसे दुरूह विषय को लोकप्रिय बनाकर रंगमंच पर अभिनय के योग्य बनाया । राजनीति विशेषत: कौटिल्य के अर्थशास्त्र और शुक्रनीति के प्रकाण्ड विद्वान् होने के कारण विशाख ने अपने नाटकों का विषय राजनीति से ही लिया है । उनका प्रसिद्ध नाटक 'मुद्राराक्षस' चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन से सम्बद्ध है । नाटककार ने अमात्य चाणक्य की बुद्धिमत्ता और कूटनीति का निदर्शन करते हुए दो महामंत्रियों चाणक्य और राक्षस (नायक और प्रतिनायक) और उनके सहायकों की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा की भयंकर प्रतिस्पर्द्धा और उसके अन्तर्द्वन्द्व को प्रदर्शित किया है । प्रस्तुत नाटक में मुद्रा के द्वारा राक्षस के निग्रह की घटना एक ऐसी घटना है, जिसपर इस नाटक के नायक चाणक्य की समस्त कूटनीति केन्द्रित हुई प्रतीत होती है । मौर्य साम्राज्य का प्रतिष्ठापक विष्णुगुप्त चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन को दृढ़ बनाने के लिए नन्द-नरेश के सुयोग्य मंत्री राक्षस को मौर्य नरेश का प्रधानामात्य बनाना चाहता है । चन्द्रगुप्त का मंत्रित्व करते हुए भी विपक्षी राक्षस को अपने बुद्धिबल से पराजित करने में चाणक्य ने जिस राजनीतिक दूरदर्शिता का परिचय दिया, वह बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों को भी आश्चर्यान्वित कर देता है । सम्पूर्ण नाटक पर दृष्टि-पात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शक्तिशाली से शक्तिशाली साम्राज्य भी मंत्रशक्ति के सहयोग के बिना स्थिर नहीं रह सकते । जब प्रभु शक्ति ही प्रधान होती है, अर्थात् शक्ति का केन्द्रीकरण एक हाथ में हो जाता है, तब उच्छृंखलता और उद्दण्डता के परिणामस्वरूप प्रजा विक्षोभ अथवा प्रजाविद्रोह को रोका नहीं जा सकता । नन्द साम्राज्य का विनाश और कक मौर्य साम्राज्य की प्रतिष्ठा का मुख्य

कारण यही था कि प्रथम की प्रभु शक्ति उद्दण्ड थी और द्वितीय मंत्रशक्ति के साथ पैर मिला कर चला ।

विशाख का मुद्राराक्षस एक राजनीतिक रूपक है, जिसमें नाटककार के व्यक्तित्व के तीन पहलू सामने आते हैं । राष्ट्र जीवन के दार्शनिक के रूप में विशाख ने 'मुद्राराक्षस' का जो सुन्दर स्वप्न देखा है उसका आधार यदि भारत के अतीत राजनीतिक जीवन का क्षणिक भी वास्तविकता रह चुकी है तो वह हमारे इतिहास का महान गौरवमय युग रहा होगा और यदि नहीं तो भविष्य के युगों का-- गणतंत्र अथवा प्रजातंत्र का यही आदर्श तो है ही । मुद्राराक्षस का 'चाणक्य' एक राष्ट्र की राजनीति का कर्णधार है, जिसका आत्मत्याग की भावना राष्ट्रहित की सफलता है ।'चन्द्रगुप्त' एक राष्ट्र के शासन का नियामक है, जिसे जनरंजन की परतन्त्रता में ही शासक की स्वतन्त्रता के आत्मगौरव का अनुभव हुआ करता है । 'राक्षस' एक ऐसा महान--राष्ट्र पुरुष है जो राष्ट्र के लिए अपनी आत्मा का बलिदान कर देने को उद्यत रहा करता है । मुद्राराक्षस के दूत प्रणिधि, गुप्तचर और अन्यान्य व्यक्ति जिस कर्तव्य भावना से प्रेरित दिखाई देते हैं उसे किसी भी राष्ट्र के योग-क्षेम का नियामक माना जा सकता है । राजनीतिक आदर्शवादी और मनुष्य की मनुष्यता के विश्वासी के रूप में विशाख ने हृदय-परिवर्तन का जो चित्र अपने नाटक में शताब्दियों पूर्व खींचा उसी हृदय-परिवर्तन को आज विश्व राष्ट्र की भावना से भरे लोग आवश्यक समझ रहे हैं । चाणक्य और राक्षस, चन्द्रगुप्त और मलयकेतु भिन्न-भिन्न राजनीतिक आदर्शों में विश्वास करने पर भी अन्त में राजनीतिक उदारता का प्रदर्शन राष्ट्र-जीवन को विनाश से बचाकर अमर बनाने के लिए ही करते हैं । आज जब सम्पूर्ण विश्व राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा की भयंकर अग्नि में जल रहा है, तब विश्व भावना से प्रेरित होकर और विशाख की राजनीतिक उदारता को अपना कर विभिन्न राजनीतिक आदर्शों को मानने वालों को राष्ट्र जीवन को चिरस्थायी बनाने के लिए हृदय-परिवर्तन पर बल देना चाहिए ।

मुद्राराक्षस की राजनीति में नाटककार के राजनीतिक व्यक्तित्व और प्रतिभा का विशेष हाथ है । मुद्राराक्षस में जन-सामयिक

राजनीति की संचालन सम्बन्धी बातों के अनुभव के आधार पर एक ऐसे रूपकावृत्त की रचना की गई है,जो उतनी ही पेचीदा है,जितनी स्वयं राजनीति । नाटक के प्रथम अंक में जिस कपट लेख की घटना का उल्लेख है,उसकी कल्पना नाटककार ने अपने समय के राजनीति सम्बन्धी कूट लेखों के आधार पर की है । इसी प्रकार मुद्राराक्षस की 'विषकन्या' भी विशाख की एक ऐसी विचित्रकल्पना है,जो शास्त्र पाण्डित्य पर नहीं,वरन् किसी सम-सामयिक राजनीतिक घटना पर आधारित प्रतीत होती है । नाटककार ने अपने नायक चाणक्य का ऐसा व्यक्तित्व चित्रित किया है,जो किसी भी देश और काल के राजनीतिक जीवन का महान व्यक्ति है । इसी प्रकार राक्षस का चरित्र चाणक्य के चरित्र का पूरक है । राक्षस की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा भी चाणक्य की भी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा के समान ही निःस्वार्थ है । चाणक्य को तो अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा सदैव स्मरण रहती है,किन्तु राक्षस अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा को अपनी स्वामि भक्ति का ही अन्तर मानता है । यद्यपि यह सत्य है कि चाणक्य की राजनीति पटुता राक्षस में कुछ कम अंश में है, किन्तु सैन्य संग्रह शक्ति और स्वयं सैन्य संचालन-शक्ति के ही डर से चाणक्य संग्राम में राक्षस को जीतने की बात न सोच कर दांव-पेंच में फंसाकर उसे वशीभूत करना चाहता है ।

राजनीति प्रधान इस नाटक में वीर रस की अभिव्यक्ति तो हुई है, किन्तु युद्ध वीर सैनिकों के अस्त्रों से न होने के कारण तलवारों की झन-झनाहट और नगाड़ों की गड़गड़ाहट नहीं है । यहां तो वीर रस संग्राम भूमि में नहीं अपितु बड़े-बड़े संग्रामों को जन्म देने वाली राजनीतिज्ञों की राजनीति प्रतिभा में जन्म लेता है । चाणक्य और राक्षस अपनी बुद्धि और कूटनीति के बल पर पर्दे की ओट से ही अपना दाव-पेंच दिखा कर दर्शकों को आश्चर्य चकित किया करते हैं । चन्द्रगुप्त का यह कथन बिल्कुल ठीक है कि बिना युद्ध के ही चाणक्य ने दुर्जेय शत्रु सेना को परास्त कर दिया ।

'विनैव युद्धादार्येण जितं दुर्जेय परबलोमति '

नाटक की अन्तिम घटना चाणक्य की विशाल कूटनीति, गहरी चाल तथा असाधारण बुद्धि के ऊपर एक मनोरंजक भाष्य है। कूटनीति के उस प्रकाण्ड पण्डित के कार्यों के गुप्त बीज तब उद्घाटित होते हैं, जब उनका फल सबके सामने उज्ज्वलरूप से प्रकट हो जाता है। उसके प्रत्येक वाक्य में, प्रत्येक कार्य में, प्रत्येक चेष्टा में कोई-न-कोई रहस्य अवश्य ही छिपा हुआ रहता है। चन्द्रगुप्त को वह स्वतः स्वतन्त्र रूप से आचरण करने तथा उसके आदर्शों के उल्लंघन करने को स्वयं मंत्रणा देता है, जिससे शत्रु को क्षणिक उल्लास हो और वह अपने उद्योगों में शिथिलता करने लगे। अपनी कूटनीति की सिद्धि के लिए वह अकार्यों को भी प्रश्रय देने से पराङ्मुख नहीं होता। किन्तु राक्षस राजनीति के अखाड़े में पराजित होने पर भी मानवता के क्षेत्र में विजयी होता है।

विशाख के नाटक की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि वह राज्य की स्थिति और सुरक्षा के लिए प्रभु शक्ति से भी अधिक मंत्र शक्ति को महत्व देता है। मंत्र शक्ति के बाद ही बलाधिकार में उसका विश्वास है। इसी कारण चाणक्य को नायक और उसकी राजनीति को एक प्रकार से नायिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। नाटक के प्रारम्भ में नान्दी पद में निर्द्वन्द्व शिव में प्रेम द्वन्द्व की उद्भावना कर वीतराग महादेव को एक शठनायक के रूप में चित्रित कर नाटककार ने नाटक के चरितनायक चाणक्य के वीतराग व्यक्तित्व में धर्मनीति और कूटनीति का प्रेम-द्वन्द्व छिड़ा हुआ दिखाया है। शिव के दुःसाध्य ताण्डव में चाणक्य के नीति ताण्डव की सूक्ष्म अभिव्यक्ति करके दोनों की मूलभावना लोक-कल्याण का भी रहस्य प्रकट किया है।

शूद्रक ने मृच्छकटिक के प्रणय प्रधान कथानक को अपने रचना-कौशल से राजनीतिक घटनाओं से सम्बद्ध किया है। नाटककार ने तत्कालीन हिन्दू समाज का सजीव चित्रण करने के साथ ही राजशक्ति की क्षीणता तथा जन रक्षण के कुप्रबन्ध या प्रबन्धाभाव को ही राज-परिवर्तन का मूल रहस्य माना है।

नाम नवें के चौदहवें श्लोक में चारुदत्त के द्वारा प्राचीन कचहरियों का जो वर्णन किया गया है[1], वह एक बारगी आधुनिक न्यायालयों की याद दिला देता है । शकार(राजा का साला) द्वारा झूठा आरोप लगाये जाने पर चारुदत्त न्यायालय के आमंत्रण से न्याय मण्डप में प्रवेश करते हुए कहते हैं कि --"कचहरी समुद्र की तरह जान पड़ती है । चिन्तामग्न मन्त्री लोग जल हैं, दूतगण लहर तथा शंख की तरह जान पड़ते हैं-- इधर उधर दूर देशों में घूमने के कारण दोनों का यहाँ समता दी गई है । चारों ओर रहने वाले चर -- आजकल के खुफिया पुलिस -- घड़ियाल हैं । यह समुद्र हाथियों तथा घोड़ों के रूप में हिंस्र पशुओं से युक्त है । तरह -तरह के ठग तथा पिशुन लोग बगुले हैं । कायस्थ मुंशी लोग जहरीले सर्प हैं । नीति से इसका तट टूटा हुआ है[2] ।" यह प्राचीनकाल के राजकरण का वर्णन है । किन्तु आज भी कचहरी में प्रविष्ट होने वाले व्यक्ति को शूद्रक के वर्णन की यथार्थता का अनुभव पद-पद पर होता है ।

-0-

---

१ 'चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलं दूतोर्मिशंखाकुलं
पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरं नागाश्वहिंस्राश्रयम् ।
नानावाशककङ्कपक्षिरुचिरं कायस्थसर्पास्पदं
नीतिक्षुण्णतटं च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते ।।(मृच्छकटिक--९।१४)

२ बलदेव उपाध्याय :'संस्कृत साहित्य का इतिहास' ,पृ०५२२

(ख) हिन्दी साहित्य में राजनीतिक तत्व की परम्परा

सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर हिन्दी के साहित्यकारों ने संस्कृत साहित्य में राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति की परंपरा का अनुसरण किया और उनसे प्रेरणा ग्रहण की । अपने पूर्ववर्ती संस्कृत के साहित्यकारों से प्रेरणा लेकर और उज्ज्वल भविष्य की कामना को अपने में समेटे हुए जब हिन्दी के साहित्यकारों ने साहित्य के प्रांगण में प्रवेश किया, तब वे अपने को तत्कालीन सामाजिक-परिवेश से मुक्त न कर सके और अपनी नागरिक जागरूकता एवं राजनीतिक चेतना को अपने साहित्य में अभिव्यक्त करके परवर्ती साहित्यकारों के लिए राजनीति जैसे गूढ़ विषय की अभिव्यक्ति का मार्ग-दर्शन किया, जिससे साहित्य की उपादेयता निश्चय ही बढ़ गई । राजनीति जैसे गूढ़ विषय का साहित्य में प्रवेश होने के साथ ही साहित्य-जगत् में 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के स्थान पर 'कला जीवन के लिए' सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ । हिन्दी के साहित्यकारों ने अपने पूर्ववर्ती संस्कृत के साहित्यकारों से बीज रूप में राजनीति के जो भाव ग्रहण किए थे, उनके द्वारा साहित्य रूपी वृक्ष में मानव-कल्याण के हितार्थ जिन नवीन फलों का सृजन हुआ, वह निश्चय ही कल्याणकारी है ।

आदिकाल

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में राज्याश्रय प्राप्त साहित्यकारों ने अपने आश्रयदाताओं के प्रशस्ति-गान के रूप में राजनीति को अपनाया । विद्यापति ने तिरहुत के राजा कीर्तिसिंह की प्रशंसा में 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' की रचना की है । 'कीर्तिलता' काव्य कीर्तिसिंह के जीवन के एक हिस्से यानी युद्ध और राज्य-लाभ के प्रसंगों को लेकर लिखा गया है । लक्ष्मण संवत् २५२ में (ई०सन् १३७१ के आस-पास) राजलोभी पतित असलान ने तिरहुत के राजा गणेश्वर का वध कर दिया । राजा के वध से तिरहुत में चोरी और अराजकता फैल गई । राजा के वध के बाद विश्वासघाती असलान को परिताप हुआ, उसने

गणेश्वर का राज्य उसके पुत्र को देना चाहा, किन्तु कीर्तिसिंह ने अपने पिता के हत्यारे और अपने शत्रु द्वारा समर्पित राज्य को स्वीकार करने के स्थान पर बदला लेने का निश्चय किया और वह अपने भाई वीरसिंह के साथ जौनपुर के सुल्तान इब्राहीम शाह के पास सहायतार्थ चले । उस समय उन्हें जाते देखकर कोई ऐसा नहीं था, जिसकी आँखों से आँसू की धारा न बह चली हो[१] । राजा के प्रयाण के समय प्रजा की संवेदना व्यक्त करना राजनीतिक चेतना से युक्त लोकमत की ही अभिव्यंजित है । शाह की आज्ञा मिलते ही असलान पर चढ़ाई करने के लिए युद्ध की तैयारी होती है । जब कीर्तिसिंह के साथ सेना चली तो कोलाहल मच गया । राजधानी के पास दोनों सेनाओं की मुठभेड़ होती है । कीर्तिसिंह की तलवार जिधर पड़ती उधर ही खण्ड-मुण्ड दिखाई पड़ते । अन्त में असलान पकड़ा गया । किन्तु कीर्तिसिंह ने उसे भागते हुए देखकर जीवन-दान दे दिया , कवि ने अपने इस काव्य के माध्यम से राजा कीर्तिसिंह के दृढ़ संकल्प और पुरुषत्व के सनातन सौन्दर्य की अभिव्यंजना तो की ही है, साथ ही इसे हम आश्रयदाता की प्रशंसा के रूप में न लेकर उस रूप में भी देखते हैं कि तत्कालीन राजनीति में जो देशी और विदेशी राजाओं के संघर्ष थे, उनके सम्बन्ध में साहित्यकार की विचारधारा क्या थी, और वह किस प्रकार जाति या देश की स्वतन्त्रता और स्वाभिमान के सम्बन्ध में सोचता था ।

राजपूतों के युद्ध विग्रह और मुगलों के आक्रमण से देश में जिस राजनीतिक अव्यवस्था का उद्भव हुआ, उसने साहित्य के क्षेत्र में भी शान्ति न रहने दी । राजनीतिक प्रधान देश राजस्थान के चारण और भाट मौन नहीं रहे । डिंगल काव्य का मुख्य विषय युद्ध सेना की तैयारी और राजाओं की शूरवीरता है । 'कीर्तिलता', 'पृथ्वीराजरासो', 'नासकेत', 'भारतेश्वर', 'बाहुविलास' आदि काव्य-ग्रन्थों में कवियों ने अपने नायक के युद्ध-कौशल और सेना-

---

१ "ता पिच्छन्ते कमण कें नअण न लग्गाउँ नीर"

गणेश्वर का राज्य उसके पुत्र को देना चाहा, किन्तु कीर्तिसिंह ने अपने पिता के हत्यारे और अपने शत्रु द्वारा समर्पित राज्य को स्वीकार करने के स्थान पर बदला लेने का निश्चय किया और वह अपने भाई वीरसिंह के साथ जौनपुर के सुल्तान इब्राहीम शाह के पास सहायतार्थ चले। उस समय उन्हें जाते देखकर कोई ऐसा नहीं था, जिसकी आँखों से आँसू की धारा न बह चली हो[1]। राजा के प्रयाण के समय प्रजा का वेदना व्यक्त करना राजनीतिक चेतना से युक्त लोकमत की ही अभिव्यक्ति है। शाह की आज्ञा मिलने पर असलान पर चढ़ाई करने के लिए युद्ध की तैयारी होती है। जब कीर्तिसिंह के साथ सेना चली तो कोलाहल मच गया। राजधानी के पास दोनों सेनाओं की मुठभेड़ होती है। कीर्तिसिंह की तलवार जिधर पड़ती उधर ही खण्ड-मुण्ड दिखाई पड़ते। अन्त में असलान पकड़ा गया। किन्तु कीर्तिसिंह ने उसे भागते हुए देखकर जीवन-दान दे दिया, कवि ने अपने इस काव्य के माध्यम से राजा कीर्तिसिंह के दृढ़ संकल्प और पुरुषत्व के सनातन सौन्दर्य की अभिव्यंजना तो की ही है, साथ ही उसे हम आश्रयदाता की प्रशंसा के रूप में न लेकर इस रूप में भी देखते हैं कि तत्कालीन राजनीति में जो देशी और विदेशी राजाओं के संघर्ष थे, उनके सम्बन्ध में साहित्यकार की विचारधारा क्या थी, और वह किस प्रकार जाति या देश की स्वतन्त्रता और स्वाभिमान के सम्बन्ध में सोचता था।

राजपूतों के युद्ध विग्रह और मुगलों के आक्रमण से देश में जिस राजनीतिक अव्यवस्था का उद्भव हुआ, उसने साहित्य के क्षेत्र में भी शान्ति न रहने दी। राजनीतिक प्रधान प्रदेश राजस्थान के चारण और भाट मौन नहीं रहे। डिंगल काव्य का मुख्य विषय युद्ध सेना की तैयारी और राजाओं की शूरवीरता है। 'कीर्तिलता', 'पृथ्वीराजरासो', '[illegible]', 'भारतेश्वर', 'बाहुविलास' आदि काव्य-ग्रन्थों में कवियों ने अपने नायक के युद्ध-कौशल और सेना-

---

१ 'ता पेक्खन्ते कमण कँ नअण न लगाउँ नीर'

वर्णन के साथ ही शत्रुओं की शक्ति-हीनता का नग्न चित्रण बहुत ही सजीव और स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत किया है ।

देश भाषा काव्य के अन्तर्गत हमें वीरगाथाओं के दो रूप मिलते हैं-- साहित्यिक प्रबन्ध और वीरगीत । साहित्यिक प्रबन्ध में चन्दबरदाई द्वारा रचित 'पृथ्वीराज रासो' और वीरगीतों में नरपति नाल्ह रचित 'बीसलदेव रासो' सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं । आदिकालीन इस चारण साहित्य की सर्वोपरि विशेषता इसकी राजनीति से निकटता है । रास साहित्य के अन्तर्गत चन्दबरदाई ने 'पृथ्वीराज रासो' में पृथ्वीराज का यशगान किया है । जगनिक[1] ने महोबे के दो प्रसिद्ध वीरों-- आल्हा और ऊदल के वीर चरित का वर्णन एक वीर गीतात्मक काव्य के रूप में किया है । इसी युग के एक कवि श्रीधर ने अपनी पुस्तक 'रण मल्ल छंद' में ईडर के राठौर राजा रणमल्ल की उस विजय का वर्णन किया है, जो उसने पाटन के सूबेदार जफर खाँ पर प्राप्त की थी । ऐतिहासिक चरित काव्यों में व्यक्तिगत वीरत्व का प्रदर्शन विशेष रूप से हुआ है । राष्ट्रीय भावनाओं के अभाव में भी कवियों ने अपने आश्रयदाताओं के गौरव गीत गाकर साहित्य के क्षेत्र में वीर युग की भावनाओं को बल प्रदान किया है ।

पूर्व मध्य युग

मध्ययुग के पूर्वार्द्ध के कवि भक्त थे । किन्तु भक्ति-आन्दोलन बहुत वस्तुतः सांस्कृतिक पुनरुत्थान का ही आन्दोलन था । जिस समय विदेशी आक्रमण और यवन शासन से हिन्दू जनता संत्रस्त थी, और देश की संस्कृति खतरे में थी, सभी उन भक्तों ने हताश हिन्दू-जनता के हृदय में अपने धर्म एवं संस्कृति के प्रति आस्था उत्पन्न करने के लिए जिस साहित्य की रचना की, उसमें समाज-सुधार और लोक-कल्याण की वाणी भी गुंजरित हो रही है ।

---

१ कालिंजर के राजा परमाल के एक भाट थे ।

निर्गुणोपासक सन्त-कवियों ने समाज- सुधार के साथ ही साथ समाज को एक नवीन क्रान्तिकारी एवं प्रगतिशील दृष्टिकोण प्रदान किया है । डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के शब्दों में -- "निर्गुण पंथ एक प्रकाश का मार्ग है । निर्गुण पंथी साधकों ने न केवल आध्यात्मिक पक्ष के अन्धकार को दूर करने की चेष्टा की, वरन् दैनिक एवं सामाजिक जीवन युक्त समस्याओं को भी सुलझाने का भरसक चेष्टा की है । राजनीतिक दृष्टि से उनके युग की सबसे विकट समस्या थी, हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव अर्थात् वह धर्मतत्त्व जो आज तक एक राजनीतिक समस्या बना हुआ है और जिसे बढ़ावा देकर अंग्रेज़ों ने भरपूर लाभ उठाया और भारत दो टुकड़ों में बंट गया । सन्तों ने इस समस्या की प्रखरता को उसी समय समझ लिया था । असाम्प्रदायिकता कबीर, दादू, नानक आदि निर्गुणपंथी साधकों के विचार का केन्द्र हुई और इन्होंने तत्कालीन शासकों की साम्प्रदायिक नीति, उनके अत्याचार, दमन और शासन-पद्धति की स्पष्ट शब्दों में आलोचना करने के साथ ही प्रजा की दुर्बलता, और दैन्य का भी उल्लेख किया है । मुसलमान शासकों के अत्याचार से क्षुब्ध होकर ही कबीर ने मानवमात्र की समानता की घोषणा की[1] । कबीर के गुरु रामानन्द ने भी युग की आवश्यकता को ध्यान में रखकर ही, अपने शिष्यों का चुनाव करते समय कोई भेद-भाव नहीं बरता था । कबीर जैसे असाम्प्रदायिक और समन्वयवादी संत को तत्कालीन शासकों की साम्प्रदायिकता और दमन नीति के शिकार हुए थे, उसका प्रमाण तो उनके अपने ही कथन हैं[2] और यही कारण है कि उनकी साधना की तुलना

---

१ "एक नूर से सब जगु उपजिआ कउन भले को मंदे ॥
लोगा भरमि न भूलहु भाई ।
खालिकु खलक खलक महि खालकु पूरि रहिओ सब ठांई ॥ १॥
डा० रामकुमार वर्मा : 'संत कबीर', पृ० २२४

२ (क) भुजा बाँधि भिला(भिड़ा?) करि डार्यौ । हस्ती कोपि मूंड महि मार्यौ ॥ १॥
(ख) कहा अपराध संत है कीन्हां । बांधि पोटि कुंजर कौं दीन्हां ॥ ५॥
(ग) गंग गुसाइंनि गहिर गंभीर । जंजीर बांधि करि खरे कबीर ॥ १॥
गंगा की लहरि मेरी टूटी जंजीर । मृग छाला पर बैठे कबीर ॥ २॥

हिरण्यकश्यप ने करनी पड़ी[1]। एक अन्य पद में कबीर ने 'मोह मगन मैंवासी राजा' कहकर तत्कालीन अविवेकी राजा का ही मानों संकेत किया है[2]। शासक के अत्याचारों के कारण ही कबीर को सुल्तान शब्द की नूतन व्याख्या करने की आवश्यकता भी प्रतीत हुई[3]। मुल्ला, काजी और सुलतान उस युग के ऐसे व्यक्ति थे जो समाज पर छाए हुए थे तथा समाज की रीति और नीति और रहन-सहन में जिनका बोलबाला था। अतः कबीर ने जब उनका उल्लेख किया तब नवीन कार्यों का ही स्मरण कराया है[4]। पंजाब के सैयदपुर नगर पर बाबर के आक्रमण (सं०१५८३) को संत नानक की दृष्टि से ओझल नहीं हो सके थे। अतः नानक ने उसका उल्लेख करते हुए तत्कालीन राजा के प्रजा पर किए अत्याचारों का वर्णन किया है[5]। राजा ही नहीं राजा के

---

१ मोकौं कहा पढ़ावहु बार बार । पृथु जल थल गिरि कीर पहार ।।५।।
राम छाँडौ तौ मेरे गुरहिं गारि । मोकौं घालि जारि भावै मारि डारि।।६।।
तब काढ़ि खड्ग कोप्यौ रिसाइ । तोहि राखनहारौ मोहि बताइ ।।७।।
खंभा तैं प्रकट्यौ गिलारि । हिरनांकस मारयौ नख बिदारि ।।८।।
परम पुरुष देवाधिदेव । भगति हेत नरसिंघ भेव ।।९।।
कहै कबीर कोऊ लहै न पार । प्रहलाद उबारे अनेक बार ।।१०।।
--डॉ० पारसनाथ तिवारी : 'कबीर ग्रन्थावली', पद २६, पृ०१६-१७

२ ,, ,, ,, ४, पृ०५

३ 'सुलतान' शब्द की व्युत्पत्ति अरबी धातु 'सलित' से हुई है जिसका अर्थ होता है 'निरंकुश और उग्र' (भारत में राजनीतिक ढंग से आने वाले मुसलमान सुलतान थे)

४ है हजुरि कत दूरि बतावहु । दुंदर बांधहु सुंदर पावहु ।।टेक।।
सो मुल्ला जो मन सौं लरै । अहनिसि काल चक्र सौं भिरै ।।१।।
काल चक्र का मरदै मानु । तिहु मुल्ला कौ सदा सलाम ।।२।।
काजी सो जो काया बिचारै। काया की अगिनि ब्रह्म परजारै।।३।।
सुपिनै बिंदु न देई झरनां । तिहु काजी कउ जरा न मरनां ।।४।।
सो सुरतान जु दुइ सुर तानै । बाहरि जाता भीतरि आंनै ।।५।।
गगन मंडल महिं लसकर करै । सो सुरतानु छत्रसिरि धरै ।।६।।
'कबीर ग्रन्थावली', पद १२८, पृ०७५

५ 'खुरासान खसमाना कीआ, हिंदुसतानु डराइआ ।
आपै दोसु न देई करता, जमु करि मुगलु चड़ाइआ।। (अगले पृष्ठ पर देखें)

कर्मचारियों के अत्याचार भी संतों की दृष्टि में थे । अतः शरीर रूपी किले का रूपक बांधते हैं तो उनके सामने सिकदारों के रूप में पंच पवन हैं जो हर समय कैफियत मांगते हैं । कैफियत देना प्रजा के लिए दुष्कर है । पटवारी की नीति भी पीड़ादायक है । डाड़ी,मुंसिफ प्रजा को चैन की सांस नहीं लेने देते । जमीन की वह सही नाप नहीं करते और बेगार भी बहुत लेते हैं । ऐसे राज-कर्मचारियों के अत्याचार को कवि ने उपमान के रूप में प्रस्तुत किया है[1] । नानक ने तत्कालीन प्रजा की दास्य भावना पर व्यंग्य किया है । हिन्दू-मुसलमानों से भयभीत होकर उनके कृपापात्र बनने के लिए कुरान तक पढ़ने लगे थे । नानक को यह सह्य नहीं था । इसलिए उन्होंने कहा कि 'गौ तथा ब्राह्मण पर कर लगाते हो और धोती टीका एवं माला जैसी वस्तुएं धारण (किये) रहते हो । अरे भाई,तुम अपने घर पर तो पूजा-पाठ किया करते हो और बाहर कुरान के हवाले देकर तुर्कों के साथ सम्बन्ध बनाये रखते हो । अरे, ये पाखंड छोड़[2] क्यों नहीं देते हो? और अपनी मुक्ति के नामस्मरण को क्यों नहीं अपनाते ?"

(पूर्व पृष्ठ की अवशिष्ट टिप्पणी संख्या-५)

एती मार पई करलाणे, तैंकी दरदु न आइआ ।
करता तू सभना का सोई ।
--'गुरु ग्रंथ साहिब' (तरन तारन संस्करण),पद३६,पृ०३

---

१ एक कोटु, पंच सिकदारा, पंचे मागहि हाला ।
जिमी नाही मैं किसी की बोई ऐसा देनु दुखाला ।।
हरि के लोगा मो कउ नीति डसै पटवारी ।
ऊपरि भुजा करि मै गुर पहि पुकारिआ तिनि हउ लीआ उबारी ।।१।।
नउ डाडी दस मुंसफ धावहि ,रईअति बसन न देही ।
डोरी पूरी मापहि नाही, बहु बिसटाला लेही ।।२।।
बहतरि घरि इकु पुरखु समाइआ, उनि दीआ नामु लिखाई ।
धरमराइ का दफतरु सोधिआ बाकी रिजम न काई ।।३।।
संता कउ मति कोई निंदहु,संत रामु है एको ।
कहु कबीर मै सो गुरु पाइआ जा का नाउ बिबेको ।।४।।
-- डा०रामकुमार वर्मा :'संत कबीर' पृ०१५१

२ गऊ बिराहमण का कर लावहु, गोबरि तरणु न जाई ।
धोती टीका ते जपमाली, धानु मलेछां खाई ।।
अंतरि पूजा पड़हि कतेबा संजमु तुरका भाई ।
छोडीले पाखंडा, नामि लइऐ जाहि तरंदा ।।--[illegible]

राजतंत्र के उस युग में जहाँ शासक के अधिकार और शक्ति असीम थी एवं वैभव अमित था, वहाँ बेचारी प्रजा गरीब थी,[1] उसकी कोई सुनने वाला नहीं था --"उन गरीब की ओर न पहुँचे....."[2]

प्रेमाख्यान काव्य के अन्तर्गत सूफी कवि जायसी ने पद्मावत के उत्तरार्द्ध में राजा रत्नसेन और अलाउद्दीन के युद्ध का वर्णन करके राष्ट्रीयता की भावनाओं को प्रश्रय दिया है। अलाउद्दीन की कूटनीति और गोरा बादल की राजभक्ति का उल्लेख करते हुए कवि ने प्राचीन कालीन राजा की राजनीति का संश्लिष्ट वर्णन प्रस्तुत किया है। शासन संचालन और राज्य के समस्त रहस्यों से परिचित होने के लिए किस भांति राजा को अपने दूतों का सहयोग प्राप्त करके अपना कर्तव्य पालन करना पड़ता है, इस बात का जायसी ने अच्छा वर्णन किया है।[3]

---

१ तहाँ मों गरीब की को गुदरावै ।
मजलिसि दूरि महल को पावै ।।टेक।।
नजरि सहस लतार है जाके । सवा लाख पैगंबर ताके ।।१।।
सेख जु कहियहिं कोटि अठासी । छप्पन कोटि जाके खेलवासी ।।२।।
तेतीस करोड़ी है खेलानां । चौरासी लाखै फिरैं दीवानां ।।३।।
बाबा आदम पै नजरि दिलाई । उन भी भिस्ति घनेरी पाई ।।४।।
तुम दाते हम सदा भिखारी । देउं जवाब होइ बजगारी ।।५।।
दास कबीर तेरी पनह समानां । भिस्ति नजीक राखि रहिमानां ।।६।।
कबीर ग्रन्थावली, पद ४२, पृ० २५

२ डा० रामकुमार वर्मा : 'संत कबीर', पृ० २२४

३ पातसाहि सब जाना बूझा । गरग पलार रैनिदिनसूझा ।।
जौं राजा अस सजग न होई । काकर राज कहाँ कर कोई ।।
जगतभार महि एक सँभारा । तौ थिर रहै सकल संसारा ।।
औ अस ओछि सिंघासन ऊँचा । सब काहू पर दिस्टि पहुँचा ।।
सब दिन राजकाज सुख भोगी । रैनि फिरै घर घर होइ जोगी ।।
राव रांक सब जाँचत जाता । सबकी बात सुने दिन राता ।।
पंथी परदेसी जेत आवहिं । सबकी बात सुत पहुँचावहिं ।।
--जायसी : 'पद्मावत', पद ४५८, पृ० ५४८ ।

सगुणोपासक कवियों में राम और कृष्ण काव्य के
प्रणेताओं ने भी अपने साहित्य में राजनीति का यथास्थान समन्वय किया है ।
राम काव्य में तो राजा तथा राज्य की ही कथावस्तु होने के कारण
राजनीति प्रचुर मात्रा में पाई जाती है । तुलसी राम काव्य के अग्रदूत बनकर
जनता के सामने आये और अपने साहित्य के माध्यम से उन्होंने जनता के सामने
कुछ ऐसे राजनीतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा की, जो जन-सामान्य को राजनीतिक
दृष्टि प्रदान कर सके । तुलसी ने अपने साहित्य में प्राचीन राजनीति का चित्रण
कर भावी पीढ़ियों के लिए राजनीति के आदर्श स्थापित किए । आज तक भी
हम राजनीति के क्षेत्र में रामराज्य की कल्पना करते हैं । महात्मा गांधी के
राजनीति सम्बन्धी आदर्श भी कुछ सीमा तक तुलसी के राजनीतिक विचारों से
प्रभावित हैं । तुलसी मानस के अध्याय सभी में काव्य से राजनीतिक सिद्धान्तों का
वर्णन किया है और कवितावली निरूपण में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों
का वर्णन किया है और कवितावली निरूपण में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थि-
तियों का चित्रण करने के साथ ही अनाचार की कालिमा का नाश किया है ।
यों तो कवितावली, विनयपत्रिका, दोहावली आदि में तुलसी ने तत्कालीन
राजनीतिक परिस्थितियों का निरूपण किया है, किन्तु 'मानस' में उनके
अधिकतर राजनीतिक सिद्धान्तों का निखरा हुआ रूप दृष्टिगोचर होता है ।
कवि ने सर्वप्रथम तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण कर कलियुग के प्रभाव
से राजनीति की दुरवस्था का स्वरूप अंकित किया है । रावण का हनन भी
राम ने राजनीतिक दाव-पेंचों की सहायता से ही किया था । इस प्रकार
रावण का हनन भी राजनीतिक परम्परा का ही एक रूप है । तत्कालीन
राजनीति के चित्र दोहावली, कवितावली, विनयपत्रिका और मानस में यत्र-तत्र

देखी जा सकती हैं।

तुलसी ने अपने समय के यवनों की अनीतियों का संकेत 'मानस' में रावण के शासन की अनीतियों से किया है।[२] दिग्विजयी रावण आसुरी राजनीति का आचारी है। उसकी राजनीति में अत्याचार, उन्माद, दमन, छल, कपट, लोकमत का घोर अनादर, स्वेच्छाचारी स्वतंत्र शासन, दुर्दम अभिमान और कठिन मदान्धता पाई जाती है। सब न मंत्रियों की सुनता है

---

१ (क) गोंड़ गंवार नृपाल महि यमन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि केवल दण्ड कराल॥
(दोहावली, दोहा ५५६, पृ० ८८)

(ख) एक तौ कराल कलिकाल सूल मूल तामें
कोढ़ में की खाजु सी सनीचरी है मीन की
बेद धर्म दूरि गए, भूमि चोर भूप भए
साधु सीद्यमान जानि रीति पाप पीन की॥
(कवितावली-उत्तरकाण्ड, पृ० २४५)

(ग) राज समाज कुसाज कोटि कटु कल्पित कलुष कुचाल नई है।
नीति, प्रतीति, प्रीति परमिति पति हेतुबाद हठि हेरि हई है॥३॥
(विनयपत्रिका, पृ० २३०)

२ भुजबल बिस्व बस्य करि, राखेसि कोउ न सुतंत्र।
मंडलीक मनि रावन राज करइ निज मंत्र॥(१८२क)
देव जच्छ गंधर्ब नर, किंनर नाग कुमारि।
जीति बरीं निज बाहुबल, बहु सुन्दर बर नारि॥(१८२ख)

....
जेहि बिधि होइ धरम निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला॥
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं॥३॥

....
जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनइ दससीसा।
आपुनु उठि धावइ रहै न पावइ धरि सब घालइ खीसा॥
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना।
तेहि बहुबिधि त्रासइ देस निकासइ जो कह बेद पुराना॥
बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं। [illegible]
हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहि कवनि मिति॥१८३॥
रामचरितमानस, बालकाण्ड

न मानी मल्ला मानी[1] । इसी राजनीति तो आत्मारहित दिव्य मृतक शरीर के समान थी । 'मानस' के उत्तरकाण्ड में कलियुग का वर्णन भी उनके समय की राजनीतिक परिस्थितियों का द्योतक है । इसी निरंकुशता का विपर्यय राम के सभा में देखने को मिलता है । राम के राजतिलक की स्वीकृति दशरथ की इच्छा-मात्र से नहीं दी जाती । वह इसके लिए पंचों की अनुमति लेते हैं[2] । इसी प्रकार राम स्वयं भी युद्ध के लिए अपने साथियों से मंत्रणा करते हैं[3] । अपने युग की दुर्गुणी राजनीतिक परिस्थितियों से ऊबकर तुलसी ने राजनीति के आदर्श स्थापित करने के हेतु राम-राज्य की कल्पना की और अपने आराध्यदेव राम के रूप में आदर्श राजा का चित्र अंकित किया[4] । मानस विजयी राम ही राजनीति के पुरस्कर्ता हैं । उनकी राजनीति स्वतंत्र है । यदि रामराजा भी निरंकुश और स्वेच्छाचारी न होकर प्रजा-वत्सल प्रेमी थे । क्योंकि प्रजा के मन से ही राजा जान सकता है कि मेरा करना नीतिमय है या अनीतिमय । नीति का अनुसरण और अपनी अन्तरात्मा का आदेश पालकर जो राजा राज्य करता है, वही करनी धर्मरहित पालन के समान निकृष्ट कहा जाता है[5] ।

---

१ भुजबल बिस्व बस्य करि, राखेसि कोउ न सुतंत्र ।
मंडलीक मनि रावन, राज करइ निज मंत्र ॥(मानस-बालकाण्ड १८२-क)

२ जौं पाँचहि मत लागै नीका । करहु हरषि हिय रामहिं टीका ॥
(अयोध्याकाण्ड ,पृ०३३६)

३ कहाँ प्रात जागे रघुराई । पूछा मत सब सचिव बोलाई ॥
(मानस : लंकाकाण्ड)

४ जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी । सो नृप अवसि नरक अधिकारी ॥
(मानस: अयोध्याकाण्ड-३)

५ पंक न रेनु सोह अस धरनी । नीति निपुन नृप कै जस करनी ॥
(मानस: किष्किन्धा काण्ड १५।४)

जहां राजा अपनी इच्छा से अपने मन्त्री चुनता है वहां के मन्त्री अपना पद बनाए रखने के लिए राजा की `हां-में-हां` मिलाया करते हैं । किन्तु जो मन्त्री प्रजा द्वारा निर्वाचित होते हैं, वह जनहित का ध्यान रखते हैं और राजा एवं प्रजा में परस्पर सदानुभूति बनाए रखते हैं, जिससे सबल निर्बल को दबा न सके । तुलसी ने अपने `मानस` में यह स्पष्ट कर दिया है कि यदि `हां-में-हां` मिलाने वाले मन्त्री हों तो भला नहीं हो सकता[१] ।

रामराज्य की कल्पना करने से यह तात्पर्य नहीं है कि तुलसी राजा के समर्थक और प्रजा के उपेक्षक थे । वस्तुत: वह लोक-हृदय महात्मा थे । प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में ही उन्होंने `विनयपत्रिका` एक मार्मिक प्रार्थना-पत्र के रूप में राम के समक्ष प्रस्तुत की है । वह प्रजा के उत्थान और कष्ट निवारण की कामना से ओतप्रोत थे और चाहते थे कि यह शीघ्र से शीघ्र सम्पन्न हो । इसीलिए उन्होंने प्रजासम्मत राज्य की कल्पना कर अप्रत्यक्षरूप से जनता को अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए प्रेरित किया ।

राजतंत्र के उस युग में भी तुलसी के साहित्य में लोकतंत्र की भावना का प्राबल्य है । यदि उनका आविर्भाव मध्यकाल में न हुआ होता तो राम-राज्य का स्वरूप सामने रखने पर भी वह प्रजा-राज्य की ही चर्चा करते । उन्होंने रामराज्य की चर्चा करते समय भी राजन्य वर्ग को यही चेतावनी दी है कि प्रजा सम्मत राज्य ही स्थायी होता है और प्रजा वर्ग को भी ऐसे आदर्श राज्य के निर्माण के लिए प्रयत्नशील होने का सन्देश दिया है । प्रजासम्मत राज्य की कल्पना करने के कारण ही कवि ने राम के मुख से स्पष्ट कहला दिया है कि प्रजा यदि मेरे में दूषण देखे तो मुझे वर्जित करे[२]। लोकमत का सम्मान करने के कारण मर्यादापुरुष

---

१ कहहिं सचिव सब ठकुर सोहाती । नाथ न पूर आव एहि भांती ॥
('मानस' लंकाकाण्ड ८।२)

२ जौं अनीति कछु भाषौं भाई । तौ मोहि बरजहु भय बिसराई ॥
('मानस' उत्तरकाण्ड ४२।३)

राम ने निर्दोष पत्नी सीता का भी त्याग कर दिया[1]। कवि ने यद्यपि राजा को राज्य का अधिकारी माना है, किन्तु नृपनय के लिए साधुमत अर्थात् व्यक्तिगत तत्त्वादर्श और लोकमत अर्थात् जनमत से मेल की आवश्यकता भी स्वीकार की है। वशिष्ठ, विश्वामित्र और याज्ञवल्क्य साधुमत के प्रतीक हैं[2]।

राजा और प्रजा के सम्बन्धों का वर्णन करते हुए महाकवि तुलसीदास ने राजा के पालकत्व गुण को प्रधानता दी है। उनके अनुसार राजा को समदर्शी होना चाहिए, पर समान वितरण आवश्यक नहीं है। वह मुखिया है और मुख की भाँति सब कुछ ग्रहण करके भी वितरण अंगों की आवश्यकता और उपयोगिता की दृष्टि से ही करता है[3]।

---

१ बरखा बरनिऔं बरनि जानमनि रघुराई ।
कुल सुत सुनि लोक-धुनि घर घरनि बुझि आई ।।१।।
प्रिया निज अभिलाष रुचि कहि कहति सिय सकुचाई ।
तीय तनय समेत तापस पूजिहौं बन जाई ।।२।।
जानि करुनासिंधु भावी बिबस सकल सहाई ।
धीर धरि रघुबीर भोरहि लिए लषन बोलाई ।।३।।
तात तुरतहि साजि स्यंदन सीय लेहु चढ़ाइ ।
बालमीकि मुनीस आश्रम आइयहु पहुँचाई ।।४।।
भलेहि नाथ, सुहाथ माथे राखि राम रजाई ।
चले तुलसी पालि सेवक धरम अवधि अघाई ।।५।।
--गीतावली, उत्तरकाण्ड, पद २५, पृ०४३१-३२

२ करिय साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि ।
--राजबली पाण्डेय द्वारा उद्धृत 'तुलसी और उनका युग', पृ०५१

३ मुखिया मुख सो चाहिए, खान पान कहुँ एक ।
पालइ पोषइ सकल अंग, तुलसी सहित बिबेक ।।
दोहावली, दोहा ५२२, पृ १७६

स्पष्ट है कि कवि ने हृदय के साथ-साथ विवेक को भी मान्यता दी है। यही कारण है कि उन्हें राजा का पितृत्व रूप ही मान्य है। क्योंकि माता सन्तान के लिए अविवेक से भी काम कर सकती है, पर पिता, जैसी उसके गुण धर्म की भारतीय भावना है, विवेक से काम लेने वाला है। कर ग्रहण करने के सम्बन्ध में भी उनके विचार बहुत उपयोगी हैं। उनका कहना है कि राजा को सूर्य के समान प्रजा से कर ग्रहण करना चाहिए। जैसे सूर्य का अपनी किरणों से जल खींचना किसी को ज्ञात नहीं होता, किन्तु जब वही जल वृष्टि बनकर फिर लौटता है तो सभी को वह प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इसी प्रकार राजा को इस रीति से कर लेना चाहिए कि प्रजा यह समझ ही न पाये कि उससे कर लिया जा रहा है।

बरसत हरषत लोग सब, करषत लखै न कोय।
तुलसी प्रजा सुभाग ते, भूप भानु सो होय ॥[1]

तुलसी का राजनीतिक दृष्टिकोण स्वकीय और परकीय दो प्रकार का है। पारम्परिक दृष्टि से वह मनु की भाँति राजा को ईश्वर का अंश मानते आ रहे थे[2]। किन्तु स्वतन्त्र दृष्टि से वह राजा के प्रजा वत्सल पथ के अनुगामी थे। यहाँ तक कि समय के अच्छे और बुरे होने का हेतु भी उन्होंने राजा को ही माना है[3]। शासन के 'सुख' का हेतु उसका सुनीति और

---

१ दोहावली : दोहा ५०८, पृ० १७४४;

२ 'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति।'

(मनुस्मृति ७:८)

साधु सुजान सुसील नृपाला।
ईस अंस भव परम कृपाला ॥ --'मानस' :बालकाण्ड,दो०२७।४

३ जथा अमल पावन पवन, पाइ कुसंग सुसंग।
कहिय कुबास सुबास तिमि, काल महीप प्रसंग ॥
--राजपति दीक्षित द्वारा उद्धृत : 'तुलसी और उनका युग'

'कुशल' का हेतु दुर्नीति है । ऐसी दुर्नीति अंधेर के प्रति क्रान्ति का सन्देश लेकर महाकवि तुलसी साहित्य के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए । किन्तु सामयिक परिस्थितियों के कारण वह प्रत्यक्ष रूप से राजनीति के क्षेत्र में क्रान्ति नहीं कर सकते थे, अतः उन्होंने अपने आराध्यदेव राम के आदर्श राज्य का चित्रण कर एक ओर राजा के कर्तव्य और उसकी उत्तम प्रकृति की ओर इंगित किया तो दूसरी ओर रावण की अनीतियों के चित्र खींचकर सम-सामयिक राज्य की कुनीतियों की ओर संकेत कर जनता को उन अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह करने की परोक्ष रूप से प्रेरणा देकर अपने कवि कर्तव्य को पूरा किया ।

राम काव्य की परिधि के बाहर कृष्ण काव्य के प्रणेता अष्टछाप के कवि, जिनका नारा ही था 'संतन को कहा सीकरी सों काम', भी अपनी नागरिक जागरूकता का परित्याग न कर सके । उन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टि से, राजवर्ग के संगठन और उद्देश्य, शासन सम्बन्धी समस्याएं, राजदूत, राजा और प्रजा के कर्तव्य, न्याय व्यवस्था और प्रजा के द्वारा उचित न्याय की मांग, मंत्री राज-पुरोहित, कोतवाल आदि पदाधिकारियों और राज सभा तथा राज-महलों के वैभवों का वर्णन किया है । इसके अतिरिक्त राजधानी और राजमहलों तथा दरबारों का सजीव वर्णन प्रस्तुत करते हुए देश की सुरक्षा के लिए सेना, शत्रुओं से युद्ध, युद्ध शस्त्र (धनुष आदि) और युद्ध के लिए जाते समय सैनिकों की सज्जा, गढ़ों की रचना, रणनीति कर-व्यवस्था और राज की शासन नीति से सम्बन्धित तथा विषयों का समावेश कर साहित्य में राजनीति को प्रचुर मात्रा में स्थान दिया है । सूर ने तो साधारण युद्धों के अतिरिक्त मायावी युद्धों का भी वर्णन किया है । दंतवक्र से युद्ध में इसके उदाहरण मिलते हैं । राजनीति में छल अवश्य माना जाता है । इस तथ्य को सूरसागर में निम्न प्रकार से व्यक्त किया गया है--

मंत्रिनि नीकौ मंत्र विचारयौ ।
राजन कहौं, छल काहु कौ, कौन नृपति है मार्यौ ।[1]

---

1 सूरसागर(सभा) ९-९८

इसी प्रकार कंस की कपटपूर्ण नीति और आज्ञा-पालन पर बख्शीश देने की बात का भी सूरदास ने अपने सूर सागर में उल्लेख किया है। तत्कालीन शासन-पद्धति से परिचित सूरदास ने सिरोपाव और बख्शीश का नाम कंस के प्रसंग में लिया है। क्रूर कर्मा कंस कुटिल नीति का अनुसरण करके अक्रूर को व्रज भेजते हुए सिरोपाव से विभूषित करता है[1] और आज्ञापालन करने वाले कृष्ण को बख्शीश देने का निश्चय करता है[2]। 'सूर सारावली' में सूरदास ने कंस को दुष्ट नृपति का नाम दिया है[3] और श्रेष्ठ राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को गऊ और स्वर्ण दान करने का उल्लेख करके अपनी आदर्श राजा सम्बन्धी धारणा को स्पष्ट कर दिया है[4]। अतः यह कहा जा सकता है कि कृष्ण काव्य के प्रणेताओं ने प्रत्यक्ष रूप से राजनीति से दूर रहने पर भी अपनी राजनीतिक जीवन विषयक जागरूकता के कारण एक जागरूक नागरिक की भाँति राजनीतिक दृष्टिकोण को अपनाया। बालकृष्ण के लिए सांचे के साथ इन कवियों ने अपने साहित्य में युगीन राजनीति का समावेश करके साहित्य के एक आवश्यक अंग की पुष्टि की और यह स्पष्ट कर दिया कि साहित्यकार अपने युग की परिस्थितियों का त्याग कर जीवन से दूर नहीं जा सकता।

---

१ "कहि सबास कहौं सैन दै, सिरोपाव मंगायौ।
   अपने कर लै करि दियौ, सुफलक सुत लीन्हौ ।। --सूरसागर, दशम स्कंध, पृ० ११८८

२ कमल जब लैं तरत-पाहि स्याये सुत, बहुत बकसीस अब ताहि देहौं।
   --सूरसागर, दशम स्कंध, पृ० ११९८

३ 'दुष्ट 'नृपति' कौ मान मथन करि चले द्वारिकानाथ'
   -- सूरसारावली ६३५

४ 'दैतदान' नृपराज' विप्रनि कौ सरभी हेम अपार'
   -- सूरसारावली ६६३

भक्तिकाल के अन्तिम चरण में कविगण राजदरबारी आश्रयी बनने का स्वप्न देखने लगे थे । केशवदास तथा सेनापति राजदरबारी कवि थे । केशव ने अपनी 'रामचन्द्रिका' के छब्बीसवें प्रकाश में राजनीति का वर्णन करते हुए चार प्रकार के राजा, मंत्री और मंत्रों की व्याख्या की है। सत्ताईसवें प्रकाश में राम के राज्याभिषेक के समस्त विधि-विधानों का वर्णन, पैंतीसवें, छत्तीसवें, सैंतीसवें और अड़तीसवें प्रकाश में राम के अश्वमेध यज्ञ करने के पूर्व, घोड़े के रोकने पर लव कुश के साथ राम और उनके भाइयों का सेना सहित युद्ध और रामकृत राजनीति का उपदेश केशव के राजनीतिक पाण्डित्य का प्रतीक है ।

उत्तर मध्यकाल

मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में जब साहित्य राज्याश्रित होकर शृंगारिकता की कीच में फँस गया था, आश्रयदाताओं की रुचि में-धन समय-भेद, के अनुकूल सामान्य नायक-नायिकाओं के हावभावविलास का वर्णन ही कवि-कर्तव्य की इतिश्री समझी जाने लगी थी, उस युग में भी भूषण ऐसे कवियों ने युगीन प्रवृत्तियों के विपरीत अपने काव्य में हिन्दू राजाओं की वीरता और शौर्य का चित्रण कर सुप्त जातीयता की भावना को जागृत करने का प्रयास किया । महाकवि भूषण का शिवा बावनी और छत्रसाल दशक उनकी उग्र जातीयता और हिन्दुत्व के प्रति सच्ची निष्ठा के प्रतीक हैं । शिवाबावनी के अनेक छन्दों में शिवा जी की प्रशंसा में उनके जातिगत भावों की ही प्रतिध्वनि है[1] । हिन्दुत्व के विरोधी औरंगजेब के प्रति उनकी लेखनी का कटु प्रहार यह प्रमाणित करता है कि औरंगजेब जैसे कट्टर मुसलमान के दीर्घ शासन-काल में भी हिन्दू जनता मानसिक पराधीनता स्वीकार न कर सकी । भूषण ने अपने चरित नायकों के माध्यम से जो उद्गार प्रस्तुत किए हैं, वे समग्र हिन्दू जाति के हैं, इसीलिए उन्हें सम-सामयिक हिन्दू जाति का प्रतिनिधि ही नहीं, राष्ट्रीय

१ शिवा बावनी - छंद-- १६,२०,२१,४६,५१ आदि ।

कवि भी कहा जाता है । मिश्रबन्धुओं द्वारा सम्पादित भूषण ग्रन्थावली के छंद एवं उनमें ऐतिहासिकता को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भूषण ने यथास्थान अकबर,शाहजहाँ आदि प्रतिनायकों को पूरा-पूरा मान देकर अपनी तटस्थ नीति और निष्पक्ष दृष्टिकोण का परिचय दिया है । वह कहते हैं--

'सिंह की सिंह चोट सहै गजराज सहै गजराज की धक्का ।'[1]

इसी समय लाल कवि ने छत्रप्रकाश और सूदन ने 'सुजान चरित्र' की रचना कर साहित्य के क्षेत्र में पुन: वीरगाथा कालीन प्रवृत्तियों के पुनर्स्थापन का प्रयास किया । गोरेलाल ने अपने छत्रप्रकाश में छत्रसाल की प्रशंसा करने के साथ ही बुन्देल वंश की उत्पत्ति,चम्पतराय के विजय वृत्तान्त,उनके उद्योग और पराक्रम,चंपतराय के अन्तिम दिनों में उनके राज्य का मुगलों के हाथ में जाना, छत्रसाल का थोड़ी-सी सेना लेकर अपने राज्य का उद्धार,फिर क्रमश: विजय पर विजय प्राप्त करते हुए मुगलों का नाकों दम करना इत्यादि बातों का विस्तार से वर्णन किया है । सूदन ने अपने सुजान चरित्र में सूरजमल की वीरता का वर्णन किया है । इस वीर रसात्मक ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न युद्धों का ही वर्णन होने के कारण अध्यायों का नाम भी जंग रखा गया है । युद्ध कर्त्ताओं के व्याख्यान और राजाओं से दूतों की बातें विशेष द्रष्टव्य हैं । मिश्रबन्धुओं ने अपने लेख 'सुजान चरित्र--सूदन' में यह स्पष्ट कर दिया है कि सूदन ने अपने नायक का जैसा उत्तम वर्णन किया है,वैसा ही उसके प्रतिद्वन्द्वी का भी किया है । इस विषय में बादशाह, अहमद अफगान, [illegible] के राव एवं [illegible] का वर्णन दर्शनीय है । सूदन ने अहमद खाँ अफगान बंगश, मरहठों की चढ़ाई और कृष्ण-चरित्र का बहुत ही चित्ताकर्षक वर्णन किया है ।[2]

वीरगाथाओं के इस द्वितीय उत्थान में साहित्य के निर्माता राजाओं की स्तुति गाने वाले भाट या चारण न थे । वे सच्चे कवि थे । उन्होंने किसी राजा की प्रशंसा के लिए नहीं वरन् स्वराष्ट्र और

---

१ गुलाबराय : 'हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास', पृ० १४६

२ 'सरस्वती', सितम्बर, सन् १९१०, पृ० ३९६ ।

वर्गों की रक्षा के लिए और वीर पुरुषों की कर्तव्य भावना को प्रेरित करने के लिए ही अपने साहित्य का सृजन किया ।

इस युग के घोर शृंगारिक कवियों पर भी यदि दृष्टिपात किया जाय तो बिहारी जैसे स्वाभ कवि मिल जायेंगे, जिन्होंने अपने साहित्य में न चाहने पर भी अपने राजनीतिक दृष्टिकोण का परिचय दे ही दिया । जब जयपुर के महाराज जयसिंह की विलासिता अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई और वह अपने कर्तव्य-पथ से विमुख हो गया तब बिहारी ने अपने काव्य कौशल्य से उसे पुन: कर्तव्य रत करने का प्रयास किया[1] । अन्योक्ति के माध्यम से राजा को पुन: राजदरबार में भेजकर बिहारी ने यह सिद्ध कर दिया कि एक शृंगारिक कवि होने पर भी वह नागरिक दृष्टि से जागरूक है । इसी प्रकार अपने आश्रयदाता राजा को शाहजहां का पक्ष लेकर हिन्दुओं के विरुद्ध लड़ते देखकर बाज की अन्योक्ति द्वारा शिक्षा देते हुए कहा कि :-

'स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देखि विहंग बिचारि ।
बाज पराए पानि पर, तू पच्छीनु न मारि ॥[2]

बिहारी की लेखनी का अस्त्र अपने आश्रयदाताओं को चुनौती देने से भी न चूका । यथा समय उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से जन प्रतिनिधित्व करके अपने को राज्याश्रित होने पर भी जनता का समर्थक और राष्ट्रीय भावनाओं का सम्मान करने वाला कवि सिद्ध कर दिया । कवि बिहारी के व्यावहारिक जीवन विषयक नीति कथनों में तत्कालीन राजनीतिक और सामंती दाव-पेंचों की जानकारी और कूटनीति प्राप्त होती है । उधर मध्यकालीन साहित्य का विकास राजाश्रय और दरबारी संस्कृति में हुआ था । इस प्रकार उसका सीधा

---

१ नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल ।
अली कली ही सौं बिंध्यो, आगे कौन हवाल ॥
-'बिहारी रत्नाकर', जगन्नाथदास रत्नाकर, पृ० २४

२ ,, ,, दोहा ३००, पृ० १२६

सम्बन्ध राजा से तो था, किन्तु राजाश्रित काव्य की प्राय: यह प्रवृत्ति होती है कि वह अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा में बह जाता है और इसलिए इस साहित्य में राजतंत्र की भावनाएं विशेष रूप से मिलती हैं। मुसलमान बादशाहों के विलासी जीवनका प्रभाव साहित्यकार पर भी पड़ा। राज्याश्रित कवि जीवन की वास्तविकताओं से दूर शृंगारिकता की कीच में जा फंसे। अत: उनका जीवन से पलायनवादी होना भी उनके सामाजिक परिवेश और कठोर राजनीतिक परम्परा का प्रतीक है। इस प्रकार यदि हम आधुनिक काल से पूर्व के साहित्य को एक विहंगम दृष्टि से देखते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्रजा-पालन के सिद्धान्त को मानते हुए भी राजा के अस्तित्व को सर्वत्र स्वीकार किया गया है। लोकतन्त्र की कल्पना कहीं भी नहीं है कि राजा को सुराज की प्रेरणा दी गई है और उसे उसके कर्तव्य को बार-बार याद दिलाई गई है। प्रजा के दु:ख और दैन्य का वर्णन तो है, किन्तु अधिकार और स्वतन्त्रता की मांग नहीं मिलती। देश-भक्ति का एक अत्यन्त सीमित रूप भू-प्रेम, जाति-प्रेम या स्वामिभक्ति के रूप में मिलता है।

(ग) आधुनिक बोध और आधुनिक हिन्दी साहित्यकार की राजनीतिक चेतना

पुरानी सामंतीय व्यवस्था के ढीले पड़ते ही पूंजीवादी संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था का उदय होता है । उसके साथ ही कच्चे माल और तैयार विदेशी वस्तुओं के आयात-निर्यात के लिए रेलें बनीं (सन् १८५३ई०) और आधुनिक भारतीय बुर्जिओवा वर्ग का अभ्युदय हुआ । जब- जब मध्ययुगीन पवित्र चेतना को आस्था की तार्किक चेतना के विवेक ने अपदस्थ किया, तब-तब आधुनिकता की झिलमिलाहट हुई । वैयक्तिक उपलब्धि तथा सामाजिक शक्ति का प्रसार किसी समूह मात्र में सीमित न होकर विशाल जन-जन में परिव्याप्त हो गया एवं आधुनिकता का सघर्ष भी मानवीय प्रारब्ध के प्रति एक नया क्रान्तिकारी दृष्टिकोण स्थापित करना और मानवीय मस्तिष्क के विकास की दृष्टिगत रखते हुए दिशा ढूंढ़ना है । अत: 'क्रान्ति' और 'संक्रान्ति' आधुनिकता की मौलिक धरोहर हैं । राष्ट्रीय भावनाओं का अभ्युदय, नगर-जीवन की सामूहिकता, व्यापार के कारण बुर्जुवा वर्ग का अभ्युदय आधुनिक युग के संवाहक बने[1] । इस युग में देश का शासन एक तीसरी ही शक्ति के हाथ में चले जाने से राजनीति की गतिविधि में महान् परिवर्तन हुआ । राजनीति की दृष्टि से सत्ता सामन्त वर्ग के हाथ से निकल कर बुर्जुवा वर्ग के हाथ आई और सामाजिक दृष्टि से मनुष्य व्यक्ति होकर अकेला बन गया एवं समाज से कटकर वह शोषण की बड़ी शक्तियों में पिसने लगा । अत: इस युग की राजनीतिक क्रान्ति मनुष्य के अधिकारों की घोषणा है । अठारहवीं उन्नीसवीं शताब्दी में इतिहास के दर्शन की रोमाण्टिक के बजाय वैज्ञानिक एवं क्रान्तिकारी व्याख्याएं हुईं । क्योंकि व्यक्ति और समाज, मनुष्य और ईश्वर, पुरुष और नारी के सम्बन्ध बदल गए थे । परिवर्तन की यह सक्रिय वैज्ञानिक विचारधारात्मक भूमिका ही आधुनिकता की धारणा है[2] ।

---

१ 'आधुनिकताबोध और आधुनिकीकरण' --रमेश कुन्तल मेघ, भारत तथा भारतीयता, पृ०३२, 'आधुनिकयुग', पृ०५८-५६ ।

२ आधुनिकताबोध और आधुनिकीकरण -- रमेशकुन्तल मेघ, पृ० [illegible]

आधुनिक बोध एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धि है । यह व्यक्ति की नई चेतना तथा नई धारणा का उन्मेष करता है, जिससे मनुष्य के 'स्व' के विघटन का समाप्ति एवं आत्म आधिपत्य की सिद्धि हो । जिन्हें साहित्यकारों का आधुनिक बोध निम्न मध्य वर्गीय संस्कृति का एक ऐसा बोध है, जो आत्म निर्वासन की भ्रान्ति से उपजा है । आधुनिक बोध की भावना के उद्बुद्ध होने पर मज़दूर और कृषक वर्ग के संगठन का निर्माण होता है और उनमें संघर्ष की स्वतः स्फूर्ति चेतना विकसित होती है । किन्तु उल्लेखनीय यह है कि दैन्य, यातना, कठोरता और क्रूरता के बढ़ने से ही क्रान्तिकारी स्थिति नहीं पैदा होती । उसके लिए असन्तोष की जागरूकता तथा संघर्ष का संकल्प आवश्यक है । इसीलिए जब आर्थिक संकट अधिकाधिक गहन होता जाता है, तब राजनीतिक संकट और राजनीतिक ध्रुवीकरण की समझ उत्पन्न होती है। तभी शक्ति की यथार्थता, सच्चाई तथा सम्भावना का उद्घाटन होता है । अतः संगठन से ही चेतना का गुणात्मक रूपान्तर होता है । अतएव आधुनिक बोध के अन्तर्गत व्यक्ति अपने जीवन का सच्चा अर्थ समाज के प्रति आस्थावान् तथा विचार-दर्शन से प्रतिबद्ध होकर प्राप्त करता है[1]। विशेष युग में (तत्सन्दर्भात्मक) आधुनिक बोध आधुनिकता की समस्या से जूझता हुआ अपने युग की सामयिकता को अंगीकार करता है तथा अपने समय के प्रमुख, स्वीकृत एवं प्रभावशाली बोध के अनुरूप ही विश्व और देश की मानवता और भारतीय मनुष्य को रूपान्तरित कर देता है । अतएव बोध के प्रामाणीकरण का आधार सम-सामयिकता रही है, उनकी सम-सामयिकता जो अपने अपने सांस्कृतिक प्रतीकों को सम्पूर्ण समाज के 'मानस' के रूप में संचारित तथा सम्प्रेषित कर सके हैं[2]। यहीं पर आकर साहित्य और प्रासंगिकता का प्रश्न हल होता है तथा साहित्यकार की प्रतिबद्धता स्वीकृत होती है ।

---

१ आधुनिक बोध तथा आधुनिकीकरण--रमेशकुन्तल मेघ, पृ० २७४, २८० ।

२ ,, ,, ,, , समसामयिकता तथा बोध का प्रामाणीकरण, पृ०३४७ ।

बौद्धिक रूप से जागरूक वर्ग का नेतृत्व करने वाले साहित्यकार ने अपनी पराधीनता को अनुभव किया और परिवेश से सम्बद्ध होकर साम्राज्यवाद के स्थान पर जनतंत्र का आदर्श उपस्थित किया । जनता की उग्र राजनीतिक चेतना ने स्वतंत्र के स्थान पर प्रजातंत्र शासन-प्रणाली का समर्थन किया और राजा के ईश्वर-स्वरूप की परिकल्पना का स्थान जन-नेता ने ले लिया । राज्य का नियामक राजा न होकर जन-प्रतिनिधि हुए और 'जनता का शासन, जनता के लिए, जनता के द्वारा' सिद्धान्त वाक्य बन गया । अब साहित्य में राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति की परम्परा ने एक नवीन रूप धारण किया । अतः जन-सामान्य की भावना के रूप में मुखरित आधुनिक साहित्य में राजाओं के प्रशस्तिगान ही राजनीति विषयक तथ्यों के स्पष्टीकरण के लिए पर्याप्त नहीं रहे । शासक के साथ ही शासित से सम्बद्ध प्रश्न साहित्यकार के चिन्तन का विषय बन गए । बदली हुई राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों में साहित्यकार युगों से उपेक्षित मध्य और निम्नवर्ग की ओर दृष्टिपात करने के लिए विवश हुआ । राज्याश्रय की शृंखला से मुक्त साहित्यकार अपने चिन्तन तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के साथ जनसामान्य का प्रतिनिधि बन गया और उनकी समस्याओं तथा उनके विचारों को अभिव्यक्त करने का अपना प्रथम दायित्व मानने लगा । जन-प्रतिनिधित्व का जो दायित्व इस समय के साहित्यकार ने लिया उसने निश्चय ही साहित्यकार के दायित्व की सीमाओं और क्षेत्र को विस्तार दिया । किन्तु इस दायित्व के परिणामस्वरूप उसे जनता का सशक्त संरक्षण भी प्राप्त हुआ । राजाओं का स्थान सड़कों पर कार्य करते हुए मजदूर और खेतों के श्रम से क्लान्त तथा जन सामान्य व्यक्ति ने लिया जो लेखक को यथार्थ से संघर्ष करता हुआ वैभव सम्पन्न सामंत से अधिक विशिष्ट लगा । जन सामान्य की स्थिति का यथार्थ चित्रण राष्ट्रीयता और देश-भक्ति के भावों की अभिव्यंजना ही साहित्य का मुख्य विषय बन गया । सरकारी नीतियों की कटु भर्त्सना से जनता में राजनीतिक चेतना उत्पन्न हुई ।

अंग्रेजी शासन के प्रारम्भिक वर्षों में हिन्दी के साहित्यकारों ने यथाशक्ति राजभक्ति का भी प्रदर्शन कर देश-दशा में सुधार करवाने का प्रयास किया । किन्तु जब व्यापारी शासकों पर अनुनय-विनय का कोई प्रभाव न पड़ा तो साहित्यकार नम्र नीति का परित्याग कर विदेशी सत्ता से लोहा लेने के लिए कटिबद्ध हो गए । राजभक्ति के पर्दे के पीछे अपने देश-प्रेम के भावों को व्यक्त करने के स्थान पर हिन्दी के साहित्यकारों ने स्वर्णिम अतीत का चित्रण कर अपने देश-प्रेम के भावों को व्यक्त करने के साथ ही देशवासियों के मन में उज्ज्वल अतीत के प्रति गौरव के भाव उत्पन्न किए । स्वर्णिम अतीत के चित्रण से भारतीयों के मन में अपने देश और अपनी संस्कृति के प्रति जो श्रद्धा और प्रेम उत्पन्न हुआ उसकी प्रतिक्रिया स्वातन्त्र्य आन्दोलन के रूप में दृष्टिगत होती है ।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में साहित्य के क्षेत्र में अनेकानेक कवियों और लेखकों ने राष्ट्रीय भावों की अभिव्यक्ति कर देश और समसामयिक परिवेश के प्रति अपने दायित्व का परिचय दिया । इन सौ वर्षों के साहित्य में राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति करने वाले कवियों में भारतेन्दु, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', लाला भगवानदीन 'दीन', पं० माखनलाल चतुर्वेदी, पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', पं० रामनरेश त्रिपाठी और श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान प्रमुख हैं । निश्चय ही इन कवियों ने अपने साहित्य के माध्यम से अपने विस्तृत दृष्टिकोण को जनता के समक्ष रखा । सम्पूर्ण देश की सुख-समृद्धि ही इन साहित्यिकों का मुख्य लक्ष्य था, अतः अपने साहित्य के द्वारा साहित्यकारों ने संकीर्ण जातीयता के स्थान पर देश को राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बद्ध किया । श्रीधर पाठक के राष्ट्रीय गीत 'भारतगीत' में संगृहीत हैं । 'दीन' जी ने प्राचीन वीरात्माओं की गुणगाथा का गान किया है और 'सनेही' जी का ध्यान वर्तमान राजनीति पर अधिक है । सनेही जी ने [illegible] राष्ट्रीय कविताएँ त्रिशूल के नाम से रची हैं । रामनरेश त्रिपाठी के 'स्वप्न' में देश-प्रेम और त्याग के उज्ज्वल आदर्श [illegible] हैं । मैथिलीशरण गुप्त

थी। भारतभारती उनकी राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित कविताओं का संग्रह है। 'जयद्रथ वध' में भी राजनीतिक सिद्धान्तों का काव्यमय वर्णन है। 'साकेत' में रामवन गमन के समय प्रजा का मार्ग में लेटना, उर्मिला का भरत से कृषि आदि के विषय में पूछना आदि अनेक ऐसे स्थल हैं, जो गुप्त जी के राजनीतिक आदर्शों को व्यक्त करते हैं। श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान ने ने अपनी 'झाँसी की रानी' कविता में लक्ष्मीबाई की वीरता का सजीव चित्रण कर यह स्पष्ट कर दिया है कि इस नारीयुग में पुरुषों के समान ही नारियें भी राजनीति के क्षेत्र में अपना सक्रिय सहयोग देकर राष्ट्र की एकता और स्वतन्त्रता के लिए क्रियाशील रही हैं।

आधुनिक युग में परम्परा का अनुसरण करते हुए हिन्दी के कवियों ने अपने साहित्य में युगीन राजनीति का चित्रण यथास्थान यद्द किया अवश्य, किन्तु वह युग की मांग को पूरा न कर सका। विदेशी शासन तथा की उलझी हुई राजनीतिक परिस्थितियों की अभिव्यक्ति के लिए काव्य पर्याप्त माध्यम नहीं रह गया था। ऐसी परिस्थिति में चुभती हुई, प्रभावशाली तार्किक और बौद्धिक शक्ति से सम्बलित निबन्ध शैली का उदय होता है, जो इस युग के जागरूक साहित्यकार की प्रबुद्ध चेतना को अभिव्यक्ति देने में समर्थ हुई। उल्लेखनीय यह है कि इस अभिव्यक्ति का सम्बन्ध तात्कालिक तथा समसामयिक परिस्थितियों से था। अत: जीवन ज्यों-ज्यों जटिल होता गया, गद्य का महत्व भी बढ़तागया और आज बीसवीं शताब्दी के इस वैज्ञानिक युग में गद्य अपने साथ एक नई चेतना लेकर आने के कारण ही मानव जीवन की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम बन गया। एक ओर इसने यदि साहित्य को जनसंप्रीकरण का ओर उन्मुख किया तो दूसरी ओर साहित्य के विशिष्टीकरण की ओर संकेत भी किया है। साहित्यकार के बहुमुखी चिन्तन और गम्भीर विवेचन के लिए गद्य ही अधिक उपयुक्त था। गद्य की निबन्धगति की व्यावहारिक उपादेयता ने उसे भेदकता, प्रतिष्ठा और दृढ़ता प्रदान की और गद्य का दुतगति से सर्वांगीण

दर्शन तथा विधि ग्राहक के रूप में विकास हुआ ।

शिक्षा के सामान्य स्तर में वृद्धि तथा शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ प्रतिदिन के मान्यता प्राप्त नवीन विषयों का चिन्तन विवेचन और प्रतिष्ठापन गद्य में ही होने से आधुनिक साहित्य एवं वाङ्मय के अधिकांश पर गद्य का एकाधिकार सा हो गया । उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिन्दी के गद्य-लेखकों ने देश-विदेश के ज्ञान-विज्ञान को जन-सामान्य तक पहुंचाकर जन-चेतना उत्पन्न करने के हेतु उपयोगी साहित्य की भी रचना करना आवश्यक समझा ।

उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व साहित्य में कल्पना प्रधान काव्य की प्रधानता होने के कारण और मुद्रणकला के अभाव में गद्य साहित्य का प्रधान अंग बन सका था । किन्तु सन् १८३५८० में जब भारत में प्रेस की स्थापना हो गई, तब गद्य को, मुद्रण के साधन सुलभ होने से विकास का उचित अवसर मिला । शासकों की कूटनीति के प्रति जन-सामान्य के मन में जो विद्रोहाग्नि प्रज्ज्वलित हो रही थी, वह सन् से तीव्रतर होती गई और पत्रकारिता ने उसे उचित प्रवाह का मार्ग सहज ही प्रदान किया । युग का नेतृत्व करने वाले साहित्यकार पराधीनता से उत्पन्न विषमता को सहन न कर सके और सामयिक साहित्य के रूप में उनके अन्त:मन में छिपे ज्वालामुखी का मानो विस्फोट -सा होने लगा । उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में क्रान्ति का जो सन्देश हिन्दी के साहित्यकारों ने दिया, उसका व्यापक प्रभाव राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में दृष्टिगत होता है । अत: यह कहना अत्युक्ति न होगी कि स्वातन्त्र्य आन्दोलन के प्रेरक और प्रचारक वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होने वाले साहित्यकार ही थे ।

इस युग के साहित्यकारों ने अपने पत्रों के माध्यम से दैनन्दिन घटना से सम्बद्ध सामयिक विषयों पर निबन्ध, लेख, सम्पादकीय टिप्पणियाँ आदि लिख कर गद्य के विकास में अपना अपूर्व योगदान दिया । इस

युग के प्राय: सभी लेखक पत्रकार थे । अत: सामयिक राजनीति पर अपने विचार व्यक्त करने के लिए उन्हें इधर-उधर भटकना नहीं पड़ा । अपने पत्रों के माध्यम से जन-सामान्य की भाषा में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र,प्रतापनारायण मिश्र , बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' आदि ने सामयिक विषयों पर जो लेख लिखे, उनका जन-सामान्य में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने में अपना विशेष महत्व है । इन लेखकों ने अपने पत्रों के माध्यम से पाठक वर्ग से सीधा सम्पर्क स्थापित कर,जिस अनाओपचारिक वातावरण की सृष्टि की थी, उसमें जो भाव उनकी लेखनी से उद्भूत हुए,उन्होंने जन-मानस पर अपना अमिट प्रभाव डाला ।

विदेशी शासकों ने हिन्दी-पत्रों के माध्यम से अपने शासन पर किए गए प्रहार को अपने भावी विनाश का कारण जानकर हिन्दी समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाया । लार्ड लिटन का प्रेस एक्ट (सन् १८७८ई०) और लार्ड एलगिन का कार्पोराइट बिल भारतीय स्वातन्त्र्य अपहरण नीति के प्रमाण स्वरूप हैं । किन्तु यह प्रतिबन्ध हिन्दी के साहित्यकारों को कर्तव्य विमुख न कर सके । धनाभाव में भी लेखक अपने पत्रों में विदेशी शासन के प्रति विष उगलते रहे और प्रेस एक्ट के पंजे में फंसने पर समय-समय पर पीड़ित भी हुए । किन्तु दारिद्र्य अथवा शासकों की धमकी उनकी स्वातन्त्र्य चेतना और विद्रोही भाव का दमन न कर सकी । भारतेन्दु ने अपनी आनरेरी मजिस्ट्रेटी से त्याग-पत्र दे दिया और महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ट्रैफिक सुपरिण्टेण्डेण्ट के पद को त्याग कर घर आई लक्ष्मी ठुकराने की उक्ति को चरितार्थ किया । स्वयं दारिद्र्य में रहकर पत्रों का संचालन करना और यथा समय पुरस्कार स्वरूप सरकार से दण्ड प्राप्त करना साहित्य के इन महारथियों के लिए साधारण बात थी । उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी के गद्य लेखकों के द्वारा किए गए त्याग और बलिदान ने भावी गद्य के भव्य प्रासाद का निर्माण किया । गम्भीर गद्य के रूप में निबन्ध और लेखों का जो सृजन इन साहित्यकारों ने किया ,उसी का विकसित स्वरूप हमें बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध

में प्रारम्भ होता है । वास्तव में निबन्ध का जन्म भारतेन्दु युग की ही देन है । द्विवेदी युग में तो निबन्ध लेखन की उस परम्परा को परिष्कृत करने का प्रयास ही किया गया ।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में सरस्वती सम्पादक के रूप में महावीरप्रसाद द्विवेदी का, साहित्य के प्रांगण में प्रवेश एक युग-व्यापी क्रान्ति का प्रतीक है । इस युग में नवीन विषयों के प्रयोग के साथ ही भाषा को परिष्कृत और परिमार्जित कर द्विवेदी जी ने उसके स्वरूप को संवारने का महत् कार्य किया । भारतेन्दु युग में अपने देश से सम्बन्धित राजनीति की ओर ही गद्यकारों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ था । क्योंकि येन केन प्रकारेण जन-सामान्य की स्थिति में सुधार करना ही इन साहित्यकारों का मुख्य लक्ष्य था । किन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में पाश्चात्य देशों से सम्पर्क और वैज्ञानिक उन्नति के फलस्वरूप हिन्दी गद्यकारों के अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण में विकास हुआ और देश की राजनीति के साथ ही साथ विश्व राजनीति की गतिविधियों को साहित्य का वर्ण्य-विषय बनाकर जन-सामान्य के ज्ञान की वृद्धि करने का प्रयास किया गया । यद्यपि द्विवेदी जी ने प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक मामलों में शायद कोई भाग नहीं लिया, तथापि स्वतन्त्रता के लिए होने वाले आन्दोलन से उनको पूर्ण सहानुभूति थी । इसलिए उन्होंने अपनी गुरु-गम्भीर प्रखर वाणी में देश-विदेश की सामयिक राजनीति पर लेख लिखकर जनता में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास करने के साथ ही जन-सामान्य को राजनीतिक चेतना प्रदान करने का प्रयास भी किया । विदेशों में होने वाली क्रान्तियों का वर्णन[1], विदेशों की शासन-पद्धति[2], सरकारी रिपोर्टों

---

१ रूस का राष्ट्रविप्लव--श्यामाचरण राय बी०ए०बी०एल० (सरस्वती १९१६, अप्रैल, पृ०१८६-८९) जापान और युद्ध-जीवन सिंह (सरस्वती), रूस जापान युद्ध-श्याम-बिहारी मिश्र, शुकदेव बिहारी मिश्र (सरस्वती अक्टूबर १९०४, पृ०३५७), नाटाल की संग्राम भूमि प्यारेलाल मिश्र, बैरिस्टर एट-ला (सरस्वती सन् १९१४), फ्रांस में राज्यक्रान्ति (सरस्वती अगस्त सन् १९१३) निर्मूलते शर्मा, फ्रांस की राज्य

(अगले पृष्ठ पर देखें)

की आलोचना,[१] राजनीतिज्ञों और उच्च पदाधिकारियों की जीवनियाँ[२] जनता को देश की वर्तमान दशा का ज्ञान कराती थीं और अपने नेताओं के प्रति उनके हृदय में श्रद्धा और विश्वास के भाव जाग्रत करके देशोन्नति के उत्साह की प्रेरणा देती थीं। इस प्रकार यह देश की बौद्धिक चेतना को जागरूक करने के साहित्यिक उपाय थे। राजनीतिक आन्दोलनों के लिए जनता को तैयार करने में इन कृतियों से बड़ी सहायता मिलती थी। राजकीय उच्च पदाधिकारियों की

(पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी संख्या २ का अवशिष्टांश और संख्या २)
क्रान्ति का मूल कारण--- बलदेवनारायण, (मानिया का विप्लव, (सरस्वती मार्च १९२८), चीन की राज्यक्रान्ति(सरस्वती फरवरी १९२८), चीन में स्वातन्त्र्य संग्राम - मथुरादास शर्मा(विशालभारत जुलाई १९२६ई०), चीन का स्वातंत्र्य संग्राम प्रा० सत्यनारायण(विशाल भारत अगस्त सन १९३२), चीन की अराजकता(वीणा सावन सं० १९८५), रूमानिया में क्रान्ति का प्रयत्न(वीणा-भादों सं० १९८५), फ्रांस का राष्ट्र विप्लव महेन्द्रपाल सिंह(मर्यादा-मि० अक्टू० १९१२), टर्की की जागृति(मर्यादा मि० अक्टू० १९१२), चीन की क्रान्ति क्यों हुई पुरन्दर(मर्यादा अगस्त १९१३), फ्रांस की राज्यक्रान्ति पर एक दृष्टि--श्रीमद् विद्यालंकार 'साहित्य' मार्गशीर्ष अंक ६ सं० १९७९) युद्ध की नई विधि(वीणा अक्टूबर १९४०),
२-नैपोलियन बोनापार्ट की शासन पद्धति(ईश्वरीप्रसाद, सरस्वती दिसम्बर १९२२ई०), फ्रांस की शासन पद्धति (आत्माराम वर्मा, सरस्वती मई १९२४), अमरीका का शासन पद्धति- आत्माराम वर्मा(सरस्वती अगस्त१९२४ई०), दक्षिण अफ्रीका और वहाँ की शासन-प्रथा जगदीश्वरदत्त शुक्ल(मर्यादा दिसम्बर १९१३ई०), इंगलैण्ड की शासन पद्धति- शिवनारायण त्रिवेदी (मर्यादा जनवरी १९१५ई०), अमेरिका का प्रजातंत्र (इन्दु दिसम्बर १९१४ई०) बालमुकुन्द शर्मा, इटली में नवीन शासन पद्धति(श्यामसुन्दर ज्येष्ठ सं० १९८५), उपनिवेशों की शासन प्रणाली देवीप्रसाद शुक्ल (सरस्वती नवम्बर, सन् १९०६, पृ० ४८८-४९०)।

---

१ पुलिस, शिक्षा, माल का महकमा, रेलवे के बजट, म्युनिसिपैलिटी की रिपोर्ट्स, वार्षिक बजट रिपोर्ट आदि।
२ (अगले पृष्ठ पर देखें)

जीवनियाँ जनता में राजभक्ति की भावना बनाए रखने के लिए लिखी गईं और जन नेतृत्व करने वाले राज-नेताओं की जीवनियाँ देशभक्ति और देश-प्रेम के भावों को उद्बुद्ध करने के उद्देश्य से लिखी गईं । उक्त समस्त विषयों का स्पष्ट और सुलझा हुआ एवं प्रेरणादायक स्वरूप हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से जन-सामान्य के सम्मुख प्रस्तुत किया गया[1] । देश की तात्कालिक स्थिति की तुलना विदेशों से करने पर भारतीयों के मन में जो क्षोभ उत्पन्न हुआ, उसी ने उन्हें सक्रिय चिन्तन की ओर प्रेरित किया । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उक्त प्रबन्ध में समाहित सौ वर्षों के साहित्य ने राजनीति और साहित्य के क्षेत्र में परस्पर सम्पृक्त क्रान्ति उत्पन्न कर साहित्य को आधुनिकता के तत्वों से ही समन्वित नहीं किया, वरन् देश की चेतना को भी प्रभावित किया ।

(पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी संख्या २)

लार्ड म्योर साहब का जीवन चरित्र-भारतेन्दु(भारतेन्दु के निबन्ध,पृ०१५०-१५८), लार्ड किचनर(सरस्वती जनवरी सन् १९१५ संख्या १ पूर्ण संख्या १८१ भाग १६ खंड १ पृ०२१-२३), सर विलियम वेडर बर्न (सरस्वती मार्च सन् १९१८,पृ०११८-१२५),फ्रेडरिक पिन्काट(सरस्वती जन०१९०८ ,पृ०१-२७) ,दामोदर राव की आत्म कहानी-कार्तिकप्रसाद खत्री(सरस्वती स० १९००), झांसी की रानी लक्ष्मी बाई(सरस्वती जन०,फर०सन् १९०४), राजा रामपाल सिंह(सरस्वती मई सन् १९०४,पृ०१४१-१४७), महाराज सवाई रामसिंह जी-पुरोहित गोपीनाथ(सरस्वती अगस्त सन् १९०४, पृ० २५७-२६२), महाराज रघुराज सिंह जू देव जी०सी०एस०आई० (सरस्वती जन०सन्१९०५), सवाई जयसिंह (सरस्वती मई सन् १९०५,पृ०१९५-१९६);भिनगा नरेश श्री राजा उदय प्रताप सिंह साहब सी०एस०आई०(सरस्वती जन०सन् १९०७,पृ०६-१०),माननीय बदरुद्दीन तैयब जी -वेंकटेशनारायण तिवारी(सरस्वती,अप्रैल सन् १९०७,पृ०१०३), जापान नरेश मत्सु हीतु (सरस्वती जुलाई सन १९०७,पृ०२६४-६५),लोकमान्य बाल-गंगाधर तिलक(सरस्वती अगस्त सन् १९१६,पृ०५९-६२)आदि ।

---

१ सरस्वती, विशालभारत,मर्यादा,प्रभा,इन्दु, हंस,जागरण,वीणा,त्यागभूमि आदि ।

पीठिका

पाश्चात्य एवं भारतीय राजनीतिक-चिन्तन की रूपरेखा

एवं

हिन्दी गद्य-लेखक पर उसका प्रभाव

(क) पाश्चात्य राजदर्शन ।

(ख) भारतीय राजदर्शन ।

-0-

पीठिका

पाश्चात्य एवं भारतीय राजनीतिक-चिन्तन की रूपरेखा
एवं
हिन्दी गद्य-लेखक पर उसका प्रभाव

(क) पाश्चात्य राजदर्शन

हिन्दी गद्य के उदय और विकास में इस युग के लेखकों की राजनीतिक प्रबुद्धता का विशेष हाथ है। उल्लेखनीय यह है कि जब देश की परतंत्रता का प्रश्न समस्या के रूप में लेखक वर्ग के सामने खड़ा हुआ तो उनका ध्यान सहज ही पाश्चात्य विचारकों, विश्व में घटित होने वाली तत्कालीन क्रान्तियों तथा प्राचीन भारतीय राजनीतिक आदर्शों पर चला गया। पश्चिम में प्रजातंत्र की जिस परिकल्पना का विकास लगभग सोलहवीं शताब्दी में हुआ, वह अब तक प्रचुर परिपक्वता को प्राप्त हो चुका था। अतः पाश्चात्य जगत् से सम्पर्क स्थापित होने पर पश्चिम के राजनीतिक दार्शनिकों के विचार भारतीय शिक्षित मस्तिष्क को अनुप्रेरित और प्रभावित करने लगे। मुद्रण कला और परिवहन के साधनों का विकास एवं शिक्षा की त्वरित गति के कारण अठारहवीं शताब्दी के भारत को पश्चिम के वैचारिक सम्पर्क से असम्पृक्त नहीं रखा जा सकता था। मुद्रण कला का विकास होने से पाश्चात्य जगत में घटित होने वाली प्रत्येक घटना की सूचना समाचार-पत्रों के माध्यम से भारत के बुद्धिजीवी वर्ग को मिलने लगी। पराधीन देशों की स्वतंत्रता

(द्रष्टव्य -- भूमिका, पृ० ५२-५३)

और उसे प्राप्त करने के साधन, पश्चिमी देशों की शासन-प्रणाली, राज्य का स्वरूप उसका कार्यक्षेत्र और दायित्व, नागरिक के अधिकार, नागरिक और राज्य का संबंध आदि कुछ ऐसे तत्व थे, जिसका ज्ञान राजनीति और कानून का अध्ययन करने वाले प्रत्येक छात्र को हुआ। साथ ही शिक्षित मस्तिष्क का पाश्चात्य इतिहास, दर्शन, राजनीति और साहित्य का अध्ययन करके राज्य तथा राजा की मध्ययुगीन परिकल्पना से बाहर निकल जाना स्वाभाविक था।

आधुनिक हिन्दी गद्य-लेखकों ने एक ओर हाब्स, लाक, रूसो, एडमस्मिथ, ह्यूम, माण्टेस्क्यू, वाल्टेयर, मिल्टन, बर्क, बेंथम, जान स्टुअर्ट, मिल, काण्ट, हीगल फिक्ट, मार्क्स लेनिन, स्टेलिन आदि पाश्चात्य दार्शनिकों के जीवन और साहित्य में सम्पर्क पाकर उनके राजदर्शन को समझा तो दूसरी और भारतीय संस्कृति, साहित्य, इतिहास और राजनीतिक सिद्धान्तों एवं आदर्शों की ओर भी हिन्दी गद्य लेखकों का ध्यान आकृष्ट हुआ। इस प्रकार गद्यकारों ने पाश्चात्य और भारतीय राजदर्शन के उन तत्वों का संग्रह किया जो राजनीतिक अन्तर्दृष्टि के निर्माण में सहायक हुए तथा जिनका संग्रह और प्रचार करके उन्होंने अपने युग को भी प्रभावित करने की क्षमता पाई।

पश्चिम के उक्त दार्शनिकों ने ही पाश्चात्य जगत को सोलहवीं शताब्दी में आधुनिकता के रंग में रंग कर जन-सामान्य के चिन्तन की दिशा निर्धारित की थी। अत: भारत के बुद्धिजीवी वर्ग ने भी पश्चिम के दार्शनिकों के राजनीतिक सिद्धान्तों और आदर्शों का अध्ययन करके व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध राज्य के कार्य क्षेत्र और दायित्व, नागरिक के प्राकृतिक और नैतिक अधिकार, स्वतंत्रता की भावना और प्रतिनिधि शासन-प्रणाली के सिद्धान्तों को जन-सामान्य तक पहुंचाया और उनके चिन्तन की दिशा निर्धारित की, जन-चेतना उत्पन्न की, राष्ट्र और राष्ट्रीयता के आधुनिक अर्थों को स्पष्ट किया एवं समग्र भारत में आधुनिकता का संचार किया। उल्लेखनीय यह है कि भारत में आधुनिकता के यह तत्व उन्नीसवीं शताब्दी में विकसित हुए जब कि पश्चिम में वे ------------------------------------

सोलहवीं शताब्दी में ही उभर चुके थे । भारत में आधुनिकता का बोध देर से होना यह स्पष्ट करता है कि भारतीय आधुनिकता पश्चिम के दार्शनिकों के राजनीतिक आदर्शों से अनुप्राणित हुई है । सोलहवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी के मध्य पश्चिम में जितने भी राजनीति के दार्शनिक हुए सभी ने राज्य और व्यक्ति के सम्बन्ध, राज्य के दायित्व और कार्य-क्षेत्र, नागरिक के प्राकृतिक और नैसर्गिक अधिकार लैसेज़फेयर (Laisseze faire) स्वतन्त्रता, सम्प्रभुता, जनमत की महत्ता आदि तत्वों का विश्लेषण किसी-न-किसी किसी रूप में किया है । स्वतन्त्रता, सम्प्रभुता और जनमत के विषय में तो लॉक से लेकर लास्की तक सभी दार्शनिकों ने सशक्त विचारों की अभिव्यक्ति की है ।

पश्चिमी यूरोप में राष्ट्र राज्यों के आविर्भाव तथा सोलहवीं शताब्दी में सांस्कृतिक पुनर्जागरण और सुधार-आन्दोलन ने मध्य-कालीन यूरोप को आधुनिक यूरोप में परिवर्तित किया था और आधुनिक राजनीतिक विचार की आधार-शिला रखी थी । आधुनिक राजनीतिक विचार का केन्द्रबिन्दु है, राष्ट्र राज्य, जो धर्म-निरपेक्ष तथा सम्प्रभुतापूर्ण होने का दावा करता है । सत्रहवीं शताब्दी में राजनीतिक दार्शनिकों ने मुख्य अनुराग या तो निरंकुशतावाद के समर्थन में या नागरिकों की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए उनके ऊपर आक्रमण करने में दिखलाया । यदि एक ओर बोदाँ और हॉब्स ने निरंकुशवाद का पक्ष ग्रहण किया तो दूसरी ओर लॉक ने संवैधानिक शासन का समर्थन किया और रूसो ने सर्वांगीण सम्पन्न लोकप्रिय सम्प्रभुता का पक्ष-पोषण किया ।

समाज अनुबन्धन का सिद्धान्त

हॉब्स, लॉक और रूसो तीनों ने ही राज्य की स्थापना का आधार अनुबन्धों को मानते हुए कहा कि राज्य की उत्पत्ति एक ऐसे समझौते का परिणाम है, जिसमें व्यक्ति अपने समस्त प्राकृतिक अधिकारों को सार्वभौम सत्ता अथवा शासक को समर्पित कर देते हैं । यद्यपि उक्त तीनों ही दार्शनिक मूलतः में समाज अनुबन्धन के समर्थक थे तथापि उनके विचारों में परस्पर वैषम्य दृष्टिगत होता है।

हाब्स(सन् १५८८-१६७९) निरंकुश राजा का समर्थक था, इसलिए उसने व्यक्ति को कोई ऐसी स्वतन्त्रता नहीं दी जो सम्प्रभु की स्वतन्त्रता में बाधा डालती हो। हाब्स के विचार से सम्प्रभु शक्ति के अत्याचारी होने पर भी जन-सामान्य को उसका विरोध करने का अधिकार नहीं है। इसके विपरीत लाक (सन् १६३२-१७०४ई०) ने सामाजिक और शासकीय दो अनुबन्ध माने हैं। सामाजिक अनुबन्ध द्वारा नागरिक समाज की एवं शासकीय अनुबन्ध द्वारा सरकार की स्थापना होती है। पहला अनुबन्ध जनता के मध्य हुआ और दूसरा जनता और शासक के मध्य। अतः एक सरकार के भंग होने से नागरिक समाज छिन्न-भिन्न नहीं होगा, बल्कि समाज को उसके स्थान पर दूसरी सरकार बनानी पड़ेगी। लाक निरंकुश राजतंत्र का समर्थक नहीं था। इसलिए उसके राज्य में व्यक्ति अपने सम्पूर्ण प्राकृतिक अधिकारों को राजा को समर्पित न करके केवल वही अधिकार समर्पित करते हैं, जो प्राकृतिक विधियों को लागू करने के लिए और दूसरों को समाज के विरुद्ध अपराध करने पर दण्ड देने के लिए आवश्यक है। यह अधिकार किसी एक व्यक्ति को न देकर पूरे समाज को दिए गए। शासक को वह समाज का प्रतिनिधि मानता है, इसलिए उसने उसको केवल उतनी ही शक्तियाँ दीं, जितनी व्यक्ति ने समाज को दीं। शक्ति का कोई दुरुपयोग न करे, इसलिए लाक ने शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त भी स्थिर कर दिया। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का समर्थक होने के कारण लाक ने जीवन, स्वातन्त्र्य और सम्पत्ति के मौलिक अधिकारों के परित्याग के सम्बन्ध में किसी प्रकार के अनुबन्ध या संविदा को प्रस्तुत नहीं किया। क्योंकि यह नियम व्यक्ति की प्राकृतिक वासनाओं को रोक कर उन्हें विवेकशील जीवन व्यतीत करना सिखाते हैं।[१] उसके विचार से राज्य एक प्रन्यास है। इसके अधिकारी

१ " The state of Nature has a law of nature to govern it, which obliges every one, and reason, which is that law, teaches all mankind who will but consult it, that being all equal and independent, no one ought to harm another in his life ought he as much as he can to preserve the rest of mankind.... ...." (*Locke; of civil Government*, Everyman's Pub. P. 119)

व्यक्ति के जीवन, स्वातन्त्र्य और सम्पत्ति के अधिकारों को जब तक सुरक्षित रखते हैं तब तक उन्हें अपने पदों पर बने रहने का अधिकार है । किन्तु ज्यों ही उक्त अधिकारों पर वे प्रहार करते हैं या आन्तरिक अथवा बाह्य आक्रमण से उनकी रक्षा करने में असमर्थ होते हैं त्यों ही नागरिकों को उनके विरुद्ध क्रान्ति करने और नये प्रन्यास की स्थापना करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है । इस प्रकार लाक ने अपने संविदा के सिद्धान्त में राज्य का कार्य-क्षेत्र विधि-निर्माण से सुरक्षा में सीमित कर उसे पुलिस राज्य या सैनिक राज्य का रूप दे दिया है[१] । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि लाक ने अपनी व्यवस्था में व्यक्ति को प्रत्येक वस्तु का केन्द्र माना है और सरकार को एक प्रन्यास का रूप देकर जनतन्त्र और व्यक्ति की सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है ।

लाक ने अनुबन्ध के सिद्धान्त का समर्थन करने पर भी उपयोगितावाद, व्यक्तिवाद, प्रजातंत्रवाद आदि कई आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं की नींव रखी । उसने बतलाया कि मनुष्य सारे काम दुख से बचने के लिए और सुख प्राप्त करने के लिए करता है । वह नैतिक आचरण के सिद्धान्तों को अपने जीवन में ढालने का यत्न इसलिए करता है जिससे वह आनन्द प्राप्त कर सके । सभी विधियों के निर्माण का भी यही उद्देश्य होता है । उसके इन्हीं विचारों से बेंथम ने प्रेरणा

---

२ " Locke of civil Government P. 130;
" The community " he remarks", "Put the legislative power into such hands as they think fit, with this trust that they shall be governed by declared laws". Again he says " It is only a judiciary power to act for certain ends", and " power given with trust for the attaining of an end being limited by that whenever that end is manifestly neglected or opposed, the trust must necessarily be forfeited and the power devolve into the hands of those that gave it, who may place it anew where they shall think best for their safety and security. "

१ भल्ला, गुप्ता, जैन : 'राजदर्शन के आधार', पृ०४३ ।

ग्रहण की था । इसी प्रकार उसने सीमित शासन-तन्त्र और राज्य के सीमित कर्तव्यों पर बल देकर एक ऐसी व्यक्तिवादी विचारधारा को आगे बढ़ाया, जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपना विकास भली भांति कर सके । जनता को क्रान्ति का अधिकार देकर उसने प्रजा के प्रति उत्तरदायी शासन-तन्त्र की स्थापना को मान्यता दिलाई जो भविष्य में प्रजातंत्र वादी विचारधारा के रूप में पुष्पित और पल्लवित हुई । लॉक के विचारों ने भविष्य में इंगलैण्ड को प्रजातंत्र की दिशा में आगे बढ़ने में बहुत सहायता की । प्रत्येक प्रजातन्त्रवादी राज्य में आज जीवन स्वातन्त्र्य और सम्पत्ति रक्षा के अधिकारों को संवैधानिक मान्यता दी जाती है । प्रत्येक प्रजातंत्रवादी राज्य का शासन तंत्र(सरकार) यह मानता है कि वह तभी तक चल सकता है,जब तक उसे शासितों की सहमति प्राप्त हो । शासकों को प्रजा का स्वामी नहीं,वरन् सेवक समझा जाता है । स्वयं लॉक के उक्त विचारों का रूसो(सन् १७१२-१७७८) पर प्रभाव पड़ा और रूसो के सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में ही फ्रांस की प्रसिद्ध राज्यक्रान्ति(१७८९) हुई जिसमें स्वतन्त्रता,समानता और बन्धुत्व के भावों की प्रबल धारा प्रवाहित हुई,जिसका प्रभाव अत्यन्त व्यापक था । रूसो की विचारधारा ने जन-साधारण को न केवल अपने देश शासकों बल्कि आगे चलकर नेपोलियन के निरंकुश शासन का भी सामना करने के लिए उत्तेजित ही किया । इस क्रान्ति ने ऐसी शक्तियों को जन्म दिया,जिनका उन्नीसवीं शताब्दी के राजनीतिक विचारों तथा घटनाओं पर गहरा प्रभाव पड़ा ।

रूसो के संविदा के सिद्धान्त में हॉब्स का [illegible] और लॉक के निष्कर्षों का अद्भुत समन्वय दृष्टिगत होता है । उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने सम्पूर्ण प्राकृतिक अधिकार समग्र समाज को अर्पित कर देता है । चूंकि समाज के प्रभुत्व में प्रत्येक व्यक्ति का समान और अलंघनीय साझा था,इसलिए जो अधिकार उसने त्याग दिये थे, वे उसे राज्य के संरक्षण में वापस मिल गये । इस प्रकार जिस सत्ता की स्थापना हुई वह निरंकुश थी, फिर भी व्यक्ति समान अधिकारों का उपभोग करते रहे । रूसो का विश्वास था कि सत्ता को सम्पूर्ण समाज में निहित

करने और व्यक्तियों की स्वतन्त्रता इन दो बातों में कोई विरोध नहीं हो सकता । उसके अनुसार सामाजिक अनुबन्ध द्वारा एक बार बहुमत से राजनीतिक समाज या राज्य की स्थापना हो जाने के बाद कोई भी व्यक्ति चाहकर भी उससे अलग नहीं हो सकता । क्योंकि उस सम्पूर्ण समाज की इच्छा ही सामान्य इच्छा है, जो समाज के सब सदस्यों के समवर्ती हितों के अनुरूप होती है, विशिष्ट व्यक्तियों के हितों के अनुरूप नहीं । यह सामान्य इच्छा ही विधियों का अन्तिम स्रोत है । इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक कृत्य का निर्णय करने का अधिकार है । रूसो की सामान्य इच्छा एक प्रकार से उसकी सम्प्रभुता की कल्पना को स्पष्ट करती है । उसका कहना है कि सामान्य इच्छा में ही सम्प्रभुता अवस्थित है । लॉक की सम्प्रभुता जहाँ संरक्षक है और हॉब्स की सम्प्रभुता अधिनायकत्व, वहाँ रूसो की सम्प्रभुता अनिवार्यत: प्रजातांत्रिक है ।

रूसो ने राज्य तथा सरकार के भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि सम्पूर्ण राजनीतिक समाज ही राज्य है, जिसकी सर्वोच्च और प्रभुत्व सम्पन्न इच्छा के रूप में अभिव्यक्ति होती है; सरकार उन व्यक्तियों का समूह है, जिन्हें समाज द्वारा सामान्य इच्छा को क्रियान्वित करने के लिए चुन लिया जाता है । सरकार की रचना संविदा द्वारा नहीं होती, उसका निर्माण करना प्रभुत्व सम्पन्न जनता का काम है । जनता अपनी इच्छानुसार उसे बदल सकती है और वह जनता की अभिकर्ता (एजेण्ट) मात्र होती है ।

रूसो के बाद भी सामाजिक संविदा के सिद्धान्त का राजनीतिक महत्व बना रहा । लैकिन तथा मिल्टन की रचनाओं में इस सिद्धान्त को अत्यधिक विकसित रूप में व्यक्त किया गया और ऐतिहासिक दृष्टि से गलत और तर्क की दृष्टि से असंगतियों से भरा होने पर भी इस सिद्धान्त ने इंगलैण्ड की सन् १६८८ ई० की क्रान्ति, फ्रांस की राज्य-क्रान्ति (सन् १७८९ ई०) और अमेरिका के स्वातन्त्र्य युद्ध (सन् १७७६ ई०) को औचित्य प्रदान किया और आधुनिक लोकतंत्र तथा नागरिक स्वतन्त्रता के लिए दार्शनिक आधार का काम किया ।

डेविड ह्यूम(सन् १७११-१७७६ई०)

डेविड ह्यूम ने मनोवैज्ञानिक आधार पर शासनतंत्र के औचित्य को सिद्ध किया है । उनके इस विचार से राज्य और शासन का अस्तित्व व्यक्ति और समाज के लिए उपयोगी होने के कारण ही बना हुआ है । इसलिए नागरिकों को सम्प्रभुशक्ति की आज्ञा का पालन करना ही चाहिए[1] । ह्यूम के विचार से शासनशक्ति का प्रतीक है और शासनतंत्र का यह दायित्व है कि वह सम्पत्ति का उचित संरक्षण करे । ह्यूम के समय में प्राकृतिक प्रवृत्तियों का तीव्र गति से विकास हो रहा था, इसलिए उसने विचार और समाचारपत्रों के स्वातन्त्र्य के अधिकार का समर्थन भी किया । वह व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में सरकार के अधिक नियन्त्रण के विरुद्ध था । नैतिकता के परम्परागत सिद्धान्त के विपरीत उसने समय की आवश्यकता के अनुसार परिवर्तित होने वाली नैतिकता का समर्थन किया है ।

माण्टेस्क्यू(सन् १६८९-१७५५)

माण्टेस्क्यू ने राज्य की आकस्मिक (औपचारिक) कल्पना की है और विधियों को अन्तर्राष्ट्रीय,राजकीय और नागरिक तीन भागों में विभाजित किया है । उसके विचार से अन्तर्राष्ट्रीय विधियाँ सब राज्यों में समान होती हैं,किन्तु राजकीय और नागरिक विधियाँ सब राज्यों में अलग-अलग होती हैं । विधियों को उसने सापेक्ष (रिलेटिव) और रचनात्मक माना है । उसके विचार से

---

१ ." obey the powers that be. It is true that they are ordained
—by usurpation, or force, or both; but you must none the less pay
them obedience for the simple reason that society could not
otherwise subsist." David Hume as quoted by Sir E. Barker
in social contract, Introduction P. L. Viii.—

--गुप्त, मुंशी : 'पाश्चात्य राजदर्शन का इतिहास', पृ०३५०

विधियों का मूल समाज में है अतः राजकीय विधियों में राज्य के निवासियों के चरित्र का प्रतिबिम्ब होना चाहिए और नागरिक विधियों को सामाजिक और भौगोलिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए । माण्टेस्क्यू ने विधियों को मानवीय,सामाजिक, राजनीतिक और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का प्रतिनिधि मानकर अपेक्षाकृत व्यापक और उपयोगी बना दिया है ।

मॉण्टेस्क्यू ने शासन तंत्र को गणतंत्र,राजतंत्र या नृप तंत्र एवं निरंकुशतंत्र में विभाजित किया है । गणतंत्र के उसने अभिजातत्य तंत्र और प्रजातंत्र दो प्रकार बतलाये हैं । उसके विचार से गणतंत्र शासन देश-भक्ति पर आधारित होता है । उसमें प्रत्येक नागरिक जन-सेवा के लिए तत्पर रहता है और जन-कल्याण के कार्य करता है । गणतंत्र शासन में प्रत्येक नागरिक राजनीतिक दृष्टि से बड़ा जागरूक होता है और शासन के मूलतंत्र देश-भक्ति, देश-कल्याण-चिन्तन,सार्वजनिक सेवा का भाव और बलिदान होते हैं । इसके विपरीत राजतंत्र में राजसत्ता एक व्यक्ति के हाथ में होती है जो विधिवत् शासन करता है । शासन का मूल तत्व मान रक्षा और मर्यादा की भावना होती है । निरंकुश तंत्र में शासन सत्ता तो एक ही व्यक्ति में केन्द्रित होती है,किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह विधिवत् शासन करे । वह विधियों का उल्लंघन भी कर डालता है । इसलिए प्रजा सदैव भयभीत रहती है । प्रतिबन्धों के अभाव को ही उसने स्वतन्त्रता माना है । बाह्य प्रतिबन्धों का मुख्य स्रोत शासन(सरकार) है,इसलिए उसने शासन के क्षेत्र में शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त की मान्यता देते हुए शासन तंत्र के समस्त कार्यों को तीन भागों में विभाजित किया है -- कानून बनाना, शासन करना और न्याय की व्यवस्था करना । उसके विचार से उक्त तीनों कार्य अलग-अलग संस्थाओं द्वारा सम्पादित होने से नागरिकों की राजनीतिक स्वतन्त्रता सुरक्षित रहती है । शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त स्वीकार करने पर भी उसने शासन-तंत्र के विभिन्न अंगों को स्वतंत्र करने की सलाह नहीं दी है । उसका विचार था कि यदि शासन-तंत्र के सभी विभाग पूर्णतः स्वतंत्र हो जायं तो इससे अराजकता उत्पन्न हो सकती है । इसलिए वह चाहता था कि शक्ति-विभाजन द्वारा प्रत्येक विभाग के अधिकार और कार्यक्षेत्र के अलग कर दिए जाने पर भी प्रत्येक विभाग एक-दूसरे पर इस प्रकार नियंत्रण रखें कि सब विभाग सन्तुलितरूप से अपना-अपना कार्य करते रहें ।

वाल्टेयर (सन १६९४-१७७८)

वाल्टेयर के विचार से मनुष्य स्वतन्त्रता और समानता का प्रेमी है । समाज के प्रबन्ध, उसकी रक्षा एवं उन्नति के लिए ही राज्य की स्थापना हुई है । इसलिए मनुष्य राज्य में अपना विकास करने के लिए प्रवेश करता है किन्तु अपने समस्त अधिकारों का परित्याग न करके स्वतन्त्रता और समानता के अधिकार को बनाये रखता है । व्यक्ति के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार में भी उसका विश्वास है । प्राकृतिक अधिकारों की अलग से विवेचना न करने पर भी उसने फ्रांस की जनता के लिए व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, सम्पत्ति रखने के अधिकार, विचार-स्वातन्त्र्य, कानून द्वारा न्याय प्राप्त करने का अधिकार और धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार की मांग की है[१]। मनुष्य की स्वाभाविक समानता में विश्वास करते हुए भी वह सबकी सामाजिक समानता में विश्वास नहीं करता । वह सम्पत्ति की समानता को भी नहीं मानता था । वह राज्य द्वारा धार्मिक अत्याचार किया जाने के विरुद्ध था और चाहता था कि समस्त धर्माधिकारी राजसत्ता के आधीन रहें । शासन-तंत्र को वाल्टेयर ने गणतंत्र, प्रजातंत्र और राजतंत्र तीन भागों में बांटा है और उसके भ्रष्ट स्वरूप की कल्पना भी की है । प्रजातंत्र-वादी शासन की व्यावहारिकता को उसने स्वीकार नहीं किया । इससे यह ज्ञात होता है कि वह प्रतिनिधि शासन-तंत्र का अधिक समर्थक नहीं था । वह ऐसे राजतंत्र को सर्वोत्तम मानता था जिसमें राजा प्रजा से केवल उचित राजस्व तथा कर ले, प्रजा के अधिकारों की रक्षा करे, अर्थात् राज्य में नागरिकों की समानता की रक्षा को न्याय और उनकी

---

१ "These rights include," entire liberty of person and property; freedom of the press; the right of being tried in all criminal cases by a jury of independent men, the right of being tried only according to the strict letter of the law, and the right of every man to profess, unmolested what religion chooses." F.J.C. Hearnshaw in the Pol. Ideas of the age of reason P.151;

गुप्त, चतुर्वेदी : 'पाश्चात्य राजदर्शन का इतिहास', पृ०३६५ ।

स्वतन्त्रता के अधिकारों का अपहरण न किया जाय; राजा ही सर्वोच्च धर्माधीश रहे अर्थात् राज-सत्ता के आधीन धर्मसत्ता रहे, धर्म-सत्ता का स्थान राजसत्ता से उच्चतर न हो, और गिरजों तथा धर्म-मठों की सम्पत्ति राज्य की सम्पत्ति मानी जाय। अपराध और दण्ड के विषय में भी उसके विचार उल्लेखनीय हैं। वह शारीरिक यातना या अन्य प्रकार की यंत्रणाएं देने का विरोधी था। उसने अपराध के अनुपात में दण्ड की व्यवस्था का समर्थन किया है और विधि तथा दण्ड-विधान को समयानुकूल बनाने पर बल दिया है। इस प्रकार उक्त दार्शनिकों ने व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा की। व्यक्तिवादी विचारधारा का समर्थन तीन दिशाओं में किया गया --

(१) अर्थशास्त्रीय विचारधारा।

(२) जीवशास्त्रीय विचारधारा।

(३) उपयोगितावादी विचारधारा।

(१) <u>अर्थशास्त्रीय विचारधारा (वाणिज्यवाद)</u>

वाणिज्यवाद के अन्तर्गत सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टि से आधुनिक युग में अर्थ-व्यवस्था को राजनीति का आधार माना गया है। सोलहवीं शताब्दी से पूर्व अर्थ और राजनीति के मध्य सम्बन्ध अधिक महत्वपूर्ण नहीं था। किन्तु इस शताब्दी में आधुनिक-राष्ट्रों का उदय होने से जीवन में मुद्रा का महत्व बढ़ा, करारोपण का प्रचलन हुआ और वैदेशिक व्यापार की वृद्धि हुई। नए देशों की खोज के उपरान्त वाणिज्य की वृद्धि होने से व्यापारी वर्ग राज्य में प्रभाव-शाली हो गया और उपनिवेशों की स्थापना से यह समस्या उत्पन्न हुई कि मातृदेश के साथ उनके आर्थिक सम्बन्ध किस प्रकार के हों। इस विषय में सामान्य नीति थी -- औपनिवेशिक व्यापार को मातृ देश तक ही सीमित रखना और उपनिवेशों को केवल ऐसा कच्चा माल उत्पन्न करने देना जिसे मातृ देश पक्के माल में परिवर्तित करके बेच सके। सोलहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक वाणिज्यवाद की यह विचारधारा प्रभावशाली रही। तदनन्तर अनुकूल व्यापार को अधिक महत्व दिया जाने लगा। अर्थ-शास्त्र राजनीति का अंग बन गया और वाणिज्यवाद बड़े राष्ट्रों के अभ्युत्थान का एक साधन हो गया। उसका उद्देश्य शक्तिशाली, धनी बने हुए स्वावलम्बी राज्यों का

निर्माण करना था ।

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंगलैण्ड पर वाणिज्यवादी सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा और अठारहवीं शताब्दी में महत्वपूर्ण आर्थिक परिवर्तन होने के फलस्वरूप राष्ट्रीय-सम्पत्ति में भारी वृद्धि हुई, किन्तु साथ ही जनता के एक बड़े वर्ग को भयंकर विपत्तियों का सामना करना पड़ा । आर्थिक परिवर्तनों ने वाणिज्यवादी सिद्धान्तों के प्रभाव को भारी क्षति पहुँचाई, क्योंकि पुरानी व्यवस्था में जिन नियंत्रणों को भरमार थी वे नई व्यवस्था के अनुकूल नहीं थे । इसलिए बहुत से लोग यह विश्वास करने लगे कि सरकार को उद्योग-धंधों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए (लैसेज़ फेयर) । इंगलैण्ड को एक ओर अपने बढ़ते हुए औद्योगिक नगरों के लिए सस्ते भोजन और कच्चे माल की आवश्यकता थी और दूसरी ओर सस्ते तैयार माल की विदेशों से प्रतियोगिता करने में लाभ था । इसलिए वहाँ अबाध-व्यापार (फ्री-ट्रेड) का विचार उत्पन्न हुआ ।

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में नॉर्थ तथा वाल्पोल आदि लेखकों ने इंगलैण्ड में वाणिज्यवादी विचारों का खण्डन किया और अठारहवीं शताब्दी के में वालपोल ने बहुत सी अधिक वस्तुओं पर आयात-निर्यात शुल्क घटाया किया, किन्तु नौ-परिवहन अधिनियम नहीं हटाए । इसके अतिरिक्त फ्रांस की भाँति इंगलैण्ड में भी राजनीतिक दर्शन का प्राकृतिक अधिकार और वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर ज़ोर था और आर्थिक उदारवाद के रूप में उन विचारों का क्रियान्वित होना अनिवार्य था । उस शताब्दी में आर्थिक राजनीतिक चिन्तन के विकास में युग-परिवर्तन करने वाला ग्रन्थ एडम स्मिथ (१७२३-१७९०) का 'द वेल्थ आफ नेशन्स' (१७७६) है, जिसमें उसने बड़ी सशक्त रीति से लैसेज़फेयर के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । यह सिद्धान्त सरकार के हस्तक्षेप को नियंत्रित करके व्यापारी वर्ग के अधिकारों को सुरक्षित करता है । स्मिथ के अनुसार सम्पत्ति का स्रोत श्रम है, भूमि नहीं । इसलिए यदि कृत्रिम मानवीय बन्धन हटा दिए जाएं तो एक समरूप प्राकृतिक व्यवस्था स्वत: स्थापित हो जायगी जो व्यक्ति और राज्य दोनों के लिए कल्याणकारी होगी । उपयोगितावादी दृष्टिकोण होने के कारण वह उपयोगी तथा उत्कर वस्तुओं को प्राकृतिक विधि

के विरुद्ध होने पर भी उचित मानता था । उनके अनुसार राज्य को अपना कार्य विदेशी आक्रमण से रक्षा करने, विधि तथा न्याय का प्रशासन करने और सड़कें, बन्दरगाह, स्कूल तथा चर्च आदि थोड़ी-सी सार्वजनिक संस्थाओं के संधारण तक ही सीमित रखना चाहिए ।

स्मिथ ने राज्य की विपन्नता दूर करने के लिए जो सुझाव दिए उनके परिणामस्वरूप स्वार्थी तथा भौतिकवादी दृष्टिकोण को प्रोत्साहन मिला, पूंजीपतियों की पूंजी बढ़ी और उद्योगपतियों के उद्योग और आय के साधन बढ़े । किन्तु श्रमिक वर्ग का अहित होने के कारण राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि के साथ जैसी खुशहाली आनी चाहिए थी वह न आ सकी । फलतः समाजवादी सिद्धान्तों का उदय हुआ और व्यवसाय तथा श्रम के क्षेत्र में सरकारी नियमन का विकास हुआ ।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंगलैण्ड के राजनीतिक चिन्तन के परिवर्तन के चिन्ह दृष्टिगत होने लगे । संवैधानिक दृष्टि से राजदर्शन पर विचार करने वाले प्रमुख विचारक ब्लैकस्टोन, बर्क आदि ने इंगलैण्ड के संविधान की प्रशंसा करते हुए बतलाया कि इसका (इंगलैण्ड के संविधान) मुख्य सिद्धान्त शक्तियों का पृथक्करण है । इससे अंग्रेज-लेखकों को अपनी शासन-प्रणाली की पराकाष्ठा करने की प्रेरणा मिली । मॉण्टेस्क्यू ने अपनी ऐतिहासिक पद्धति द्वारा सामाजिक-परिवर्तन के लिए विधान(विधि निर्माण) पर बल देकर और स्वतन्त्रता का महत्व बतलाकर इंगलैण्ड के चिन्तन को एक नई प्रेरणा दी, जिसके फलस्वरूप बर्क और बैंथम जैसे विचारक उत्पन्न हुए ।

ब्लैकस्टोन (सन् १७२३-१७८०ई०)

ब्लैकस्टोन ने इंगलैण्ड के संविधान और कानूनों का विश्लेषण करने से पहले राज्य-विषयक सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन किया । उसके मतानुसार मनुष्य ने अपने स्वार्थों की पूर्ति करने के लिए जो प्रयत्न किए, उन्हीं के परिणामस्वरूप राज्य का जन्म हुआ । उसने प्रकृति की अवस्था और सामाजिक संविदा की धारणाओं का खण्डन किया और बतलाया कि उनका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है । ब्लैकस्टोन प्राकृतिक अधिकारों में विश्वास करता था और उसका

विचार था कि व्यक्तियों की वैयक्तिक सुरक्षा, निजी सम्पत्ति तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता के अधिकारों की रक्षा करना राज्य का कार्य है । यह अधिकार था तो प्राकृतिक स्वतन्त्रता के अवशेष हैं अथवा वे नागरिक अधिकार हैं जो व्यक्तियों को प्राकृतिक स्वतन्त्रता के त्याग देने पर राज्य से प्राप्त हुए । गौण अधिकारों में उसने शस्त्र-धारण करने का अधिकार और क्षति पहुंचाने पर न्यायालय जाने के अधिकार को सम्मिलित किया है । अधिकारों और सुविधाओं की दृष्टि से उसे इंगलैण्ड का संविधान सबसे अधिक पसंद था । क्योंकि वहां के संविधान में राजतंत्र, आभिजात्यतंत्र और प्रजातंत्र तीनों प्रकार के शासन या राज्य के गुण आ जाते हैं । इंगलैण्ड में राजतंत्र, आभिजात्यतंत्र और प्रजातंत्र के तत्वों का प्रतिनिधित्व ब्लैकस्टोन के मतानुसार राजा लार्ड सभा और लोक-सभा करते हैं । इन अंगों का एक-दूसरे पर ऐसा नियंत्रण और सन्तुलन रहता है कि किसी भी वर्ग के हित को क्षति नहीं पहुंच सकती ।

एडमंड बर्क (१७२९-१७९७)

बर्क के विचारों का मूल स्रोत अमेरिका का स्वातन्त्र्य युद्ध, फ्रांस की राज्यक्रान्ति, ईस्ट-इंडिया कम्पनी का भारत में कुशासन और जार्ज तृतीय का महत्वाकांक्षापूर्ण शासन था । उसके अनुसार राज्य की उत्पत्ति किसी अनुबंध का परिणाम न होकर ऐतिहासिक है अर्थात् राज्य जीव के सदृश विकासशील है और उसकी जड़ें गहराई से अतीत में फैली हुई हैं । नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की विवेचना करते हुए बर्क ने कहा है कि नागरिक अधिकार समानरूप से सभी को मिलने चाहिए और इन अधिकारों का प्रयोग प्रत्येक व्यक्ति कर सके, इसकी व्यवस्था करना राज्य का कर्तव्य है । किन्तु राजनीतिक अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को समानरूप से नहीं दिए जा सकते । वह कुछ योग्य व्यक्तियों को ही मिलने चाहिए । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बर्क राजनीति के क्षेत्र में निश्चितरूप से असमानता का पोषक और अप्रजातांत्रिक था । सम्पत्ति के अधिकार को वह व्यक्ति की प्रगति के लिए आवश्यक मानता था । सम्पत्ति सम्बन्धी धारणाओं के कारण उसका व्यक्ति की समानता के सिद्धान्त में भी विश्वास नहीं था । क्योंकि उसने

चाहता है कि शासन योग्य व्यक्तियों के हाथ में रहे । शासन-कार्य इस प्रकार हो कि उससे किसी भी प्रकार समाज के विकास और प्रगति में बाधा न पड़े । आभिजात्य तंत्र का समर्थक होने पर भी बर्क ने जनमत का ध्यान रखने की ओर विशेष बल दिया और हठवादिता का विरोध करते हुए कहा है कि यदि काल और परिस्थितियों की मांग हो तो शासन में उचित परिवर्तन और सुधार अवश्य कर देने चाहिए एवं विरोधी पक्ष की भी न्यायोचित मांगों को स्वीकार कर लेना चाहिए । अनुदारवादी होने पर भी उसने दमन का तीव्र विरोध किया है । उसके प्रगतिवादी विचारों का परिचय अमेरिका, भारत और आयरलैण्ड के प्रति किए उसके सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से मिलता है । उसके चिन्तन का क्षेत्र इंगलैण्ड से अमेरिका तथा भारत तक फैला हुआ था । वारेन हेस्टिंग्ज़ का मुकदमा उसके भारत के प्रति सहानुभूति का ज्वलन्त उदाहरण है । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वह इंगलैण्ड की औपनिवेशिक नीति का विरोधी था । युद्ध और शान्ति के सम्बन्ध में भी उसके विचार बड़े आधुनिक हैं । वह एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था, क्योंकि प्रजातंत्रवाद का युग आने के पूर्व ही उसने प्रजातंत्र के दोषों का अनुभव कर लिया था ।

फ्रांसीसी क्रान्ति, औद्योगिक क्रान्ति तथा संक्रान्ति की प्रगति से उत्पन्न परिवर्तन उन्नीसवीं शताब्दी के राजनीतिक चिन्तन में पूर्णरूप से प्रतिबिम्बित हुए । एक ओर हम उपयोगितावादी सिद्धान्त का प्रतिपादन होते हुए देखते हैं जो समाज को व्यक्ति के सुख का एक साधनमात्र समझता है तो दूसरी ओर हम आदर्शवादियों को पाते हैं, जिनके विचार का केन्द्रबिन्दु सामाजिक सम्पूर्ण है और जिसके साथ वे व्यक्ति का सामंजस्य करना चाहते हैं । इसके अतिरिक्त यदि एक ओर हमें कुछ ऐसे दार्शनिक मिलते हैं, जो राज्य तथा उसकी समस्याओं का अध्ययन करने के लिए जीव-शास्त्रीय दृष्टिकोण को अपनाते हैं तो दूसरी ओर कतिपय दार्शनिक ऐसे भी हैं जो मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को अधिक उपयुक्त समझते हैं । इसी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कार्ल मार्क्स और एन्जिल्स के सिद्धान्तों ने भी राजनीतिक कल्प-विकल्प पर बड़ा प्रभाव डाला और वह आज भी व्याप्त है । पूंजीवाद, स्वतंत्र व्यापार तथा प्रतिस्पर्द्धा और लैसेज़-फेयर के सिद्धान्तों पर, जिनके आधार पर गत युग का आर्थिक ढांचा

आधारित था, मार्क्स तथा एन्जिल्स ने कड़ा प्रहार किया और उनसे प्रेरणा प्राप्त करने वाले विचारकों ने सामाजिक पुनर्रचना के विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया । यह बात भी उल्लेखनीय है कि इस युग में यद्यपि लोकतंत्र तथा निरंकुशवाद की परस्पर विरोधी विचारधाराओं पर वाद-विवाद हुआ, किन्तु विचार की प्रवृत्ति स्पष्टतया ही लोकतंत्रात्मक ही रही ।

उपयोगितावाद

लाक और ह्यूम के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में व्यावहारिक समस्याओं के समाधान में उपयोगितावादी राजदर्शन का विकास हुआ । उपयोगितावादी विचारकों के अनुसार मानव-समाज के लिए उपयोगी होने के कारण ही राज्य का अस्तित्व है । यदि राज्य की विधियों से सार्वजनिक कल्याण की स्पष्ट सिद्धि नहीं होती तो उन विधियों को परिवर्तित किया जा सकता है, क्योंकि राज्य का मुख्य उद्देश्य 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख है'।[१]

---

१ Davidson: Political thought in England, (H.U.L. 1947)-P.8 "Politics to the utilitarians implies Ethics: with him ethical and political philosophy go together. A political sanction has value only if it has in view good of those for whom the legislation exists. The welfare of people in general is the supreme consideration; and thatimplies the removal of hinderances towards the improvement or betterment of the citizens, and also the provision of conditions best suited for the promotion of this betterment.

--पंत, गुप्ता और जैन : 'राजनीति शास्त्र के आधार', पृ०५८२ ।

जरमी बेंथम(सन् १७४८-१८३२ई०)

उपयोगितावादी सिद्धान्त की नींव रखने वाले अँग्रेज़ दार्शनिक बेंथम का मुख्य उद्देश्य समाज का हित और कल्याण था। उनके विचार से उपयोगिता के सिद्धान्त का सभी सामाजिक समस्याओं में विशेषकर संवैधानिक, विधायी और विधि-सुधार सम्बन्धी प्रश्नों में सफल और लाभप्रद उपयोग हो सकता है। अपने सिद्धान्त के निरूपण के लिए बेंथम ने सुख और दुःख का बड़े विस्तार से वर्णन किया है। उनके अनुसार "प्रकृति ने मनुष्य को दो सम्प्रभु के अधीन रखा है। ये अधिपति हैं-- दुःख(क्लेश) और सुख(आनन्द)। हम जो कुछ भी करते हैं, जो कुछ भी कहते हैं और जो कुछ भी सोचते हैं-- सभी में हम उनके अधीन हैं और अपनी इस अधीनता को दूर करने के लिए हम जो भी कोशिश करते हैं, उनसे भी उनकी सत्ता की पुष्टि होती है और उसी बात का प्रमाण मिलता है[1]।" बेंथम के अनुसार उपयोगिता का सिद्धान्त उस अधीनता को स्वीकार करता है, क्योंकि सुख की वृद्धि करने अथवा दुःख का विरोध करने की प्रवृत्ति के अनुसार ही वह हर कार्य को स्वीकार अथवा अस्वीकार करता है[2]। प्राकृतिक विधि से समानता के सिद्धान्त को ग्रहण करने के कारण उसने यह कहा कि " एक व्यक्ति का महत्त्व दूसरे व्यक्ति के बराबर है" अथवा "अधिकतम सुख की गणना करने में प्रत्येक व्यक्ति को एक माना जाएगा और किसी को भी एक से अधिक नहीं माना जाएगा[3]। दूसरे शब्दों में उसने निष्पक्षता के व्यवहारवा समर्थन किया है।

---

१ "Nature has placed man under the Government of two sovereign masters, pain and pleasure .... they govern us in all we do, in all we say, in all we think: every effort we make to throw off our subjection will serve but to demonstrate and confirm it "----- Bentham,
राजनीतिशास्त्र--आशीर्वादम्, पृ०५२४-२५।

२ ,, ,, पृ०५२६

३ 'Each to count for one and no one for more than one.'
राजनीतिशास्त्र, आशीर्वादम्, पृ०७५२६

बेंथम ने शासन का आधार मानवीय आवश्यकता को माना है। उचित शासन का प्रधान दायित्व मानवीय आवश्यकताओं को पूरा करना है एवं उसका मुख्य ध्येय मानव जाति को अधिक-से-अधिक सुख पहुँचाना है। इसलिए राज्य को ऐसे कानून बनाने चाहिए जो अधिकाधिक लोगों के लिए लाभकारी हों। ब्रिटिश शासन की अपनी आलोचना का आधार बनाकर बेंथम ने कहा है कि वयस्क मताधिकार, गुप्त मतदान और संसद के प्रत्यक्ष चुनाव के माध्यम से शासन की त्रुटियाँ दूर की जा सकती हैं। उसने इंग्लैण्ड की लॉर्ड सभा का भी विरोध किया इसलिए नहीं कि उसके सदस्य विशेष वर्गों के लिए आते हैं, वरन् इसलिए कि यह अनावश्यक व्यय है। संप्रभुता की सीमा उसने लोकमत को माना है। यदि लोकमत किसी विधेयक का विरोध करता है तो सम्प्रभु शक्ति को उसे विधि का रूप नहीं देना चाहिए। सम्प्रभुता को वह उसने व्यक्ति के अधिकारों को निश्चित करने वाली शक्ति माना है। अतः यदि सम्प्रभुता व्यक्ति के लिए अधिकार को नहीं मानती तो उसका कोई व्यवहार नहीं किया जा सकता। सम्प्रभु शक्ति का यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक नागरिक से सहयोगी नागरिक के प्रति वह कर्तव्य भी कराये जिनको करना सामान्यतः नागरिकों को प्रिय नहीं होता। बेंथम के अनुसार किसी भी नागरिक को सम्प्रभुता का प्रतिरोध करने का अधिकार नहीं है। नागरिक का यह वैधानिक कर्तव्य है कि वह सम्प्रभु शक्ति की आज्ञाओं का पालन करे। लेकिन यह वैधानिक कर्तव्य तभी तक है जब तक आज्ञा पालन से प्रतिरोध को अपेक्षा लाभ अधिक होता है। यदि प्रतिरोध की तुलना में आज्ञा-पालन से कम लाभ होने लगे तो बेंथम प्रजा को क्रान्ति का अधिकार दे देता है। प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक विधि में उसकी कोई आस्था नहीं थी। उसके विचार से समस्त अधिकारों का स्रोत संप्रभु है और विधियाँ भी राज्य द्वारा निर्मित होती हैं। चूंकि विधियाँ अपने व्यापकत्व एवं समाजकल्याणी मान्यता से नागरिकों को सुख देती हैं, इसलिए उनका अधिक-से-अधिक प्रचार किया जाना चाहिए। विधियों की व्यापकता के कारण उसने उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय, संवैधानिक राजकीय या नागरिक एवं फौजदारी चार भागों में बाँटा है। बेंथम का विचार था कि अपराध के अनुपात में दण्ड व्यवस्था हो एवं दण्ड देते समय यह ध्यान रखा जाय कि दण्डित व्यक्ति सुधर जाय एवं समाज पर उसकी शुभ प्रतिक्रिया हो।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थक होने के कारण वह न्यूनतम विधियों के निर्माण में विश्वास करता है, क्योंकि विधियाँ नियंत्रण का प्रतीक हैं । निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि बेंथम ने अपने उपयोगिता के सिद्धान्त के माध्यम से मानवतावाद की नींव रखी है।

जेम्स मिल (सन् १७७३-१८३६ ई०)

जेम्स मिल ने व्यवहारवादी मनोविज्ञान के आधार पर उपयोगितावादी सिद्धान्तों का समर्थन करते हुए राज्य एवं शासन को मानव जाति के लिए एक आवश्यक बुराई बतलाया । क्योंकि राज्य शासन के माध्यम से व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को इस प्रकार नियंत्रित करता है कि मनुष्य अपना व्यक्तिगत विकास तथा निजी उन्नति करने के लिए स्वतन्त्र न बना जाये । सरकार की शक्ति के विस्तार को रोकने के लिए उसने प्रतिनिधि शासन का समर्थन किया । उसका विचार था कि विधायिका शक्ति जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में रहना चाहिए । प्रतिनिधियों द्वारा राज्य की विधायिका शक्ति का दुरुपयोग न होने पाए इस दृष्टि से विधान मण्डल का कार्यकाल सीमित होना चाहिए और हर बार विधान मण्डल का कार्य-काल समाप्त होने पर निर्वाचन होने चाहिए ।

बेंथम ने उपयोगितावाद को उपयोगिता का सिद्धान्त दिया और मिल ने उसके मनोवैज्ञानिक पक्ष को पुष्ट किया । किन्तु जान ऑस्टिन (१७९०-१८५९) ने उपयोगितावाद को विधि के रूप में सबल आधार प्रदान कर विधि दर्शन (फिलासफी आफ लॉ) का विकास किया । उसके अनुसार राज्य की उत्पत्ति विकास का परिणाम है । विकास की प्रक्रिया में लोग उसकी उपयोगिता को समझ कर आज्ञापालन करने लगे । ऑस्टिन ने राज्य और प्रभु को एक ही माना है । उसके अनुसार प्रभुत्व राजा अथवा सम्पूर्ण जनता में निवास न करके उसके उस अंग में निहित है, जिसमें निर्णय करने की शक्ति होती है और जो वास्तव में सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग करता है । उसके विचार से विधि-निर्माण की सर्वोच्च शक्ति को किसी उच्चतर विधि द्वारा परिसीमित नहीं किया जा सकता, अतिएव विधिक दृष्टि से

प्रभु सत्ता निरंकुश होती है ।

प्रभु ही सम्पूर्ण अधिकारों का स्रोत है और वही नागरिक स्वतन्त्रता का सृजन एवं उसकी रक्षा करता है । उसने इस तथ्य पर विशेष बल दिया है कि प्रभुत्व असीमित और अविभाज्य है । उसने विधियों को निश्चित, अनिश्चित और प्रतीकात्मक तीन वर्गों में विभाजित किया है । पुनश्च उसने निश्चित विधि को दैवी, राजकीय एवं संवादादि विधियों में; अनिश्चित विधियों को अन्तर्राष्ट्रीय, परम्परा एवं सामाजिक रीति-रिवाजों में एवं राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र, विज्ञान आदि के नियमों को प्रतीकात्मक विधियों के अन्तर्गत विभाजित किया है । विधि से सम्पन्न हो वह व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों में भी विश्वास नहीं करता । उसके विचार से व्यक्ति को स्वतन्त्रता उतनी ही है, जितनी सम्प्रभु शासक द्वारा उसे मिलती है । संप्रभु यदि चाहे तो नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का क्षेत्र व्यापक कर सकता है और चाहे तो सीमित ।

राष्ट्रवाद

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में योरोप में भौतिक जीवन को सुखी बनाने के लिए राष्ट्रवाद का आविर्भाव हुआ । सन् १७७२-९० में पोलैण्ड के विभाजन एवं १७८९ ई० की फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने राष्ट्रीयता के भावों को विकसित किया । फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति ने जनतंत्रात्मक राष्ट्रवाद का समर्थन करते हुए मातृभूमि के प्रति प्रेम-भाव की वृद्धि की, राष्ट्रीय शिक्षा आरम्भ की, राष्ट्र पताका, राष्ट्रीय चिन्ह तथा राष्ट्रीय गान का प्रचार किया । इस क्रान्ति ने 'लोक प्रिय शासन' सिद्धान्त और 'राष्ट्रीय आत्मनिर्णय' सिद्धान्त का संस्थापन किया[१] । उन्नीसवीं शताब्दी में मेजिनी ने और बोलवी

---

१ डा० बृजमोहन शर्मा : 'राजशास्त्र के मूल सिद्धान्त', पृ० ५८० ।

शताब्दी में मुसोलिनी ने इटली में और हिटलर ने जर्मनी में उग्र राष्ट्रवाद को जन्म दिया । बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में तुर्की के मुस्तफा कमाल पाशा ने टर्की में पूर्णरूप से राष्ट्रीय राज्य स्थापित करके सम्पूर्ण तुर्की को राष्ट्रीयता के सूत्र में बद्ध कर दिया ।

जिस प्रकार राष्ट्र और जाति में भेद है, उसी प्रकार राष्ट्रवाद और राष्ट्रीयता में भी भेद है । राष्ट्रवाद में देशभक्ति के विचारों की पराकाष्ठा होती है । राष्ट्रवादी अपने देश के हित के लिए दूसरे देशों पर अत्याचार करने को भी उद्यत हो जाते हैं । वे अपने देश के लिए आत्म-बलिदान करने को सदैव तत्पर रहते हैं । वे अपने देश को ही राष्ट्र मानते हैं और अन्य देशों तथा राष्ट्रों से अपने को पृथक् समझते हैं । अन्य राष्ट्रों से अधिक सम्पर्क स्थापित करना वे स्वदेश के लिए अहितकर समझते हैं । सी०जे०एच० हेज ने राष्ट्रवाद का विश्लेषण करते हुए कहा है कि 'राष्ट्रवाद में जातीयता, राष्ट्रीय राज्य तथा राष्ट्रीय देश-भक्ति का सम्मिश्रण है ।'[1] श्री जीमर्न आदि का विचार है कि राष्ट्रवाद व्यक्तिगत मनुष्य तथा मानव समाज रूपी शृंखलाओं के जोड़ने वाली एक कड़ी है । इन लोगों का यह भी विश्वास है कि राष्ट्रवाद मनुष्य को व्यक्तिगत स्वार्थ-परायणता तथा वर्ण रहित विश्व-बन्धुता से उन्मुक्त करता है, इससे मनुष्य मात्र का कल्याण होता है, यह आध्यात्मिक शान्ति का साधन है और अन्तर्राष्ट्रवाद की प्रथम सीढ़ी है । एक व्यक्ति जितना ही अधिक राष्ट्रीय भावों से ओत-प्रोत होगा उतना ही वह अन्य जातियों के भावों को अनुभव कर सकेगा ।[2] जिमर्न का विचार है कि 'यदि राष्ट्रवाद को भी राजनीतिक तथा आर्थिक कार्य-क्षेत्रों से पृथक् रखकर उसे केवल सामाजिक तथा शिक्षा सम्बन्धी कार्यों तक ही सीमित रखा जाय तो वास्तव में राष्ट्रवाद धन्य है ।'[3]

---

१ डा०ब्रजमोहन शर्मा : 'राजशास्त्र के मूल सिद्धान्त', पृ०५८७

२ ,, : ,, पृ०५८७-५८८

३ ,, : ,, पृ०५८८

किन्तु राष्ट्रवाद को राजनीति एवं आर्थिक कार्यक्षेत्र से पृथक् नहीं किया जा सकता । रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'नेशनलिज़्म' नामक लेख में ' राष्ट्रवाद को आत्म-जाप (सेल्फ आइडोलेट्री) तथा स्वार्थ-सिद्धि का राजनीतिक और आर्थिक संगठन' बतलाया है । उनका विश्वास है कि पाश्चात्य राष्ट्रवाद द्वेष भावनापूर्ण अतिक्रमणकारी और अन्य राष्ट्रों को विजय करने की प्रवृत्ति से परिपूर्ण है एवं अन्य जातियों का सब प्रकार से शोषण करने के लिए स्थापित किया गया है । पाश्चात्य राष्ट्रवाद में मानवता और आध्यात्मिकता का ह्रास है । यह निर्जीव यांत्रिक सिद्धान्त है जो व्यक्तित्व का नाश करता है और एक जाति के लोगों को एक ही साँचे में ढालता है । इससे विश्व-बान्धवता तथा मौलिकता के भावों का ह्रास होता है[१] । हेज़ ने भी राष्ट्रवाद की तीव्र आलोचना करते हुए राष्ट्रवाद के वास्तविक और कृत्रिम दो भेद माने हैं । उनके मतानुसार वास्तविक या ऐतिहासिक राष्ट्रवाद का विकास मानवसमाज के विकास के साथ हुआ है और 'कृत्रिम राष्ट्रवाद' स्वजाति के प्रति व्यक्तिगत मिथ्या अहंकार की विकृति से उत्पन्न होता है और उसके आधार पर अन्य जातियों अथवा राष्ट्रों से द्वेष किया जाता है[२] । शिलांटो का विचार है कि 'राष्ट्रवाद मनुष्य का द्वितीय धर्म बन गया है' उसके अपने निजी देवता, गुरु, महन्त, पूजा, रीति-रिवाज और त्योहार हैं और भावुक, आवेशपूर्ण तथा अन्त:प्रेरणा युक्त है । इसके अनुयायी उसके अन्धभक्त हैं । इन राष्ट्रवादियों का ध्येय अन्य राष्ट्रों को विजय करना, उन पर अत्याचार करना और उनका शोषण करना है । वास्तव में यह राष्ट्रवाद सैनिकवाद है[३] ।

राष्ट्रवाद सिद्धान्त प्रत्येक जाति को अपने वंशीय मूल, साहित्य, संस्कृति, भाषा, धर्म, रीति-रिवाज़ के आधार पर संगठित करना

---

१ डा० ब्रजमोहन शर्मा : 'राजशास्त्र के मूल सिद्धान्त', पृ० ५८८।

२ ,, ,, ,,

३ ,, ,, पृ० ५८६ ।

सिखाता है । इस सिद्धान्त के मानने वाले अन्य जातियों से द्वेष करते हैं और उन्हें अपने देश से निर्वासित करते हैं । अन्य जातियों तथा देशों को विजय करके अपने राष्ट्र के हित के लिए उनका शोषण करते हैं । अन्य देशों तथा जातियों से सम्बन्ध न रखने के लिए भांति-भांति के विधान बनाते हैं और आयात निर्यात कर भित्ति (टैरिफ वाल) स्थापित करते हैं और निर्बल जातियों पर अत्याचार करते हैं । इनमें न्यायशीलता का भाव लेशमात्र नहीं होता है ।संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उग्र राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद को प्रोत्साहित करता है । परन्तु गुण से युक्त शुद्ध राष्ट्रवाद मानव-हित के लिए कल्याणकारी एवं अन्तर्राष्ट्रवाद को स्थापित करने में सहायक हो सकता है ।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक,संसदीय और संवैधानिक सभी क्षेत्रों में सुधार की आवश्यकता का अनुभव किया गया । इस समय तक उपयोगितावादियों के लोकतांत्रिक प्रयत्न बहुत कुछ सफल हो चुके थे और इस प्रक्रिया में लोकतंत्र से उत्पन्न होने वाली बुराइयां भी स्पष्टरूप से सामने आने लगी थीं । अनेक संसदीय सुधार भी हुए । इन व्यापक सुधार आंदोलनों का मानसिक नेतृत्व जान स्टुअर्ट मिल(१८०६-१८७३) ने किया । राजनीतिक समस्याओं के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण स्पष्टत: व्यावहारिक था । उनके सम्पूर्ण साहित्य में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य सम्बन्धी विचार ही सबसे महत्वपूर्ण है । उनका विश्वास था कि सामाजिक और राजनीतिक प्रगति व्यक्तिगत उत्साह और साहस पर निर्भर करता है । इसलिए मनुष्य को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए अधिकाधिक ऐसे अवसर मिलने चाहिए,जिनसे वह पूरी तरह निखर सके । मिल के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को उत्तेजित करने में इंगलैण्ड की राजनीतिक परिस्थितियों का महत्वपूर्ण योगदान है । क्योंकि इंगलैण्ड त्वरित गति से प्रजातंत्रवाद की ओर अग्रसर हो रहा था और वहां की संसद अनेक प्रजातंत्रवादी विधियां और अधिनियम बना रही थी । अधिकाधिक विधियों के निर्माण से व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अधिक प्रतिबन्ध लगने का डर था नागरिक का राज्य के समक्ष नत हो जाना । इसलिए उसने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का नारा बुलन्द

करते हुए विचार और भाषण अर्थात् अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं कार्य की स्वतन्त्रता का समर्थन किया । उसके विचार से व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं सामाजिक विकास के लिए विचार और भाषण की स्वतन्त्रता का होना आवश्यक है । जिस प्रकार एक व्यक्ति को सर्वशक्तिमान् होने पर भी शेष मानव जाति का दमन करने का अधिकार नहीं है, उसी प्रकार समस्त मानव जाति को भी उस एक व्यक्ति को अपने मत प्रकट करने से रोकने का कोई अधिकार नहीं है[1] । विचार-स्वातन्त्र्य को व्यावहारिक रूप देने के विचार से मिल ने आचरण या कार्य की स्वतन्त्रता पर बल दिया । क्योंकि यदि व्यक्ति को कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं है तो ~~कार्य-करने-की-स्वतन्त्रता-नहीं~~ उसके विचार व भाषण की स्वतन्त्रता भी अर्थहीन हो जाती है । जिस प्रकार व्यक्तित्व के विकास के लिए विचार और भाषण की स्वतन्त्रता आवश्यक है, उसी प्रकार मानवजाति-सुख के लिए व्यक्तित्व को आचरण में प्रकट होने का अवसर प्राप्त होना भी आवश्यक है । किन्तु आचरण की स्वतंत्रता प्रदान करने में मुख्य कठिनाई यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्म-रक्षा के लिए दूसरों की कार्य की स्वतन्त्रता को सीमित कर सकता है[2] । अतः जो कृत्य व्यक्ति तक

---

१ Mill: On liberty, " If all mankind minus one were of one ~~xxxx~~ opinion, and only one person were of the contrary opinion, mankind would be no more justified in silencing that one person, than he, if he had the power would be justified in silencing mankind."

पंत,गुप्ता,जैन : 'राजशास्त्र के आधार', पृ० ५६६

२ Mill on Liberty:- The sole end for which mankind were warranted ~~individuality~~ individually or collectively, in interfering with the liberty of action of any of their members, is self-protection .... the only purpose for which power can be rightfully exercised over a member of a civilized community, against his will is to prevent harm to others."

—पंत,गुप्ता,जैन : 'राजशास्त्र के आधार', पृ०५६६ ।

करते हुए विचार और भाषण अर्थात् अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं कार्य की स्वतन्त्रता का समर्थन किया । उसके विचार में व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं सामाजिक विकास के लिए विचार और भाषण की स्वतन्त्रता का होना आवश्यक है । जिस प्रकार एक व्यक्ति को सर्वशक्तिमान् होने पर भी शेष मानव जाति का दमन करने का अधिकार नहीं है, उसी प्रकार समस्त मानव जाति को भी उस एक व्यक्ति को अपने मत प्रकट करने से रोकने का कोई अधिकार नहीं है[1] । विचार-स्वातन्त्र्य को व्यावहारिक रूप देने के विचार से मिल ने आचरण या कार्य की स्वतन्त्रता पर बल दिया । क्योंकि यदि व्यक्ति को कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं है तो ~~कार्य-करने-की-स्वतन्त्रता-नहीं~~ उसके विचार व भाषण की स्वतन्त्रता भी अर्थहीन हो जाती है । जिस प्रकार व्यक्तित्व के विकास के लिए विचार और भाषण की स्वतन्त्रता आवश्यक है, उसी प्रकार मानवोपयोग-सुख के लिए व्यक्तित्व को आचरण में प्रकट होने का अवसर प्राप्त होना भी आवश्यक है । किन्तु आचरण की स्वतंत्रता प्रदान करने में मुख्य कठिनाई यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्म-रक्षा के लिए दूसरों की कार्य की स्वतन्त्रता को सीमित कर सकता है[2] । अत: जो कृत्य व्यक्ति तक

----

१ Mill: On liberty, " If all mankind minus one were of one ~~xxxx~~ opinion, and only one person were of the contrary opinion, mankind would be no more justified in silencing that one person, than he, if he had the power would be justified in silencing mankind."

पंत,गुप्ता,जैन : 'राजशास्त्र के आधार',पृ० ५६६

२ Mill on Liberty:- The sole end for which mankind are warranted ~~individually~~ individually or collectively, in interfering with the liberty of action of any of their members, is self-protection .... the only purpose for which power can be rightfully exercised over a member of a civilized community, against his will is to prevent harm to others."

--पंत,गुप्ता,जैन : 'राजशास्त्र के आधार',पृ०५६६ ।

ही सीमित है (सैल्फ रिगार्डिंग एक्टीविटीज़) समाज पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उन्हें करने के लिए व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता होना चाहिए[१]। अपने व्यावहारिक दृष्टिकोण के कारण उसने महिला-स्वातन्त्र्य के लिए आन्दोलन किया और श्रमिकों को शिक्षा पर बल देते हुए उनको भी पहले से अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करने का अनुरोध किया। उसने मजदूर सभाओं का समर्थन करते हुए मालिकों व और मजदूरों के बीच ऐच्छिक सहयोग का अनुमोदन किया। वह निजी सम्पत्ति का समर्थक था और आर्थिक क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप को सन्देह की दृष्टि से देखता था। किन्तु उपयोगितावादी विचार का होने के कारण उसने सामाजिक कल्याण के लिए सरकारी हस्तक्षेप का अनुमोदन भी किया है। समाज की उत्पत्ति का स्रोत वह मनुष्य की आवश्यकताओं को मानता है। उसके विचार से ज्यों-ज्यों आवश्यकताएं बढ़ती गईं त्यों-त्यों समाज का विकास होता गया। मिल के विचार से राज्य और शासन की उत्पत्ति भी उसके समाज की तरह ही हुई।

मिल लोकतंत्रीय शासन-प्रणाली का समर्थक था। उसने प्रजातंत्रवादी प्रवृत्तियों को विकसित होने का अवसर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के विचार द्वारा दिया। उसका विचार था कि राज्य की सर्वोच्च सत्ता राज्य के सभी निवासियों द्वारा चुनी गई एक सभा या संसद में परिवेष्टित होनी चाहिए। इससे चुनाव में भाग लेने से नागरिकों की जागृति उत्पन्न होगी और वे भली भांति अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए सचेत हो जाएंगे। भौमिक विस्तार के कारण राज्य के सभी नागरिक राजनीतिक जीवन में सक्रिय भाग नहीं ले सकते, इसलिए उसने प्रतिनिधि-निर्वाचन की प्रणाली का अनुमोदन किया। प्रतिनिधि शासन-पद्धति में निर्वाचन द्वारा ऐसे व्यक्ति भी निर्वाचित हो सकते हैं। जो विधान मण्डलों की मर्यादाओं को घात पहुंचाएं और सत्ता और लोभ के मद में अपने उत्तरदायित्व से विमुख हो जाएं। अतः मिल ने वयस्क मताधिकार की व्यवस्था की और प्रत्येक वयस्क को कम-से-कम एक और अधिक-से-अधिक पांच मत देने का समर्थन किया। उसका विचार था कि संसद के प्रतिनिधि बुद्धिमान, सुशिक्षित एवं व्यापक दृष्टिकोण वाले

१(अगले पृष्ठ पर देखें)

व्यक्ति हों । आनुपातिक प्रतिनिधित्व का प्रस्ताव रखकर उसने अल्प मतवालों को बहुमत के दमन से मुक्त करने का प्रयास किया । उसका सुझाव था कि संसद-सदस्यों को वेतन दिया जाय जिससे सरकार भ्रष्टाचार से मुक्त रहे ।

हरबर्ट स्पेंसर(१८२०-१९०३)

हरबर्ट स्पेंसर ने अपने विकासवादी सिद्धान्तों को राजनीति शास्त्र पर आरोपित किया है । मिल और बेंथम की भांति वह व्यक्तिवादी विचारधारा का समर्थक था । अत: व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और लैसेज-फेयर के सिद्धान्त में उसका विश्वास जीवनपर्यन्त बना रहा । स्पेंसर के अनुसार राज्य का प्राथमिक कार्य व्यक्ति को बाह्य आक्रमणों तथा आन्तरिक अशान्ति एवं अव्यवस्था से रक्षा करना है । सुरक्षा मुख्य दायित्व होने के कारण स्पेंसर ने राज्य को पुलिस और फौज रखने का एवं अपराधियों को दण्ड देने के लिए न्यायालय रखने का अधिकार दिया है । स्वतन्त्र प्रतियोगिता के सिद्धान्त को ही उसने प्राकृतिक विधि माना है । बिना प्रतियोगिता के योग्य और अयोग्य का चयन नहीं हो सकता और जब तक योग्यतम व्यक्ति चुने हुए रूप में सामने नहीं आता तब तक समाज की भली भांति प्रगति होना सम्भव नहीं है । इसलिए स्पेंसर का विचार था कि राज्य को स्वतंत्र प्रतियोगिता में कोई बाधा नहीं डालनी चाहिए ।उसके

(पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी संख्या--१)

Mill:On Liberty " He must not make himself a nuisance to other people. But if he refrains from molesting others in what concern them, and merely acts according to his own inclination and judgement in things which concern himself, the same reasons which show that opinion should be free prove also that he should be allowed; without molesting , to carry his opinions into practice at his own cost."

पंत,गुप्ता,जैन : 'राजशास्त्र के आधार',पृ० ५४७

विचार से अन्य वस्तुओं के समान ही अधिकारों का भी विकास होता है । स्पैंसर व्यक्ति को समाज और राज्य का अंग मानता है । व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर प्रतिबंध लगाने के कारण वह व्यक्ति के हितों का विरोधी है । इसीलिए उसने व्यक्ति बनाम राज्य (मैन वरसैस स्टेट) का सिद्धान्त निर्मित किया ।

आदर्शवाद

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाने के कारण जब उपयोगितावाद राजनीतिक दृष्टि से निष्फल हो गया तब जर्मन विचारक काण्ट और हीगेल एवं अंग्रेज विद्वान् ग्रीन,ब्रेडले,बोसांके आदि ने राज्य के यथार्थ स्वरूप का निरूपण न करके उसके आदर्श स्वरूप की कल्पना की । आदर्शवादियों ने राज्य को मानवीय संस्था बतलाया और कहा कि वह मनुष्य के विवेक का भौतिक रूप है । इन दार्शनिकों के अनुसार राज्य का आधार इच्छा है एवं उसका अस्तित्व जीवन को उन्नत और विकासशील बनाए रखने के लिए आवश्यक है । राज्य मनुष्य के आचरण को नियंत्रित करके नैतिकता की स्थापना करने का एक साधन है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आदर्शवादी विचारक मनुष्य को एक राजनीतिक जीव समझते हैं और उनके अनुसार राज्य में ही नैतिक जीवनयापन करना सम्भव है ।

काण्ट (सन् १७२४-१८०४)

काण्ट के विचारों में नैतिक इच्छा और स्वतन्त्रता (मॉरल विल एण्ड फ्रीडम) की कल्पना सबसे महत्वपूर्ण है । उसके विचार से मनुष्य को यदि अपनी नैतिक इच्छा के अनुसार कार्य करने की छूट दे दी जाय तो वह वस्तुत: स्वतंत्र हो जायगा । स्वतंत्रता नैतिक या यथार्थ इच्छा (रीयल विल) का गुण है । उसके विचार से नैतिक इच्छा के आदेशों को परिणाम की परवाह किए बिना मानना चाहिए । इन आदेशों को उसने 'सर्वोपरि आज्ञाएं' (कॉटेगॉरिकल

इम्पेरेटिव्स) माना है जो सार्वभौमिक हैं। नैतिक स्वतन्त्रता के विषय में उसने कहा है कि नैतिक स्वतन्त्रता में वे सारे काम आ जाते हैं जो 'केवल उन युक्तियों (मैक्जिम्स) के अनुकूल होते हैं, जिन्हें व्यक्ति स्वयं भी मानता हो है-- साथ ही यह भी इच्छा करता है कि वे (युक्तियां) सार्वभौमिक विधियां बन जायें'[1]। मनुष्य में बुराइयां और भलाइयां दोनों रहती हैं। बुराइयों को काण्ट ने पराक्लिस (पैराथाइटिक) माना है। चूंकि यह बुराइयां एक स्थल पर पहुंचकर अहितकर हो जाती हैं, इसलिए मनुष्य का हित इसी में है कि वह उनकी आज्ञाओं का पालन न करे तभी व्यक्ति की नैतिक स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सकती है। काण्ट के विचार से समाज में मनुष्य की अच्छाइयों और बुराइयों में समन्वय स्थापित करने का कार्य राज्य करता है। काण्ट ने राज्य की उत्पत्ति अनुबन्ध द्वारा मानते हुए कहा है कि उसके द्वारा ही मनुष्य (व्यक्ति) अपने जन्मसिद्ध अधिकारों को (वे अधिकार जो उसे नैतिक स्वतन्त्रता द्वारा मिलते हैं) राज्य को समर्पित कर देता है। अधिकारों के समर्पण के बदले में समाज व्यक्ति को यह आश्वासन देता है कि उसको 'भली इच्छा' द्वारा दी जाने वाली आज्ञाओं के पालन की छूट रहेगी। ऐसा प्रतीत होता है कि वह अनुबन्ध को केवल एक साधन ही मानता था, जिसके माध्यम से व्यक्ति कोलाहलपूर्ण नीची सामाजिक-व्यवस्था से उच्चतर सामाजिक-व्यवस्था में आ जाता है। सामाजिक अनुबंध की कल्पना को वह नहीं मानता था। वह इसे कोई महत्व भी नहीं देता[2]। उसके विचार से मनुष्य की नैतिक स्वतन्त्रता का

---

१ राजनारायण गुप्त और राधानाथ चतुर्वेदी : 'पाश्चात्य राजदर्शन का इतिहास' पृ०४७५

२ "whoether an actual contract of subjection to the ruler was as a fact the first step or whoather force was the first step and laws only come in a later state .... those are for the people which already stand under the protection of civil law quite empty subtel ties and for the state full of danger"
C. E. Vaughan

--राजनारायण गुप्त और राधानाथ चतुर्वेदी : 'पाश्चात्य राजदर्शन का इतिहास' पृ०४७६।

इच्छा का समाज और राज्य की सामान्य इच्छा (जनरल विल) के साथ सामंजस्य स्थापित हो जाता है। वह अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों के विरुद्ध था। उसका विचार था कि एक-न-एक दिन मनुष्य अपने आर्थिक हितों की रक्षा के लिए युद्धों का परित्याग करने को विवश हो जायगा। उसके विचार से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी राज्य पर कोई-न-कोई नियंत्रण होना चाहिए[१]।

काण्ट ने शासन के कर्तव्यों को विधायन कार्य (लेजिस्लेटिव फंक्शन) कार्यपालिका (एक्जीक्युटिव) के कार्य और न्यायपालिका (जुडीशियरी) के कार्य तीन भागों में बांटा है। उसके विचार से मनुष्य की नैतिक स्वतन्त्रता के लिए यह आवश्यक है कि कार्यपालिका और न्यायपालिका एक-दूसरे से अलग और स्वतन्त्र रहें। उनका विचार था कि जिस राज्य में कार्यपालिका और न्याय पालिका अलग अलग होते हैं-- उस राज्य का शासन गणतंत्रात्मक होता है। शासन का स्वरूप चाहे जो हो उसमें जनता की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व अवश्य होना चाहिए। यह प्रतिनिधित्व राजा, सामन्त या प्रजा के प्रतिनिधि कोई भी कर सकते हैं। स्पष्ट है कि काण्ट का अभीष्ट नैतिक स्वतन्त्रता था और राज्य का कर्तव्य उसने इस स्वतन्त्रता के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना ह माना है। इसके विचार से सामान्य इच्छा द्वारा अभिव्यक्त होने वाली जनता की इच्छा ही संप्रभुता है, जो एक व्यक्ति, कुछ व्यक्तियों के समूह या बहुत व्यक्तियों के द्वारा प्रकट की जा सकती है[२]।

---

१ गुप्त, चत " ~~To-give-it-objective,-practical-reality,-it-must-be expressed-in-physical-form,-as-one,-or-few,-or-many-persons." W.A.-Dunning-in-Political-Theories-Vol.-III-P.133~~

1. "........Remedy was a system of international right, founded upon public laws conjoined with power to which every state must submit. R.G.Gettell in Hist. of Pol Th. P.316;

--गुप्त, चतुर्वेदी : 'पाश्चात्य राजदर्शन का इतिहास', पृ०४७६।

२. " To give it objective, practical reality, it must be expressed in physical form, as one, or few, or many persons." W.A. Dunning in Political Theories Vol. III P.133

--गुप्त चतुर्वेदी : 'पाश्चात्य राजदर्शन का इतिहास', पृ०४७७।

विधियों का स्रोत भी काण्ट ने जनता को ही माना है ।

हीगल (१७७०-१८३१)

हीगल ने काण्ट की असंगतियों और त्रुटियों को दूर करते हुए विवेक और यथार्थ पर विशेष बल दिया है । उसके अनुसार राज्य की उत्पत्ति विवेक की एक निश्चित अवस्था के फलस्वरूप हुई है । यह सामाजिक आचार-शास्त्र का एक उच्चतम स्वरूप है । यह परिवार (वाद) और समाज (प्रतिवाद) के संश्लेषण के रूप में भौतिक संसार की साक्षात् वस्तु एवं मनुष्य की चेतना का प्रतीक है । हीगल ने राज्य को एक मानसिक व्यवस्था बतलाने का प्रयास किया है । चूंकि राज्य में रहने वाले मनुष्य में चेतना होती है, इसलिए व्यक्ति समूह के रूप में राज्य भी सामूहिक चेतना का प्रतिनिधित्व करता है । राज्य और व्यक्ति के बीच वही सम्बन्ध है जो शरीर के एक अंग का सम्पूर्ण शरीर से होता है। इस प्रकार हीगल ने राज्य की सावयविकता (औरगेनिज्म) का प्रतिपादन किया है[१] । हीगल ने राज्य को व्यक्ति से श्रेष्ठ माना है । क्योंकि राज्य सम्पूर्ण है और व्यक्ति उस सम्पूर्णता का एक भाग है । राज्य की नैतिकता भी व्यक्ति की नैतिकता से श्रेष्ठ एवं महत्वपूर्ण है । अतः व्यक्ति की स्वतन्त्रता राज्य की आज्ञाओं का पालन करने में है । तात्पर्य यह है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता केवल राज्य में ही अभिव्यक्ति पा सकती है । उसकी अपनी स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं है । वह जितना ही अपने-आपको राज्य में विलयित करेगा, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता उतनी ही अधिक पूर्ण होगी । इसलिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए यही अभीष्ट है कि वह अपनी निजता को अधिक-से-अधिक राज्य में विलीन करता चले । राज्य और व्यक्ति की निजता का

१. "It is an expression and the highest expression of that social morality, at once precipitated in and enforced by social opinion which lies behind the life of all other social groups, and behind the life of the political community itself." E. Barker in Po. Th. from 1848 to 1914. P.10

--गुप्ता, चतुर्वेदी : 'पाश्चात्य राजदर्शन का इतिहास', पृ०४८३ ।

यह विलयन जितना ही अधिक होगा, व्यक्ति की स्वतन्त्रता उतनी ही अधिक होगी। राज्य व्यक्ति को कोई अधिकार देने के लिए बाध्य नहीं है । राज्य व्यक्ति को जो अधिकार देता है, उसे वह सहर्ष स्वीकार कर लेता है, किन्तु जो अधिकार नहीं देता उन अधिकारों को प्राप्त करने की व्यक्ति बात भी नहीं सोच सकता । सम्प्रभुता को हीगल ने राज्य रूपी वैधानिक पुरुष में केन्द्रित माना है । राज्य के भौतिक स्वरूप को हीगल ने राजा में खोजा । उसके विचार से राज्य में राजा ही वैधानिक पुरुष है और उसी में सम्प्रभुता निवास करती है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हीगल वंशानुगत राजवंश के शासन की परम्परा का समर्थक है । राज्य और राजा की इच्छा को ही उसने विधि माना है । उसके विचार से विधियाँ सदैव नैतिक होती हैं, यदि ऐसा न हो तो वे एक क्षण भी आगे नहीं बढ़ सकतीं । शासन के कृत्यों को उसने विधानमण्डल, कार्यपालिका और न्याय-पालिका एवं राजतंत्र में विभक्त किया है । उसके अनुसार राजा ही विधानमण्डल तथा कार्यपालिका और न्याय-पालिका के कार्यों का संयुक्तीकरण करता है । इसी में विभिन्न तत्त्वों का प्रतिनिधित्व भी हो जाता है । मैक्यावली की भाँति वह भी राज्य विस्तार की नीति का समर्थक है । उसके विचार से जो राजा युद्ध के भय से राज्य-विस्तार की नीति नहीं अपनाता उसका राज्य नष्ट हो जाता है ।

काण्ट और हीगल के राजनीतिक विचारों का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हीगल काण्ट की भाँति काल्पनिक और सार्वभौमिक सिद्धान्तों पर बल न देकर समस्त मानवीय संस्थाओं के अस्तित्व की विवेकयुक्तता पर भी विश्वास करता है । उसके विचार से प्रत्येक संस्था मनुष्य की एकाधिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और उसका विकास काफी लम्बे समय में हुआ है ।

फिक्टे (सन् १७६२-१८१४)

फिक्टे के आदर्श राज्य की कल्पना उसके अपने ऐतिहासिक-विश्लेषण और दर्शन पर आधारित है । फिक्टे की आदर्शवाद की व्यवस्था में विवेक द्वारा शासन होगा और व्यक्ति को अपना आन्तरिक और

नैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने का अवसर मिल सकेगा । उनके विचार से राज्य पर नियंत्रण करने के लिए भी कोई-न-कोई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए। काण्ट की भांति उसने भी युद्धों का विरोध किया है । उसके विचार से राज्य को सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था पर पूर्ण नियंत्रण रखना चाहिए ।

टामसहिल ग्रीन (सन्१८३६-१८८२ई०)

जर्मन आदर्शवादियों से प्रेरणा ग्रहण कर इंगलैण्ड के जिन दार्शनिकों ने आदर्श राज्य की कल्पना की उनमें टामस हिल ग्रीन प्रमुख हैं । ग्रीन के सामाजिक और वैयक्तिक चेतना के सिद्धान्त पर ही उसके स्वतन्त्रता, राज्य की उत्पत्ति तथा अधिकार सम्बन्धी सिद्धान्त आधारित हैं । ग्रीन ने सकारात्मक स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए कहा है कि "स्वतन्त्रता कार्य या आनन्द प्राप्त करने की एक ऐसी सकारात्मक शक्ति या क्षमता है, जिसके द्वारा व्यक्ति कार्य या आनन्द प्राप्त करता है ।"[१] यह स्वतन्त्रता व्यक्ति को नैतिक आदेशों का पालन करने के लिए प्रेरित करती है । उसके विचार से मनुष्य को किसी भी दशा में ऐसे कार्य करने की छूट नहीं मिलनी चाहिए जो उसके नैतिक विकास में बाधक हों। मनुष्य के अधिकारों को मर्यादा की सीमा में बांध देना चाहिए, क्योंकि वे उन बाह्य दशाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं जो मनुष्य के आन्तरिक विकास के लिए आवश्यक होती है । ग्रीन ने अधिकारों को प्राकृतिक और वैधानिक दो भागों में विभाजित किया है । उसके अनुसार प्राकृतिक अधिकारों को बल द्वारा क्रियान्वित करवाने का

---

१ " Liberty is " a positive power or capacity of doing or enjoying something worth doing or enjoying" T.H. Green as quoted by G.H. Sabine in History of Political Theories. P.310

-- गुप्त, चतुर्वेदी : 'पाश्चात्य राज-दर्शन का इतिहास', पृ०४६९

अधिकार राजशक्ति को नहीं है । किन्तु जब प्राकृतिक अधिकार राज-स्वीकृति प्राप्त करके वैधानिक अधिकारों में परिवर्तित हो जाते हैं तब राज्य किसी भी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को उन अधिकारों को मानने के लिए बाध्य कर सकता है । राज्य के विरुद्ध प्रतिरोध करने का अधिकार उसने अत्यन्त सीमित माना है । ग्रीन ने 'लोक सम्मति' को ही राज्य की उत्पत्ति का आधार माना है । उसके विचार से राज्य के रचनात्मक और निषेधात्मक दो प्रकार के कार्य हैं । नैतिक विकास के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करने वाले तत्वों को रोकने का कार्य राज्य का निषेधात्मक कार्य है और व्यक्ति की नैतिक उन्नति के साधन जुटा कर विकास की सुविधाएं प्रदान करने का कार्य रचनात्मक कार्य की कोटि में आता है । सम्पत्ति को ग्रीन ने मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास का साधन माना है,[१] क्योंकि सम्पत्ति में ही सामाजिक-कल्याण के मौलिक तत्व निहित हैं ।

बोसांके (सन् १८४८-१९२३ई०)

बोसांके ने उत्तम सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन व्यतीत करने के लिए स्वतन्त्रता को एक अनिवार्य दशा माना है । उसके विचार से यदि व्यक्ति स्वतन्त्र हो और अपने अधिकारों का प्रयोग एवं कर्तव्यों का पालन करे तो व्यक्ति और समाज में कोई संघर्ष,मतभेद या विरोध नहीं होगा । उसने राज्य को जीवन के व्यावहारिक रूप का प्रतिनिधि माना है । इसलिए वह राज्य

---

१ "Property is a condition necessary for the free play of a capacity which can be exerted for the common benefit; it is the means of realizing a will which in possibility is a will directed to social good." Ernest Barker in political Theory from 1848 to 1914 . P.4[illegible]

--गुप्त,चतुर्वेदी : 'पाश्चात्य राजदर्शन का इतिहास',पृ०४६७ ।

को आचारिक कल्पना का मूर्त रूप भी मानता है[१]। समाज में विभिन्न संघटन होते हैं और उनमें परस्पर सामंजस्य स्थापित करना राज्य का काम है। उसके विचार से राज्य के असीमित अधिकार हैं। जब व्यक्ति राज्य की इच्छा में अपनी इच्छा को विलीन कर देता है तब उसकी इच्छाओं का क्षेत्र व्यापक हो जाता है।

राज्य सर्वान्तर्यामी है और किसी भी समाज-विरोधी तत्व का दमन करने की क्षमता रखता है। इस प्रकार वह सर्वाधिक व्याप्त सामान्य इच्छा का प्रतिनिधि है। दण्ड विधान में भी हमें राज्य की सर्वान्तर्यामिता के प्रमाण मिलते हैं। आदर्शवादी विचारकों के सिद्धान्तों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे शक्ति की मर्यादित स्वतन्त्रता के समर्थक थे और राज्य का उद्देश्य व्यक्ति की नैतिक उन्नति करना मानते थे।

साम्यवाद

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी की अति व्यक्तिवादी धारणा, निजी सम्पत्ति रखने का अधिकार और इंगलैण्ड की औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के दोषों को दूर करने के उद्देश्य से मार्क्स ने साम्यवादी विचारधारा को जन्म दिया जो बाद में एंजिल्स, लेनिन और स्टेलिन के द्वारा आगे बढ़ाई गई। मार्क्स(१८१८-१८८३) ने समाज से आर्थिक वैषम्य को दूर करने के लिए एक वर्गहीन समाज की कल्पना की। क्योंकि पूंजीवादी व्यवस्था के परिणामस्वरूप समाज धनी और निर्धन दो वर्गों में बंट चुका था। भू-स्वामी और

---

१ " State is an ethical idea or rather theotic l , since it is the final working conception of life as a whole." Dr. B.Bosanquet in the Philosophical Theory of the state P.298.

-- गुप्त, चतुर्वेदी : 'पाश्चात्य राज-दर्शन का इतिहास', पृ०५० ।

उद्योगपति अपना शक्ति के कारण जब सर्वहारा वर्ग का शोषण करते हैं तो विषमता की इस स्थिति से असन्तुष्ट होकर श्रमिक वर्ग विद्रोह के लिए उद्यत हो जाता है और शोषक वर्ग को पदच्युत करके अपना अधिनायकत्व स्थापित करता है । वर्ग-संघर्ष को मिटाने के लिए मार्क्स ने उत्पादन के साधनों पर राज्य का आधिपत्य स्वीकार किया है । चूंकि राज्य श्रमिकों का होगा,इसलिए प्रकारान्तर में उत्पत्ति के साधनों पर भी श्रमिकों का अधिकार हो जायगा । कोई किसी के श्रम के बल पर मौज नहीं उड़ा सकेगा । उत्पादन में सामाजिक उपयोगिता का ध्यान रखा जायगा । श्रमजीवी समाज देश के सभी प्राकृतिक साधनों का विकास करेगा और सबको बिना किसी भेद-भाव के परिश्रम करना पड़ेगा । प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार कार्य और आवश्यकता के अनुसार वेतन मिलेगा । प्रगति इस समाज का मूल मन्त्र होगा । जब वह वर्गहीन समाज इतनी उन्नति कर लेगा कि उसके सदस्यों को राज्य के नियन्त्रण की कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी तब राज्य लुप्त हो जायगा ।

गांधीवाद

साम्यवाद का समाजवाद एक विशेष सामाजिक अर्थ व्यवस्था का द्योतक है । उसके सिद्धान्त निश्चित हैं । गांधीवाद एक व्यापक सिद्धांत समूह है,जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को छूता है ।वह जीवन की एक विशेष सुसंस्कृत प्रवृत्ति का द्योतक है । इसमें राजनीति, समाजनीति, धर्म-नीति और अध्यात्म सबका समावेश है और यह जीवन की एक ऐसी साधना है,जिसका महत्व सिद्धांत की अपेक्षा आचरण में अधिक है । मूल में रचनात्मक एवं व्यावहारिक होने के नाते गांधीवाद में 'खादी' और 'सादी' पर विशेष बल दिया गया है ।समाज से वर्ग भेद को मिटाकर एक वर्गहीन समाज की स्थापना और सामाजिक ऐक्य उत्पन्न करने के उद्देश्य से एवं विलासिता की प्रवृत्तियों पर अंकुश रखने के लिए खादी को एक प्रतीक के रूप

में अपना कर दीन दलित मानवता के प्रति प्रेम और सहानुभूति व्यक्त की गई एवं सर्व-साधारण को रचनात्मक दृष्टि प्रदान करके शारीरिक-श्रम का महत्व बतलाया गया । गांधीवाद जीवन में तपस्या को प्रधानता देता है और वचन एवं कर्म की एकता में विश्वास करता है । यह अहिंसा का समर्थक है और समाज के साथ-ही-साथ व्यक्ति को भी महत्व देता है । इसलिए यह कहा जा सकता है कि यह भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधि है और सामाजिक पक्ष में व्यष्टिपरक व्यक्तिवाद है । इस सिद्धान्त में उसी शासन-पद्धति को पूर्ण विकसित एवं श्रेष्ठ माना जाता है,जो अहिंसा पर आधारित है । शासन जितनी अधिक मात्रा में सैनिक बल पर प्रतिष्ठित होगा,उसमें विद्रोह के उतने ही अधिक कारण उपस्थित होंगे । समाज-व्यवस्था के इस तात्त्विक सिद्धान्त पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि गांधीवाद जिस तंत्र या समाज-व्यवस्था को प्रतिष्ठित करना चाहता है,उसमें समन्वयात्मक शक्तियाँ अधिक श्रेष्ठ हैं । अपव्यय को रोकने,बेकारी से उत्पन्न कुरीतियों,कुविचारों एवं कुकृत्यों से समाज की रक्षा करने पर भी यह केवल आर्थिक ही नहीं, वरन् नैतिक और सामाजिक दृष्टि लेकर चलता है और उन सब के समन्वयात्मक आधार पर समाज का निर्माण करना चाहता है । यह जीवन का परिपूर्ण तत्व-ज्ञान (ए कौम्प्रीहैन्सिव फिलोसफी आफ लाइफ)है । यह नैतिक है और राजनीतिक भी है, धार्मिक भी है, आध्यात्मिक भी है और आर्थिक भी है क्योंकि यह जीवन-व्यापी है, जीवन के प्रत्येक स्तर और सम्पूर्ण मानव जाति को स्पर्श करता है । श्री ग्रैग ने कहा है कि "वह सभी वर्गों के बीच एक सामान्य स्नेह सूत्र पैदा करता है[१] ।"

---

१ " It provides a common bond between all groups. "

-- श्रीरामनाथ सुमन : 'गांधीवाद की रूपरेखा',पृ०८० ।

गांधीवाद की भावना (स्पिरिट) एवं आध्यात्मिक दृष्टि से केन्द्रोन्मुखी (सेण्ट्रिपिटल) और समाज-हित के आर्थिक साधनों के बंटवारे के विषय में केन्द्रापसारी (सेण्ट्रिफ्यूगल) है । यह व्यक्ति को अपनी पूर्ण नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति का अवसर देकर भी समाज-हित को नहीं भूलता । इसीलिए कहा गया है कि "गांधीवाद उस सूर्य की भांति है, जिससे सब रोशनी ले सकते हैं; उस आकाश की भांति है, जिसके नीचे सब सो सकते हैं और उस धर्म की भांति है जिसे सब अपना सकते हैं और जिसकी स्थापना में सब सहायक हो सकते हैं[1] ।"

गांधीवादका विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि गांधी ने राजनीति में प्रवेश करने के साथ ही राजनीति का आध्यात्मीकरण करके विश्व-राजनीति की दिशा- परिवर्तित करने का प्रयास किया । हिंसा के स्थान पर अहिंसा, घृणा के स्थान पर प्रेम और छल, कपट एवं धोखे के स्थान पर सत्य का समावेश करके धर्म और राजनीति को एक-दूसरे से सम्बद्ध किया । पश्चिम के साम्राज्यवाद ने जिस आध्यात्मिकता का ह्रास किया था, गांधी ने राजनीति से उसे आबद्ध करके शासन-संगठन में नैतिकता का पुनर्मूल्यांकन किया और विश्व-बंधुत्व के भावों को प्रश्रय दिया । उनका विश्वास था कि यदि राजनीति को मानव समाज के लिए शाप न होकर आशीर्वाद होना है तो उसे उच्चतम नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिए । उनके विचार से साधन और साध्य दोनों का समान महत्व है, क्योंकि अच्छे साधन से ही अच्छे लक्ष्य प्राप्त किए जा सकते हैं । इसीलिए राजनीति के क्षेत्र में उन्होंने किसी तरह भी काम निकालने में कभी विश्वास नहीं किया । उनके विचार और व्यवहार के मौलिक आधारों में से एक आधार साधनों की पूर्ण स्वच्छता थी ।

----

१ श्रीरामनाथ सुमन : 'गांधीवाद की रूपरेखा', पृ०८० ।

अराजकतावाद

साम्यवादी विचारकों की ही भाँति अराजकतावादियों[1] ने भी राज्य के समस्त बन्धनों का अन्त कर देने का अनुमोदन किया है । वे राज्य और शासन दोनों को अनावश्यक समझते हैं, क्योंकि राज्य की उत्पत्ति के पूर्व भी मनुष्य रहते ही थे । उस अवस्था में भी लोगों का जीवन सुखी, समृद्ध और सन्तुष्ट था । राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन करता है, उसकी गतिविधि के क्षेत्र को सीमित करता है इसलिए उसका अस्तित्व जितनी जल्दी समाप्त हो जाय उतना अच्छा है । निजी सम्पत्ति की रक्षा करने के उद्देश्य से राज्य दमन का आश्रय लेता है । इसलिए सुव्यवस्था, शान्ति और शिक्षा तीनों ही दृष्टि से राज्य अनावश्यक है । राज्य के कानूनों की मानव-समाज को कोई आवश्यकता नहीं है । यातायात, स्वास्थ्य, उद्योग और संचार के साधनों को बनाए रखने के लिए भी राज्य सर्वथा निरर्थक है । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अराजकतावादी प्रत्येक क्षेत्र में जनता के स्वतन्त्र, स्वैच्छिक और अनिवार्यता रहित सहयोग और उसकी सहकारिता की मौलिक भावना को दृष्टि में रखकर ही कोई बात सोचते हैं ।

बहुलवाद

बीसवीं शताब्दी में हेराल्ड जे० लास्की (सन् १८९३-१९५०) ने सर्वप्रथम राजनीति के क्षेत्र में बहुलवाद के सिद्धान्त का प्रयोग करके सत्ता के विकेन्द्रीकरण और विश्व एकता का सन्देश दिया । राज्य को उसने अन्य सामाजिक संस्थाओं से उच्चतर माना है, क्योंकि वह समाज और उसके संस्थाओं का नियन्त्रण करता है और संकुल लक्षणों की सृष्टि कर यह इंगित करता है कि समाज, राज्य तथा सभी संस्थाओं को किस दिशा में आगे बढ़ना है । उसने संस्थाओं को इतनी स्वतन्त्रता दी है

---

१ प्रिंस क्रोपाटकिन (१८४२-१९२१), माइकेल बाकुनिन (१८१४-१८७६)

कि वे जिस दिशा में उचित समझें, कार्य करें । लास्की के विचार से राज्य को विधियाँ बनाने की शक्ति है, लेकिन वह केवल ऐसी ही विधियाँ बना सकता है जिनके सम्बन्ध में बहुसंख्यक राज्यवासी यह समझें कि वे उनके हित के लिए बन रही हैं । विधि-निर्माण में बहुसंख्यक के समर्थन की मान्यता देने के सिद्धान्त का निर्माण करके उसने राज्य के अधिकारों को सीमित कर दिया और शासन में जनमत के महत्व को बढ़ा दिया । प्रजातंत्र का कट्टर समर्थक होने पर भी उसने पूंजीवादी व्यवस्था में प्रजातंत्रवाद की जो ठोकरलेवर की जाती है, उसकी निन्दा की है। वर्तमान निर्वाचन प्रणाली को उसने अनुपयुक्त बतलाया, क्योंकि सरकार पाँच वर्ष में केवल एक बार प्रजा के प्रति अपना उत्तरदायित्व का अनुभव करती है । इसीलिए उसने एक ऐसे आदर्श प्रजातंत्रवाद की कल्पना की है, जिसमें प्रत्येक महत्वपूर्ण प्रश्न के सम्बन्ध में जनता के मतानुसार निर्णय किया जाता है । लास्की की सम्पूर्ण विचारधारा का केन्द्र व्यक्ति है । इसलिए व्यक्ति को सन्तुष्ट करना ही राज्य का परम कर्तव्य है । उसका विचार था कि विश्व एकता में ही समस्त देशों का कल्याण निहित है । इसलिए राज्य की सत्ता जब विश्व-एकता में बाधक हो तो उसका विरोध करना स्वाभाविक है । मानव-धर्म में विश्वास करने के कारण लास्की ने अन्तर्राष्ट्रीय एकता पर बल दिया ।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि युद्धों के बाहुल्य क्रान्तियों की अधिकता और शान्ति की स्थापना के प्रयत्नों ने वर्तमान शताब्दी की राजनीतिक विचारधाराओं में महान परिवर्तन उपस्थित कर दिया । इस युग में राजतंत्र का स्थान लोकतंत्र ने, देशीयता का स्थान अन्तर्राष्ट्रीयता ने, धर्म का स्थान विज्ञान ने, आदर्श का स्थान यथार्थ ने, ऐतिहासिक विवेचन का स्थान तार्किक विवेचन ने, विचारकों का स्थान वादों ने और शासकों का स्थान शासितों ने ले लिया । इस युग में परम्परा के स्थान पर तर्क को उच्च स्थान दिया गया । आवश्यकतानुसार राजनीतिक सिद्धान्तों का निर्माण हुआ । पराधीन और पद-दलित राष्ट्रों के उत्थान के लिए जब अच्छे कर्णधारों की आवश्यकता हुई तब देश-काल और परिस्थिति के अनुसार हमने अपने नेता चुन लिए । गांधी, हिटलर,

मुसोलिनी,लेनिन, कमालपाशा को हमने अन्धविश्वास से नहीं,वरन् परिस्थितियों के वशीभूत होकर चुना । गरीबी और वर्ग-भेद को दूर करने के लिए समाजवाद की शरण ली गई, प्रजा को अधिकार प्रदान करने के लिए प्रजातंत्र की सृष्टि हुई और एकतंत्र शासन को समाप्त करने के लिए बहुलवाद तथा संघवाद के सिद्धान्त निर्मित हुए ।

मध्ययुगीन राजनीति की एकतंत्रीय शासन-व्यवस्था धर्म पर आधारित थी । किन्तु आधुनिक युग में औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप भौतिकतावादी दृष्टिकोण का विकास हुआ एवं राजनीतिक चिन्तन में अर्थ का महत्त्व बढ़ गया । बड़ी-बड़ी मशीनों और कारखानों ने दुनिया में अद्भुत अपूर्व क्रान्तियां कीं । नाज़ीवाद,फैसिस्टवाद,साम्यवाद,समाजवाद, आदि सभी राजनीति का स्वरूप पकड़े अन्तर में आर्थिक आत्मा छिपाए हुए हैं । साम्राज्यवाद का आर्थिक उद्देश्य-- फैसिज्म में जो आज अपनी चरम सीमा पर पहुंच रहा है--राजनीति की आत्मा है और इतना ही नहीं राजनीति आज हमारे जीवन में दैनिक आवश्यकता-एक अनिवार्य आवश्यकता हो गई है । प्रत्येक सिद्धान्त में देश की आर्थिक परिस्थिति के सुधार के लिए एक विशेष आर्थिक समिति की योजना पर अधिक बल दिया गया है । जिस प्रकार एकतंत्र शासन में राजा की सर्वोपरि सत्ता में विश्वास किया जाता था,किन्तु अब शासक के स्थान पर शासित का महत्त्व बढ़ा तो समाज का उत्थान पतन ही राजनीतिक विचारधारा का मुख्य विषय बन गया । यहाँ तक कि शासकों के लाभ के लिए बनाए गए साम्राज्यवाद,फैसिस्टवाद तथा नाज़ीवाद तक में केवल समाज की उन्नति के उपायों का वर्णन है,शासकों का नहीं ।

बीसवीं शताब्दी में व्यक्ति के स्थान पर व्यक्ति समूह का महत्त्व बढ़ जाने के कारण प्रजातन्त्रवाद का प्रतिपादन कर जन-समूह को शासन में भाग लेने का अधिकार दिया गया । परिवहन के साधनों के विकास के कारण विश्व-मानव एक-दूसरे के निकट पहुंच गए । अतः विश्व-बंधुत्व,विश्व-एकता और विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संस्थाओं और कानूनों का निर्माण कर विश्व को युद्धों के प्रकोप से बचाने का यत्न किया गया । किन्तु निःशस्त्रीकरण

सम्मेलन और शान्ति-सभाओं के बावजूद भी विभिन्न राष्ट्रों के स्वार्थों के पारस्परिक संघर्ष के कारण युद्ध होते ही रहे । राजनीति के रंगमंच पर महान आदर्शों का पालन नहीं किया जा सकता । सबल-निर्बल पर शासन करने का मोह संवरण न कर सके । फलत: विभिन्न राष्ट्रों की पारस्परिक फूट ने राष्ट्रीयता और देश-प्रेम को प्रोत्साहन देकर समस्त विश्व में उथल-पुथल मचा दी । पराधीन देश अपनी खोयी हुई स्वतन्त्रता को पुन: प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो उठे ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पाश्चात्य राजनैतिक चिन्तन के अन्तर्गत उत्तरदायी लोक-सम्मत प्रतिनिधि शासन, गणतन्त्र का आदर्श, वयस्क मताधिकार, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, विचार और भाषण की स्वतंत्रता, समानता, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के जो विचार अनेक दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित हुए तथा शिक्षा और मुद्रण के फैल इस युग में प्रचारित हुए, उनका भारतीय-मानस पर गहरा प्रभाव हुआ । निरंकुश शासकों पर नियंत्रण रखने के लिए जनक्रान्ति की भावना एवं शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त भी पश्चिम की ही देन है । इन सिद्धान्तों का बोध होने पर भारत के बुद्धिजीवी वर्ग ने यह अनुभव किया कि सरकारें, स्वतन्त्रता, सुरक्षा, सम्पत्ति तथा अन्य व्यक्तिगत हित के कार्यों को करने के लिए हैं । इसीलिए राजनैतिक सुधार का उद्देश्य यह होना चाहिए कि उत्तरदायी शासन की स्थापना की जाय और उसे प्रतिनिधिक बनाकर सरकार के अत्याचार को रोका जाय ।

पश्चिम के राजनैतिक आदर्शों की भारतीय राजदर्शन से तुलना करने पर निष्कर्ष यह निकलता है कि मूल में भारतीय और पश्चात्य राजदर्शन दोनों का आदर्श एक है, दोनों ही लोककल्याणकारी शासन के समर्थक हैं और दोनों ने ही प्रजासम्मत राज्य की कल्पना की है । किन्तु भारतीय राजदर्शन राजा रहित राज्य की अर्थात् प्रजातांत्रिक शासन की अवधारणा केवल बहुत सीमित से संघ राज्यों के ही रूप में लेकर चला था । सम्प्रभुता का केन्द्र प्राय: राजा ही होता था । आधुनिक युग-बोध की स्वातन्त्र्य चेतना के साथ यही अवधारणा प्रमुख रूप धारण करती है । संविधान का वैज्ञानिक स्वरूप, संसदीय शासन तथा निर्वाचन

प्रणाली का विकास,नागरिकता की परिकल्पना, राष्ट्रीयता,धार्मिक राजनीति आदि ऐसे तत्त्व हैं, जो आधुनिकता की ही देन हैं । राज्य केवल सैनिक शक्ति का बल है, यह दृष्टि भी आधुनिकयुग के चिन्तन से ही संदित हुई है । यही कारण है कि गांधीवाद को भी हम प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की परम्परा में नहीं रख पाते ।

(ख) भारतीय राजदर्शन

धर्म में अगाध आस्था रखने वाले भारतीयों का राजदर्शन भी धर्म से अनुप्राणित रहा है । ऋग्वेदादि प्राचीन साहित्य के अध्ययन से तत्कालीन राजनीतिक विचारों और राजनीतिक जागृति का स्पष्ट दिग्दर्शन होता है । वेदों में राजा (ऋ०१०।१७८, अथर्व०६।८७।८८) सभा (ऋ०१०।७१।१०,अथर्व० ७।१२, यजु० १६।२८, १६।२४), समिति(अथर्व० ६।८८।३, ५।१६।१५),राजकुल (अथर्व०३।५।६-७) राजा का चुनाव (अथर्व० ३।४।२),राजाओं के पदच्युत किए जाने एवं पुनः सिंहासनारूढ़ किए जाने(अथर्व०४।८।६,३।३।५, ३।४।६) का उल्लेख किया गया है[१] । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में राजनीतिक सिद्धान्तों को समझने,उनका वैज्ञानिक विश्लेषण करने एवं राजशास्त्र को पर्याप्त विकसित करने में भारतीय चिंतक संलग्न थे । विशालाक्ष,इन्द्र (बहुदन्त), बृहस्पति,शुक्र,मनु,भारद्वाज,गौरशिरस्,पाराशर, पिशुन,कौणपदन्त, वातव्याधि,घोटमुख,कात्यायन,चारायण आदि राजनीति-विशारदों और उनके राजनीतिक सिद्धान्तों का कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लेख किया गया है एवं

---

१ भारतीय संस्कृति- शिवदत्त ज्ञानी, राजनीतिक विकास,पृ०१७३

महाभारत में शिव, विशलाक्ष, इन्द्र, बृहस्पति, शुक्र, मनु, भारद्वाज गौरशिरस आदि राजनीतिक दार्शनिकों का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त धर्म सूत्रों, स्मृतियों आदि में भी राजनीतिक तत्त्वों का विवेचन किया गया है। पंचतंत्र और हितोपदेश आदि में राजनीति के तत्त्वों को कहानियों के रूप में लौकिक ढंग से समझाया गया है।

हिन्दू राजनीति शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों को दंडनीति[1] और अर्थशास्त्र कहा जाता था। दंडनीति का अर्थ शासन सम्बन्धी सिद्धान्त और अर्थशास्त्र का अभिप्राय जनपद सम्बन्धी शास्त्र से है। कौटिल्य ने कहा है कि अर्थ का अभिप्राय है मनुष्यों की बस्ती, अर्थात् वह प्रदेश, जिसमें मनुष्य हों। अर्थशास्त्र उस शास्त्र को कहते हैं, जिसमें राज्य की प्राप्ति और उसके पालन के उपायों का वर्णन हो[2]। अत: यह विषय राजशास्त्र अथवा राजधर्म भी कहलाता है। महाभारत के शान्तिपर्व में इस विषय का विवेचन राजधर्म के नाम से किया गया है।

अर्थ और दण्ड का स्थान आगे चलकर नीति और नय शब्दों ने ले लिया। कामंदक ने अपनी पद्यमय रचना का नाम नीतिसार (ई०स०५००) रखा और पंचतंत्र में इस साहित्य को नय शास्त्र की संज्ञा दी गई। राजनीति सम्बन्धी इन ग्रन्थों में भारतीय चिन्तकों ने शासन की उत्पत्ति सम्बन्धी मुख्य छ: सिद्धान्त[3] एवं आठ प्रकार के शासन-विधानों[4] का उल्लेख किया है, किन्तु उन्हें मुख्यत: प्रजातंत्र और राजतंत्र दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है।

---

१ शान्तिपर्व, अध्याय ५८, श्लोक ७७-७८ कुंभ कोणम की छपी प्रति श्लोक ८०-८२।

२ मनुष्याणां वृत्तिरर्थ: मनुष्यवती भूमिरित्यर्थ: तस्या: पृथिव्या लाभ पालनोपाय: शास्त्रमर्थशास्त्रमिति:। -- अ०१५, पृ०४२४।

३ परमात्मा द्वारा प्रेषित व्यक्ति-विशेष द्वारा शासन का सूत्रपात, मात्स्य न्याय, सतयुग, सामाजिक इकरारनामा, पितृप्राधान्य सिद्धान्त, ईश्वर प्रदत्त शासनसत्ता।

४ साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य, राज्य, पारमेष्ठ्य, माहाराज्य, आधिपत्य (स्वावश्य)

वैदिक युगीन समिति और सभा शासन के जनतांत्रिक स्वरूप को व्यक्त करती है। समिति का अर्थ है-- सबका एक जगह मिलना या एकत्र होना। यह समिति जन-साधारण अथवा विश: की राष्ट्रीय सभा था, और राजा का पहली बार तथा पुनर्बार भी चुनाव करती थी। इस प्रकार राजकीय संघटन की दृष्टि से यह समिति सर्वप्रधान संस्था होती थी। राजा समिति में उपस्थित हुआ करता था। समिति के वाद-विवादों में प्रत्येक वक्ता इस बात का आकांक्षी होता था कि उसका भाषण सुन्दर और प्रिय जान पड़े और कोई उसका प्रतिवाद न कर सके[१]। समिति का पति(सभापति) ईशान कहलाता था। प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त में विश्वास करने के कारण राज्याभिषेक के अवसर पर ग्रामणी अथवा ग्राम का मुखिया प्रतिनिधि रूप में उपस्थित होते थे। व्यापारियों वणिकों आदि के प्रतिनिधि भी अभिषेक में मिलते हैं। सभा- समिति का जीवन-काल दीर्घ हुआ करता था। समिति के समान सभा(नरिष्टा) भी एक सार्वजनिक संस्था थी। सम्भवत: यह समिति के साथ मिलकर कार्य करती थी। सभा का प्रधान अधिकारी सभापति कहलाता था। यह राष्ट्रीय न्यायालय का कार्य करती थी।

वैदिक युग के उपरान्त ब्राह्मण साहित्य और राज-धर्म सम्बन्धी ग्रन्थों में भी प्रजातंत्र शासन के प्रमाण मिलते हैं। गण और संघ शब्द प्रजातंत्र के पारिभाषिक शब्दों के रूप में ही प्रयुक्त किए गए हैं। गण का अर्थ है समूह, पार्लियामेण्ट या सिनेट। इस प्रकार गणराज्य समूह द्वारा संचालित अथवा बहुत से लोगों के द्वारा होने वाला शासन है। कौटिल्य ने प्रसिद्ध प्रजातंत्री संस्थाओं को संघ कहा है। इसी यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ में संघ शब्द प्रजातंत्र का ही द्योतक था। मज्झिम निकाय में संघ और गण शब्द साथ-साथ प्रयुक्त हुए हैं जिनसे बुद्ध के समय के प्रजातंत्रों का अभिप्राय निकलता है। बौद्ध ग्रन्थों में लगभग ग्यारह

---

१ 'ये संग्रामा: समितयस्तेषु चारु वदेमते' अथर्व ७,१२,१ और १५,१,५६ ।

गण राज्यों के नाम उनकी राजधानियों के साथ मिलते हैं[1]। यूनानी-लेखकों ने भी क्षुद्रकों, मालवों, शिबियों, अम्बष्ठों आदि का उल्लेख किया है, जो गणराज्य थे[2]।

'गण' शब्द से शासन प्रणाली का और 'संघ' शब्द से स्वयं राज्य का अर्थ लिया जाता था। पतंजलि ने कहा है कि -- "यह संघ इसलिए कहलाता है कि यह एक संस्था या समूह है[3]।" एक राजनीतिक समूह या संस्था के रूप में संघ के उसी प्रकार राजचिन्ह या लक्षण आदि होते थे, जिसप्रकार किसी राजा या सार्वजनिक संस्था के। पाणिनि ने 'गण' और 'संघ' दोनों शब्दों को समानार्थक माना है। उनके अनुसार संघ एक पारिभाषिक रूढ़िक शब्द है, जिससे राजनीतिक संघ का अभिप्राय सूचित होता है, अथवा जैसा कि स्वयं उसने कहा है, वह गण या प्रजातंत्र है[4]। संघ में किसी एक ही जाति या वर्ग के लोग नहीं होते थे। कौटिल्य ने संघों को दो भागों में विभक्त किया है-- एक प्रकार के संघ वे थे जिनके शासक राजा की उपाधि धारण करते थे और दूसरे प्रकार के संघ अपने शासकों को राजा की उपाधि नहीं धारण करने देते थे। प्राचीन भारत में लिच्छविक, वृजिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर, कुरु, पांचाल आदि पहले प्रकार के और कांभोज, सुराष्ट्र, क्षत्रिय श्रेणी आदि द्वितीय प्रकार के संघराज्य थे। राजा विहीन संघों की शासन प्रणाली में नागरिकों का युद्ध विद्या में निपुणता प्राप्त करना प्रधान कर्तव्य माना जाता था। अत: इन राज्यों के सभी निवासी योद्धा होते थे। इन आयुध जीवी संघों के समस्त नागरिकों को केवल योद्धा ही नहीं बन जाना पड़ता था, बल्कि उन्हें शिल्प और

---

१ शाक्य(कपिलवस्तु), मल्ल(कुशीनारा एवं पावा), विदेह(मिथिला), लिच्छवि(वैशाली) आदि --धर्म शास्त्र का इतिहास, द्वितीय भाग, अनु० अर्जुन चौबे काश्यप, पृ०६१५।

२ अनु० अर्जुन चौबे काश्यप -- धर्मशास्त्र का इतिहास, द्वितीय भाग, पृ०६१५।

३ अनु० रामचन्द्र वर्मा : 'हिन्दू राजतंत्र' पहला खंड, पृ०२६

४ ,, : ,, ,, पृ०३३

कृषि की ओर भी ध्यान देना पड़ता था (वार्ताशास्त्रोपजीविन:) । इसीलिए वे लोग धनवान भी होते थे और बलवान भी । इसके विपरीत राजा की उपाधि धारण करने वाले संघों में कदाचित् 'एक-राज' राज्यों की भांति वेतन भोगी स्थायी सेना रहा करती होगी ।

पांचवीं शताब्दी के अन्त में हिन्दू भारत से प्रजातंत्र अदृश्य हो गए और उनका स्थान राजतंत्र शासन व्यवस्था ने ले लिया । उल्लेखनीय यह है कि प्राचीन भारत की राजतंत्र शासन-व्यवस्था भी मूलरूप में प्रजातंत्र के सिद्धान्तों पर ही आधारित थी । राजा सर्वशक्तिमान् होने पर भी जनमत का सम्मान करता था और लोकहित एवं लोकेच्छा का प्राय: ध्यान रखता था । उसका मुख्य कर्तव्य प्रजा का रंजन करना और उसे समृद्धिशाली बनाना था, इसीलिए 'राजा' था । उसकी सार्थकता प्रजापालन में है । 'राजा प्रकृति रन्जनात्' हमारी राजनीति का आदर्श वाक्य था । उसकी स्थिति राज्य में वही थी जो एक परिवार में पिता की होती है । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि राजा प्रजावत्सल होते थे और वे अपनी प्रजा का पुत्रवत् पालन करते थे । राजा का दायित्व केवल राज्य की सुव्यवस्था करना ही नहीं था, वरन् वह आत्मिक सम्बन्धों को प्रधानता देता था और प्रजारंजन में संलग्न रहता था । इसीलिए प्राचीन भारत की राजतंत्र शासन-पद्धति स्थायी रह सकी ।

आधुनिक काल में शासनोत्पत्ति के जो सिद्धान्त राजनीतिक क्षेत्र में विद्यमान हैं वे प्राचीन भारत के राजनीति-विशारदों को पूर्णतया ज्ञात थे । हाब्स, लाक, रूसो आदि के विश्वविख्यात सिद्धान्त भारतीय धर्म ग्रन्थों में विद्यमान थे, किन्तु आधुनिक भारतीय की दृष्टि प्राचीन भारतीय राजदर्शन पर न जाकर पाश्चात्य राजदर्शन के सिद्धान्तों की ओर चली गई । क्योंकि हर्ष की मृत्यु के उपरान्त देश की राजनीतिक स्थिति में जो विघटन आया, छोटे-छोटे सैकड़ों राज्य क्षण-क्षण उदय और अस्त होने लगे, उसमें भारतीय राजनीतिक आदर्शों का स्थायित्व विलुप्त हो गया था । लगभग दसवीं व ग्यारहवीं शताब्दी से तो उत्तरभारत की राजनीतिक स्थिति मुसलमानी आक्रमणों के कारण नितान्त असुरक्षित हो गई थी।

अध्याय-- एक

साहित्य और राजनीति का पारस्परिक सम्बन्ध

एवं

साहित्यकार की राजनीतिक चेतना

(क) साहित्य और राजनीति का पारस्परिक सम्बन्ध ।

(ख) राजनीतिक चेतना या राजनीतिक दृष्टि से तात्पर्य ।

(ग) साहित्यकार और राजनीतिक चेतना ।

अध्याय -- एक

(क) साहित्य और राजनीति का पारस्परिक सम्बन्ध

साहित्य के शाश्वत मानदण्ड -- सत्यं-शिवं-सुन्दरम् में जहाँ शिवं और सुन्दरम् की स्थिति स्वीकृत है, वहाँ सत्यं को ही प्रथम स्थान प्राप्त है-- अर्थात् जीवन के यथार्थ की स्वीकृति । यथार्थ जीवन के अशोभन को अपनी कला के द्वारा सजा-संवार कर साहित्यकार अपनी अनुभूति और सम्वेदना को मानव मस्तिष्क के उस स्तर पर ले जाता है, जहाँ उसका रसास्वादन किया जा सके । यह आस्वादन की प्रक्रिया कहीं आनन्द,कहीं सन्तोष और कहीं शान्ति प्रदान करती है । किन्तु साहित्य का उद्देश्य रसानन्द की सृष्टि, रमणीयता या चमत्कार प्रदर्शन करना ही न होकर जीवन के कटु सत्यों का विश्लेषण करना भी है -- यह उपर्युक्त सिद्धान्त का मूल सत्य है, यह कहने की आवश्यकता नहीं ।

साहित्य का विषय साहित्यकार की चेतना के सामने फैला हुआ आवेष्टन है, और इस आवेष्टन का प्रमुख भाग मानव जीवन का यथार्थ है । यह आवेष्टन प्रत्येक युग में बदलता रहता है, इसीलिए प्रत्येक युग में नए काव्य की आवश्यकता होती है । युग की वास्तविकताओं से विलग होकर साहित्य निस्पन्द,शून्य और अर्थहीन हो जाता है । काल के परिवर्तन के साथ जीवन के मापदण्ड बदलते हैं और जीवन की बढ़ती हुई आवश्यकताओं के साथ ही साहित्य की परिधि भी विस्तृत हो जाती है । काव्य में प्रयोजन की स्वीकृति के उपरान्त साहित्य अपने में इतिहास,राजनीति,धर्म,समाज,अर्थ-- सभी उपयोगी विषयों को समाहित कर लेता है । जीवनोपयोगी साहित्य में युग के सारे संघर्ष,सारे राग-विराग,समस्त प्रश्न और सन्देह मूर्तिमान् होकर ध्वनित होने लगते हैं । यदि

साहित्य को बलात् राजनीति से अलग रखा जाय अर्थात् यह आशा की जाय कि साहित्यकार युग-जीवन से और देशकाल से असम्पृक्त रहेगा तो साहित्य निष्क्रिय, निस्तेज, निष्प्राण, निर्जीव और संज्ञाशून्य होकर कवि-कल्पना का खिलवाड़ मात्र रह सकता है । किन्तु साहित्य की शक्ति दुर्धर्ष है । वह स्वप्रवाहित सरिता के समान है, जो देश और काल के अनुरूप अपनी धाराओं को मोड़ता और बदलता रहता है । यदि उसके बीच में बाँध बनाए गए और उसके प्रवाह को किसी विशेष दिशा में प्रवाहित करने की चेष्टा की गई तो न तो श्रेय की उपलब्धि में साहित्य ही अग्रसर होता है और न ही वह अपने परिवेश के लिए अपने उत्तरदायित्व का पूर्ण निर्वाह करता है ।

चूंकि लोकजीवन और राजनीति पृथक नहीं किए जा सकते, इसलिए कोई भी साहित्य-सेवी देश की राजनीतिक परिस्थितियों की अवहेलना नहीं कर सकता है । हिन्दी ही नहीं, वरन् अन्य भाषाओं के साहित्य पर भी दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य का राजनीतिक उतार-चढ़ावों से अटूट सम्बन्ध है । साहित्य और राजनीति के पारस्परिक संबंध की इस अभिन्नता को व्यक्त करते हुए बनारसीदास चतुर्वेदी ने अपने लेख 'कण्ठ की स्वाधीनता' में कहा है कि ' सजीव साहित्यिक के लिए साहित्य और राजनीति नाम की दो चीजें अलग हो ही नहीं सकतीं ।'[१] यदि साहित्य समाज की आन्तरिक दशा का एक दर्पण है तो राजनीतिक परिस्थिति का प्रतिबिम्ब भी उस पर जब तब झलक ही उठता है ।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में आधुनिक विज्ञान के प्रसार से विकसित होने वाली मुद्रण कला, पत्रकारिता तथा देश-देशान्तर के सम्पर्क के अन्य सहज सुलभ साधनों के कारण साहित्यकार की राजनीतिक

---

१ बनारसीदास चतुर्वेदी : 'साहित्य और जीवन', सन् १९५४, पृ०७१ ।

जागरूकता और भी विकसित हुई है। हिन्दी प्रदेश के मिर्जापुर, बनारस, इलाहाबाद, दिल्ली, आगरा, ग्वालियर आदि बड़े-बड़े नगरों में सन् १८३५ के बादही प्रेस स्थापित हुए और भारतेन्दु के संक्षिप्त जीवन-काल में ही समग्र भारत में हिन्दी की लगभग पचास पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित हो रही थीं।[१] श्रीयुत राधाकृष्णदास जी ने भारतेन्दु युग में निकलने वाली विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं की संख्या एक सौ उन्सालीस बतलाई है।[२] इनमें से अधिकांश पत्र अल्पायु थे, किन्तु कुछ पत्र बड़े तेजस्वी और दीर्घायु भी थे। प्रेस की स्थापना होते ही त्वरित गति से हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हिन्दी के साहित्यकार और हिन्दी भाषा-भाषी जनता की राजनीतिक जागरूकता के प्रकाशन का सहज माध्यम हो गये।

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद भारत की अन्तश्चेतना को आत्मनिर्भरता के एक नए आलोक का स्पर्श मिला। सन् १९२० में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध में गांधी जी ने सत्याग्रह का शंखनाद किया। सन् १९२१-२२ में गांधी-इरविन समझौते की विफलता राष्ट्रीय जीवन में नवीन संकल्प की सप्राणता का संचार कर गई। यों ही अन्य अनेक घटनाएं राष्ट्र के अन्तर्जीवन में करवट बदल गईं, जिनका भाव एवं विचार पर एक अजेय अलक्षित नियन्त्रण रहा। समय की इस गति से साहित्य का अन्तर्प्रवाह भी अछूता नहीं रह सका।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतेन्दु, राधाकृष्णदास, श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' आदि साहित्यकार होने के साथ ही राजनीति के जागरूक चिन्तक भी थे। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में माखनलाल चतुर्वेदी, रामधारी सिंह 'दिनकर', सोहनलाल द्विवेदी, सरोजनी नायडु, सुभद्राकुमारी चौहान, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन',

---

१ द्रष्टव्य -- परिशिष्ट -- एक

२ हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास, पृ०५८-६८

गणेश शंकर विद्यार्थी, सम्पूर्णानन्द, सेठ गोविन्ददास, जैनेन्द्र, यशपाल, के०एम०मुन्शी आदि साहित्यकारों ने भी देश की राजनीति में सक्रिय भाग लेकर यह प्रमाणित कर दिया कि यदि साहित्यकार दलगत राजनीति में न फंसकर स्वस्थ राजनीति को ही अपना कार्य-क्षेत्र बनाये तो उससे साहित्य का महत् उद्देश्य खण्डित नहीं होता, बल्कि लोक-जीवन और देश-जीवन से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हो जाने के कारण साहित्य की व्यावहारिक उपादेयता द्विगुणित हो जाती है। कविवर सुमित्रानन्दन पन्त के शब्दों में "साहित्य को अगर अधिक उपयोगी तथा मानव-निधि सम्पन्न होना है तो उसे शीघ्र ही व्यापक लोक-जीवन तथा देश-जीवन से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर लेना चाहिए, जिसकी गतिविधियों की वर्तमान राजसत्ता ही नियामक है[१]।"

साहित्यकार शासित नहीं होता, उसकी आत्मा जगत पर शासन करती है। वह समाजरूपी रथ के पीछे का पहिया न होकर एक कुशल सारथी होने के नाते युग का प्रतिनिधि, व्याख्याता और आलोचक है। किन्तु सरकार चाहे देशी हो या विदेशी, विचारों की स्वाधीनता को एक निश्चित सीमा तक ही सहन कर सकती है, इसलिए प्रत्येक सजीव लेखक को बरबस राजनीतिक दृष्टि को लेकर संघर्ष में आना ही पड़ता है। जनतंत्र के इस युग में साहित्यकार का दायित्व और भी बढ़ गया है। इसलिए उसे राजसत्ता के सम्पर्क से बचने का प्रयत्न करने के स्थान पर अपनी प्रबुद्ध बुद्धि का सदुपयोग राजसत्ता की निरंकुशता के नियन्त्रण और लोकसत्ता की सफलता के लिए करना चाहिए। इसीलिए उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी गद्यकार जब दरबारी संस्कृति की स्वर्ण-शृंखलाओं को तोड़कर युग का प्रतिनिधित्व करने के लिए अग्रसर हुए तब वह जीवन की चिर सहचरी राजनीति से अपने साहित्य को अछूता न रख सके। साहित्य का चिन्तन राजनीति की व्यावहारिकता और साहित्य की भावनाएं राजनीति की घटनाएं बन गईं। एक ओर यदि साहित्य

---

१ सुमित्रानन्दन पन्त -- 'लेखक और राजाश्रय : शिल्प और दर्शन', पृ०२६०

ने अपने सर्वांगीण विकास के लिए,अपने स्थायित्व के लिए राजनीति को अपने में समाहित किया तो दूसरी और राजनीतिक-आदर्शों का स्थापना, स्थायित्व एवं विकास के लिए और राजनीति में लोक-मंगल की भावना का संचार करने के लिए राजनीति को भी साहित्य का ऋणी होना पड़ा है । राजनीति का क्षेत्र मानव जीवन के सत्य के सम्पूर्ण स्तरों को नहीं अपनाता, वह हमारे जीवन का धरती पर चलने वाला समतल चरण है, क्योंकि हमें अपने मन तथा आत्मा के शिखरों की और चढ़ने वाले एक ऊर्ध्व संचरण की भी आवश्यकता है, जो हमारे ऊपर के वैभव को धरती की ओर प्रवाहित कर समाज के राजनीतिक,आर्थिक ढाँचे को शक्ति, सौन्दर्य,सामन्जस्य तथा स्थायी लोक-कल्याण प्रदान कर सके,......[१]।"

इस प्रकार सिद्धान्ततः साहित्य और राजनीति दोनों ही लोक-मंगल की भावना के पोषक हैं । दोनों का उद्देश्य जीवन को सुव्यवस्थित बनाना और प्रगति की और ले जाना है । दोनों का एकमात्र लक्ष्य जीवन है और दोनों की प्रेरणाएं भी जीवन से ही आती हैं । किन्तु उन प्रेरणाओं के साधनों तथा प्रणाली में अन्तर है । लक्ष्य की एकरूपता दृष्टिकोण की विभिन्नता में समन्वय कर देती है । अतः बुद्धिजीवी लेखकों और साहित्यिकों को राजसत्ता के सम्पर्क में अधिकाधिक आना चाहिए और परस्पर के सहयोग से अपने राष्ट्रीय जीवन को अधिकाधिक व्यापक,स्वस्थ तथा लोक-कल्याणकारी दिशा की और अग्रसर करने का प्रयत्न करना चाहिए[२]। क्योंकि लोक-जीवन का एक उद्बुद्ध छोर यदि साहित्यकार अथवा कलाकार है तो उसका दूसरा समर्थ छोर राजसत्ता है, दोनों ही परिणतियाँ लोक-जीवन के विकास तथा कल्याण के लिए आवश्यक हैं ।

गति जीवन का लक्षण है और साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति होने के कारण गतिमान,जागरूक और चैतन्य है । उसकी चेतना ही

---

१ सुमित्रानन्दन पन्त : "शिल्प और दर्शन" - प्रस्तावना, सन् १९६१,पृ०७८ ।

२ ,, ,, (लेखक और राजाश्रय), पृ०२८९-९० ।

राजनीति की गतिविधि का निर्धारण करता है । इसीलिए प्रत्येक युग अपने कवि की प्रतीक्षा करता है । उसके कर्म-क्षेत्र में अवतीर्ण होने के साथ ही यह रहस्य खुलने लगता है कि युग की चेतना किस दिशा में और किस स्तर तक विकसित हुई है । जिन अवस्थाओं की अनुभूति से गांधी और मार्क्स जैसे राजनीतिज्ञ अपने राजनीतिक आदर्शों की सृष्टि करते हैं, उन्हीं की कलात्मक अनुभूति से प्रेमचन्द, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जैसे साहित्यिक अपनी लेखनी में स्वर भरते हैं । साहित्य का मस्तिष्क समाज की दुरवस्था के चित्र अंकित कर सामाजिक समस्याओं के निदान द्वारा राष्ट्र जीवन की जो स्वर्णिम कल्पनाएं करता है, उसे राजनीति के यंत्र द्वारा व्यावहारिक रूप प्रदान किया जाता है । साहित्य कहता और इशारा करता है, किन्तु राजनीति को करना पड़ता है ।

टी०एस० इलियट ने कहा है कि --'कविता का नैतिकता, धर्म-भावना और सम्भवत: राजनीति से भी कुछ सम्बन्ध अवश्य है, यद्यपि हम यह नहीं जानते कि वह सम्बन्ध क्या है ।'[१] किन्तु हरिभाऊ उपाध्याय ने इस सम्बन्ध को स्पष्ट कर दिया है । उन्होंने कहा है कि 'साहित्य यदि भाव या विचार है तो राजनीति कर्म है, साहित्य यदि ऋषि है तो राजनीति सिपाही या कर्मयोगी है । जो दोनों में नाता नहीं देखते या उसे तोड़ डालना चाहते हैं वे साहित्य और राजनीति दोनों का-- शाश्वत धर्म और युगधर्म दोनों का द्रोह करते हैं ।'[२] क्योंकि साहित्य शाश्वत धर्म का उपासक है और राजनीति युग-धर्म से बंधी है ।

---

१ " ...... poetry is certainly has some thing to do with morals, and the religion, and even with politics perhaps, though we cannot say what." (the sacred wood, 1928 edn.)

डा०देवराज : 'साहित्य चिन्ता'-'साहित्य का प्रयोजन', पृ०५५

२ हरिभाऊ उपाध्याय : प्रगतिशील साहित्य --जीवन साहित्य, जून १९४१, वर्ष १ अंक ११.पृ०४६७ ।

साहित्य व्यापक अर्थ में जीवन की व्याख्या है और राजनीति व्यवस्था एवं कर्म-विशेष में जीवन की अभिव्यक्ति है । अत: साहित्य जीवन के अन्य अंगों के समान ही राजनीति से भी मानव सम्वेदना को संकलित करके रसानुभूति के आधार ग्रहण करता है । रामधारी सिंह 'दिनकर' ने कहा है कि "राजनीति उस जीवन का एक प्रमुख अंग है, जो अपनी पूरी विविधता के साथ साहित्य की व्याख्या का विषय होता है । जिस प्रकार साहित्य जीवन के अन्य अंगों से रसानुभूति प्राप्त करता है, उसी प्रकार राजनीति से भी वह रस ही ग्रहण करता है । साहित्य जहाँ तक स्व अपनी मर्यादा के भीतर रहकर जीवन के विशाल क्षेत्र में अपना स्वर स्व ऊंचा करता है, वहां तक वह पूज्य और चिरायु है, किन्तु जभी वह राजनीति की अनुचरता स्वीकार करके उसका प्रचार करने लगेगा, तभी उसकी अपनी दीप्ति छिन जायगी और वह कला के उच्च पद से पतित हो जायगा ।"[1] देशभक्ति और राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित होकर ही भारत में साहित्य ने सामाजिक और राजनीतिक जागरण के लिए विकलता प्रकट की थी । स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करना यदि राजनीति का लक्ष्य था, तो सामाजिक और वैयक्तिक जीवन में न्याय और स्वतन्त्रता की मांग करना कलाकारों और साहित्यिकों की विकलता थी, जिसने कलात्मक रचना का रूप धारण किया । साहित्य को राजनीति से पृथक रखने का अर्थ है कि लोक-जीवन के झंझटों और सुख-दु:खों से साहित्य का सब सम्बन्ध विच्छेद कर देना। किन्तु "राजनीति और लोक-जीवन का गहरा सम्बन्ध है और लोक-जीवन और साहित्य का अटूट रिश्ता है, 'इसलिए हम' राजनीति और साहित्य को एक व दूसरे से अलग नहीं रख सकते ।"[2]

सूक्ष्म दृष्टि से साहित्य और राजनीति का वही संबंध है, जो आत्मा और शरीर का ।...... साहित्य-सेवी और राजनीतिज्ञ का कर्तव्य है

---

१ मिट्टी की ओर -- साहित्य और राजनीति, पृ०१६२-१६३

२ श्रीमन्नारायण अग्रवाल : 'साहित्य और राजनीति' - हंस, फरवरी १९३८, पृ०४३०।

मानव जीवन को उन्नत बनाना, वादों--(इज़्म) की कन्दराओं से पीड़ित आत्मा को सुख और शान्ति के प्रशस्त मार्ग पर लाना । इसीलिए राल्फ फॉक्स के शब्दों में 'साहित्य राजनीति है । वह स्पष्ट रूप से राजनीतिक कला है ।'[१] जो सच्चे साहित्यकार हैं वे राजनीति अथवा लोक-जीवन के सम्पर्क में रहकर सुन्दर और प्रभावशाली साहित्य का निर्माण करते हैं । किन्तु जिनमें जीवन-शक्ति नहीं है, जो लोक-जीवन को समझने ठीक और आत्मसात् करने में असमर्थ हैं, वह स्वभावत: राजनीति से दूर भागने की कोशिश करते हैं ।

राजनीति का लक्ष्य जन समाज के बाह्य हितों को देखना, उनकी सुरक्षा करना और उनका संवर्द्धन करना है, जब कि साहित्यिक का लक्ष्य समाज को ऐसी प्रेरणा देना है कि वे स्वयं अपने हितों और अधिकारों को समझ सकें और अपने दायित्वों के प्रति सजग हो सकें । राजनीति का क्षेत्र संगठित जन-आन्दोलन का क्षेत्र है, जब कि साहित्य का क्षेत्र समाज और व्यक्ति की भावनाओं के परिष्कार और उन्नयन एवं संस्कृति के शाश्वत तत्वों का अर्थ सम्पादन है । बाह्य दृष्टि से साहित्य और राजनीति एक-दूसरे से भिन्न कहे जा सकते हैं, किन्तु भावात्मक भूमि पर दोनों ही अपने समान लक्ष्य और दायित्व का परिचय देते हैं । क्योंकि साहित्य की भावना ही राजनीति की घटना है[२] । इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है

---

१ " Literature is political, openly and deliberately political art."

विशालभारत, जनवरी १९४०, रामशर्मा, सम्पादकीय विचार-'साहित्य और राजनीति का सम्बन्ध', पृ०२०५ ।

२ 'आज का साहित्य कल की राजनीति बनता है, क्योंकि भावना है साहित्य तो घटना है राजनीति । प्रत्येक घटना के हृदय में भावना है । घटना भावना का प्रकट फल है और वह उसको व्यक्त करती है । पर घटना का मूल तो भावना है, जो अदृश्य है, इसी से अधिक महत्वपूर्ण है ।'

--जैनेन्द्र : हिन्दी और हिन्दुस्तान - जैनेन्द्र के विचार, पृ०७३ ।

कि साहित्य न केवल दर्पण है वरन् आगामी राजनीतिक उथल-पुथल का प्रेरक भी है[१]। इस सत्य के प्रमाण तो हमें विश्व के इतिहास में अनेकाधिक बार मिले हैं।

अन्त में श्रीराम शर्मा के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "साहित्य और राजनीति जीवन सुरसरि के दोनों किनारों के समान हैं। गंगा जी का दाहिना किनारा अधिक अच्छा है और अधिक उपयोगी है या बांया ? बिना दोनों किनारों के कोई किसी नदी की कल्पना नहीं कर सकता, और इसीलिए साहित्य और राजनीति किसी राष्ट्र की एक प्रगति के दो रूप हैं-- दोनों ही आवश्यक हैं, क्योंकि दोनों का ध्येय मानव जीवन को उन्नत बनाना है[२]।"

(ख) राजनीतिक चेतना या राजनीतिक दृष्टि से तात्पर्य

राजनीतिक संगठन बनाने की चेष्टा मानव की आदिम प्रवृत्तियों में से है। प्रबुद्ध मानव एक राजनीतिक समुदाय में रहता है। राजनीतिक प्राणी होने के नाते उसका राज्य और शासन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। राजनीति ही वह विज्ञान है, जो मानव मात्र को राज्य के यंत्र सरकार और कानून से परिचित कराता है। क्षेत्रीय विस्तार के कारण प्रत्येक व्यक्ति शासन-प्रबंध में भाग नहीं ले सकता और न ही प्रत्येक व्यक्ति शासन सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन कर उन पर भाष्य रख सकता है। किन्तु शासन के गुण-दोष का अनुभव

---

१ " Literature is only one of the channels in which the energy of the age dis-charges itself in its political movement , a religious thought, philosophical speculation and art. We have the same energy over flowing into other formes of expression."

-- शिवदत्त शर्मा सरोजनी शर्मा : हैनरी हड्सन- स्टडी आफ लिट्रेचर साहित्यिक निबन्ध प्रदीप, पृ० २१-२२

२ विशाल भारत-जनवरी १९४०, सम्पादकीय विचार- साहित्य और राजनीति का सम्बन्ध, पृ० १०५।

एवं आलोचन करने की क्षमता प्रत्येक व्यक्ति में होती है । दूसरे शब्दों में जनता ही शासन-तन्त्र की सच्ची आलोचक होती है । शासन के सैद्धान्तिक पक्ष के साथ ही साथ उसके व्यावहारिक पक्ष के प्रति जब मानव-मस्तिष्क सजग हो उठता है तब हम उसे राजनीतिक-चेतना या राजनीतिक दृष्टि कहते हैं । शासन तंत्र की प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया और राजनीतिक अन्याय के विरुद्ध विद्रोह की भावनाएं जब बलवती होने लगती हैं, अधिकारों की रक्षा की बलवती इच्छा के वशीभूत होकर जब जन-समूह प्रत्येक अन्याय का विरोध करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है, शासक को ईश्वर का प्रतीक समझकर उसकी स्तुति करने के स्थान पर अपना ही प्रतिनिधि समझकर शासक और शासित के भेद को दूर कर शासक जाति को कर्तव्य-परायण होने के लिए जब हम आगाह करते हैं और उससे जनता के अधिकारों की सुरक्षा की अपेक्षा करने लगते हैं, तब राजनीतिक चेतना का उदय होता है । राजनीतिक चेतना किसी भी समुन्नत सभ्यता की प्रबल शक्ति है और उसकी सामर्थ्य की द्योतक है ।

यद्यपि राजनीति शासन-पद्धति की शास्त्रीय विवेचना है, जिसे हम पुस्तकों का अवलोकन करके सैद्धान्तिक रूप से समझ सकते हैं, किन्तु शासन एक कला है । जब शासक वर्ग अपने को इस कला में दक्ष समझ कर स्वार्थ सिद्धि में लग जाता है और अपने धर्म अर्थात् शासित के हितों की रक्षा को गौण समझने लगता है तब शासित वर्ग में विद्रोह की भावना उत्पन्न होती है । यही विद्रोह जन-समूह को जागरूक कर राजनीतिक गतिविधियों को समझने और उनके प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हस्तक्षेप करने के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित करता है । जन-जागृति के बीज देश की आन्तरिक परिस्थितियों में निहित होते हैं, किन्तु बाह्य परिस्थितियों के प्रभाव से भी वह मुक्त नहीं है । उदाहरणार्थ भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन एक ओर यदि नौकरशाही की कठोर दमन नीति का परिणाम था तो दूसरी ओर बाह्य प्रभाव जैसे फ्रांस की राज्यक्रान्ति (१७८९) अमेरिका की स्वतन्त्रता, (सन् १७७८), रूस-जापान युद्ध (सन् १९०४), रूसी क्रान्ति (सन् १९१७) आदि का भी उसकी चेतना पर गहरा प्रभाव पड़ा । प्रथम विश्व युद्ध (सन् १९१४-१८) के

परिणामस्वरूप साम्राज्यवाद के विरुद्ध जो लहर उठी उसके प्रभाव से पराधीन भारतवासियों के मन में भी अपनी स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त करने की चेतना उत्पन्न हुई । राष्ट्रीय आन्दोलन का उद्देश्य केवल अधिकारी-तंत्र को बदलना ही न था, वरन् इसका उद्देश्य शासन-पद्धति में परिवर्तन करना भी था । क्योंकि शासक चाहे कोई हो, यदि पद्धति में परिवर्तन नहीं होता तो शासन नीति वही होने के कारण देश की जनता उससे लाभान्वित नहीं होती । जिस प्रकार स्वत्व की रक्षा की भावना और राजनीतिक अन्याय राजद्रोह को जन्म देते हैं, उसी प्रकार विदेशी आक्रमण और प्रबुद्ध राष्ट्र-प्रेम की भावनाएं बलवती कर, देश-वासियों में साहस, शक्ति और उत्साह को जन्म देकर, समस्त जाति को पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त कर स्वतन्त्र और उन्नतिशील जीवन व्यतीत करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं । कुछ सभ्य, सुसंस्कृत और विकासशील देशों के स्वार्थ और विलास की भावनाओं ने साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, और दास प्रथा को जन्म दिया तो अर्द्ध-सभ्य व और अविकसित देशों की राजनीतिक चेतना ने शासकों के उत्पीड़क व्यवहार के विरुद्ध आवाज़ उठाकर जन-स्वातन्त्र्य की माँग की । आयरलैण्ड और अमेरिका के स्वातन्त्र्य युद्ध, फ्रांस, इटली, रूस आदि की राज्य-क्रान्तियाँ, दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों के स्वत्वों की रक्षा के लिए महात्मा गांधी का सत्याग्रह, बोअर युद्ध, भारतीय स्वातन्त्र्य-आन्दोलन और पूर्वी पाकिस्तान (बंगला देश) का पश्चिम पाकिस्तान के विरुद्ध विद्रोह इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं ।

इतिहास साक्षी है कि शासकों के स्वार्थ और विलास की भावनाएं जनता के आक्रोश के सामने टिक नहीं सकी हैं और जन-आन्दोलन के परिणामस्वरूप राजनीतिक-व्यवस्था और दृष्टिकोण में परिवर्तन हुए हैं, किन्तु कौन कह सकता है कि यह परिवर्तन स्थायी है या इन परिवर्तनों के फलस्वरूप विश्व से वर्ग-भेद स्वार्थ और विरोधों का अन्त हो गया और पृथ्वी पर स्वर्ग की रचना हो गई । आर्थिक वर्ग-भेद की जिस कीच में विश्व मानव फंसा है उससे वह आज भी मुक्त नहीं है । समस्त विश्व गुटबन्दियों का शिकार हो रहा है।

एक और रूस साम्यवाद को प्रोत्साहन देकर विश्व से आर्थिक वैषम्य को दूर करने का पक्ष लेकर अपनी ही शक्ति को बढ़ाने में प्रयत्नशील है, तो दूसरी ओर प्रजातंत्र का जन्मदाता अमेरिका पूंजीवाद को प्रोत्साहन दे रहा है। इन वादों के संघर्ष का ही फल है कि जनहित का समर्थक अमेरिका वियतनाम में निरन्तर गोलाबारी कर रहा है। क्या उसके पीछे पूंजीवाद के विनाश का भय निहित नहीं है। आर्थिक वर्ग भेद को स्थायी बनाये रखने के लिए ही सुदूर पूर्व के देशों की दलगत राजनीति के चक्कर में फंसा कर विश्व के बड़े राष्ट्र अपना स्वार्थ सिद्ध करने में संलग्न हैं, किन्तु विश्व मानव की राजनीतिक चेतना ने एक वर्ग-विशेष की स्वेच्छाचारी होने से रोक रखा है। अतः यह कहा जा सकता है कि राजनीति नीति की दृष्टि से शासन पद्धति का अध्ययन कर, राज्य सम्बन्धी सामान्य नियम अथवा सिद्धान्त प्रतिपादित करने का प्रयत्न करती है, जब कि राजनीतिक दृष्टिकोण, उन सामान्य सिद्धान्तों को मानव हित के लिए प्रयोग करता कर, न्याय और जनहित को प्रोत्साहित करता है। जन समूह की राजनीतिक चेतना ही भावी कल्पनाओं के स्थान पर अतीत से प्रेरणा लेकर वर्तमान को मंगलमय बनाकर, भविष्य के लिए राज्य के शासन के सिद्धान्तों में आमूल परिवर्तन कर, राज्य, शासन, कानून, सरकार सभी को व्यापक हित में संलग्न करने का पुण्य कार्य करने के साथ ही राज्य, सरकार और व्यक्ति में सामन्जस्य स्थापित कर, राज्य और मानव-हित के मध्य एकता स्थापित करने का प्रयास करता है। जहां तक राजनीतिक उद्बुद्धता के प्रेरक तत्वों का सम्बन्ध है, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक वातावरण ही वह प्रेरक शक्तियां हैं जो राजनीतिक चिन्तन के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करती हैं। अतः किसी व्यक्ति अथवा युग-विशेष की राजनीतिक विचारधारा को उसके सामाजिक और राजनीतिक प्रसंग से स्वतन्त्र रख कर समझने का प्रयास निष्फल है। राजनीतिक चिन्तन की रूप-रेखा बहुत बड़ी हद तक बाह्य जगत की वस्तु स्थिति द्वारा निर्धारित होती है। यदि मार्क्स कुछ शताब्दी पूर्व या किसी औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए देश में जन्मे होते अथवा गांधी रूस, अमेरिका या जर्मनी में उत्पन्न होते तो न गांधी राजनीति में सत्य और अहिंसा का समावेश कर पाते और न मार्क्स वर्ग-संघर्ष के भयानक परिणाम पर पहुंच पाते।

(ग) साहित्यकार और राजनीतिक चेतना

उक्त तथ्यों का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्यकार युग-चेतना का वाहक बनकर अवतरित होता है। वह अपने चारों ओर के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, संक्षेप में समस्त स्थूल और सूक्ष्म परिवेश के सूक्ष्मतम स्पन्दनों को अपनी शिराओं में महसूस करता है, क्योंकि समाज के अन्य प्राणियों की अपेक्षा वह अधिक सम्वेदनशील, भाव-प्रवण और प्रतिभाशाली है। प्रतिभा के सम्बल के सहारे वह अपनी गहन अनुभूति को साहित्य में जीवन्त कर देता है। साहित्यकार की यह अनुभूति और सम्वेदना ही अपूर्ण मानवीय अनुभवों को कला के माध्यम से पूर्णता प्रदान करता है। उसके स्व-अर्जित अनुभव और उसकी अन्तर्दृष्टि ही उसे युग का प्रतिनिधि अथवा व्याख्याता बना देते हैं। उसकी वाणी में युग की वाणी, उसकी भावनाओं में युग की भावनाएं और उसकी अपनी आशाओं और निराशाओं में युग की आशा और निराशा ध्वनित होने लगती है।

सामान्यसाहित्यकार परिस्थितियों की स्वीकारता हुआ चलता है, इसलिए वह देश काल का फल होकर, देश काल को सत्य के रूप में अपने में समाहित करता है। किन्तु उच्चकोटि के साहित्यकार क्रान्ति के पथ का अनुसरण करते हुए अपने साहित्य में नव चेतना के बीज भी अंकुरित करते हैं। उनकी वह चेतना जन-सामान्य की चेतना बन जाती है। उच्चकोटि के साहित्यकार जीवन की अभिव्यक्ति करने के साथ ही जीवन निर्माण में संलग्न होकर साहित्य के व्यक्तिगत स्वरूप को समष्टिगत स्वरूप में परिवर्तित कर देते हैं और परिवेशगत शुभ और अशुभ, सुन्दर और असुन्दर हेय और वरणीय की चेतना जगाकर मनुष्य की मूल्य दृष्टि को शिक्षित और परिष्कृत करते हैं। मनुष्य का परिवेश, उसका युग और वातावरण निरन्तर परिवर्तित और परिवर्धित होता रहता है, इसलिए उसे सदैव नये साहित्य-स्रष्टाओं की अपेक्षा बनी रहती है। अतीत के महान कलाकारों को पढ़कर वह पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं होता, क्योंकि युग-जीवन की जटिलताएं और उसके मूल्यों की चेतना की उपलब्धि तो सामयिक साहित्य से ही होती है। फिर भी प्राचीन साहित्य सर्वथा अग्राह्य न--

नहीं है, क्योंकि मानवीय सम्बन्ध और सम्वेदनाएं युग-युग से बहुत कुछ वही रहे हैं । आज भी हम कालिदास के इस सिद्धान्त की सत्यता को अनुभव करते हैं कि जनता से गृहीत करनेका उपयोग जनता के लिए ही होना चाहिए न कि शासकों के आमोद प्रमोद के लिए[1] ।

युग और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है । किन्तु आधुनिक युग में युग के नव-निर्माण का प्रश्न जटिल और बहुमुखी रूप लेकर उपस्थित हुआ, फलत: साहित्यकार क भी युग और साहित्य के सम्बन्ध की समस्या के प्रति अधिक सजग, स्पष्ट और सक्रिय दृष्टिगोचर होता है । उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के हिन्दी साहित्य पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शताब्दी के प्राय: सभी प्रमुख साहित्यिक राष्ट्रीय चेतना से सम्पन्न रहे हैं, देश की दैनंदिन गतिविधि के प्रति जागरूक रहे हैं और कवि-कर्म को युग और जीवन से पृथक् करके नहीं देख सके हैं । आदि कवि वाल्मीकि और व्यास नागरिक जीवन से दूर रहने पर भी राजतंत्र की समस्याओं को भुला नहीं सके और जाने-अनजाने उन्हें अपनी कृतियों में स्थान दे ही दिया, तब आज का साहित्यकार जीवन की कठिनतम परिस्थितियों से होकर गुजरने के कारण युग सत्य की अवहेलना कैसे कर सकता है । अज्ञेय के शब्दों में 'उच्च कोटि का नैतिक बोध और उच्चकोटि का सौन्दर्य -बोध कम-से-कम कृतिकार में प्राय: साथ चलते हैं । क्यों? इसलिए कि दोनों का बोध मूलत: बुद्धि के व्यापार हैं, मानव का विवेक ही दोनों का मूल स्रोत है[2] ।'

प्रत्येक ब युग आने वाले युग को अपनी अर्द्ध निरूपित समस्याएं और अधूरे समाधान सौंप देता है और प्रत्येक नया युग उन समस्याओं और समाधानों पर पुन: विचार करता है । प्रत्येक युग में नई आर्थिक, राजनीतिक,

---

१ 'प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्' -- रघुवंश

२ अज्ञेय :'समालोचना और नैतिकमान(निबन्ध)'

सामाजिक एवं सांस्कृतिक समस्याएं उभरती हैं और उन समस्याओं को पुरानी समस्याओं के सन्दर्भ में प्रतिष्ठित करके नव प्रश्नों के सम्बद्ध समाधान का प्रयत्न उस नए युग के साहित्यकार को करना पड़ता है। युग की संवेदना और उसका संगीत ही युग-विशेष में प्रयुक्त शब्दों के कोषगत अर्थ से भिन्न अनुषंगों और उन (शब्दों) की सांगीतिक झंकार को निर्धारित करता है। साहित्यकार नये विचार, नये चित्र एवं नई संवेदनाओं के सन्दर्भ, नवयुग के नवीन वस्तुबोध और नयी भाव-चेतना से प्राप्त करके अपने युग के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की घोषणा करता है। युग की समस्त संवेदना, उसका सम्पूर्ण जीवन ही साहित्यकार की राजनीतिक चेतना की कसौटी है। साहित्यकार राजनीति में सक्रिय भाग ले अथवा न ले उसका साहित्य तो राजनीति की गतिविधि को प्रभावित करता भी है और उससे प्रभावित होता भी है[1]। इसीलिए शासन-तन्त्र में और शासन नीति में परिवर्तन होने के साथ ही साहित्य में भी उसकी प्रतिक्रिया परिलक्षित होती है। उदाहरणार्थ उत्तर-मध्यकाल में मुसलमान शासकों की विलासी मनोवृत्ति ने यदि साहित्यकार को शृंगारिक साहित्य की रचना करने के लिए प्रेरित किया तो प्रजातंत्र शासन पद्धति की स्थापना होते साहित्य में शासक के साथ ही शासित का महत्व भी बढ़ गया। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि ब्रिटिश साम्राज्य के आतंक से क्षुब्ध होकर और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की चेतना से प्रबुद्ध होकर ही आधुनिक युग ने हिन्दी के कवि और लेखक ने सर्वप्रथम जनमानस को जनतन्त्र के लिए तैयार किया। राजनीति में उनके स्वरूप का दिग्दर्शन तो कांग्रेस की स्थापना (सन् १८८५ई०) के पश्चात् ही हुआ।

---

१ "राजनीतिक परिस्थितियां साहित्य के निर्माण में साधक या बाधक ही नहीं होतीं, वरन् उसकी गतिविधि भी निश्चित करती है। किसी साहित्य का इतिहास राजनीतिक इतिहास की जानकारी के बिना लिखा नहीं जा सकता। भूषण का औरंगजेब के समय में होना आकस्मिक घटना नहीं थी, तत्कालीन परिस्थितियों ने भूषण का निर्माण किया। हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से जो राजनीतिक धारा चली है, वह भी राजनीतिक परिस्थितियों का प्रतिफलन है।" -- गुलाबराय : प्रबन्ध प्रभाकर - इतिहास उसकी सीमाएं, उसके अध्ययन का उद्देश्य और महत्व, पृ०३६८।

इस दृष्टि से साहित्यकार का काम जहां एक ओर क्षेत्र या ज़मीन को गोड़ना रहता है, वहां दूसरी ओर अंकुरों को सींचना और पोषण करना भी होता है।

अंग्रेज़ों के प्रतिक्रियावादी शासन के परिणाम स्वरूप हिन्दी के साहित्यकार दीन-दलित मानवता के सजीव चित्र अंकित करने के साथ ही शासन तंत्र की आलोचना करके अपनी वेदना और घुटन की अभिव्यक्ति करने लगे। क्योंकि विरोध प्रदर्शन का एकमात्र साधन उग्र साहित्य ही था। अनुनय विनय की नीति निष्फल हो चुकी थी। सशस्त्र क्रान्ति द्वारा अंग्रेज़ों की सुदृढ़ साम्राज्य शाही से लोहा लेना सम्भव न था। अतः दमन और आतंक के उस वातावरण में राजनीतिक चेतना को अधिक से अधिक उदबुद्ध करके तथा समग्र भारत में उसका व्यापक प्रचार करके ब्रिटिश साम्राज्यशाही को बौद्धिक चुनौती देने का एकमात्र साधन बुद्धिजीवी वर्ग की लेखनी ही थी। युग के ज्वलन्त प्रश्नों और समस्याओं से जूझने के लिए उस लेखनी से सृजित साहित्य अपना सारा मौलिक बल जुटाकर बड़े साहस के साथ आगे बढ़ा। इस अभियान में उसने अपने लक्ष्य को ही सामने रखा और जो कुछ उसकी प्राप्ति के लिए अनावश्यक जान पड़ा, उसे विदा दे दी।

हिन्दी के गद्य-लेखकों ने अपनी पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से नौकरशाही के निरंकुश दमन का चित्रण करके हिन्दी भाषी जनता को उसकी वास्तविक स्थिति का बोध कराया। चम्पारन के निलहे गोरों के अत्याचार की कहानियां सर्वप्रथम गणेशशंकर विद्यार्थी के 'प्रताप' के द्वारा ही जनता के सम्मुख आयीं। देशी राज्यों में होने वाले अत्याचारों की कथाएं, विदेशों में कुली बनाकर भेजे गए भारतीयों के कष्टों का प्रकाशन, होमरूल आन्दोलन, निलहे गोरों के विरुद्ध आन्दोलन, देशी नरेशों की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध आन्दोलन 'प्रताप' की विशेषताएं रही हैं। देशी नरेशों के विरुद्ध किए गए तीव्र आन्दोलन से घबड़ाकर ब्रिटिश भारतीय शासन ने देशी नरेश संरक्षक बिल की सृष्टि ही कर डाली। असहयोग आन्दोलन में भी 'प्रताप' के प्रचार का हिन्दी जगत में बहुत बड़ा हाथ रहा है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सन् १९१३ से सन् १९३९-४० तक देश में कोई भी ऐसा

आन्दोलन नहीं हुआ जिसका प्रचार-प्रसार और आंशिक नेतृत्व गणेशशंकर विद्यार्थी और उनके 'प्रताप' ने न किया हो । इसी प्रकार 'प्रवासी भारतीयों' के कष्टों से जन-सामान्य को परिचित कराने के लिए और शासन का ध्यान उस ओर आकृष्ट करके प्रवासी भारतीयों के कष्ट निवारणार्थ विशाल भारत ने 'प्रवासी भारतीय' स्तम्भ प्रारम्भ किया । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन राजनीतिक वैषम्य का समावेश हिन्दी गद्य साहित्य में सम्यक् रूप से हुआ । शासक अथवा शासित से सम्बन्धित कोई भी राजनीतिक घटना या गतिविधि इन साहित्यकारों की पैनी दृष्टि से ओझल न हो सकी । विदेशी शासन के प्रति आक्रोश, तत्कालीन समाज की दुरवस्था के प्रति क्षोभ तथा नूतन भारत की कल्पना -साहित्य का वर्ण्य - विषय बन गया ।

विदेशी शासन और व्यापार से उत्पन्न आर्थिक शोषण के कारण तत्कालीन लेखकों का ध्यान विशेष रूप से देश की तत्कालीन आवश्यकताओं पर ही अधिक केन्द्रित हुआ । अधिक से अधिक रचनाएं इन्हीं परिस्थितियों की प्रेरणा से उद्भूत हुईं और अन्ततोगत्वा वे हमारी राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक विषमता के प्रभाव और क्षोभ की प्रेरणा से प्रसूत हैं । 'सरस्वती', 'मर्यादा', 'इन्दु' 'लक्ष्मी' आदि पत्र-पत्रिकाओं में अधिकांश लेख इन्हीं भावों और विचारों से सम्बन्धित हुआ करते थे । अतीत के गौरव की ओर दृष्टिपात देश गुण-गान , समाज के सर्वांगीण उत्कर्ष पर मनोनिवेश, कृषि, कला -कौशल और उद्योग-धंधों के लिए आकर्षण, आशा और आवाहन अधिकांश रचनाओं की मर्मवाणी यही हुआ करती थी । हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में लिखे गए युगीन राजनीति से सम्बन्धित यह छोटे-छोटे निबन्ध और लेख अपने सृजकों के राजनीतिक ज्ञान के ज्वलन्त उदाहरण हैं । राजनीति के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही पक्षों का उद्घाटन इन लेखों के माध्यम से किया गया । देश की आन्तरिक राजनीतिक परिस्थितियों की अभिव्यक्ति के साथ ही साथ विश्व-राजनीति की महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख भी हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओं में किया गया ।

पैदा करके और व्यावहारिक राजनीति की गतिविधियों का चित्रण करके इस युग के साहित्यकार ने अपने राजनीतिक ज्ञान और राजनीतिक चेतना को अभिव्यक्त किया । भारतेन्दु और द्विवेदी युग के साहित्यकारों ने जन सामान्य के राजनीति की दैनन्दिन घटनाओं से परिचित कराकर देशवासियों के राजनीतिक ज्ञान और प्रबुद्धता की अभिवृद्धि करने के साथ ही तत्कालीन समस्याओं के विश्लेषण की क्षमता भी उत्पन्न करने का प्रयास किया । राजनीति से अनभिज्ञ जनता को देश-विदेश की गूढ़ राजनीतिक ज्ञान प्रदान करने में पत्र-पत्रिकाओं में सम्पादकीय टिप्पणियों के रूप में लिखा गया गद्य अपना विशेष स्थान रखता है । एक प्रकार से जन-जागरण का सर्वोत्तम माध्यम यह पत्र-पत्रिकाएं ही थीं[१] । क्योंकि पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा हिन्दी साहित्यकार अपने पाठकों से सीधा सम्पर्क स्थापित करके जनसामान्य की समस्याओं से अवगत हो सकते थे और उन समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत कर सकते थे । हिन्दी के साहित्यकारों ने अपनी संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए पद्य की अपेक्षा गद्य को प्राथमिकता दी । क्योंकि पद्य से अधिक गद्य युग चेतना (zeitgeist) का प्रतिनिधि अथवा दर्पण है[२] ।"

-0-

---

१ It was a difficult and tedious effort to enlighten public on these topics, but the vernacular prose was eventually successful. These early Hindi political leaders and editorials were an element of great value in the process of political education and even today they form a ground-work of journalistic and political exposition " . Rise and growth of Hindi Journalism -Dr. Ram Ratan Bhatnagar P.558 .

२ सुधाकर पाण्डेय : 'साहित्य और इतिहास' - भारतेन्दुकाल का एक संक्रान्ति संदर्भ पृ० ८३ ।

अध्याय -- दो

राजनीतिक तत्व और ऐतिहासिक सन्दर्भ

(क) राजनीति और उसके तत्व ।

(ख) इतिहास और राजनीति में सापेक्षता और अन्तर ।

-0-

अध्याय -- दो

राजनीतिक तत्व और ऐतिहासिक सन्दर्भ

(क) राजनीति और उसके तत्व

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । अपनी सुरक्षा और शक्ति-संवर्द्धन के लिए वह आदिकाल से ही समूह बनाकर रहता आया है । प्रारम्भ में जंगली जीव-जन्तुओं से अपनी रक्षा करने के लिए विभिन्न समूहों में रहने की मनुष्य की प्रवृत्ति शनैः शनैः एक सामूहिक व्यवस्था में विकसित होती गई । इस व्यवस्था का स्वरूप जहाँ एक और सामाजिक था, वहाँ दूसरी ओर राजनीतिक भी था । व्यवस्था के इस राजनीतिक विधि से संगठित समुदाय को ही राज्य की संज्ञा दी गई, जिसका व्यक्तिगत तत्व जनसंख्या, भौतिक तत्व भूमि और संगठनात्मक एवं तत्व शासन या सरकार है । आत्म-रक्षा की सहज प्रवृत्ति इन समुदायों के राजनीतिक जीवन की रक्षा करती है । जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा का प्रश्न उपस्थित होने पर मानव समुदाय ने नेता की आवश्यकता का अनुभव किया था । प्रारम्भिक अवस्था में यह नेता ही सर्वोपरि सत्ता का प्रतीक था । उसके आदेश ही विधि थे और समूह का प्रत्येक व्यक्ति अपने नेता की आज्ञा का पालन निर्विकार भाव से करता था । किन्तु समूह के नेता के निरंकुश होने पर 'नेता' के स्थान पर 'विधि' को सर्वोपरि माना गया । समूह की आन्तरिक व्यवस्था एवं विभिन्न समूहों के पारस्परिक सम्बन्धों का निश्चय करने के लिए अलग-अलग विधियों की खोज एवं व्याख्या ऐतिहासिक विकास का तथ्य है । सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास के साथ-ही-साथ जीवन की आवश्यकताएं बढ़ती गईं और विभिन्न राज्यों में परस्पर

आदान-प्रदान करने के हेतु पारस्परिक सम्बन्धों का प्रश्न उत्पन्न हुआ । और और शक्ति के लोलुप मानव ने अपनी शक्ति को बढ़ाने के उद्देश्य से एक-दूसरे के अधिकार क्षेत्र में प्रवेश करके विभिन्न समस्याओं को जन्म दिया और उनके समाधान के लिए मानव मस्तिष्क ने एक ऐसे शास्त्र को खोज निकाला, जिसमें एक राजनीतिक इकाई के अन्तर्गत मानव समाज का अध्ययन किया जा सके । यह शास्त्र राजनीति शास्त्र है । बर्गेस ने कहा है कि "भौमिक विस्तार, प्रतिनिधि शासन तथा राष्ट्रीय एकता का आधुनिक आवश्यकताओं ने राज्य-विज्ञान को केवल नागरिक-स्वाधीनता का विज्ञान ही नहीं, प्रत्युत राज्य प्रभुत्व का विज्ञान भी बना दिया है।"[1] इसके अन्तर्गत हम सरकारों के संगठन, विधान-निर्माण एवं विधान-प्रशासन तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध संचालन सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन करते हैं । यह मनुष्यों के उन पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है, जो राज्य नियमन के अन्तर्गत आते हैं । यह मनुष्यों तथा मनुष्य समुदायों और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों तथा राज्य के अन्य राज्यों से पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन करता है । यह राज्य के अतीत स्वरूप का विवेचन, उसके वर्तमान स्वरूप का विश्लेषण और भावी आदर्श-स्वरूप का नीतिपरक राजनीतिक चित्रण है । इसका सम्बन्ध राजनीतिक संगठन तथा राजनीतिक कार्य, राजनीतिक संस्थाओं तथा राजनीतिक सिद्धान्तों से होता है (गैटिल)।[2]

गैरिस ने कहा है कि "राजनीति शास्त्र राज्य के उद्भव, विकास, उद्देश्य तथा समस्त राजकीय समस्याओं का उल्लेख करता है।"[3] गैरिस के कथन ने राजनीति शास्त्र का विषय क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत कर दिया है । समस्त

---

१ अनु० रामनारायण यादवेन्दु : "राज्य विज्ञान और शासन" - जेम्स विल्फ्रेड गार्नर पृ० ६ ।

२ अम्बादत्त पन्त, मदनगोपाल गुप्ता, हरी मोहन जैन, पु : "राजनीति शास्त्र के आधार" पृ०२ ।

३ ,, ,, ,, ,, ,, पृ० २ ।

राजकीय समस्याएं जीवन के समस्त क्षेत्रों को अपने में समाहित कर लेती हैं । अर्थ, धर्म, समाज और अन्त में मानव सब कुछ राजकीय समस्याओं का विषय बन जाता है । अत: यह कहा जा सकता है कि राजनीति का अधिष्ठान जनता है और उसका सार नागरिक नीति में निहित है[१]।

राजनीति में-निहित राज चलाने या पाने की नीति होने के साथ ही मानव समुदाय में व्यवस्था बनाये रखने की एक ऐसी पद्धति है,जो अपनी कमियों के बावजूद भी मानव समाज के लिए अति आवश्यक है । जिस प्रकार राज्य मानव मस्तिष्क पर एक घोर कलंक है,उसी प्रकार राजनीति भी एक आवश्यक दोष है,जो मानवमात्र को व्यवस्थित रखने के लिए सबल को निर्बल के ऊपर शासन करने की क्षमता प्रदान करती है । राजनीति के सर्वोन्मुखी चरित्र का निर्धारण मानव की मौलिक कल्पना ही के द्वारा होता है और इसकी अन्तिम समस्या व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा राज्य की सत्ता में सामन्जस्य स्थापित करना है । शासक और शासित के पारस्परिक सम्बन्ध देश-काल के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं । राजतंत्र व्यवस्था में राजा की सर्वोपरि सत्ता मान्य है तो प्रजातंत्र पद्धति में राजा का कोई अस्तित्व ही नहीं है । जन-प्रतिनिधि ही जनमत को ध्यान में रखकर शासन व्यवस्था करते हैं और शासन यंत्र को संचालित करने का एक साधनमात्र है । दोनों के अधिकार और कर्तव्य की अपनी सीमाएं हैं । सर्वोपरि सत्ता को मान्यता देना, राजाज्ञा के अनुकूल आचरण करना यदि नागरिक के कर्तव्य हैं तो राज्य से सुरक्षा की मांग उसका अधिकार है । 'संप्रभु शक्ति' के अधिकार और जनता के प्रति उसके कर्तव्य तथा जनता

---

१ 'राजनीति हमको लेकर ही बनती है । उसका अधिष्ठान जनता है,कि जिसके हम सब अंग हैं । इससे राजनीति का सार नागरिक नीति में है । और राजनीति शास्त्र मानव सम्बन्धों के नियमन का ही शास्त्र है ।'
--जैनेन्द्र : 'अहिंसात्मक आरम्भ' -- पूर्वोदय, पृ०१५२ ।

है राज्य और राजा के प्रति कर्तव्यों का विश्लेषण राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत आता है । दोनों के पारस्परिक अधिकार और कर्तव्य राजस्व सम्बन्धी अनेक समस्याओं को जन्म देते हैं और उन समस्याओं का विश्लेषण ही राजनीति शास्त्र का मूल आधार है ।

राज्य की आन्तरिक समस्याएं

राज्य सम्बन्धी समस्याओं पर दृष्टिपात करते समय सर्व प्रथम राज्य के स्वरूप और उसके लक्ष्य की समस्या उत्पन्न होती है । राज्य के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए अरस्तु कहते हैं कि --" राज्य का जन्म जीवन के लिए हुआ है और जीवन को शुभ और सुखी बनाने के लिए वह जीवित है [१]।"इसके विपरीत अराजकतावादियों के अनुसार राज्य एक आवश्यक पाप है और मानव जीवन का सर्वोत्कृष्ट विकास राज्य हीन समाज में ही सम्भव है । किन्तु आदिम जातियों में भी राजा की परम्परा राज्य और शासक की महत्ता सामाजिक व्यवस्था के लिए सिद्ध करती है । राज्य के लोक-पालक रूप की अवहेलना की जा सकती है,किन्तु लोक-रक्षक के रूप में वह अपरिहार्य है ।

राज्य का मूलभूत तत्त्व राजनीतिक संगठन है । यह न केवल आर्थिक संगठन है,जिसका कार्य जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है और न ही यह केवल सैनिक संगठन है,जो देश-रक्षा के लिए तथा जीवन और समाज को व्यवस्थित करने के लिए बनाया गया है,वरन् यह एक बुद्धि परक संगठन है जो मनुष्यों को एक दूसरे को जानने और प्रेम करने के लिए बनाया गया है और इसी में राजनीति का नैतिक पक्ष निहित है । मनुष्यों का यह परस्पर ज्ञान और प्रेम ही राज्य की एकता का आधार है । यह एकता न तो यांत्रिक है और न ही जैविक । इस ऐक्य का आधार केवल स्वार्थ ही न होकर जन-सामान्य की चेतना है । आदिकाल में जब मनुष्य की तर्कना-शक्ति अधिक समुन्नत नहीं थी और समाज भी अधिक जटिल

---

१ ज्योतिप्रसाद सूद : 'राजनीतिक विचारों का इतिहास,भाग१',पृ०३ ।

नहीं था तब राज-शक्ति के प्रति अन्तर्निहित श्रद्धा ही उसका सहज स्वभाव था । मनुष्य समाज स्वभावतया एक शासक के सामने नतमस्तक हो जाता था । किन्तु मनुष्य की विचार-शक्ति में वृद्धि और समाज की जटिलता के परिणामस्वरूप विश्वास का स्थान सन्देह ने और श्रद्धा का स्थान चुनौती ने ले लिया । राजाज्ञा का अन्ध पालन क्यों किया जाय और शासन-शक्ति का आधार क्या है-- इसी प्रकार के कुछ प्रश्न मानव-मस्तिष्क को आन्दोलित करने लगे। किन्तु जब तक राजसत्ता का अन्त नहीं होता तब तक उसकी आज्ञाएं मानना होंगी । इसलिए नहीं कि राज की कोई आध्यात्मिक सत्ता है और उसके कोई ऐसे हित हैं जो व्यक्ति के हितों से ऊपर और पृथक् हैं, वरन् इसलिए कि वह व्यक्ति के हितों के साधन का प्रबल उपकरण है। जब तक राज है तब तक उसका यह कर्तव्य है कि ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करे जिनमें व्यक्ति अपने नैसर्गिक गुणों का पूरा-पूरा विकास कर सके । इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिए है, व्यक्ति राज्य के लिए नहीं है । राजाज्ञा का पालन करना धार्मिक कृत्य नहीं बुद्धि की मांग है ।

आधुनिक युग में राज्य की आन्तरिक समस्याओं जैसे सरकार के संगठन, उसके विभिन्न अंगों (कार्यपालिका, व्यवस्थापिका, न्यायपालिका) में परस्पर सम्बन्ध तथा शक्ति के केन्द्रित और विकेन्द्रित होने का प्रश्न पहिले की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो गया । राज्य की ध्येय पूर्ति तथा कार्य-पालन के लिए आवश्यक संस्थान, कानून के स्वभाव उसके उद्गम और मनुष्य से उसके सम्बन्ध का विश्लेषण आवश्यक होने के साथ ही एक नया प्रश्न उठा कि कानून शासक की इच्छा की उद्घोषणा है या जनता की सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति । लास्की ने कहा है कि "कानून राज की इच्छा का नाम नहीं है, वरन् वह वस्तु है, जिससे राज की इच्छा को नैतिक बल प्राप्त होता है । यदि कानून के द्वारा राज प्राकृतिक हकों की रक्षा करता है तब तो वह मान्य है और उसका आधार नैतिक है, अन्यथा, वह केवल पशुबल के जोर पर चलना चाहता है । वस्तुतः राज हकों की सृष्टि नहीं करता, हक पहले से चले आते हैं और राज की आज्ञाओं की मान्यता

प्रदान करते हैं[१]।"

विभिन्न राज्यों में परस्पर सम्बन्ध की समस्या

राज्य की आन्तरिक समस्याओं के अतिरिक्त विभिन्न राज्यों में परस्पर सम्बन्ध की समस्याएं भी खड़ी होती हैं । क्योंकि संसार में अनेक राज्य हैं और वे न्यूनाधिक एक-दूसरे के सम्पर्क में आते रहते हैं । इसलिए यह प्रश्न उठता है कि उनमें उचित सम्बन्ध क्या होना चाहिए ? अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को नियंत्रित करने वाला अन्तर्राष्ट्रीय ~~सम्बन्धों के~~ कानून कभी-कभी तो अत्यन्त महत्वपूर्ण हो उठता है । आज के युग में इसका महत्व राजनीतिक धाराओं में सबसे अधिक है । क्योंकि विज्ञान के इस युग में संचार और परिवहन के नए तरीकों ने दूरी का प्रश्न ही नहीं समाप्त कर दिया, वरन् राष्ट्रों को परस्पर परावलम्बी भी बना दिया है । विश्व के समस्त देशों के एक-दूसरे के सन्निकट होने के कारण उनके पारस्परिक सम्बन्धों के विश्लेषण और राजस्व सम्बन्धी कठिनाइयों के समाधान की समस्या उत्तरोत्तर विषम होती गई । जीवन के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण ने विश्व-मानव को अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति हेतु मानव-धर्म से विमुख कर दिया । परिणाम-स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राजस्व सम्बन्धी समस्याओं के समाधान हेतु राष्ट्र ऐतिहासिक दृष्टान्तों का वैज्ञानिक विश्लेषण करने के स्थान पर अपनी कूटनीतिक चालों द्वारा नित्य नई समस्याओं को जन्म दे रहे हैं । विश्व के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ विभिन्न देशों की समस्याओं को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सुलझाने के हेतु विश्व-एकता के नाम पर अपार जनसमूह को धोखा देने का प्रयास करते हैं । इस धोखे और समझौते की कला में जो जितना निपुण है वह विश्व का उतना ही बड़ा राजनीतिज्ञ समझा जाता है । अतः यह कहना अत्युक्ति न होगी कि राजनीति 'समझौते की कला' होने के साथ ही झूठ और धोखेबाजी का रणस्थल भी है[२]। राजनीति में

---

१ व्यक्ति और राज - सम्पूर्णानन्द, स्वाधीनता, पृ०९५ ।

२ 'राजनीति कोई अजपा-जाप तो है नहीं । यह स्वार्थों का संघर्ष है । करोड़ों मनुष्यों की इज्जत और जीवन-मरण का भार जिन्होंने उठाया है वे समाधि नहीं लगा सकते । उन्हें स्वार्थों के संघर्ष में आना ही पड़ेगा ।'
--हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'भगवान महाकाल का कुण्ठनृत्य -- कल्पलता', पृ०३९

नहेश आत्मलाभ को ही प्रधानता दी जाती है । वहाँ न किसी का विश्वास किया जाता है और न किसी के साथ साफ़ व्यवहार । धूर्तता और प्रवंचना को माध्यम बनाकर ही राजनीतिज्ञ अपना काम करते हैं । इसीलिए विश्व-राजनीति की जटिल समस्याओं के समाधान के लिए विश्व के राजनीतिक रंगमंच पर अभिनय करने में, द्वितीय श्रेणी या मध्यम कोटि के लोग भी सफल होते हैं । विश्व- मानव के कल्याणार्थ विश्वनीति निर्धारण करने के लिए पक्के आदर्शवादियों को भी अनेक-अनेक कठोर तथ्यों, व्यावहारिक वास्तविकताओं और सार्वजनिक रुचि और अरुचि का संगति में लाना पड़ता है ।

आधुनिक अर्थ में राजनीति का व्यावहारिक पक्ष किसी दल-विशेष के नियमन, संचालन, निर्वाचन या मनोनयन(नाम-जदगी) अथवा किसी पद-विशेष के लिए व्यक्ति-विशेष की नियुक्ति आदि में सफलता पाने का कौशल, और या फिर शासन-कला अर्थात् सरकार की नीति को किसी लक्ष्य विशेष की ओर संचालित करने का कौशल भी है । गिलक्राइस्ट ने कहा है कि "राजनीति शब्द का अभिप्राय आजकल सरकार की वर्तमान समस्याओं से होता है जो बहुधा वैज्ञानिक दृष्टि से राजनीतिक ढंग की होने की अपेक्षा आर्थिक ढंग का अधिक होती है । जब हम कहते हैं कि व्यक्ति राजनीति में अधिक रुचि लेता है तो हमारा अभिप्राय यह है कि व्यक्ति वर्तमान समस्याओं में (जैसे आयात-निर्यात, कर, श्रम-समस्या, व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का परस्पर सम्बन्ध -वस्तुत: इस प्रकार के किसी भी प्रश्न के सम्बन्ध में) जिसके प्रति देश के विधि-निर्माताओं को ध्यान देना चाहिए, अथवा ध्यान देना ठीक हो, रुचि रखता है[१] ।"

---

१ " Politics now a days refers to current problems of Government, which as often as are more eco. in char. than political in the scientific sense. When we speak of a man, interested in politic

we mean that he is interested in the current problems of the d[ay] in tarrify questions, in labour questions, in the relation of executive to the legislative, in any question in fact which requires or is supposed to require the attention of the law makers of the Country."

--के०के० क्लोक्ज ''राजनीतिक अध्ययन के सिद्धान्त' पृ०८ ।

सर अर्नेस्ट बेन ने राज्य और शासन सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन के विपरीत राजनीति को कठिनाइयों का आवाहन करने, उन्हें खोज निकालने (भले ही उनका अस्तित्व हो या न हो), उनका गलत कारण बताने और फिर उनका गलत हल ढूंढ निकालने की कला माना है।[1]"

सारांश: राजनीति शास्त्र व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार, स्वतन्त्रता, अधिकार, नियम, व्यवस्था तथा राज्य इत्यादि से सम्बन्धित है। यह व्यक्ति से सम्बन्धित होने के कारण एक ओर यदि सामाजिक शास्त्र की कोटि में आता है तो दूसरी ओर शासन से सम्बन्धित होने के कारण मुख्यत: एक ऐसी कला है, जिसका सम्बन्ध राज्य के व्यावहारिक आचरण अथवा निर्देशन से है। राजनीति शास्त्र का विषय राज्य के आधार, मूल प्रकृति, विविध रूप और विकास से है।

राजनीति का स्वरूप और उसका क्षेत्र

राजनीति शास्त्र में राज्य के दो रूप माने गए हैं[2]-- (१) सैद्धान्तिक, (२) व्यावहारिक। सैद्धान्तिक दृष्टि से हम राज्य का दर्शन करते हैं जब कि व्यावहारिक दृष्टि से हम राज्य का अनुभव करते हैं। राज्य से सम्बन्धित शास्त्र होने के कारण राज्य के रूप के आधार पर राजनीति शास्त्र को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दो भागों में विभाजित कियागया है। सर फ्रेडरिक पोलक के

---

१ राजनीति शास्त्र - आशीर्वादम, राजनीति का स्वरूप, पृ०३।

२ Prof. Frank J.Goodnow addressing the first public meeting of the American political sc. Association held at chicago,Illinois, on Dec.28,1904, thus indicated the scope of political sc. "Political science is that science which treats of the organisation as the state. It is at the same time, so to speak, a science of statics and science of Dynamics. It has to do with the state at rest and with the state in action."

--राजनीति शास्त्र के आधार, पृ०४-- पंत, गुप्ता, जैन।

अनुसार सैद्धान्तिक राजनीति के क्षेत्र में हम राज्य, सरकार, विधि-निर्माण तथा राज्य एक कृत्रिम व्यक्ति के रूप में इन चार विषयों का सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से अध्ययन करते हैं । जब कि व्यावहारिक राजनीति में सरकारों के विभिन्न रूप तथा प्रकार, सरकारों का संचालन, प्रशासन इत्यादि, कानून निर्माण की विधि, न्यायालय इत्यादि, कूटनीति युद्ध, शान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन किया जाता है । गिलक्राइस्ट ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक राजनीति का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "सैद्धान्तिक राजनीति राज्य की आधारभूत समस्याओं का अध्ययन करती है, जब कि व्यावहारिक राजनीति सरकारों के वास्तविक रूप में कार्य-संचालन तथा राजनीतिक जीवन की विभिन्न संस्थाओं का अध्ययन करता है[१]।

(ग) इतिहास और राजनीति में सापेक्षता और अन्तर

मूलतः इतिहास और राजनीति सापेक्ष है । इतिहास देश का दर्पण है, जिसमें अतीत की घटनाओं का क्रमबद्ध विवेचन किया जाता है । इतिहास की गति उस सरिता के समान है जो निरन्तर प्रवाहित होती रहती है, और राजनीति उन स्वर्ण कणों के समान है, जिसे इतिहास रूपी सरिता की धारा अपनी बालू के साथ तट पर छोड़ जाती है[२]। राजनीति की रचना-इतिहास की पृष्ठ-भूमि में की जाती है । जिन राजनैतिक संस्थाओं के आदर्शों और सिद्धान्तों का अध्ययन हम राजनीति-शास्त्र के अन्तर्गत करते हैं, वे इतिहास की उपज है और उनके वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए स्वयं हमें विकास की उन शक्तियों को भली

---

१ हरीमोहन जैन, : 'राजनीति शास्त्र के आधार', पृ०७
अम्बादत्त पंत,
मदनगोपाल गुप्ता

२ " The sc. of politics is the one sc. that is deposited by the stream of history like the grains of gold in the sands of a river.'

आशाराम तथा पन्नालाल श्रीवास्तव :' लार्ड एक्टन--राजनीति विज्ञान' पृ०३१।

भाँति समझना आवश्यक है, जिन्होंने उन्हें यह रूप प्रदान किया है। संक्षेप में अतीत की राजनीति ही इतिहास है और वर्तमान इतिहास ही राजनीति है।[1] बिना राजनीति के इतिहास निष्फल है और बिना इतिहास के राजनीति शास्त्र निर्मूल है। इतिहास का वैज्ञानिक विश्लेषण ही राजनीति का मूल आधार है। राजनीति उस समय पूर्णतः या सामान्य रूप से सारहीन हो जाती है, जब वह इतिहास की सहायता से नहीं पढ़ी जाती और इतिहास का महत्व उस समय लुप्त हो जाता है, जब वह अपनी राजनीतिक आत्मा को खो देता है। राजनीतिक आत्मा विहीन इतिहास मात्र साहित्य मात्र रह जाता है।[2] इतिहास से ही राजनीति शास्त्र के लिए आधारभूत सामान्य तथ्य संग्रह किए जाते हैं। अतः बहुधा एक की विषयवस्तु दूसरे की विषय-वस्तु हो जाती है। इतिहास का एक अंश राजनीति शास्त्र का एक भाग बन जाता है।[3] इतिहास और राजनीति के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए बर्गेस ने कहा है--"यदि राजनीति विज्ञान और इतिहास का सम्बन्ध तोड़ दिया जाय तो उनमें से एक यदि मरेगा तक नहीं तो पंगु अवश्य हो जायेगा और दूसरा केवल कूड़े का ढेर मात्र रह जायगा।"[4] सीले ने तो यहां तक कह दिया कि

---"History is past politics and politics is present Hist."

१ Freeman

-- के०के० कुलश्रेष्ठ : 'राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त', पृ०३०

२ " Politics is vulgar when not liberalised by Hist.; and Hist. fades into mere literature when it looses sight of rel tion to politics." quoted by Garner in Political Sc. and Govt. P.32;

3 "Some of history is part of political science, the circle of their contents overlaping an area enclosed by each'

३ "Separate them, and the one becomes a cripple if not a corpse and the other a will-of the wisp." Annual Report, American Historical Association, Vol. I, P. 211

--आशाराम तथा पन्नालाल श्रीवास्तव :"लौकिक--राजनीति विज्ञान", पृ०२३

४ (अगले पृष्ठ पर देखें)

राजनीति शास्त्र इतिहास का फल है और इतिहास ही राजनीति की जड़ है[१]।" इतिहास से ही अपनी विषय-वस्तु प्राप्त करने के कारण राजनीति का अस्तित्व इतिहास पर पूर्ण रूपेण निर्भर है। जिस प्रकार माता-पिता से उत्पन्न सन्तान अपने अस्तित्व को माता-पिता के अस्तित्व में समाहित नहीं कर देता, उसी प्रकार इतिहास से राजनीति शास्त्र की उत्पत्ति होने पर भी राजनीति इतिहास का एक अंग ही बन सकती है। दोनों का अपना क्षेत्र है, अपना महत्व एवं मूल्य है। इसीलिए एक का अस्तित्व दूसरे में समाहित हो जाना यद्यपि असम्भव नहीं, किन्तु कठिन और असंगत अवश्य जान पड़ता है। क्योंकि अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होने पर भी इतिहास और राजनीति-शास्त्र की पद्धतियों, विषय क्षेत्रों और उद्देश्यों में अन्तर है।

इतिहास प्रबन्धात्मक होता है और उसमें घटनाएं कालक्रम के अनुसार दी जाती हैं। इसके विपरीत राजनीति-शास्त्र में केवल उन घटनाओं का अध्ययन किया जाता है, जिनका राजनीति के विकास से सम्बन्ध होता है। राजनीति शास्त्र की पद्धति चिन्ता-मूलक है। इतिहास द्वारा प्रस्तुत सामग्री का उपयोग करते हुए यह शास्त्र सामान्य सिद्धान्तों और विधानों की खोज करता है।

राजनीति शास्त्र की अपेक्षा इतिहास का क्षेत्र अधिक व्यापक है। इतिहास में सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू पर विचार किया जाता है, पर राजनीति शास्त्र इन सब विषयों में वहीं तक रुचि लेता है, जहां

(पूर्व पृष्ठ की अवशिष्ट टिप्पणी संख्या--४)

४- "Seperate them and the one becomes a Cripple if not a Corpse and the other a will-of the wisp." Annual report, American Historical Association Vol 1. P 211

--के०के० कुलश्रेष्ठ : 'राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त', पृ०३०

१- "Politics without history has no root, history without politics has no fruit."

राजनीतिशास्त्र-आशीर्वादम, राजनीति और इतिहास, पृ०४-८

तक राज्य के स्वरूप और राजनीतिक नियमन के विकास पर इनसे कुछ प्रकाश पड़ता है ।

इतिहास घटनाओं का एक क्रमिक उपाख्यान मात्र होता है, जब कि राजनीति उन घटनाओं का अर्थ और निष्कर्ष होता है । राजनीति में दार्शनिकता की अधिकता के कारण आदर्शों और सूक्ष्म प्रकारान्तरों (Abstract type) का प्राबल्य रहता है । इतिहास में हम वर्तमान के साथ ही अतीत को भी अपने अध्ययन का क्षेत्र बनाते हैं । किन्तु राजनीति शास्त्र इतिहास के उन तथ्यों का संकलन करके उस सामग्री को वर्तमान के लिए प्रयुक्त करता है और इसीलिए उसका प्रतिपाद्य विषय है राज्य का आदर्श स्वरूप ।

राजनीति शास्त्र में इतिहास के तथ्यों का उपयोग तो किया जाता है, किन्तु उसको सीमाओं में बंधा नहीं जाता । पाठक वस्तुस्थिति का परिचय प्राप्त करने के पश्चात् अपनी रुचि और मान्यताओं के अनुसार नैतिक निर्णय देने के लिए स्वतन्त्र है । सिजविग ने भी कहा है कि "राजनीतिक संस्थाओं के अन्तिम उद्देश्य या परिणाम और उनके सत्-असत्, भले-बुरे और सही गलत मापदण्ड का निर्णय इतिहास नहीं कर सकता[१] । इसके विपरीत राजनीति-शास्त्र में ऐसे निर्णय देने ही होते हैं और इसी क्षेत्र में राजनीतिशास्त्र धर्म-शास्त्र का सहगामी बनकर अर्थशास्त्र और समाज-शास्त्र से अलग हो जाता है । लार्ड ब्राइस ने कहा है कि "राजनीति-शास्त्र इतिहास और राजनीति के बीच की या यों कहें कि अतीत और वर्तमान के बीच की चीज है । इतिहास से तथ्यों को पाकर राजनीति-शास्त्र उन

---

१ " History can not determine the ultimate end and standard of good and bad, right and wrong, in political institutions.

"राजनीतिशास्त्र -- आशीर्वादम्" ,पृ०६ ।

तथ्यों का उपयोग राजनीति पर करता है[1]।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इतिहास और राजनीति में सापेक्षता होने पर भी एक ऐसी सीमा आती है,जहां दोनों एक-दूसरे से पृथक होकर विभिन्न मार्गों का अनुसरण करने लगते हैं। साहित्यकार सम-सामयिक इतिहास के मध्य सांस लेता हुआ केवल उसका इतिहास नहीं लिखता,वरन् राजनीतिक अन्तर्दृष्टि के साथ उसका विश्लेषण भी करता है, उसकी आलोचना-प्रत्यालोचना भी करता है।

-0-

---

१ " Political science stands midway between history and politics, between the past and the present. It has drawn its materials from the one, it has to apply them to other."

राजनीति शास्त्र - आशीर्वादम् , पृ०१० ।

अध्याय -- तीन

-0-

इंगलैण्ड की शासन-पद्धति और भारत में उसकी साम्राज्यवादी नीति

(क) इंगलैण्ड की शासन-पद्धति

(ख) साम्राज्यान्तर्गत भारत की शासन-पद्धति : उसकी साम्राज्यवादी नीति ।

अध्याय -- तीन

-0-

इंगलैण्ड की शासन-पद्धति और भारत में उसकी साम्राज्यवादी नीति

जब हम उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी की भारतीय राजनीति की बात करते हैं तो यह जानना अनिवार्य हो जाता है कि जिस देश का शासन भारत पर था उसकी अपनी शासन-पद्धति क्या थी तथा भारत के शासन में उसकी नीति क्या थी । ये दो बातें अलग-अलग इसलिए हो जाती हैं कि इंगलैण्ड की शासन-पद्धति के आदर्श भले ही लोकतांत्रिक रहे हों, भारत पर उनका शासन साम्राज्यवाद की नीति का प्रसारण था । फिर भी इन दोनों तथ्यों में एक स्थान पर एक सूक्ष्म सम्बन्ध भी है । वह सम्बन्ध लोकमत के आस पास टिका हुआ है, अर्थात् एक ओर इंगलैण्ड की जनता का मत दूसरी ओर भारत की प्रबुद्ध जनता का मत । लोकमत निश्चितरूप से सम-सामयिक सन्दर्भों से जुड़ा है, अत: अध्याय चार में उन सन्दर्भों का भी विश्लेषण करेंगे ।

(क) इंगलैण्ड की शासन पद्धति

इंगलैण्ड सन् १६८८ई० की क्रान्ति के पश्चात् संवैधानिक राजतंत्र की ओर दृढ़ता से अग्रसर होता चला जा रहा था। अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यह धारणा दृढ़ हो गई थी कि राजा की सत्ता का स्रोत प्रजा है और प्रजा को ही अपने शासकों को नियंत्रित करने का अधिकार है । क्योंकि ब्रिटेन ने अठारहवीं शताब्दी में रूढ़ियों से बहुत कुछ मुक्ति पा ली थी और राष्ट्रवाद, नूतन अर्थ-व्यवस्था, उद्योगीकरण आदि की भूमिका में सन् १८३२ई०

के सुधार विधेयक ने उन अधिकारों और स्वतन्त्रताओं को, जो कुछ लोगों को ही प्राप्त थीं, जनसाधारण तक पहुंचाना आरम्भ कर दिया था । अब "अधिकतम लोगों के अधिकतम कल्याण" की भावना शासन-व्यवस्था का मूलमंत्र बनी । अत: शासन कार्य बहुमत दल के हाथ में सौंपा जाने लगा । राजनीतिक क्षेत्र में प्रजातन्त्र की धारणा के स्थित होने से प्रशासनिक जटिलताएं बढ़ीं । अत: शासन-तन्त्र के विभिन्न अंगों के कर्तव्यों और अधिकारों के समन्वय और सामंजस्य पर अधिक बल दिया जाने लगा । शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए सम्पूर्ण शासन-तंत्र को तीन भागों में विभाजित कर दिया गया । क्योंकि प्रत्येक विभाग के कर्तव्य और अधिकार अलग-अलग होने से नागरिक स्वतन्त्रता के सुरक्षित रहने की अधिक सम्भावना थी ।

ब्रिटिश संविधान राजनीतिक दृष्टि से लोकतन्त्रात्मक शासन की अभिव्यक्ति करता है, फिर भी राज्य के प्रमुख पद राष्ट्र के विशाल जनसमूह के लिए अगम्य हैं । न्यायपालिका, सिविल सर्विस, सेना और पुलिस में महत्वपूर्ण स्थानों पर सत्तारूढ़ वर्ग के आदमियों का ही अधिकार रहता है । क्योंकि उनके विश्वस्त नियम और व्यवहार से उनके द्वारा नियंत्रित समाज व्यवस्था में विघ्न नहीं उत्पन्न होता ।

कॉमन सभा

इंगलैण्ड के राजनीतिक संविधान पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वहां के शासन की वास्तविक सत्ता कॉमन-सभा में निहित है । क्योंकि कॉमन-सभा के बहुमत दल का नेता ही अपने दल के नाम पर सरकार के समस्त कार्य सम्पादित करता है । कॉमन-सभा छ: सौ पन्द्रह स्त्री-पुरुषों का एक ऐसा प्रकीर्ण निकाय है, जिसके अधिकांश सदस्य राजनीति से अनभिज्ञ होते हैं । चूंकि इसके सभी सदस्य सार्वभौम मताधिकार द्वारा निर्वाचित होते हैं इसलिए इसका जीवन लोकमत को सन्तुष्ट रखने पर ही निर्भर है । लोकमत निर्वाचन में प्रतिशोध ले सकता है, इस भय से सभा अपने को इस तरह

अनुशासित करती है कि वह सभा के सामने प्रस्तुत की गई माँगों का अधिक से अधिक उत्तर दे सके । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कॉमन-सभा सदैव अपने निर्वाचकों अर्थात् जनता के प्रति उत्तरदायी है । स्पीकर सभा का अध्यक्ष होता है । सरकार का निर्माण करना एवं सार्वजनिक कार्य-संचालन के लिए उसे औपचारिक व प्राधिकार देना या न देना इस बात पर ही सभा के अन्य समस्त कार्य निर्भर हैं । जब तक सरकार अस्तित्व में रहती है, तब तक सभा के कार्य शिकायतों को सामने लाना, जनता को हर तरह की सूचना देना और वाद-विवाद करके राजनीतिक विषयों में लोक-रुचि बनाए रखना और जनता को राजनीतिक दृष्टि से शिक्षित करना है । कामन सभा का जीवन दल-पद्धति के द्वारा ही चलता है । यह ही वे आधार हैं,जिनके ऊपर सभा की एक कुशलता अवलम्बित है ।

लार्ड सभा

संसद का द्वितीय सदन लार्ड सभा है,जिसमें विशेष वर्गों के लोगों का प्रतिनिधित्व होता है । सात सौ पचास पीयरों के इस निकाय में बिशपों और लार्डों को छोड़कर अन्य समस्त सदस्य आनुवंशिक होते हैं । इस सभा के सदस्य केवल अपने प्रति उत्तरदायी होते हैं । सामान्य प्रयोजनों के लिए लार्ड सभा की सदस्य संख्या पचास से भी कम रहती है ।प्रमुख वाद-विवादों का संचालन अनुभवी और वयोवृद्ध राजनेता करते हैं । इस सदन में धीरे-धीरे आराम से कार्य होता है । कामन सभा द्वारा भेजे हुए विधेयकों का यह सभा कुशलता से परीक्षण करती है । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि लार्ड सभा धन का सामान्य गढ़ है और अपनी समस्त शक्तियों को धन के अधिकारों की रक्षा में प्रयुक्त करना चाहती है ।

मन्त्रिमण्डल

शासन-प्रक्रिया में विधान-निर्माण का कार्य लार्ड सभा और कामन सभा के पारस्परिक सहयोग से होता है, किन्तु उस विधान को क्रियान्वित करने का कार्य मन्त्रिमण्डल का है । मंत्रि मण्डल कामन सभा के बहुमत

दल का एक समिति है । इसका वास्तविक कार्य कामन सभा के बहुमत दल के नाम पर देश का शासन करना है । यह शासन की अधिशासी और विधायी शाखाओं को संयुक्त करने का एक साधन है । यह शासन की विधायी शाखा को निर्देश देता है और संसद को ऐसी नीति देता है, जिसके ऊपर निर्णय किये जाते हैं । यह राज्य की प्रभु संस्था से अनुमोदन होने के पश्चात् अपनी नीति को कार्यरूप में परिणत करता है । मंत्रि मण्डल का केन्द्रबिन्दु प्रधान मन्त्री है । सिद्धान्ततः प्रधानमन्त्री का चुनाव सम्राट की इच्छा पर निर्भर है, किन्तु व्यवहारतः सम्राट की इच्छा दलगत राजनीति की आवश्यकताओं के कारण अत्यधिक मर्यादित है । मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व कामन सभा के प्रति होने के साथ ही राजमुकुट के प्रति भी है । सत्तारूढ़ दल का नेता होने के नाते प्रधानमन्त्री के लिए यह आवश्यक है कि वह सभा के साथ जहाँ महत्वपूर्ण निर्णय होते हैं, निकट सम्पर्क बनाए रखे । सम्राट की स्वीकृति पर प्रधान मन्त्री अपने किसी भी साथी से त्यागपत्र माँग सकता है । समस्त महत्वपूर्ण राजकीय नियुक्तियों में उसकी आवाज़ निर्णायक होती है । उसे समस्त विभागों के ऊपर विशेषकर वैदेशिक मामलों में सतर्क दृष्टि एवं नीति में सन्तुलन रखना पड़ता है । वह सम्राट तथा मन्त्रिमण्डल के मध्य सम्पर्क बनाए रखने का साधन है । सम्राट मन्त्रिमण्डल के परामर्श के अनुसार कार्य करता है अन्यथा मन्त्रिमण्डल त्यागपत्र दे सकता है । कामन सभा में पराजित न होने पर मन्त्रिमण्डल के त्यागपत्र देने का अर्थ यह है कि सम्राट दलगत संघर्ष में सम्मिलित है । यदि सम्राट एक बार अपना विचार रख दे और मन्त्रिमण्डल उसे न माने तो सम्राट को अवश्य झुक जाना चाहिए । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि शासन की वास्तविक सत्ता का अधिकारी मन्त्रिमण्डल है सम्राट नहीं । श्री रैमजे म्योर के अनुसार मन्त्रिमण्डल का दायित्व सम्पूर्ण प्रशासनिक तन्त्र का निरीक्षण करना, विभिन्न विभागों के कार्यों में सामंजस्य लाना और विभागवाद के दोष को दूर करना है ।

न्यायपालिका

शासन का तृतीय अंग न्याय विभाग है । यह विभाग संविधियों या विधेयकों की व्याख्या करता है और विधियों का पालन न करने पर अपराधी को दण्ड देकर नागरिक स्वतन्त्रता को बनाए रखता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि इंगलैण्ड के संसदीय शासन के तीनों ही अंग एक-दूसरे से असम्पृक्त होने पर भी प्रत्यक्ष रूप से एक-दूसरे से इस प्रकार सम्बद्ध हैं कि अधिकार और दायित्व की सीमाओं का उल्लंघन किए बिना एक-दूसरे के सहयोग से शासन प्रक्रिया को सुव्यवस्थित रूप से चलाने में अपना योग देकर राजनीति के क्षेत्र में शासन के लोकतांत्रिक पक्ष की तो रक्षा करते हैं, किन्तु लोकतंत्रात्मक समाज की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ हैं । क्योंकि धन के प्रभाव से इंगलैण्ड का कोई भी व्यक्ति ऊँचे से ऊँचे सामाजिक पद पर पहुँच सकता है । अवसर की समानता भी कम ही दृष्टिगत होती है । सम्पूर्ण शासन तंत्र का अवलोकन करने के पश्चात् निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि इंगलैण्ड का संसदीय शासन आज भी मर्यादित राजतंत्र का एक उदाहरण होने के साथ ही संसदीय शासन पद्धति का सुदृढ़ आधार भी है ।

(ख) साम्राज्यान्तर्गत भारत की शासन-पद्धति : साम्राज्यवादी नीति

अंग्रेजों ने अपने देश का संसदीय शासन लोकतांत्रिक तत्वों के आधार पर गठित किया था । किन्तु जब वे भारत में विजेता के रूप में शासन-सूत्र संचालन करने लगे तब वे निष्पक्ष भाव से इंगलैण्ड के संसदीय शासन को अपना आदर्श बनाकर नहीं चले । यह कहना अत्युक्ति न होगी कि अंग्रेजों ने लोक-तंत्र का समर्थक होने पर भी भारत में अपनी औपनिवेशिक नीति के कारण लोकतांत्रिक तत्वों को प्रोत्साहन देने के स्थान पर मैक्यावेली के साम्राज्य-विस्तार की नीति का ही अनुसरण किया । फलतः शासन का लोककल्याणकारी स्वरूप नौकरशाही की कुटिल नीति के पर्दे के पीछे ही छिपा रहा । यद्यपि यह सत्य है कि वहाँ के नागरिकों ने समय-समय पर उसकी आलोचना भी की[1] ।

---

१ (अगले पृष्ठ पर देखें)

अंग्रेजों ने मध्ययुगीन स्वतंत्र और निरंकुश शासन-व्यवस्था के स्थान पर वैधानिक शासन का विकास करके भारत को इतिहास में सर्व प्रथम एक इकाई के रूप में गठित करके समग्र राष्ट्र की कल्पना को साकार स्वरूप दिया एवं राजनीतिक दृष्टि से व्यवस्थित शासन की स्थापना करके जनता को राजनीतिक चेतना प्रदान की । किन्तु संसदीय शासन-व्यवस्था में भी लोकतांत्रिक तत्वों का अभाव होने के कारण संसदीय शासन-पद्धति निरंकुश राजतंत्र में परिणत हो गई ।

ईस्टइण्डिया कम्पनी के अंग्रेज़ व्यापारियों ने भारत में छल-कपट, ईमानदारी-बेईमानी अथवा न्याय-अन्याय का विचार छोड़कर धनोपार्जन करना प्रारम्भ कर दिया और राजनीतिक परिस्थितियों की विषमता से लाभ उठाकर आत्मरक्षा के लिए रखी हुई सेनाओं का उपयोग शक्ति और प्रभुत्व को बढ़ाने एवं देशी राजाओं के पारस्परिक झगड़ों का निर्णय करने में किया । कम्पनी के अधिकारियों ने भारतीय नरेशों के उत्तराधिकार के झगड़ों में भाग लेना तथा उनसे धन लेना के बदले में भूमि, धन तथा व्यापारिक सुविधाएं

(पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी संख्या-१)

१ श्री हिण्डमैन, मजदूर दल के नेता श्री केयर हार्डी एवं नेविंसन इत्यादि ने सरकार के इस कार्य का प्रबल विरोध किया । पार्लियामेण्ट में अनेक प्रश्नोत्तर हुए और बड़ी चल-चल हुई । ४ जून १९०७ को पार्लियामेण्ट में सर हावर्ड विन्सेण्ट (शेफील्ड केन्द्रीय) के यह कहने पर कि लाजपतराय को गोली क्यों न मार दी जाय वहां लम्बी बहस हुई । इसपर लिबरल दल के अनेक सदस्य बिगड़ गये । इस पर मि० स्विफ्ट मैकनील ने कहा -" क्या आदरणीय भारतमन्त्री ने शेफील्ड के सदस्य के यह रिमार्क सुने हैं लाजपतराय को गोली क्यों न मार दी जाय ।" यह एक लज्जापूर्ण विचार है । श्रीमान्, जो कुछ आपने कहा, उसे वापस लें । एक अन्य सदस्य विलियम रेडमाण्ड ने कहा" मैं एक प्वाइण्ट आफ आर्डर (वैधानिक आपत्ति) उठाना चाहता हूं । मैं आपसे विनयपूर्वक पूछना चाहता हूं कि इस सभा के एक प्रतिष्ठित सदस्य के लिए यह सुझाव सार्वजनिक रूप में पेश करना उचित है कि एक ब्रिटिश प्रजा को गोली मार दी जाय ? ....." --श्री रामनाथ 'सुमन' : 'लाजपतराय', पृ०७३-७४

प्राप्त करना भी प्रारम्भ कर दिया था । अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि देशी नरेशों की विलासिता, देशवासियों की संकुचित स्वामिभक्ति की दृष्टि एवं देशभक्ति का अभाव अंग्रेजों की सफलता के कारण हुए । प्लासी के युद्ध (सन् १७५७ई०) के बाद क्लाइव ने बंगाल में द्वैध शासन की स्थापना की जो सन् १७७२ तक चलता रहा । तत्पश्चात् हेस्टिंग्ज ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा में द्वैध शासन प्रणाली का अन्त कर दिया । लार्ड कार्नवालिस के न्याय सम्बन्धी तथा पुलिस के सुधारों ने नवीन वैधानिक परिवर्तन को पूर्णता प्रदान की । सन् १८४८ई० में लार्ड डलहौजी ने भारत आकर साम्राज्यवादी नीति का समर्थन करते हुए गोद लेने की प्रथा (डाक्ट्रिन आफ लैप्स) का भी अन्त कर दिया । भारत में जो वायसराय या गवर्नर जनरल आए वह अपने असीमित अधिकारों का दुरुपयोग करके प्रशासन के सैद्धान्तिक स्वरूप एवं ब्रिटिश ताज की मान-मर्यादा पर परोक्ष रूप से आघात करते रहे । इंगलैण्ड की पार्लियामेण्ट में समय-समय पर कम्पनी के वायसरायों की आलोचना इसका साक्षात् प्रमाण है । अठारहवीं शताब्दी की सन्ध्या में ब्रिटेन के राजनीति गुरु बर्क ने वारेन हेस्टिंग्ज के अन्यान्य और अत्याचार के विरुद्ध ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में उनके ऊपर मुकदमा चलाया । बर्क का यह ऐतिहासिक दस्तावेज युग-युग तक भारत की दुर्दशा की कहानी कहता रहेगा।

सन् १८५८ का अधिनियम

सन् १८५८ में भारत का शासन कम्पनी के हाथों से निकल कर ब्रिटिश ताज के नियन्त्रण में आ गया । सन् १८५८ के अधिनियम ने बोर्ड आफ कण्ट्रोल और कोर्ट आफ डायरेक्टर्स का अन्त करके भारतमन्त्री के एक नए पद का सृजन किया एवं उक्त दोनों निकायों की समस्त शक्तियाँ भारतमंत्री को हस्तान्तरित कर दीं । भारत मन्त्री ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का सदस्य था और मन्त्रिमण्डल के दूसरे सदस्यों की भाँति ही संसद के प्रति उत्तरदायी था । वह संसद की बैठकों में भाग लेता था और संसद के सदस्य भारतीय प्रशासन के सम्बन्ध में उससे सब प्रकार के प्रश्न पूछ सकते थे । संसद के सदस्यों को भारतीय प्रशासन के सम्बन्ध में अपनी इच्छानुसार विधेयक उपस्थित करने और उनके किसी पहलू को लेकर सभा-ढ

दल के विरुद्ध अभियान का प्रस्ताव पारित करने की अनुमति थी । भारतीय शासन में 'निरीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण' का दायित्व भारतमन्त्री के कन्धों पर था । भारतमन्त्री की सहायता के लिए पन्द्रह सदस्यों का एक भारत परिषद् (इण्डिया कौंसिल) बनाई गई । परिषद् के सात सदस्यों को कोर्ट आफ डायरेक्टर्स निर्वाचित करते थे और शेष आठ को ब्रिटिश क्राउन नियुक्त करता था । परिषद् का अध्यक्ष भारत मन्त्री था और उसे मताधिकार प्राप्त था । बराबर मत होने की स्थिति में वह अपने एक निर्णायक मत (वोटो) का प्रयोग कर सकता था । यदि परिषद् का बहुमत भारतमन्त्री के किसी प्रस्ताव से सहमत न होता तो भारतमन्त्री परिषद् की सम्मति का उल्लंघन कर सकता था । लेकिन ऐसा करते समय उसे कारणों का निर्देश करना पड़ता था । भारतीय राजस्व के अनुदान और विनियोग के सम्बन्ध में भारतमंत्री के लिए बहुमत का निर्णय स्वीकार करना आवश्यक था । भारत के विभिन्न अधिकारियों के नाम-निर्देशन अथवा पद-नियुक्ति के अनुग्रहाधिकार के विभाजन और वितरण सम्बन्धी विनियम बनाने में भी भारतमन्त्री परिषद् के बहुमत का निर्णय मानने के लिए बाध्य था । इसके अतिरिक्त क्रय-विक्रय, सौदा करने और भारतसरकार की सम्पूर्ण सम्पत्ति के मामलों में भी परिषद् के बहुमत को ही मान्यता दी जाती थी । भारतमन्त्री को गवर्नर जनरल से गुप्त पत्र-व्यवहार करने की अनुमति थी । इस अधिनियम की यह विशेषता थी कि इसने पद-नियुक्ति के अनुग्रहाधिकार को 'क्राउन' स-परिषद् भारत-मंत्री और भारतीय अधिकारियों के मध्य बांट दिया । अधिनियम का एक महत्वपूर्ण अनुबन्ध यह था कि उसने भारतमंत्री के लिए प्रतिवर्ष संसद के दोनों सदनों के समक्ष भारत की नैतिक और भौतिक प्रगति का लेखा उपस्थित करना अनिवार्य कर दिया । अधिनियम ने यह भी निश्चित किया कि भारत का राजस्व ब्रिटिश संसद के दोनों सदनों की स्वीकृति के बिना भारतीय सीमाओं के बाहर किसी सैनिक कार्य के लिए प्रयुक्त नहीं होगा । अंशतः, सन् १८५८ के अधिनियम ने स-परिषद् भारत-मंत्री को [illegible]

संयुक्त निकाय घोषित किया गया, जो इंग्लैण्ड और भारत में अभियोग का वादी एवं प्रतिवादी हो सकता था ।

सन् १८५८ के भारत-सरकार अधिनियम ने गृह-सरकार की रूप-रेखा में तो परिवर्तन किया, किन्तु शासन-तन्त्र को यथावत् रहने दिया । गवर्नर जनरल की परिषद् में भारतीय सदस्यों को कोई स्थान नहीं दिया गया । अतः सरकार के पास कोई ऐसा उपाय न था, जिससे वह भारतीय जनमत के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कर सके । इस प्रकार मंत्रिमण्डलात्मक शासन पद्धति में विश्वास करने वाले अंग्रेज शासकों ने यहाँ के विशाल जनसमूह को शासन-कार्य में सहयोग प्रदान करने का कोई अवसर न देकर मंत्रिमण्डलात्मक शासन-पद्धति के नाम पर निरंकुश साम्राज्यवाद की नीति का अनुसरण किया । ब्रिटिश शासन-तंत्र का सच्चा स्वरूप बर्क के निम्न कथन में दृष्टव्य है--

"यह एक ऐसा प्रजातंत्र राष्ट्रमण्डल है, जिसमें जनता सम्मिलित नहीं । यह एक ऐसा राज्य है, जिसका निर्माण पूर्णरूप से मजिस्ट्रेटों के द्वारा हुआ है ।"[1]

सन् १८६१ का भारतीय कौंसिल अधिनियम

शासन की उक्त त्रुटि को सन् १८६१ के अधिनियम ने सर्व प्रथम दूर किया । इस अधिनियम के द्वारा गवर्नर जनरल की कार्य-परिषद् में कानूनी पेशे से सम्बन्ध रखने वाला एक और पाँचवाँ सदस्य बढ़ा दिया गया । गवर्नर जनरल को परिषद् का कार्य सुचारुरूप से चलाने के लिए नियम और आदेश बनाने का अधिकार प्राप्त हुआ । विधि एवं विनियम बनाने के लिए गवर्नर जनरल की परिषद् का विस्तार किया ब गया । अधिनियम ने निश्चित किया कि

---

१ 'भारत १५२६ से आगे' -- विद्याधर महाजन तथा सावित्री महाजन पृ०२५१

परिषद् में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या कम-से-कम छः और अधिक-से-अधिक बारह रहनी चाहिए । इन अतिरिक्त सदस्यों में कम-से-कम आधे सदस्यों का गैर सरकारी होना आवश्यक था । सदस्यों का कार्य-काल दो वर्ष था । परिषद् के कार्य और अधिकार, विधि और विनियम बनाने तक ही सीमित थे । उसे कार्यपालिका के कार्यों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था । परिषद् के ऊपर अनेक प्रतिबन्ध लगे हुए थे । सार्वजनिक ऋण और राजस्व, धर्म और सेना आदि विषयों से सम्बन्ध रखने वाले प्रस्ताव गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति के बिना उपस्थित नहीं किये जा सकते थे । गवर्नर जनरल परिषद् द्वारा पास किये गये किसी भी कानून पर न केवल निषेधाधिकार का ही प्रयोग करता था, प्रत्युत उसे आपातकाल में अध्यादेश निकालने का भी अधिकार था । गवर्नर जनरल के अध्यादेश का वही बल और प्रभाव होता था जो परिषद् द्वारा पास किये गये किसी कानून का ।

सन् १८६१ के अधिनियम ने गवर्नरजनरल को विधान कार्य के लिए नये प्रान्त बनाने और उनके लिए उप-गवर्नर नियुक्त करने का अधिकार दिया । अधिनियम ने गवर्नर जनरल को यह भी शक्ति दी कि यदि वह चाहे तो किसी प्रेसीडेंसी प्रान्त या प्रदेश को विभाजित कर सकता है, अथवा उसकी सीमाएं बदल सकता है ।

इस अधिनियम की मुख्य त्रुटि यह थी कि विधान परिषदें कार्य-पालिका के ऊपर कोई नियंत्रण नहीं रखती थीं । उनके ऊपर इतने प्रतिबन्ध लगे हुए थे कि उनका सारा महत्व ही मिट गया सा प्रतीत होता था । जहां तक परिषदों में गैर सरकारी सदस्यों की नियुक्ति का प्रश्न था, सरकार जनता के नेताओं को नहीं, प्रत्युत देशी-नरेशों या पुराने कुलीन परिवारों के सदस्यों को ही नियुक्त करती थी । यह लोग भारतीय जनमत का प्रतिनिधित्व करने में सर्वथा असमर्थ थे तथा राजभक्ति के प्रदर्शन द्वारा निजी स्वार्थों की सिद्धि में ही रुचि रखते थे । प्रिन्सिपल श्रीराम शर्मा के अनुसार "सरकार का यह विचार नहीं था कि वे कानून निर्माण में कोई सारगर्भ भाग लें।

थे तो कानून निर्माण की प्रक्रिया के भागीदार थे।[१] संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि विधान-परिषद् में लोकतंत्रीय तत्वों का अभाव था। वह गवर्नर जनरल के दरबार के सदृश थी। गवर्नर जनरल की स्वेच्छाचारी शक्ति ने उत्तरदायी शासन की वृद्धि को अवरुद्ध कर दिया था।

सन् १८६१ के भारतीय कौंसिल ऐक्ट द्वारा गवर्नर जनरल को कार्यकारिणी परिषद् के प्रत्येक सदस्य को विशेष कार्य का उत्तरदायित्व सौंपने का अधिकार देने के साथ ही परिषद् के कम-से-कम छ: और अधिक से अधिक बारह सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार दिया गया। परिषद् के आधे सदस्य गैर सरकारी होते थे और उनका कार्यकाल दो वर्ष था। गवर्नर जनरल को लेफ्टिनेण्ट गवर्नर की नियुक्ति करने और प्रेसीडेंसी, प्रान्त तथा प्रदेश की सीमाओं को निर्धारित अथवा परिवर्तित करने का अधिकार देकर सर्व-शक्ति-सम्पन्न कर दियागया। इस अधिकार के फलस्वरूप गवर्नर जनरल की कौंसिल के आकार में परिवर्तन हुआ और समस्त प्रान्त पूर्ण रूप से गवर्नर जनरल की अधीनता में आ गये। लार्ड मार्ले ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद् में बहुमत रखने पर जोर दिया। परिणामस्वरूप यह निश्चय किया गया कि केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद् में सैंतीस सरकारी तथा पैंतीस गैर सरकारी सदस्य होंगे। सैंतीस सरकारी सदस्यों में अट्ठाइस को और पैंतीस गैर सरकारी सदस्यों में से पांच को गवर्नर मनोनीत करेगा तथा शेष का चुनाव होगा।

<u>१८९२ का भारतीय कौंसिल अधिनियम</u>

इस अधिनियम ने व्यवस्थापिका कौंसिलों के कार्यों में वृद्धि कर दी। अधिनियम द्वारा कौंसिलों को विशेष अवस्थाओं तथा सीमाओं के अधीन वार्षिक आर्थिक विवरण के सम्बन्ध में चर्चा करने का अधिकार दिया गया। परिषद् के सदस्यों को सार्वजनिक हित के विषयों पर सरकार से प्रश्न

---

१ ए कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ०६६

पूछने का अधिकार भी प्राप्त हुआ । किन्तु सदस्यों को प्रश्न पूछने के लिए सरकार को छः दिन पूर्व सूचना देनी पड़ती थी और प्रधान को यह अधिकार था कि वह किसी प्रश्न के सम्बन्ध में अनुमति प्रदान करे अथवा न प्रदान करे । परिषद् के अतिरिक्त सदस्यों की संख्या में वृद्धि कर दी गई[१] । अतिरिक्त सदस्यों का २।५भाग गैर सरकारी का होना आवश्यक था । भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के दबाव के कारण सरकार ने नियमानुकूल चुनाव की अनुमति देने के साथ ही यह नियम बना दिया कि निर्वाचित सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत हो जाने के बाद ही अपना स्थान ग्रहण कर सकेंगे । उक्त तथ्यों के सन्दर्भ में अधिनियम का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि चुनाव-पद्धति अस्पष्ट थी । निर्वाचित सदस्य वास्तविक अर्थों में जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे और चुनाव के अधिकार रूप में व्यवस्थापिका सभाओं में नहीं बैठ सकते थे । व्यवस्थापिका के सदस्य पूरक प्रश्न नहीं कर सकते थे और कौंसिलों को बजट पर कोई विशेष नियन्त्रण नहीं प्राप्त था । निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि अधिनियम की वास्तविक क्रियाशीलता उसके खोखलेपन को व्यक्त करती थी ।

मिण्टो मार्ले सुधार (सन् १९०९ई०)

इस अधिनियम द्वारा व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई और केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद् में बहुमत रखने पर बल दिया गया । अतः केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद् में सैंतीस सरकारी तथा तेईस गैर सरकारी सदस्य रखने का निश्चय किया गया । सैंतीस सरकारी सदस्यों में से अट्ठाइस गवर्नर द्वारा मनोनीत होकर तथा शेष अपने पदों के कारण सदस्य होंगे एवं तेईस गैर सरकारी सदस्यों में से पाँच को गवर्नर मनोनीत करेगा, शेष गैर सरकारी सदस्यों के चुनाव की व्यवस्था की गई । इस अधिनियम ने

---

१ केन्द्रीय कौंसिल में कम से कम १० तथा अधिक से अधिक १६ संख्या कर दी गया ।

प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों के लिए किसी सरकारी बहुमत की व्यवस्था नहीं की । राज्यपाल केवल कुछ गैर सरकारी लोगों को मनोनीत कर लेता था । सरकार इन मनोनीत सदस्यों की वफादारी पर सदैव निर्भर कर सकती थी । इस अधिनियम द्वारा पृथक् अथवा विशेष निर्वाचन क्षेत्र की व्यवस्था भी की गई ।

व्यवस्थापिका परिषदों के कार्यों में वृद्धि कर दी गई । सदस्यों को वार्षिक वक्तव्य अथवा व्याख्यात्मक स्मृति-पत्र में वर्णित अथवा प्रस्तावित कर-प्रणाली में परिवर्तन स्थानीय सरकारों के नये ऋण अथवा अतिरिक्त अनुदान के सम्बन्ध में प्रस्ताव पारित करने का अधिकार दिया गया । सदस्यों को पूरक प्रश्न पूछने का भी अधिकार था । इस अधिनियम के मूल में जाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिनियम ने प्रबन्ध विभाग में कोई सैद्धान्तिक परिवर्तन नहीं किया । सदस्यों को शासन की आलोचना का अधिकार देकर एक ओर यदि प्रजातंत्र का समर्थन किया गया तो दूसरी ओर प्रजातंत्र विरोधी साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व बढ़ा दिया गया । सरकारी बहुमत की समाप्ति कर देने पर भी निर्वाचित सदस्यों में मनोनीत सदस्यों के सम्मिलित होने के कारण वे अल्पमत में ही रहे । भारतीय परिषद् तथा वायसराय की कार्यकारिणी परिषद् में केवल कुछ चुने हुए भारतीयों को ही प्रवेश मिल सका ।

सन् १९१९ का अधिनियम

इस अधिनियम द्वारा गवर्नर जनरल को दोनों सदनों को बैठक बुलाने, स्थगित करने और तोड़ने का अधिकार देने के साथ ही दोनों सदनों के सदस्यों के सम्मुख भाषण की स्वतन्त्रता भी प्रदान की गई । वह केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के किसी सदन को किसी बिल अथवा उसके किसी अंश पर विचार करने से यदि सुरक्षा, शान्ति तथा देशहित के लिए आवश्यक हो तो रोक सकता था । वह विशेष परिस्थितियों में अध्यादेश जारी अथवा लागू कर सकता था तथा 'वीटो' का अधिकार भी उसे प्राप्त था । धारा सभा

का कार्यकाल तीन वर्ष था, किन्तु गवर्नर जनरल उसे तीन वर्ष से पूर्व ही स्थगित कर सकता था। धारा सभा के कार्यकाल में वृद्धि करने का अधिकार भी उसे प्राप्त था। सन्

सन् १९३५ का अधिनियम

सन् १९३५ के अधिनियम ने गवर्नर जनरल को देश के कार्य-संचालन में लन्दन के नियंत्रण से मुक्त कर दिया। वह मंत्रि-मण्डल के परामर्श और स्वीकृति से प्रत्येक कार्य कर सकता था। विशेष परिस्थितियों में वह मंत्रियों तथा धारा-सभाओं के निर्णयों की उपेक्षा भी कर सकता था। भारतीय स्वतन्त्रता के अधिनियम के द्वारा गवर्नर जनरल को सन् १९३५ के भारत सरकार के अधिनियम को ३१ मार्च सन् १९४८ तक आवश्यकतानुसार परिवर्तित करने का अधिकार भी दिया गया।

-0-

अध्याय -- चार

आलोच्यकाल का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
और
उसका राजनीतिक विश्लेषण

(क) आलोच्यकाल का ऐतिहास परिप्रेक्ष्य : एक क्रमिक सर्वेक्षण ।

(ख) विविध नीतियां ।

अध्याय -- चार

-0-

आलोच्यकाल का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
और
उसका राजनीतिक विश्लेषण

बाह्य दृष्टि से देखने पर प्रस्तुत प्रकरण शोधप्रबन्ध के विषय से प्रत्यक्षत: सम्बन्धित नहीं प्रतीत होता । किन्तु इतिहास और राजनीति के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों के कारण हिन्दी गद्य साहित्य का राजनीतिक दृष्टि से विश्लेषण करने के लिए आलोच्यकाल के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य पर एक दृष्टि डालना अनिवार्य हो जाता है । क्योंकि इस शताब्दी के गद्यकारों के साहित्य में तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं का उल्लेख बहुलता से किया गया है, अत: गद्यकारों की राजनीतिक दृष्टि और राजनीतिक आदर्श एवं जन सामान्य को राजनीतिक दृष्टि प्रदान करने में साहित्य के योगदान का मूल्यांकन ऐतिहासिक संदर्भों की पृष्ठभूमि में भी किया जा सकता है । अतः प्रस्तुत प्रकरण में इस शताब्दी के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और उसके राजनीतिक विश्लेषण को प्रस्तुत किया गया है ।

(क) आलोच्यकाल का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य : एक क्रमिक सर्वेक्षण

कम्पनी के शासनकाल में भारत में बारह सशक्त गवर्नर-जनरलों ने एक ओर कृषकों का शोषण कर अप्रत्यक्ष रूप से सम्पूर्ण राष्ट्र का शोषण किया, तो दूसरी ओर नवाबों और ज़मीन्दारों का एक ऐसा वर्ग तैयार किया जो कम्पनी की आर्थिक नीति के कारण कम्पनी का स्वामिभक्त और अंत में कम्पनी का राज्य स्थापित होने पर उसका राजभक्त बन गया । मध्यम वर्ग में

नौकरी की भावना का उदय हुआ और सामन्त वर्ग लुप्त होकर देशी राज्यों में शामिल हो गया[1]। साम,दाम,दण्ड और भेद की नीति का अनुसरण करते हुए कम्पनी ने देशी राज्यों के स्वातंत्र्य को भी अपहृत कर लिया और उनके मुल्क पर सैन्य-संगठन करके कम्पनी के राज्य का विस्तार करते रहे। एक और कंपनी की शक्ति बढ़ रही थी और दूसरी ओर शाही घरानों को नजरअन्दाज कर उनकी शक्ति महत्वाकांक्षा का दरवाजा बन्द किया जा रहा था। परिणामस्वरूप वे आलस्य तथा भोग-विलास में समय व्यतीत करने लगे। देशी राजा और नवाब शक्तिहीन होने के कारण कम्पनी की बढ़ती हुई शक्ति का सामना करने में असमर्थ थे। उनकी जागीर वास्तव में कम्पनी के हाथों में थी। अतः कम्पनी के शासकों की प्रशंसा प्राप्त करने के उद्देश्य से इन राजाओं और नवाबों ने देशवासियों के साथ विश्वासघात कर अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया। भारतीय नरेशों की पारस्परिक फूट ही एक ऐसा विष-बुझा शर था, जिसने उनकी शक्ति जड़मूल से समाप्त कर विदेशियों को सत्ता हस्तान्तरित कर दी। देशवासियों ने भी उनकी संकुचित,

---

१ देशी राज्यों की संख्या समय-समय पर बदलती रही है। सन् १९४७ ई० तक ये राज्य लगभग सात सौ थे, तत्पश्चात् कुछ छोटे छोटे रजवाड़े बड़े-बड़े राजाओं के अधीन हो गये। भगवानदास केला ने समय-समय पर प्रस्तुत की गई सरकारी रिपोर्टों के आधार पर देशी राज्यों की संख्या निम्नांकित बतलाई है :--

(क) सन् १९२९ ई० में बटलर कमेटी द्वारा बतलाई गई देशी राज्यों की संख्या-- ५६२।

(ख) १ जनवरी सन् १९२९ ई० -- सरकार द्वारा प्रकाशित 'इण्डियन स्टेट्स' में दिया गया देशी राज्यों का विवरण -- ५६०।

(ग) सन् १९५० -- मेमोरण्डम आन द इण्डियन स्टेट्स -- ५८४।

(घ) सन् १९४७-- सरकार द्वारा तैयार किया गया देशी राज्य सम्बन्धी वक्तव्य 'कन्सालिडेटेड स्टेटमेण्ट आन इण्डियन स्टेट्स -- ५८४।

--भगवानदास केला : 'देशी राज्य शासन' - विषयप्रवेश, पृ० १-२।

धर्म और सभ्यता का सम्मान कर सुरक्षा की भावना से प्रेरित होकर आत्मसमर्पण कर दिया । किन्तु आत्म-समर्पण शान्ति के स्थान पर क्रान्ति का द्योतक हुआ । कम्पनी की महत्वाकांक्षाएं बढ़ती गईं और उनकी पूर्ति के लिए देशवासियों का शोषण भी बढ़ता गया । आर्थिक शोषण की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर और साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण करते हुए लार्ड डलहौजी ने गोद लेने की प्रथा (डाक्ट्रिन आफ लैप्स) का अन्त करके देशी राज्यों का मूलोच्छेद कर दिया । जब कम्पनी के अधिकारियों की शोषण-वृत्ति अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई, तब भारतीयों के मन में क्रान्ति की भावना उदित हुई और भारतीय इतिहास की पृष्ठभूमि पर सन् ५७ का विप्लव हुआ । यह विद्रोह शासन के प्रभाव से उत्पन्न हुए भारतीय जनता के अतुल असन्तोष का आकस्मिक विस्फोट था । भारतीय देशी-नरेश, जमींदार, सामन्त, किसान, सैनिक सब के सब असन्तुष्ट थे । सारे असन्तोष के विभिन्न स्रोतों ने एक धारा में प्रवाहित होकर एक भयंकर राष्ट्रीय विप्लव को जन्म दिया[१] । किन्तु शासकों की दमन नीति और विद्रोहियों में पूर्ण संगठन और व्यवस्थित प्रयास की कमी के कारण विद्रोह अपने उद्देश्य में सफल न हो सका । विद्रोह का दमन करने के लिए जिस बर्बरता का आश्रय लिया गया, उसने जातीय कटुता की भावना को विपुल मात्रा में उत्पन्न किया । फलतः शासक और शासित के मध्य भेद की खाई उत्पन्न हो गई और जैसे-जैसे दिन बीतने लगे, उसका विस्तार होता गया, क्योंकि मानसिक स्तर पर वह समाप्त नहीं हुआ था । विद्रोह के दमन के बाद देश दो टुकड़ों में बंटा -- लाल ब्रिटिश भारत तथा पीला- भारतीय रजवाड़े । दमन की प्रतिक्रिया संघर्ष में हुई और यह आधुनिक संघर्ष के रूप में प्रतिफलित हुआ । अतः ब्रिटिश विरोधी आन्दोलन उभरे ।

---

१ "The expansion of the British Dominion in India, and the development of an Indo-British administrative system as a corollary to it, naturally conducted India through manifold process of transition-political, economic and social. This, for diverse reasons, generated flames of dis-content among various sections of the people in different parts of India which burst into flames in the movement of 1857-1858." K.K. Datta."

— हरिहरप्रसाद राय 'भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन' पृ० १०

विदेशी राजनीतिज्ञों ने इस क्रान्ति को राष्ट्रीय भावना से हीन तथा जनता के समर्थन से रहित सैनिक विद्रोह का रूप देने का प्रयास किया[1]। किन्तु इसके पीछे कम्पनी के शासन के एक सौ वर्ष के अन्याय और अत्याचार की कहानी छिपी थी। इसे अनेक अंग्रेज-चिन्तकों ने भी समझा था। लार्ड सेलिसबरी ने लोकसभा में बोलते हुए कहा था कि "वह यह मानने को तैयार नहीं कि ऐसा व्यापक और शक्तिशाली आन्दोलन चर्बी वाले कारतूस के विषय को लेकर हो सकता था। वह इस बात से प्रभावित था कि विद्रोह की पृष्ठभूमि अथवा मूल में कुछ अधिक बातें थीं जो अपेक्षाकृत प्रकट होने वाले कारणों से अवश्य महत्वपूर्ण थीं[2]।" शासकों की दमन नीति के कारण क्रान्ति का वास्तविक रूप दृष्टिगोचर न हो सका और वह भारतीय इतिहास की एक पहेली बन गया।

राजनीतिक चेतना के अभ्युदय ने जिस क्रान्ति को जन्म दिया था, वह समय से पूर्व ही प्रारम्भ हो जाने के कारण योजना के अनुसार सुसंचालित न हो सकी। क्योंकि क्रान्तिकारियों के साधन सीमित थे, उनका नेतृत्व बिखरा हुआ था और उनके उद्देश्य भी पृथक्-पृथक् थे। विद्रोह के समस्त नेता देश की आजादी के लिए नहीं लड़ रहे थे। अतः क्रान्ति सफल न हो सकी। किन्तु क्रान्ति के परिणाम महत्वपूर्ण थे। भारतवासी इस क्रान्ति का स्मरण कर ब्रिटिश साम्राज्यवाद को झकझोरने के लिए तैयार हो गये[3]। क्रान्ति का नेतृत्व

---

१ " The mutiny was a wholly a unpatriotic sepoy Mutiny with no native leadership and no popular support" Sir John Seeley

--हरिहरप्रसाद राय : 'भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन', पृ० ११

२ ,, : ,, ,, पृ० १२

३ "The movement of 1857-59 was no doubt suppressed by the Government. But it produced significant consequences for India and its memory recalled in the subsequent years certainly worked against British-imperialism." Dr. K. K. Datta

--हरिहरप्रसाद राय : 'भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन', पृ० १३

बैरकपुर में मंगल पाण्डेय, बुन्देलखण्ड में लक्ष्मीबाई, मध्य भारत में तात्याटोपे, जगदीशपुर में कुंवर अकबर सिंह ने किया । बागियों को नेता बहादुरशाह बना और उसका दरबार क्रान्ति का केन्द्र । योजना की सफलता न होने पर भी, क्रान्तिकारियों ने कम्पनी सरकार के छक्के छुड़ा दिए और वे यह अनुभव करने लगे कि यदि भविष्य में उन्हें भारत पर शासन करना है तो 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति का अनुसरण करना ही पड़ेगा ।

सन् सत्तावन की क्रान्ति ने भारतीय राजनीति की गतिविधि को ही परिवर्तित कर दिया । अंगरेजों की शासन-पद्धति तथा नीति में परिवर्तन हुआ और क्रान्ति के समाप्त होते ही सन् १८५८ई० में कम्पनी के अनुदार तथा अत्याचार पूर्ण शासन के स्थान पर सम्राट तथा पार्लियामेण्ट के उदार एवं न्यायपूर्ण शासन की घोषणा हुई । ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के हाथ में शासन की बागडोर आते ही अखिल भारतीय पैमाने पर ब्रिटिश सत्ता के संगठन के प्रयत्न शुरू हो गए । सत्तार्जन का कार्य पूरा कर चुकने के बाद अब ब्रिटिश सरकार भारत में अपने पक्ष में एक सबल जनमत का निर्माण करने की ओर प्रयत्नशील हुई, क्योंकि जनतांत्रिक संस्थाओं के देश इंगलैण्ड को यह भली भांति विदित था कि भारत जैसे विशाल देश पर शासन करना अपने पक्ष में एक संगठित जनमत का निर्माण किए बिना सम्भव न होगा । सम्राज्ञी विक्टोरिया का घोषणा-पत्र भी सम्भवतः इसी तथ्य की पुष्टि करता है । इस घोषणा ने एक शक्तिशाली तथा दृढ़ शासन के संगठन में सहायक तत्व का कार्य किया और भारत के सांविधानिक विकासक्रम में नवयुग का सूत्रपात हुआ । यद्यपि यह सत्य है कि इस घोषणा के कतिपय उपबंध कभी भी प्रवर्तन में नहीं आए, फिर भी सन् १९१९ई० तक यह घोषणा भारतीय प्रशासन की आधारशिला बनी रही ।

सम्राज्ञी की घोषणा में दिए गए आश्वासनों के बावजूद भी साम्प्रदायिकता की जिस भावना का जन्म हो चुका था, वह दिन-प्रति-दिन बलवती होती गई और अंगरेज तथा हिन्दु तानियों और हिन्दू तथा मुसलमानों में पारस्परिक मन मुटाव भावी राष्ट्रीय आन्दोलन की एकता में बाधक

हुआ । अंग्रेजों ने हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों को लड़ाकर शासन करने की नीति अपनाई ।

विक्टोरिया की उदार नीति के परिणामस्वरूप सरकारी नौकरियों के द्वार सभी भारतवासियों के लिए खुल गये थे । किन्तु विक्टोरिया की 'उदार सरकार' भी अपनी सम्राज्ञी के नाम पर जनता का शोषण करती ही रही । इसी भारतीयों को अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास नहीं रहा और उनमें राजनीतिक चेतना जागृत हुई, दासता की भावना का बोध हुआ और अपने अधिकारों के प्रति सजगता उत्पन्न हुई । स्वार्थपूर्ण और अनैतिक व्यवहार के कारण ब्रिटिश सरकार के प्रति भारतवासियों में असन्तोष, घृणा और विद्वेष की भावना का संचार हुआ । जिस विश्वास से भारतीयों ने अपनी सम्राज्ञी का हृदय से स्वागत किया था, वह चिरस्थाई न रह सका । विक्टोरिया की घोषणा पर अमल नहीं किया गया । फलतः जनता में राजभक्ति के स्थान पर देश-भक्ति की भावना प्रबल होने लगी । उस समय देशवासियों में राष्ट्रीय जागृति के उद्भव में सहायक तत्त्व देशवासियों की राजनीतिक एकता, पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति का प्रभाव प्राचीन भारतीय संस्कृति के ज्ञान से उद्भूत स्वाभिमान और गौरव की चेतना, विचार विनिमय के लिए एक सामान्य भाषा, पाश्चात्य शासन-पद्धति और राजनीतिक चिन्तन से जनित शासित के अधिकारों और स्वातन्त्र्य के महत्त्व की अनुभूति का ज्ञान अंग्रेजों की जाति - विभेद नीति, धार्मिक पुनर्जागरण, आर्थिक शोषण और उसके फलस्वरूप जनता की बढ़ती हुई दरिद्रता आदि थे ।

पार्लियामेण्ट के हाथों में सत्ता हस्तान्तरित होने के पश्चात् लार्ड कनिंग के शासन-काल में देश के सैनिक और असैनिक व्यय में कमी कर दी गई थी । फिर भी आसाम में चाय और नीलगिरि में कहवा की खेती

को प्रोत्साहन देकर और नमक ऐसी वस्तु पर कर बढ़ाने की योजना बनाकर जनता को त्रस्त किया गया । सन् १८५९ई० में सर्वप्रथम बंगाल रेण्ट ऐक्ट[1] द्वारा किसानों की ओर शासकों का ध्यान गया । इसी समय से सार्वजनिक हित के लिए सड़कों, रेलों और नहरों आदि का निर्माण प्रारम्भ हुआ। रेल और डाक-तार की व्यवस्था करके भारत में अंगरेज़ी साम्राज्य को लोहे की पटरियों और तारों से जकड़ दिया गया । जन-सामान्य को शिक्षित करने की दृष्टि से शिक्षा विभाग खुले एवं सन् १८५७ई० में सरकार ने लन्दन के विश्वविद्यालय के नमूने पर कलकत्ता, बम्बई और मद्रास विश्वविद्यालयों की स्थापना की । सन् १८६१ई० से सन् १८६३ई० के मध्य हाईकोर्ट और कौंसिलें भी भारत में बनाई गई । किन्तु भारत के प्रति अंगरेजों की शासन-नीति सदैव एक-सी न रह पाती थी । इंगलैण्ड में उदार और अनुदार दलीय मन्त्रिमण्डल बनने के कारण ही क्रमशः उसकी स्थिति में परिवर्तन होता रहता था ।

सन् १८६१ ई० के इण्डियन कौंसिल ऐक्ट के द्वारा इस बात की व्यवस्था की गई कि कौंसिल में कुछ गैर सरकारी मनोनीत सदस्य भी रहें । बंगाल, बम्बई तथा मद्रास के लिए प्रान्तीय कौंसिलों की स्थापना की गई । प्रान्तीय सरकारों को आर्थिक स्वतन्त्रता देकर तथा स्थानीय स्वराज्य की स्थापना का सूत्रपात करने के साथ ही साथ सन् १८७०ई० में ताज़ीरात हिन्द में राज विद्रोह की धारा (१२४ अ) जोड़ दी गई । सन् १८७६ई० में अनुदार दलीय मन्त्रि मण्डल बनने पर लार्ड लिटन भारत का वाइसराय होकर आया । उसी वर्ष उसने वर्नाक्यूलर प्रैस ऐक्ट पास करके जनता के वाक्-स्वातन्त्र्य का अपहरण किया और हथियार कानून (आर्म्स ऐक्ट) के द्वारा देशवासियों की लड़ने-भिड़ने की शक्ति को रोक कर उन्हें शक्तिहीन बना दिया गया । हथियार कानून सन्

---

१ बंगाल रेण्ट ऐक्ट द्वारा बारह वर्षों तक किसी खेत को जोतने पर किसान का उस खेत पर मौरूसी अधिकार माना गया ।

सत्तावन की संगठित क्रान्ति की प्रतिक्रिया था । सन् सत्तावन के विप्लव में भारतीयों ने ~~भारतीयों ने~~ जिस प्रबल शक्ति का परिचय दिया था, उससे भयभीत होकर ही लार्ड लिटन ने हथियार कानून द्वारा अपनी शक्ति को स्थायित्व देने का प्रयत्न किया । राज-भक्ति के प्रचार एवं परीक्षा के हेतु विशेष अवसरों पर दरबारों की प्रथा का प्रारम्भ भी सन् १८७७ई० के दिल्ली दरबार द्वारा हुआ । शाही शान-शौकत वाले इस दरबार में जब लार्ड लिटन ने भारत सम्राज्ञी महारानी विक्टोरिया को "कैसर-ए-हिन्द" की उपाधि से विभूषित किया तो अकाल की दरिद्रता का प्रतिबिम्ब उसपर झलक रहा था । इसीलिए भारतीय समाचार-पत्रों ने लिटन के इस कृत्य की आलोचना की । सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा है कि "यदि एक स्वेच्छाचारी वायसराय की प्रशंसा के लिए देश के राजाओं और अमीरों को एकत्र होने के लिए विवश किया जा सकता है, तो देश-वासियों को न्यायसंगत ढंग से स्वेच्छाचारिता को रोकने के लिए क्यों नहीं संगठित किया जा सकता[1] ? भारतीय-नरेशों ने उस दरबार में सम्मिलित होकर राज-भक्ति के प्रदर्शन की होड़ में भाग लिया । इसी समय (सन् १८७५ई०) अलीगढ़ मुस्लिम कालेज की स्थापना करके मुसलमानों के राजनीतिक विचारों में परिवर्तन करने का प्रयास किया गया । अलीगढ़ मुस्लिम कालेज के माध्यम से साम्प्रदायिकता की भावना को प्रेरणा देकर शासकों ने अपनी नीचता का परिचय दिया ।

सन् १८७४-१८८०ई० का समय भारत में राजनीतिक प्रतिक्रिया का समय था । द्वितीय अफगान युद्ध (सन् १८७८-१८८०ई०) बिना यथेष्ट कारण के छेड़ दिया गया था । उससे लाभ तो ब्रिटेन का समझा जाता

---

[1] "If the princes and the nobles in the land could be forced to form a pageant for the glorification of an autocratic viceroy, why could not the people be gathered together to unite themselves to resist in by constitutional means and methods, the spirit of autocratic rule."

-- हरिहरप्रसाद राय : 'भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन', पृ०३५ ।

था और समस्त आर्थिक भार वहन करना पड़ा भारत को। मिस्टर ग्लैडस्टन के प्रयत्न के फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने इस सम्बन्ध में भारत के पचास लाख पौंड की धनराशि दी। इसी समय इण्डियन सिविल सर्विस के लिए परीक्षा प्रारम्भ की गई, किन्तु प्रवेश के नियम भारतीयों के प्रतिकूल थे। सन् १८३३ई० के चार्टर और सन् १८५८ई० की घोषणा में भारतीयों को सरकारी नौकरी में समान अवसर प्रदान करने का आश्वासन देकर सरकार ने अपनी उदारता का परिचय तो दिया, किन्तु सिविल सर्विस की प्रवेश परीक्षा विलायत में करने का निश्चय एक ऐसी कूटनीतिक चाल थी, जिससे सामान्य भारतीय आई०सी०एस० की परीक्षा में सम्मिलित नहीं हो सकते थे। परीक्षा में प्रविष्ट होने के लिए यद्यपि कोई प्रतिबन्ध नहीं था, फिर भी परीक्षा विलायत में होने के कारण बहुत कम भारतीय युवकों के उसमें सम्मिलित होने की सम्भावना थी। हाँ, कुछ साधन सम्पन्न लोग शासन करने की महत्त्वाकांक्षा को अपने में समेटे हुए आई०सी०एस० की परीक्षा में प्रविष्ट होते थे और सफल भी हो जाते थे। चन्द भारतीयों[1] की सफलता से ही उदार ब्रिटिश सरकार इतनी विचलित हो गई कि सन् १८७६ई० में भारत-मन्त्री की एक घोषणा द्वारा इण्डियन सिविल सर्विस (आई०सी०एस०) की परीक्षा में प्रवेश की आयु इक्कीस वर्ष से घटाकर उन्नीस वर्ष कर दी गई। अतः भारतीयों के लिए इस परीक्षा में सफलता दुष्प्राप्य हो हो गई। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व में देशव्यापी विरोध का प्रदर्शन किया गया और सार्वजनिक सभाएं होने लगीं। यद्यपि यह आन्दोलन सिविलसर्विस परीक्षा प्रतिद्वन्द्विता की अधिकतम सीमा बढ़ाने और समकालीन परीक्षा की व्यवस्था कराने के उद्देश्य को लेकर था,

---

१ सन् १८६९ई० में केवल तीन बंगाली सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, रमेशचन्द्र दत्त और बिहारीलाल गुप्त सिविल सर्विस परीक्षा में सफल हुए थे।

-- रतिभानु सिंह नाहर : 'आधुनिक भारत', पृ०५६३

किन्तु इसका मूल उद्देश्य भारतवासियों में एकता और एकरूपता की भावना को जाग्रत करना था[1]। सन् १८७०ई० में गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया ऐक्ट के अनुसार 'कान्वेण्टेड सिविल सर्विस के पदों, स्थानों और नौकरियों' पर भारतीयों की नियुक्ति की अनुमति दी गई, किन्तु आगामी नौ वर्षों तक इसे पूर्णरूप से कार्यान्वित नहीं किया गया और न इस सम्बन्ध में कोई नियम ही बना। तत्पश्चात् (सन् १८७९ई०) सरकार ने यह घोषणा की कि सरकारी नौकरियां ऐसे 'युवकों को दी जायेंगी जो अच्छे परिवार और सामाजिक स्थिति के होंगे।' अतः नियुक्तियों के लिए स्टैट्यूटरी सिविल सर्विस की स्थापना की गई। सन् १८८५ई० में कांग्रेस ने अपने पहले अधिवेशन में प्रतिस्पर्द्धी परीक्षाएं भारत, और इंगलैण्ड दोनों देशों में साथ होने की मांग रखी और सन् १८९३ ई० में कामन सभा ने दोनों देशों में साथ-साथ परीक्षाएं होने के समर्थन में प्रस्ताव पास किया, किन्तु दूसरे ही वर्ष सरकार ने यह घोषणा कर दी कि इस प्रस्ताव पर अमल नहीं किया जायगा। अतः भारतीयों का उत्साह नष्ट हो गया और सर्वत्र गहरी निराशा छा गई। किन्तु बाद में कांग्रेस की इच्छानुसार इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा के लिए वय-मर्यादा उन्नीस वर्ष से तेईस वर्ष कर दी गई।

लार्ड लिटन के प्रतिगामी शासन के बाद शान्तिप्रिय रिपन का दौर हुआ। उन्होंने अफगानिस्तान के अमीर के साथ सुलह करके, वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट को रद्द करके, स्थानिक स्वराज्य का आरम्भ करके और इलबर्ट बिल को उपस्थित करके एक नये युग का श्रीगणेश किया। लार्ड रिपन ने आन्तरिक शान्ति

---

[1] " The agitation was the means; the raising of the maximum limit of age for the open competitive examination and the holding of simultaneous examinations were among the ends; but the underlying conception, and thetrue aim and purpose of the civil service agitation was the opening of a spirit of unity and solidarity among the people of India." S.N.Banerjee.

--हरिहरप्रसाद राय : 'भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन', पृ०४१

और सुव्यवस्था की दृष्टि से प्रजातन्त्र तथा स्वायत्त शासन का समर्थन किया था । वह समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता का समर्थक होने के साथ ही शिक्षा के विकास का पक्षपाती था । उसने एक ओर संरक्षित राज्यों के साथ उदारता और सहानुभूति का व्यवहार किया[१] तो दूसरी ओर द्वितीय अफगान युद्ध को समाप्त कर अब्दुर्रहमान के साथ संधि कर ली । इसके साथ ही उसने स्वतन्त्र व्यापार को प्रोत्साहन देने के हेतु आयात-कर को हटा दिया और नमक-कर को भी कम कर दिया । किसानों की दशा में सुधार के लिए उसने यह व्यवस्था कर दी कि जब तक वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि न हो भूमि-कर में भी किसी प्रकार की वृद्धि न की जाय । एक ओर उसने सन् १८८१ई० के फैक्ट्री ऐक्ट का निर्माण किया तो दूसरी ओर सरकारी आय को केन्द्रीय,प्रान्तीय और सम्मिलित तीन भागों में विभाजित कर दिया । वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट को समाप्त करके प्रेसों को पूर्णतः स्वतन्त्र कर दिया और जनता की आवाज को सुनने का प्रयत्न किया । भारतीयों को स्वायत्त शासन की शिक्षा देने के उद्देश्य से रिपन ने स्थानीय स्वराज्य (१८८१) की नींव रखी थी ,किन्तु उन्हें अपने कार्य में पग-पग पर नौकरशाही के निष्क्रिय प्रतिरोध का सामना करना पड़ा जो इस कला के व्यवहार में महात्मा गांधी से भी अधिक कुशल थी । ज़ाब्ता फौजदारी से जातीय भेदभाव की धाराओं को निकलवाने के लिए सन् १८८३ई० में इल्बर्ट बिल बना । इस प्रस्ताव से भारी

---

१ सन् १८८१ में मैसूर के पदच्युत राजा के लड़के को गद्दी पर बैठाया, सन् १८८२ ई० में कोल्हापुर के राजा की मृत्यु के उपरान्त उसकी विधवा रानी द्वारा गोद लिए पुत्र को सिंहासन पर बैठने की अनुमति दी, सन् १८८३ई० में निजाम के परलोकवास पर शासन चलाने के लिए संरक्षण समिति का निर्माण कर सन् १८८४ई० में नवयुवक उत्तराधिकारी को सिंहासन पर बिठा दिया ।

--श्रीनेत्र पाण्डेय : 'भारतवर्ष का सम्पूर्ण इतिहास' ,पृ० ४१३-४१४

भारतीय न्यायाधीशों और मजिस्ट्रेटों को यूरोपियनों के मुकदमे देखने का अधिकार प्राप्त हुआ। इस बिल के सम्बन्ध में लार्ड रिपन को भारतस्थित अपने देशवासियों के घोरतम विरोध का सामना करना पड़ा और भारतमन्त्री से भी यथेष्ठ समर्थन न प्राप्त हो सका। भारतीयों के हितैषी होने के कारण लार्ड रिपन अपने देशवासियों के दुष्टतापूर्ण आक्षेपों के शिकार बने रहे। रिपन का शासनकाल उस संघर्ष का ज्वलन्त उदाहरण है जो भारतीय जनता तथा भारत में अस्थायी रूप से स्थित अंग्रेजों के हितों, विचारों तथा उद्देश्यों के बीच सदा चलता रहा और जिसका बर्क ने और फिर मिल ने भी उल्लेख किया है।

लार्ड लिटन के अत्यन्त प्रतिक्रियाशील शासन ने भारत के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं में भय तथा निराशा की भावना भर दी थी। दादाभाई नौरोजी जो सदैव आशावादी रहे, राजनीतिक कार्य से अलग हो जाने की बात सोचने लगे थे। लार्ड रिपन के शासन ने देश में एक नवीन आशा का संचार किया और राजनीतिक आन्दोलन को पहले से भी अधिक सक्रिय रूप में पुनर्जीवन प्रदान करने में सहायता दी।

लार्ड रिपन के विलायत गमन के एक वर्ष पश्चात् २८ दिसम्बर सन् १८८५ई० में एक अंग्रेज व्यक्ति एलन आक्टेवियन ह्यूम के ही द्वारा कांग्रेस का जन्म देश की राजनीतिक जागृति के क्षेत्र में एक सर्वथा नूतन अध्याय था। श्री ह्यूम उदार विचार वाले व्यक्ति थे और उनका विश्वास था कि भारत की प्रगति वैधानिक उपायों द्वारा ही हो सकती है। कांग्रेस की स्थापना के समय उन्होंने अपने मित्र आकलैण्ड (कालविन) को बतलाया था कि "उन्होंने यह योजना अपने ही कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न हुई एक प्रबल और बढ़ती शक्ति के निष्कासन के लिए एक रक्षानली के उद्देश्य से बनायी थी।"[१] लाला लाजपतराय तथा वेडरबर्न

---

१ "Mr. Hume told his friend Sir Auckland Colvin that he had advanced the scheme, as a safety-valve for the escape of great and growing forces generated our own actions."

--हरिहरप्रसाद राय : 'भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन', पृ०४४

के अनुसार कांग्रेस की स्थापना का उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा करना था । लाला लाजपतराय ने 'यंग-इंडिया' में लिखा है कि कांग्रेस की स्थापना का मुख्य उद्देश्य अंग्रेजी साम्राज्य को खतरे से बचाना था, भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिये प्रयास करना नहीं । ब्रिटिश साम्राज्य का हित प्रमुख था, भारत का गौण ।[१]

प्रारम्भ में कांग्रेस एक उदार संस्था थी और उसका मुख्य उद्देश्य प्रमुख भारतीय राजनीतिज्ञों को सामाजिक समस्याओं पर विचार करने के लिए वर्ष में एक बार एकत्र करना था, भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए प्रयास करना नहीं । यह संस्था ही वह रक्षानली थी, जिसके द्वारा देशवासियों की प्रबल और बलशाली भावनाओं को नाक्रिय रूप से बाहर निकाला जा सकता था । वास्तव में कांग्रेस की स्थापना, रूस के बढ़ाव से घबराकर उन्हीं उपद्रवों के निवारण के लिए की गई थी । इसीलिए जब रूसी आक्रमण का भय समाप्त हो गया तो भारत सरकार का व्यवहार भी कांग्रेस के प्रति एकाएक बदल गया । देशव्यापी असन्तोष और अराजकता की भावनाएं प्रबल होती जा रही थीं और हिंसात्मक जन-क्रान्ति का भय था । ऐसे समय में जब कि प्रत्येक राजनीतिक आन्दोलन संदिग्ध दृष्टि से देखा जाता इस महान राष्ट्रीय संस्था का जन्म हुआ। इन महान् कार्यों को करने की प्रेरणा संकीर्ण राष्ट्रीय भावों से नहीं अपितु स्वतन्त्रता, सत्य और न्याय के उदात्त विचारों के प्रति सच्ची लगन और भक्ति से मिली, जिसके समर्थन को वे (ह्यूम) अपने देश के लिए गौरव की बात मानते थे और जो पिछली शताब्दी में दोनों देशों के पारस्परिक सहयोग

---

१ हरिहरप्रसाद राय : 'भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन', पृ०४८

से किए गए कार्यों का सुखद परिणाम थी[१] ।

प्रारम्भ में कांग्रेस का दृष्टिकोण उदार था और उसका उद्देश्य प्रशासन अर्थात् परिषदों, नौकरियों, स्थानीय संस्थाओं, रक्षासेनाओं इत्यादि में सुधार करना था । कांग्रेसी क्रमिक सुधार में विश्वास करते थे और क्रान्तिकारी परिवर्तनों के विरोधी थे । वे भारत की प्रगति के लिए भारत को ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध रखने के समर्थक थे, उनके अस्त्र थे प्रस्ताव और प्रतिनिधि मण्डल । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में कांग्रेस का कार्य राजनीतिक भिक्षावृत्ति था । कांग्रेस सरकार के पास रियायतों और सुधारों के लिए अत्यन्त विनम्र भाव से हाथ जोड़कर जाने में विश्वास करते थे । किन्तु उनका यह विश्वास उनकी दुर्बलता का प्रमाण है । क्योंकि उन्होंने अपनी शक्ति पर भरोसा करके साम्राज्यवादी शक्ति को चुनौती देने के स्थान पर शासकों की अनुकम्पा पर ही विश्वास किया । प्रारम्भिक काल में कांग्रेस के सदस्य ब्रिटिश शासन के प्रशंसक और राजभक्त होने के कारण उदार नीति का अनुसरण करते थे । उदारवादी नेताओं को ब्रिटिश जाति की न्यायप्रियता में पूर्ण विश्वास था । दादाभाई नौरोजी ने तो राजभक्ति के प्रदर्शन के लिए यहां तक कह डाला कि "आओ हम पुरुषों की तरह बोलें और घोषणा कर दें कि हम दृढ़ राजभक्त हैं[२] ।"

---

१ He had a passion for liberty . His heart bled at the sight of the so much misery and poverty. He burned with indignation at the 'Cowardly' behaviour of his country men towards Indians. He was an ardent student of history and knew fully that no Government, whether national or foreign, had conceded popular demands, without pressure from below. .... He therefore, wanted Indians ' to strike' for their liberty...... The first step was to organise. so he advised organisation." Lajpat Rai.

--हरिहरप्रसाद राय : 'भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन', पृ०४७

२ ,, : ,, ,, पृ०५२

कांग्रेस के तृतीय अधिवेशन में स्वागत समिति के अध्यक्ष पद से सर टी० माधोराव ने यह घोषणा की कि "कांग्रेस ब्रिटिश-शासन का सर्वोच्च शिखर और ब्रिटिश जाति का कीर्ति मुकुट है।"[1] पण्डित मदनमोहन मालवीय ने भी उसी अधिवेशन में कहा था कि "यद्यपि अब तक हमारे प्रयत्नों में सफलता नहीं मिली है, फिर भी हमें सरकार के पास फिर जाना चाहिए और उनसे अपनी प्रार्थना स्वीकार करने के लिए अनुरोध करना चाहिए।"[2] सन् १८९६ई० में कांग्रेस के बारहवें अधिवेशन के अध्यक्ष पद से रहीम तुल्ला सयानी ने भी कहा था कि "अंग्रेजों से बढ़कर सच्चरित्र और सच्ची कौम इस सूर्य के प्रकाश के नीचे नहीं बसती।"[3]

उक्त कुछ नेताओं के वक्तव्य उनकी राजभक्ति का साक्षात् प्रमाण है। राजभक्त होने पर भी इन सदस्यों ने सरकार की उस नीति और कार्यों का विरोध किया, जो भारतीयों के लिए अहितकर थे। सदस्यों की उदार नीति का कारण सम्भवतः उस समय उनका व्यक्तिगत बलिदान करने और स्वतन्त्रता के लिए कष्ट सहन करने के लिए तैयार न होना भी था। केवल तिलक और गोखले ही उस समय तक ऐसे व्यक्ति थे जो व्यक्तिगत बलिदान करने और स्वतन्त्रता के लिए कष्ट सहने के लिए तैयार थे।[4] दीर्घ कारावास,

---

१ हरिहरप्रसाद राय : 'भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन', पृ०५२

२ ,, : ,, ,, पृ०५३

३ ,, : ,, ,, पृ०५४

४ " With the exception of Tilak and possibly Gokhale the moderate leaders of the Congress were not prepared to make personal sacrifice and suffer hardships for the sake of liberty." G.N. Nihal Singh

--हरिहरप्रसाद राय : 'भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन', पृ०५३

देश निर्वासन अथवा सरकार द्वारा अपनी सम्पत्ति का हरण किया जाना कम ही लोग शान्तिपूर्वक सहन कर सकते थे। किन्तु यह सहनशीलता आगामी पीढ़ी के लिए, जिसने महात्मा गांधी की पताका के नीचे कार्य किया था, अति सामान्य हो गई।

अपने उदार दृष्टिकोण के कारण कांग्रेस के सदस्य किसी भी दशा में सरकारी नीति में परिवर्तन लाने में सफल नहीं हुए, लेकिन अपने देश के विकास में और देशवासियों के चरित्र-निर्माण में निश्चय ही उन्होंने सफलता प्राप्त की। नागरिक अधिकारों की मांग के कारण कांग्रेस के कार्यों का प्रचार हुआ और उसकी लोकप्रियता बढ़ती गई। शासन सम्बन्धी सुधारों के साथ साथ कांग्रेस ने साम्राज्यवादी नीति और सरकार की आर्थिक नीति का विरोध किया और देश की सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं के समाधान की मांग की। गुरुमुख निहालसिंह ने कहा है कि "आरम्भ की कांग्रेस ने राजभक्ति की प्रतिज्ञाओं, नरम नीति, आवेदन ही नहीं, वरन् भिक्षा वृत्ति की नीति अपनाने पर भी, उस समय राष्ट्रीय जागरण, राजनीतिक शिक्षा तथा भारतीयों को एक सूत्र में बांधने और उनमें सामान्य भारतीय राष्ट्रीयता की भावना का निर्माण करने में बहुत अधिक सहयोग किया।[1] भारतीय जनता को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने के लिए इस राष्ट्रीय संस्था ने प्रजातांत्रिक आदर्शों को प्रसारित किया और प्रबल जनमत का संगठन किया। डा० पट्टाभि सीतारमैया ने कहा है कि -- प्रारम्भिक

---

१ " The early Congress with all its professions of loyalty, stud moderation and appealing, nay begging tone, did in those days a great amount of spade work in national awakening, political education and in inciting Indians and in creating in them the consciousness of Indian nationality G.N.Singh P.

--हरिहरप्रसाद राय : 'भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन', पृ०५६।

राष्ट्रवादियों ने ही आधुनिक स्वतन्त्रता की नींव डाली । उनके ही प्रयत्नों से इस नींव पर एक-एक मंजिल करके इमारत बनती चली गई, पहले उपनिवेशों के ढंग का स्वशासन, फिर साम्राज्यान्तर्गत होमरूल[1] उसके ऊपर स्वराज्य और सबसे महत्वपूर्ण स्वाधीनता की मंजिल बन सकी । उदारवादी नेताओं ने राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि तैयार करके सरकार के कार्यों की आलोचना के द्वार खोल दिए । उन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप सन् १८९२ का भारतीय परिषद् अधिनियम (इण्डियन कौंसिल ऐक्ट) बना । इस अधिनियम के स्वीकृत होने पर इस प्रस्ताव को प्रमुखता दी जाने लगी कि आई०सी०एस० की परीक्षा भारत और इंग्लैण्ड में साथ-साथ हो । आगामी वर्षों में राजनीतिज्ञों का स्वागत सार्वजनिक जीवन की एक विशेषता बन गई । सन् १९०५ई० तक कांग्रेस शान्तिपूर्वक आगे बढ़ती गई । राजनीतिक महत्त्व का कोई ऐसा प्रश्न नहीं था, जिसकी ओर उसने ध्यान न दिया हो और प्रतिवर्ष विभिन्न विषयों पर कांग्रेस द्वारा जो प्रस्ताव पास होते थे वे उसके नेताओं की राजनीतिक बुद्धिमत्ता के प्रमाण थे । २६ जून सन् १८९३ई० में (लार्ड लैंसडाउन के समय में) शिमला लेजिस्लेटिव की बैठक में भारतीय जनता के प्रतिनिधि सदस्य उपस्थित न होने से १५ दिन के अन्दर टकसाल में चांदी देकर सिक्के बनवा सकने की प्रथा का अन्त कर देने का कानून बन गया । हमारी मुद्रा तथा विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयों का प्रारम्भ यहीं

---

१ "The early nationalist have made possible superstructure storey by storey, of colonial self- Government Home Rule withing the Empire, swaraj and on the top of all complete Independence."
Dr. P. Sitaramayya.

--हरिहरप्रसाद राय : 'भारतीय राष्ट्रीय दर्शन', पृ०६०

शासन के साथ भारत में होता है, जिसका अभी तक अन्त नहीं हो पाया । १८ जून सन् १८८३ ई० को अफीम नीति से अंग्रेज कर्मचारियों की हानि की क्षतिपूर्ति के लिए उन्हें विशेष भत्ता दिया गया, जो स्वार्थपूर्ण और अनुचित था । निर्धन जनता का भार बढ़ाकर मोटे-मोटे वेतन पाने वालों के वेतनों में और भी वृद्धि कर दी गई ।[९८]

लार्ड एल्गिन के समय में अर्थात् सन् १८९५-९७ के मध्य में भारतीय सीमा के उस पार फौजी कार्यवाही की गई, जिसमें भारत की भारी आर्थिक हानि हुई । सन् १८९६ में जब जनता अकाल से पीड़ित थी तब शासकों ने उसकी सम्पत्ति पर बधाई दी । सन् १८९७ ई० में शासकों ने राजनीतिक दमन की प्रवृत्ति दी और सन् १८९८ ई० में लार्ड कर्जन वाइसराय होकर भारत आये । रिपन के उदार शासन के पश्चात् कर्जन की अनुदार नीति देशवासियों के लिए असह्य हो गई । कर्जन ने देशवासियों के हित के लिए कृषि सम्बन्धी अनेक सुधार किए । एक ओर उसने कृषि बैंकों तथा सहकारी समितियों की स्थापना की तो दूसरी ओर वैज्ञानिक कृषि व्यवस्था के लिए पूना में अनुसन्धानशाला खोली और इम्पीरियल एग्रिकल्चर डिपार्टमेण्ट की भी स्थापना की । सिंचाई व्यवस्था के लिए अपर चेनाब, फेलम तथा लोअर दोआब कैनाल का निर्माण किया । किसानों की सुविधा के लिए ऋतु की स्थिति के अनुसार लगान में परिवर्तन की व्यवस्था की, नमक तथा अकाल के दोषों के करों में कमी करने के साथ ही पुलिस विभाग की त्रुटियों को दूर करने के लिए भी एक कमीशन की नियुक्ति की । यातायात के साधनों में वृद्धि के साथ ही मजदूरों के हितों की रक्षा के लिए माइन्स ऐक्ट और आसाम लेबर ऐक्ट पास करवाया । किन्तु उक्त सुधारों के बावजूद उसने कुछ ऐसे कार्य भी किए जिनसे वह लोकप्रिय न हो सका और भारतीय उसे घृणा की दृष्टि से देखने लगे । सन् १९०१ ई० में महारानी विक्टोरिया की मृत्यु पर विक्टोरिया मेमोरियल हाल का निर्माण और सन् १९०३ में नये सम्राट के राज्याभिषेक के अवसर पर दिल्ली दरबार का आयोजन भारत की सामयिक परिस्थितियों के प्रतिकूल था । उसके दोनों ही कार्यों ने उसकी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति तो कर दी, किन्तु जनता उससे लाभान्वित न हो सकी । सन् १९०३ ई० में

जब देश में भयानक अकाल पड़ रहा था उस समय शाही शान-शौकत में जनता का करोड़ों रुपया अपव्यय किया जाना देशवासी सहन न कर सके । वास्तव में कर्जन का दिल्ली दरबार हमें एक बार नीरो और उसके रोम की याद दिलाने के साथ ही पाश्चात्य जगत् की भोगलिप्सा और बर्बरता का, सजीव चित्र अंकित कर देता है । जिस प्रकार रोम के इतिहास में नीरो अविस्मरणीय है, उसी प्रकार सन् १९०३ ई० के दिल्ली दरबार के लिए कर्जन युग-युगान्तर तक अविस्मरणीय रहेगा । इतना ही नहीं, सन् १९०५ ई० में बंग-भंग का प्रस्ताव पारित करके लार्ड कर्जन ने जिस असन्तोष का बीज बोया उसकी फसल काटनी पड़ी उनके उत्तराधिकारी को । किन्तु कर्जन के इस कृत्य से बंगाल के टुकड़े नहीं हुए, वरन् सम्पूर्ण भारत एकसूत्र में बंध गया और सम्पूर्ण देश ने एक मत होकर उनके इस कृत्य का विरोध किया । बंग भंग न करने की मांग एक प्रकार से स्वराज्य की मांग थी । कर्जन के इस कृत्य ने देशवासियों को चेतना प्रदान की । काल की गति के साथ सरकार को बंग-भंग रद्द कर देना पड़ा । बंगाल के जो टुकड़े हुए वह तो जुड़ गए किन्तु यथार्थ में इससे ब्रिटिश राज्य के टुकड़े हो गए । महात्मा गांधी ने अपने 'हिन्द स्वराज्य' में एक जगह पर कहा भी है कि 'अब यह बात न भूलेगा, विभाग तो रद्द हो गया बंगाल फिर भी जुट गया लेकिन इससे ब्रिटिश जहाज में सदा के लिए दरार पड़ गई । वह दिन दिन बढ़ती जायगी । मुमकिन नहीं कि यह जागा हुआ हिन्दुस्तान फिर सो जाय । बंग भंग रद्द कराने का आन्दोलन स्वराज्य है । बंगाल के नेता इसे खूब समझते हैं अंग्रेज हाकिमों से भी यह बात छिपी नहीं है । इसी से बंग-भंग रद्द हो गया । दिन-दिन राष्ट्र में दृढ़ता आती गयी है । यह काम एक का दिन नहीं, बरसों लगते हैं[2] ।

कर्जन ने कलकत्ता कारपोरेशन के सदस्यों की संख्या में कमी करके (सन् १९००) और उच्च पदों को अंग्रेजों के लिए सुरक्षित करके भारतीयों

---

१ अनु० महावीरप्रसाद पोद्दार : 'हिन्द स्वराज्य - महात्मा गांधी बंगाल के टुकड़े, पृ०९।

के मन में असन्तोष की भावना का प्रादुर्भाव किया । सन् १९०४ई० में उसने विश्व-
विद्यालय विधेयक पारित करवाया और सन् १९०५ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय के
दीक्षान्त समारोह में भारतीय जनता पर यह लांछन लगाया कि उसमें सत्य के लिए
सम्मान की भावना नहीं है । इसी वर्ष सेना-सुधार के सम्बन्ध में किचनर साहब से
मतभेद होने पर उसने अपना त्यागपत्र दे दिया । लार्ड कर्जन का ऐन्शेण्ट मान्यूमेण्ट्स
प्रोटेक्शन ऐक्ट भारत में एक प्रशंसनीय कार्य है और इस विधेयक ने भारतीय संस्कृति
की सुरक्षा में अपना योगदान भी दिया है ।

कर्जन शाही की प्रतिक्रिया स्वरूप कांग्रेस के नेताओं
में राज-भक्ति के स्थान पर राजद्रोह की भावनाएं बलवती होने लगीं । कांग्रेस में
उग्रवाद का प्रादुर्भाव हुआ । तिलक ने स्पष्टरूप से कह दिया कि कांग्रेस की नरमी
और राजभक्ति स्वतन्त्रता प्राप्त करने के योग्य नहीं है । केवल प्रस्ताव पास
करने और अंग्रेजों के सामने हाथ पसारने से राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होंगे
बल्कि उनके लिए युद्ध करना होगा । लाला लाजपतराय ने भी अपना मन्तव्य
प्रकाशित किया कि भारतीयों को अब भिखारी बने रहने में ही सन्तोष नहीं
करना चाहिए और न उन्हें अंग्रेजों से कृपा करने के लिए गिड़गिड़ाना चाहिए ।
वास्तव में शासकों के न्याय और समदृष्टि में भारतीयों का विश्वास हिल गया
था । अत: अन्याय,अत्याचार और विषमतापूर्ण व्यवहार के विरुद्ध प्रतिवाद करने
की शक्ति और उत्कट अभिलाषा भारतीयों के हृदय में जाग्रत हुई,जो भारतीय
राष्ट्रीय जागृति की पृष्ठभूमि थी । सन् १८९७ में राजद्रोह के अपराध में तिलक को
गिरफ्तार कर अठारह महीने का कारावास दण्ड दिया गया जिससे सारा देश
दुःखी था । हमारे राष्ट्रीय विचारों के उत्थान ने क्रान्तिकारी काम किया और
हमारे राजनीतिक, आर्थिक और राष्ट्रीय विचारों को एक ठोस आधार मिला ।
कर्जन के बंग-भंग (सन् १९०५) का उद्देश्य राष्ट्रीय एकता को नष्ट करना और हिन्दू
एवं मुसलमानों में वैमनस्य फैलाना था । लार्ड रोनाल्डशे ने कहा है कि 'प्रान्त
के जाग्रत वर्ग के अनुसार इस विभाजन द्वारा बंगाली राष्ट्रीयता की बढ़ती हुई
शक्ति पर आक्रमण किया गया था'।[1] डा० आर०सी० मजुमदार के अनुसार 'नया

१ हरिहरप्रसाद राय : 'भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन',पृ०७६

चेतना को कुचलने के लिए लोगों को परस्पर विभाजित करने के उद्देश्य से लार्ड कर्जन पूर्वी बंगाल गया । वहाँ पर उसने मुसलमानों की एक सभा में भाषण देते हुए कहा कि विभाजन का उद्देश्य केवल शासन की सुविधा ही नहीं है, वरन् विभाजन द्वारा एक ऐसा मुस्लिम प्रान्त बनाया जा रहा है, जिसमें इस्लाम और उसके अनुयायियों को प्रधानता होगी । [१] इसके उस कृत्य का देशव्यापी सक्रिय विरोध हुआ । विदेशी वस्तु बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, विपिन चन्द्र पाल आदि नेताओं ने स्वदेशी आन्दोलन का प्रचार किया।

उग्रवाद के प्रादुर्भाव के पश्चात् कांग्रेस दो दलों में विभाजित हो गई । नरम दल का प्रतिनिधित्व दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी और फीरोज शाह मेहता कर रहे थे एवं गरम दल के प्रमुख नेता बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय और विपिनचन्द्र पाल (लाल, बाल पाल) थे । इनके अतिरिक्त एक तीसरा दल आतंकवादियों का भी था जो तोड़-फोड़ करने, बम फेंकने और अधिकारियों को मारने में विश्वास करता था । इस दल के मुख्य नेता बंगाल में बारीन्द्रकुमार घोष, भूपेन्द्रदत्त, खुदीराम बोस, रासबिहारी बोस और महाराष्ट्र में श्याम जी कृष्ण वर्मा, विनायक दामोदर सावरकर और उनके बड़े भाई गणेश सावरकर थे । कालान्तर में सरदार भगत सिंह, बटुकेश्वरदत्त, चन्द्रशेखर आजाद और जितेन्द्रनाथ दास का नाम आतंकवाद के समर्थकों में उल्लेखनीय है । क्रान्तिकारी आन्दोलन को जनता का सहयोग प्राप्त नहीं हुआ, क्योंकि समाज का उच्च वर्ग हिंसात्मक कार्यों से घबराता था और खुले रूप से उनका विरोध करता था । परिणामस्वरूप आतंकवादी आन्दोलन कुछ समय के उपरान्त शिथिल पड़ गया । स्वराज्य के अर्थ को लेकर नरम और गरम दल में भी मतभेद हो गया । नरम दल वालों के अनुसार स्वराज्य का अर्थ वैधानिक तरीकों पर चलकर उत्तरदायी सरकार की स्थापना और औपनिवेशिक स्वराज्य

---

१ हरिहरप्रसाद राय : 'भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन', पृ०७६ ।

प्राप्त था । किन्तु गरम दल वाले पूर्ण स्वराज्य के पक्ष में थे । पारस्परिक तनाव के कारण उग्रवादी कांग्रेस से अलग हो गये और नौ वर्षों तक पृथक्-पृथक् कार्य करते रहे । कर्जन के जिस हवा को फूंका था उसने सहज ही गति पकड़ ली और भारतीय राजनीति के रंगमंच पर मुस्लिम साम्प्रदायिकता का उदय एक जटिल समस्या बन गई ,जिसका राष्ट्रीय हितों पर घातक प्रहार पड़ा । सर सैयद ने मुसलमानों को कांग्रेस से अलग रहने की सलाह दी और उनकी रक्षा के लिए ऐंग्लो मुस्लिम डिफेंस एसोसियेशन की स्थापना की ।

कर्जन के पश्चात् भारतीय इतिहास की प्रमुख घटना सन् १९०९ ई० का मार्ले-मिण्टो सुधार है । इस सुधार के द्वारा लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्यों और उनके अधिकारों में वृद्धि करदी गई । तत्पश्चात् सन् १९११ ई० में (एडवर्ड सप्तम के देहावसान के पश्चात्) जार्ज पंचम के भारत आगमन के शुभ अवसर पर उनके स्वागतार्थ दिल्ली में दरबार हुआ । श्रीमान् सम्राट ने घोषणा करके बंग-भंग को रद्द कर दिया और राजधानी कलकत्ता के स्थान पर दिल्ली घोषित कर दी । इस समय तक राष्ट्रीय-भावना अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुकी थी और दिसम्बर सन् १९१२ई० में जब वाइसराय लार्ड हार्डिंग्ज ने समारोह के साथ दिल्ली में प्रवेश किया तब उन पर क्रान्तिकारियों ने चांदनी चौक में बम फेंक कर अपना विरोध प्रदर्शित किया । किन्तु उनमें तनिक भी कटुता नहीं आई और उन्होंने सदा भारत के हितों का ध्यान रखकर कार्य किया ।

सन् १९१३ई० में अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की सहानुभूति में महात्मागांधी ने अपना सत्याग्रह संग्राम छेड़ दिया । सन् १९१४ ई० में प्रथम महासमर हुआ । इसी समय मिसेज बेसेंट ने भारतीय राजनीति में प्रवेश किया । इस महासमर द्वारा भारतीय जनता और उनके गोरे महाप्रभुओं के पारस्परिक सम्बन्धों के परीक्षण का प्रथम अवसर था । भारतीयों ने इस अवसर पर अपनी वीरता औरराजभक्ति का प्रदर्शन किया । उन्हें पूर्ण विश्वास था कि शासन के प्रति निष्ठा प्रदर्शित करने के लिए पुरस्कार स्वरूप स्वायत्तशासन स्थापित करने की अनुमति प्राप्त होगी । किन्तु बदले में मिला जलियांवाला बाग का हत्याकाण्ड । रौलट ऐक्ट (सन् १९१९) के विरोध में एकत्रित विशाल जन-समूह

पर जनरल डायर ने जिस नृशंसता से गोली चलवाई, वह ब्रिटिश साम्राज्यशाही के लिए कलंक है। सर माइकेल ओडायर ने पंजाब की राजनीतिक हलचलों को अपने फौलादी पंजे से कुचल डाला। उन्होंने लोकमान्य तिलक और विपिन चन्द्र पाल जैसे नेताओं के पंजाब में प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया। पंजाब की दुर्घटनाओं के समाचार से सम्पूर्ण देश में सनसनी फैल गई। कवीन्द्र रवीन्द्र ने नौकरशाही का इस बर्बरता के विरोध में अपनी 'सर' की उपाधि को त्याग दिया।[1] डायर के दुष्कृत्यों की ब्रिटिश संसद के कुछ सदस्यों ने एक वाद-विवाद के दौरान प्रशंसा की। भारतमन्त्री मिस्टर माण्टेग्यु ने भी कहा है कि "जनरल डायर ने जैसा उचित समझा उसके अनुसार बिलकुल नेकनीयती के साथ काम किया अलबत्ता उनसे परिस्थिति को समझने में गलती हो गई।"[2] दुर्घटना की जांच के लिए नियुक्त हण्टर कमेटी ने भी जनरल डायर के अपराधों की लीपा-पोती करने की कोशिश करते हुए कहा कि "डायर का आचरण कर्त्तव्य की सत्यनिष्ठ लेकिन गलत धारणा पर आधारित था।" कमेटी ने डायर के दुष्कृत्य को "निर्णय की एक भयंकर भूल बताया।" कुछ समय के बाद जनरलडायर के प्रशंसकों ने उन्हें एक तलवार और २०,००० पौंड की एक थैली भेंट की। स्पष्ट है कि जिस व्यक्ति को भारतीय जनमत 'एक खूनी राक्षस' के रूप में देखता था वही व्यक्ति ब्रिटेन में पर्याप्त 'आदर का पात्र' था। डायर के कृत्यों की आलोचना करते हुए कांग्रेस कमेटी ने भी कहा कि "जनरल डायर का तेरह अप्रैल का कार्य निर्दोष, निरीह, निःशस्त्र मर्दों और बच्चों के जानबूझकर किए हुए नृशंस हत्याकाण्ड के सिवाय और कुछ नहीं है। यह ऐसी हृदयहीन और बुजदिल पशुता है जिसको आधुनिक काल में और कोई मिसाल नहीं है।"[3]

---

१ हरिहरप्रसाद राय : 'भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन', पृ०१२ १३३
२ कृपाराम बम्बाल : 'भारतीय राजनीति और शासन', पृ०२२८
३ ,, : ,, ,, पृ०२२६

प्रथम विश्वयुद्ध में भारतीयों की सहायता से ब्रिटिश राजनीतिज्ञ प्रभावित तो हुए, किन्तु भारत जैसे उपनिवेश को अपने आधिपत्य में रखने का मोह संवरण न कर सके । भारतीयों की सान्त्वना हेतु सन् १९१९ के विधान के अनुसार माण्टेग्यु चेम्सफोर्ड सुधार के रूप में वैधानिक सुधार की दिशा में कदम उठाया गया । इस सुधार-योजना ने कांग्रेस में फूट डाल दी । उदार-वादियों ने सुधारों को स्वीकार किया, परन्तु उग्रवादियों ने उनकी कटु आलोचना की । इस सुधार-योजना द्वारा भारतीय शासन के स्वरूप में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन न होने के कारण जनता असन्तुष्ट थी । सन् १९२०ई० के अधिवेशन में (कलकत्ता) कांग्रेस ने अपनी पैंतीस वर्षों की 'राजनीतिक भिक्षा' की नीति का त्याग कर 'सीधी टक्कर' (डायरेक्ट ऐक्शन) की नीति अपनाई । स्वराज्य प्राप्ति के साधन और उपाय बदल गए । असहयोग आन्दोलन चलाने का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया ।

सन् १९१७ई० में चम्पारन के नील की खेती करने वाले किसानों की कठिनाइयों की सूक्ष्म जाँच करके उनके कष्टों को दूर करने में महात्मा गांधी सफल हुए । तत्पश्चात् सन् १९१८ई० में उन्होंने खेड़ा में कर-निषेध आन्दोलन का संगठन किया । खेड़ा सत्याग्रह समझौते के रूप में सफल हुआ । इसी वर्ष अहमदाबाद के मिल-मजदूरों ने वेतन वृद्धि के लिए आन्दोलन किया था । मिल-मालिकों के मजदूरों की माँग पूरी न करने पर गांधी जी ने आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिया । किन्तु उपवास के चौथे ही दिन मिल-मालिकों ने गांधी जी की शर्तों को स्वीकार कर लिया और मजदूरों के वेतन में पैंतीस प्रतिशत वृद्धि हो गई । महात्मा गांधी की सफलताओं ने उन्हें जन-नेता बना दिया और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन ने जन-आन्दोलन का रूप ले लिया । सन् १९१९ई० तक महात्मा गांधी सरकार के सहयोगी बने रहे ।

दिसम्बर सन् १९२० ई० में कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में भी असहयोग के प्रस्ताव को पुनः बहुमत से स्वीकार कर लिया गया ।

सन् १९२१ ई० में गांधी जी के नेतृत्व में देशव्यापी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ । उसी वर्ष फरवरी में ड्यूक आफ कनाट और दिसम्बर में प्रिन्स आफ वेल्स के भारत आगमन पर, उनका देश व्यापी बहिष्कार किया गया और हड़ताल मनाई गई ।नौकरशाही ने आन्दोलन को कुचलने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दी । चोटी के कांग्रेसी नेता ,जैसे अली बन्धु,सी०आर० दास,मोतीलाल नेहरू इत्यादि जेलों में बन्द कर दिए गए और कांग्रेस स्वयंसेवक दल को गैर कानूनी घोषित कर दिया गया । दिसम्बर सन् १९२१ई० में कांग्रेस ने अपने अहमदाबाद अधिवेशन में असहयोग आन्दोलन को जारी रखने का निश्चय किया और सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाने की स्वीकृति भी दे दी । आन्दोलन की प्रवृत्ति हिंसात्मक होती जा रही थी, अत: महात्मा गांधी ने आन्दोलन के डोरों को सहसा समेट लेने का आदेश दिया । परिस्थितियों का लाभ उठाकर सरकार ने उनपर राजद्रोह का मुकदमा चलाया और छ: वर्षों के लिए कारावास में बन्द कर दिया ।

असहयोग आन्दोलन भले ही असफल रहा हो, किन्तु आन्दोलन के फलस्वरूप जिस राजनीतिक चेतना का उदय हुआ और उसको शक्ति का परिचय मिला, उसने विभिन्न प्रान्तों के निवासियों को कांग्रेस के झण्डे के नीचे एकत्रित कर संगठित एकता की भावना को सबल कर दिया । कांग्रेस ने वैधानिक साधनों द्वारा उद्देश्य प्राप्ति की नीति त्याग कर सक्रिय आन्दोलन की नीति अपनाई और सरकारी कानूनों की अवज्ञा शुरू हो गई । कांग्रेस के कुछ नेताओं ने असहयोग में विश्वास न करने के कारण कार्यक्रम में परिवर्तन की मांग की । खुली कार्यवाही के स्थान पर संसदवाद की प्रवृत्ति का विकास हुआ और कुछ कांग्रेसी नेताओं ने 'कौंसिल प्रवेश' का नारा लगाया ।

कौंसिल प्रवेश के विषय पर कांग्रेस में दो दल बन जाने से गृह-युद्ध का आरम्भ हो गया । डा०अन्सारी,मि० कस्तूरीरंग आयंगर और श्री राजगोपालाचार्य कौंसिलों के बहिष्कार के पक्ष में थे तथा हकीम अजमल खां,पंडित मोतीलाल नेहरू और श्री विट्ठल भाई पटेल इसके विरुद्ध थे । उक्त तीनों सज्जनों का विचार था कि अगर कांग्रेस वाले कौंसिलों में

पहुंच गए तो वे 'कौंसिलों को तोड़ने' तथा 'सुधारों को नष्ट-भ्रष्ट करने में सफल हो जायेंगे । चूंकि हम कौंसिलों को अपनी इच्छानुसार सुधार नहीं सकते, इसलिए हम उनका अन्त करने के लिए उनमें जायेंगे । कौंसिल-प्रवेश की नीति के समर्थकों का झुकाव अहिंसा नीति की ओर था । सन् १६२२ ई० में कांग्रेस की राजनीति में एक नई विचारधारा का विकास हुआ । कांग्रेस ने असहयोग के कार्यक्रम को स्वीकार किया जिसमें कौंसिलों का बहिष्कार भी सम्मिलित था । सन् १६२४ई० के कांग्रेस (गया) अधिवेशन के सभापति श्री चितरंजन चितरंजन दास थे । सन् १६२३ई० के प्रारम्भ में ही उन्होंने कांग्रेस की अध्यक्षता से त्यागपत्र देकर स्वराज्य दल के संगठन की घोषणा की । इसी वर्ष सितम्बर माह में दिल्ली में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन मौलाना अबुल कलाम आजाद के सभापतित्व में हुआ और कौंसिल प्रवेश के समर्थकों ने बिना किसी कठिनाई के अनुमति सूचक प्रस्ताव स्वीकृत करवा लिया । महात्मा गांधी ने योजना से सहानुभूति न होने पर भी अपनी मौन सम्मति दी । अत: स्वराज्य दल का संगठन कांग्रेस के राजनीतिक पक्ष के रूप में किया गया । सविनय अवज्ञा आन्दोलन में स्वराज्य दल का बहुत कम विश्वास था और कौंसिल बहिष्कार के भी वे विरोधी थे । क्योंकि उनके अनुसार कौंसिल प्रवेश की योजना असहयोग के सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल थी । स्वराजिस्ट कौंसिलों के गढ़ में प्रवेश करके असहयोग के फण्डे को ऊंचा रखना चाहते थे । अत: सन् १६२३ ई० में द्वैध शासन प्रणाली को नष्ट-भ्रष्ट करने के० कार्यक्रम को सामने रखकर स्वराज्य दल चुनाव के अखाड़े में कूद पड़ा । स्वराज्य दल को अपने उद्देश्य में सफलता मिली। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा की १४५ सीटों में से ४५ सीटों पर स्वराज्य दलीय लोगों का आधिपत्य हो गया । राष्ट्रवादी और स्वतन्त्र उम्मीदवारों का समर्थन व सहानुभूति प्राप्त कर स्वराज्य दल ने पण्डित मोतीलाल नेहरू के समर्थ नेतृत्व में अपना बहुमत बनालिया । १८ फरवरी सन् १६२४ई० को पंडित मोतीलाल नेहरू के उस प्रस्ताव को स्वीकृत करवाने में स्वराज्य दल ने सफलता प्राप्त की, जिसमें एक ऐसी गोलमेज परिषद् की मांग की गई थी जो पूर्ण उत्तरदायी शासन के सिद्धान्त पर आधारित भारत के लिए एक संविधान की संस्तुति करे ।

अन्य कई महत्वपूर्ण प्रस्तावों पर स्वराज्य दल वालों ने सरकार को पराजित किया । इन प्रस्तावों में सबसे महत्वपूर्ण प्रस्ताव वह था जिसमें कुछ राजनीतिक कैदियों के छुटकारे की मांग की गई थी । सन् १६२४-२५ ई० और सन् १६२५-२६ ई० के बजट के मतायेदारी भाग को अस्वीकृत कर दिया गया और सरकार को उसको पुनर्प्रतिष्ठा करने के लिए गवर्नर जनरल के विशेषाधिकार का प्रयोग करना पड़ा । स्वराजियों ने गवर्नर जनरल के उत्सवों और भोजों में सम्मिलित न होने का नियम बना लिया था और उनका विरोध प्रदर्शन करने का तरीका व्यवस्थापिका सभा से 'वाक-आउट' कर जाना था ।

प्रान्तीय स्तर पर स्वराज्य दल वालों को बंगाल और मध्य प्रान्त में विशेष सफलता मिली । बंगाल में बहुमत में होने पर भी चितरंजनदास ने न तो स्वयं मंत्रि मण्डल बनाना स्वीकार किया और न किसी और को मंत्रि मण्डल बनाने दिया । २३ मार्च सन् १६२४ई० को लेजिस्लेटिव कौंसिल के दो मंत्रियों के वेतन का प्रस्ताव अस्वीकृत कर देने से मंत्रियों को विवश होकर त्यागपत्र देना पड़ा । किन्तु जून सन् १६२५ ई० में चितरंजनदास की मृत्यु हो जाने के कारण स्वराज्य दल की शक्ति क्षीण होने लगी । सरकार से सहयोग करने की दिशा में दल के सदस्यों का झुकाव अधिकाधिक बढ़ता गया । व्यवस्थापक मण्डलों को अन्दर से नष्ट-भ्रष्ट कर देने की नीति का स्थान क्रमशः व्यवस्थापक मण्डलों में भाग लेने, तथा सरकार से सहयोग करने की नीति लेने लगी । सन् १६२४ई० में स्वराज्य दल के प्रतिनिधि स्टील प्रोटेक्शन कमेटी में सम्मिलित हुए । सन् १६२५ई० में पंडित मोतीलाल नेहरू ने स्कीन कमेटी की सदस्यता स्वीकार की । सन् १६२६ ई० में स्वराज्य दल का प्रभाव व घट जाने से बंगाल और मध्यप्रान्त में स्वराज्य दल का बहुमत कम हो गया और सरकार को द्वैध शासन प्रणाली की पुनर्प्रतिष्ठा करने में सफलता प्राप्त हुई । केन्द्रीय एसेम्बली में भी स्वराज्य दल की स्थिति कमजोर पड़ गई । क्योंकि पंडित मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय के नेतृत्व में दल ने यह अनुभव किया कि प्रत्येक बात में सरकार का

विरोध करने की नीति हिन्दुओं के लिए अहितकर है । स्वराज्य दल में मतभेद उत्पन्न होने के फलस्वरूप सन् १९२६ ई० के अन्त तक इसकी शक्ति समाप्त हो गई ।

सन् १९२२-१९२७ ई० के मध्य हिन्दू-मुस्लिम दंगों की संख्या अत्यधिक बढ़ गई थी । सन् १९२३ ई० में मुल्तान, अमृतसर, मुरादाबाद, मेरठ, पानीपत, जबलपुर, आगरा, बरेली आदि में साम्प्रदायिक झगड़े हुए । सन् १९२४ई० में देश के विभिन्न भागों में विशेषकर दिल्ली तथा संयुक्त प्रान्तों में, अनेक रक्त-रंजित साम्प्रदायिक दंगे हुए । सन् १९२६ई० का कलकत्ता का दंगा, ढाका के दंगे, बम्बई के दंगे और संयुक्त प्रान्त के बार-बार के दंगों में कानपुर का सन् १९३१ई० का दंगा सबसे अधिक भयानक था । इन सबने मानो गला फाड़-फाड़ कर इस बात की घोषणा की कि देश में हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य नहीं है । क्योंकि इन झगड़ों का तात्कालिक कारण अति तुच्छ होता था । गोवध, ताजिये का जुलूस अथवा मस्जिद के सामने बाजा बजाने का प्रश्न आदि तुच्छ बातों पर मतभेद उत्पन्न हो जाने से साम्प्रदायिक झगड़े होते थे । बाह्य कारण यद्यपि अति तुच्छ थे, किन्तु असली कारण गहरे थे ।

सन् १९२६ ई० में लार्ड इर्विन भारत के वाइसराय हुए। उनका शासन-काल राष्ट्रीय आन्दोलन के तूफान से ओतप्रोत था । अत: सरकार की सारी शक्ति आन्दोलन के दमन में लगी रही । ८ नवम्बर सन् १९२७ ई० में साइमन कमीशन की नियुक्ति हुई । किन्तु इस शाही कमीशन में भारतीयों के न रखे जाने से देश व्यापी असन्तोष का प्रादुर्भाव हुआ । सरकार ने भारत के आत्मनिर्णय के अधिकार की पूर्ण उपेक्षा करके भारतीय प्रतिष्ठा के विरुद्ध यह सादा कमीशन नियुक्त किया था, इसलिए सभी राजनीतिक दलों (मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, कांग्रेस आदि) ने इसके बहिष्कार का निश्चय किया । जहां-जहां आयोग गया, वहां तूफानी प्रदर्शन, काले झण्डे और 'साइमन वापस जाओ' के नारे से उसका स्वागत किया गया । कुछ राजभक्तों ने आयोग

का स्वागत भी किया, किन्तु उनकी आवाजें सार्वजनिक प्रदर्शन और कोलाहल में विलीन हो गईं । सरकार के दमन-चक्र ने क्रान्तिकारी आन्दोलन को प्रोत्साहित किया और जनता में प्रतिरोध की भावनाएं प्रबल हो गईं । क्रान्तिकारियों ने एक पुलिस कर्मचारी सैण्डर्स की हत्या कर दी और सरदार भगतसिंह तथा बटुकेश्वर दत्त ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में बम का विस्फोट किया । ऐसी विक्षोभपूर्ण वातावरण में आयोग ने अपना कार्य समाप्त किया । मई सन् १९३०ई० में आयोग ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की । कमीशन की रिपोर्ट में औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग की उपेक्षा की गयी थी । प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की सिफारिश एक प्रकार से अर्थहीन थी, क्योंकि प्रान्तों के गवर्नरों को रक्षा कवचों से सुसज्जित कर दिया गया था । केन्द्र में उत्तरदायी शासन स्वीकार नहीं किया गया । फरवरी सन् १९२८ई० में पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक सर्वदलीय सम्मेलन का आयोजन हुआ । इस सम्मेलन ने भारत के संविधान का एक मसविदा तैयार करने के लिए एक समिति की नियुक्ति की । दिसम्बर सन् १९२८ई० में कांग्रेस ने अपने कलकत्ता अधिवेशन में समिति की रिपोर्ट (नेहरू रिपोर्ट) को स्वीकार किया । लीग ने इसका विरोध किया और श्री जिन्ना का 'चौदह सूत्रीय कार्यक्रम' इसके विकल्प में रखा गया ।

सन् १९२९ई० में पुन: देशव्यापी असन्तोष ने राजनीतिक वातावरण को अशान्त कर दिया । ३१ दिसम्बर सन् १९२९ई० में कांग्रेस ने अपने लाहौर के अधिवेशन में औपनिवेशिक स्वराज्य का अर्थपूर्ण स्वराज्य बताया। सन् १९३१ ई० में सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ हो गया । पांच अप्रैल सन् १९३०ई० को महात्मा गांधी ने सर्वप्रथम व नमक बनाकर 'नमक कानून' भंग किया । तत्पश्चात् सम्पूर्ण देश में विराट सभाओं का आयोजन होने लगा । शराब का बहिष्कार और शराब की दुकानों पर धरना दिया जाने लगा । विदेशी कपड़ों का बहिष्कार हुआ । पांच मई सन् १९३०ई० को महात्मा गांधी गिरफ्तार कर लिए गए और उन्हें यरवदा जेल में रखा गया । देशव्यापी हड़तालें, प्रदर्शन और विराट सभाएं आयोजित करके जनता व ने विरोध प्रदर्शित किया । नौकरशाही

ने इस अहिंसात्मक आन्दोलन के दमन के लिए निरंकुश नीति अपनाई । नेतागण जेलों में बन्द कर दिए गए। फलत: कुछ प्रान्तों में मध्यवर्गीय युवकों ने आतंकवा की नीति अपनाकर सरकारी पदाधिकारियों का हत्याएं कीं और विदेशों में भारतीयों ने नौकरशाही की दमन नीति का विरोध करने के लिए हड़तालें भी क गांधी के असहयोग से घबराकर सरकार ने समझौते की नीति का अनुसरण कि फलत: मार्च सन् १९३१ई० को तत्कालीन वाइसराय लार्ड इरविन और महात्मा गांधी में समझौता हो गया । गांधी-इरविन समझौते के अनुसार सविनय अव आन्दोलन स्थगित कर दिया गया और कांग्रेस ने अपने कराची अधिवेशन में (मा सन् १९३१ई०) द्वितीय गोलमेज परिषद् में भाग लेने के लिए महात्मा गांधी को अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया । सरकार ने व्यक्तिगत रूप से पंडित मोतीलाल और श्रीमती सरोजनी नायडू को भी गोलमेज परिषद् में सम्मिलित होने लिए मनोनीत किया । सात सितम्बर सन् १९३१ई० को द्वितीय गोलमेज परिष लन्दन में प्रारम्भ हुई । उस समय इंगलैण्ड में मजदूर सरकार के स्थान पर राष्ट्री सरकार सत्तारूढ़ हो चुकी थी । ब्रिटिश सरकार गांधी-इर्विन समझौते को शर को तोड़ने का प्रयत्न करने लगी और पुन: 'फूट डालो और राज्य करो' को नीति का अनुसरण किया जाने लगा । किन्तु साम्प्रदायिक समस्या का निरा न हो सका । अल्पमतों और अछूतों ने पृथक् निर्वाचन और पृथक् प्रतिनिधित्व की मांग की ।

साम्प्रदायिक निर्णय के द्वारा भारत की विभि जातियों को अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार देकर विदेशी (अंग्रेज) शासकों देश की एकता पर कुठाराघात किया । इसी वर्ष ब्रिटेन ने स्वर्ण मान का त्याग कर दिया, जिससे रुपये की दर कम हो गई । फलत: भारत से अतुलनी स्वर्ण नियति हुआ । जिस समय अन्य देशों ने अपनी स्वर्ण-राशि को बाहर जाने देने का प्रबल प्रयासकिया, उस समय भारत से बिना किसी प्रतिबन्ध के सु की धारा बही है और सरकार ने उस पर इस प्रकार सन्तोष प्रकट किया है, मानो यह भारत के लिए बड़े सौभाग्य का विषय है।

द्वितीय गोलमेज परिषद् असफल हो चुकी थी ।
महात्मा गांधी २८ दिसम्बर सन् १९३१ ई०को भारत लौटे । उस समय लार्ड विलिंगडन भारत के वाइसराय थे । उनकी कठोर नीति के परिणामस्वरूप सरकार का दमन-चक्र तेजी से चल रहा था । कांग्रेस ने भी अविनय अवज्ञा आन्दोलन को पुन: चलाने का निश्चय किया । फलत: कार्यसमिति के सदस्यों सहित महात्मा-गांधी को बन्दी बना लिया गया । कांग्रेस गैर सरकारी संस्था घोषित कर दी गई और उसके कार्यालयों पर छापे मारे गये, सम्पत्ति जब्त कर ली गई, अनेक अध्यादेश लागू कर सरकारी कर्मचारियों को विभिन्न प्रकार के अधिकार प्रदान किये गए और समाचारों पर कठोर नियन्त्रण लगा दिया गया । कठोर दमन-नीति के बावजूद भी आन्दोलन चलता ही रहा ।

नवम्बर सन् १९३२ ई० में तृतीय गोलमेज सभा हुई। कांग्रेस के प्राय: सभी नेताओं के जेल में होने के कारण वह इससे बिल्कुल पृथक् रही। उस अधिवेशन में प्रथम और द्वितीय अधिवेशनों के में किए गए निर्णयों की पुष्टि की गई और नये संविधान के सम्बन्ध में भी कुछ बातें निश्चित की गईं । मार्च सन् १९३३ई० में ब्रिटिश सरकार की ओर से नये सुधारों का एक श्वेतपत्र (ह्वाइट पेपर) प्रकाशित हुआ, जिसमें भावी संविधान की रूप-रेखा पर प्रकाश डाला गया था । भारतीयों ने इस श्वेत पत्र का विरोध किया । श्वेत-पत्र के प्रस्तावों पर विचार करने के लिए लार्ड लिनलिथगो के सभापतित्व में एक समिति नियुक्त हुई जिसकी रिपोर्ट के आधार पर सन् १९३५ का भारत सरकार का अधिनियम बना ।

सन् १९३५ई० का विधान देश के वैधानिक विकास का अगला कदम था । सन् १९३७ई० में लार्ड लिनलिथगो के वाइसराय होने पर प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं का चुनाव हुआ और उत्तर-प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, मद्रास, बम्बई तथा सीमान्त प्रदेश में कांग्रेसी मंत्रि-मण्डल बने, किन्तु वह मंत्रि-मंडल अल्पजीवी ही रहे । सन् १९३९ ई० में इंगलैण्ड और जर्मनी के मध्य यूरोप में द्वितीय महासमर का सूत्रपात हुआ ।

द्वितीय विश्व-युद्ध के समय जब अंग्रेजों ने भारतीय जनता और उसके प्रतिनिधियों की सहमति के बिना भारत को युद्धरत घोषित कर दिया, तब भारतीय राजनीतिज्ञों ने युद्ध के उद्देश्य को स्पष्ट करने की माँग की, जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप लार्ड लिनलिथगो का अगस्त प्रस्ताव (सन् १९४०) सामने आया। कांग्रेसी मन्त्रियों ने विरोध प्रदर्शन के लिए त्याग-पत्र देकर ब्रिटिश साम्राज्यशाही मशीन के कल-पुर्जे ढीले कर दिए। हाई-कमाण्ड के निर्देशानुसार आठ प्रान्तों के मन्त्रिमण्डलों के त्याग-पत्र दे देने से उत्पन्न संवैधानिक गतिरोध (कांन्स्टीट्यूशनल डेडलाक) सन् १९४६ई० तक चलता रहा। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के त्याग-पत्र दे देने पर भारतीय मुसलमानों ने जिन्ना के नेतृत्व में २२ दिसम्बर सन् १९३९ ई० को मुक्ति दिवस मनाया। सरकार ने समस्या को साम्प्रदायिक स्वरूप देने के उद्देश्य से कांग्रेस तथा लीग के प्रतिनिधियों के साथ पुन: वार्ता प्रारम्भ की।

अगस्त सन् १९४२ ई० में महात्मा गाँधी ने 'भारत छोड़ो' का नारा बुलन्द किया और समस्त देशवासी धन, पद, और प्रतिष्ठा का मोह त्याग कर स्वतन्त्रता की संग्राम-भूमि में कूद पड़े। स्वतन्त्रता की माँग करने के दण्ड स्वरूप देश-वासियों के साथ कठोर दमन-नीति का अनुसरण किया गया। ९ अगस्त सन् १९४२ई० को कांग्रेस कार्यकारिणी के समस्त सदस्यों सहित महात्मा गाँधी को बन्दी बना लिया गया। अन्य कांग्रेसी नेता भी तीन-चार दिन के अन्दर कारावास में डाल दिए गए। फलत: जनता नेता रहित हो गई और सरकार की नीति के विरुद्ध हड़ताल, जुलूस और सभाओं का आयोजन किया। शान्तिपूर्ण प्रदर्शन के उत्तर में सरकार ने अधिकांश स्थानों में दफा १४४ लगा दी, कर्फ्यू लगा और सभाओं पर प्रतिबन्ध भी लगा दिया गया। गोलियाँ और लाठियाँ चलीं और शान्ति स्थापना का दायित्व ब्रिटिश और गुरखा फौज को दे दिया गया। इस आतंक के कारण जनता की हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ बलवती हो गईं। कुछ जनता ने टेलीफोन, टेलीग्राफ के तार, व रेल की पटरियाँ,

पोस्ट-आफिस, रेलवे स्टेशन, सरकारी भवन इत्यादि को जलाना, उखाड़ना आदि शुरू किया । नौकरशाही ने अपनी सशस्त्र सेना की सहायता से अमानुषिक और बर्बर व्यवहार करके आन्दोलन का दमन तो कर दिया, किन्तु यह स्पष्ट हो गया कि भारतीय जनता ने ब्रिटिश शासन का अन्त करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है । जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया, अरुणा आसफअली आदि समाजवादी नेताओं ने गुप्त रूप से हिंसक कार्यों का प्रचार किया । उसी समय देश में अप्राकृतिक अकाल उत्पन्न करके भारतीयों को असमय में काल के गाल में ढकेल दिया गया । किन्तु गोरे महाप्रभु उस संकट की स्थिति से अनभिज्ञ हो बने रहे । मूल्य-नियंत्रण (कण्ट्रोल) की समस्याओं का समाधान किए बिना ही कण्ट्रोल -व्यवस्था लागू कर जनता की स्थिति को शोचनीय कर दिया गया और चोर-बाजारी और मुनाफाखोरी को प्रोत्साहन देकर पूंजीपतियों का एक ऐसा वर्ग तैयार करने का प्रयत्न किया जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद का पोषक था । अंग्रेज़ शासक देश की आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था पर आधिपत्य करके ही सन्तुष्ट न हुए उन्होंने जनता के मन और मस्तिष्क पर भी शासन करने का प्रयत्न किया । अतः समाचारपत्रों और राष्ट्रीय प्रकाशनों पर कागज़ की कमी की ओट में प्रतिबन्ध लगा दिया । किन्तु वे देश की आत्मा पर आधिपत्य करने में सदैव असमर्थ रहे । शासकों ने कांग्रेस को देश की प्रतिनिधि संस्था मानने से इन्कार करने के साथ ही विदेशों में यह प्रचार भी किया कि भारत में साम्प्रदायिक गृहयुद्ध हो रहा है । ऐसी स्थिति में किसी पार्टी को सत्ता हस्तान्तरित करना उचित न होगा । सरकार के इस मन्तव्य का कारण कांग्रेस और लीग का पारस्परिक मनमुटाव था । इस मनोमालिन्य के पीछे भी ब्रिटिश सत्ताधारियों का ही हाथ था ।

अक्टूबर सन् १९४३ई० में लार्ड वेवल भारत के वाइसराय हुए । इस समय द्वितीय महासमर का अन्त हो चुका था और सुभाषचन्द्र बोस की 'आजाद हिन्द फौज' का निर्माण । भारत को लगभग सौ वर्षों के निरन्तर संघर्ष के बाद अपनी खोई हुई स्वाधीनता के वापस मिलने की आशा सत्य

में परिणत होती दृष्टिगत होने लगी। क्योंकि आम चुनाव के परिणामस्वरूप इंगलैण्ड में मजदूर दल की सरकार स्थापित हो गई और चर्चिल के स्थान पर एटली इंगलैण्ड के प्रधानमन्त्री बने । २१ मार्च सन् १९४५ ई० को लार्ड वेवल भारत की राजनीतिक समस्या को सुलझाने के लिए ब्रिटिश मंत्रिमण्डल से परामर्श करने इंगलैण्ड गए और जून में वहाँ से लौटने पर 'वेवल योजना' प्रस्तावित की । वेवल योजना पर विचार-विमर्श करने और शिमला सम्मेलन (२५ जून सन् १९४५ ई०) में सम्मिलित होने के लिए १४ जून सन् १९४५ ई० को कांग्रेस कार्य-कारिणी के समस्त सदस्य कारागार से मुक्त कर दिए गए । शिमला सम्मेलन में भारत के सभी राजनीतिक नेता आमंत्रित थे । किन्तु जिन्ना की हठधर्मी के कारण शिमला-सम्मेलन असफल रहा । तत्पश्चात् अगस्त सन १९४५ई० में लार्ड वेवल ने दिल्ली में गवर्नरों की एक सभा में भारत में सामान्य निर्वाचन करवाने का निश्चय किया । प्रान्तीय विधान सभाओं के इन नव-निर्वाचन में कांग्रेस को शानदार विजय हुई और प्रान्तों में कांग्रेस मंत्रिमण्डल बने । बंगाल और सिन्ध में मुस्लिम लीग मंत्रि-मण्डल बनाने में सफल हुई । इसी समय भारत की स्वतन्त्रता के समर्थक लार्ड एटली ने यह घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार जून सन् १९४८ई० के पूर्व किसी उत्तरदायी सरकार को भारत का शासन सौंप कर भारत छोड़ देगी । अप्रैल सन १९४६ ई०में मुस्लिम लीग ने अपने दिल्ली अधिवेशन में पाकिस्तान की मांग की एवं अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए जुलाई सन् १९४६ ई० में 'सीधी कार्यवाही' (डायरेक्ट एक्शन) का प्रस्ताव स्वीकार किया । मंत्रिमण्डल मिशन (कैबिनट मिशन) ने कांग्रेस और लीग के मध्य समझौता कराने का यथाशक्ति यत्न किया । परन्तु मुस्लिम लीग देश-विभाजन के सिद्धान्त पर दृढ़ रही । अत: कैबिनेट मिशन ने अपनी ओर से भारतीय वैधानिक समस्या के समाधान के लिए १६ मई सन १९४६ई० में एक योजना प्रकाशित की । किन्तु यह योजना भारत के किसी भी राजनीतिक दल को सन्तुष्ट न कर सकी । फिर भी ६ जून को लीग ने और २५ जून को कांग्रेस ने कैबिनेट मिशन योजना स्वीकार कर ली । योजना के

अनुसार निर्वाचन में कांग्रेस की विजय से जिन्ना निराश हुए । अतः २६ जुन सन् १९४६ई० को होने वाली संविधान परिषद् की प्रथम बैठक में भी मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि सम्मिलित नहीं हुए । मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान के लिए अलग संविधान की मांग की । कैबिनेट मिशन योजना के आधार पर लार्ड वेवल ने अन्तरिम सरकार बनाने का प्रस्ताव रखा । किन्तु कांग्रेस के राष्ट्रीय स्वरूप पर आघात होने के कारण यह प्रस्ताव कांग्रेस द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया । २२ जुलाई सन् १९४६ ई० को लार्ड वेवल ने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसमें कार्यकारिणी परिषद् के चौदह सदस्यों में से छः कांग्रेस के (एक परिगणित जाति के) और पांच मुस्लिम लीग के सदस्यों की व्यवस्था की गई थी । कांग्रेस को राष्ट्रीय मुसलमान सदस्य मनोनीत करने की छूट दिया जाना लीग को मान्य न था । अतः उसने योजना को अस्वीकार कर दिया । कांग्रेस ने योजना स्वीकार करके लीग की इच्छा के विरुद्ध २ सितम्बर सन् १९४६ ई० को श्री जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में अन्तरिम सरकार की स्थापना की । राष्ट्रीय सरकार के अन्य सदस्य सरदार पटेल, डा० राजेन्द्र प्रसाद, मि० आसफ अली, चक्रवर्ती राज गोपालाचारी, श्री शरतचन्द्र बोस, डा० जान मथाई, सरदार बलदेव सिंह, सर शफात अहमद खां, श्री जगजीवन राम, सैयद अली जहीर और श्री सी०एच० भाभा थे । लार्ड वेवल के अनुरोध पर लीग अन्तरिम सरकार में प्रविष्ट होने के लिए तैयार हो गई । किन्तु इस प्रवेश का लक्ष्य अन्तरिम सरकार को सफल बनाना नहीं था, अपितु उसके कार्यों में अड़ंगा डालना था । लीगी सदस्यों ने पंडित नेहरू का नेतृत्व स्वीकार नहीं किया और अपनी असहयोग नीति के द्वारा देश के विभिन्न भागों में साम्प्रदायिक दंगों को प्रोत्साहन दिया । संविधान सभा का पुनः बहिष्कार करके भी लीग अन्तरिम सरकार में पूर्ववत् बनी रही । ब्रिटिश प्रधान मंत्री लार्ड एटली की घोषणा से असहमत होने के कारण लार्ड वेवल ने अपना त्याग-पत्र दे दिया और उनके स्थान पर मार्च सन् १९४७ई० में लार्ड माउण्टबेटन वायसराय होकर दिल्ली

आए । भारत की राजनीतिक समस्या को सुलझाने के उद्देश्य से भारतीय नेताओं से विचार-विमर्श करके वह मई मास में इंगलैण्ड गए और वहां से वापस आने पर ३ जून सन् १९४७ई० को एक योजना प्रस्तावित की । माउण्ट बैटन की योजना के आधार पर ही ब्रिटिश संसद ने २७ जुलाई सन् १९४७ई० को भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम (इण्डियन इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट) स्वीकृत किया । इस अधिनियम के द्वारा पन्द्रह अगस्त सन् १९४७ई० को भारत दो भागों में विभाजित कर दिया गया -- हिन्दुस्तान और पाकिस्तान जो अपने में स्वतन्त्र राष्ट्र घोषित किए गए ।

लार्ड माउण्ट बैटन अपनी कूटनीतिक चालों से हिन्दू और मुसलमान दोनों के विश्वास-पात्र बन गए । भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् वह पुन: भारत के गवर्नर जनरल निर्वाचित हुए और जून सन् १९४८ई० तक इस पद पर कार्य करते रहे । इसी बीच आक्रमणकारियों ने काश्मीर पर आक्रमण किया । काश्मीर भारत में सम्मिलित हो गया तथा उसका मामला संयुक्त राष्ट्र संघ के सामने ले जाया गया । साम्प्रदायिक दंगों के कारण भारत और पाकिस्तान में पर्याप्त मात्रा में रक्तपात हुआ । भारत से पाकिस्तान और पाकिस्तान से भारत जनसंख्या का सामूहिक निष्कासन हुआ ।

स्वतन्त्र भारत की प्रमुख समस्या देशी राज्यों के विलयन की समस्या थी, जिसे गृहमंत्री सरदार पटेल ने दृढ़ता से सुलझाया । श्री गाडगिल ने सरदार पटेल के इस कृत्य की सराहना की है[१] । इसी समय आज़ाद

---

१ 'सरदार पटेल ने भारत की भलाई के लिए वही किया, जो ८० वर्ष पूर्व डलहौजी ने उसकी बुराई के लिए किया था । यदि महात्मा गांधी हमारी स्वतन्त्रता के निर्माता हैं तो सरदार पटेल भारतीय संघ के विश्वकर्मा हैं ।'

लौह पुरुष सरदार बल्लभ भाई पटेल -- दीनानाथ व्यास 'काव्यालंकार' शासकों का शासक, पृ०५०४ ।

काश्मीर का निर्णय हुआ और साम्प्रदायिक फगड़े के कारण नाथूराम गोडसे ने ३० जनवरी सन् १६४८ ई० को राष्ट्र पिता महात्मागांधी को गोली मार दी । २३ सितम्बर सन् १६४६ ई० को हदराबाद के विरुद्ध पुलिस कार्यवाही की गई और २५ जनवरी सन् १६५० ई० से भारत में गणतंत्रात्मक व्यवस्था के अनुसार शासन स्वीकृत हुआ । भारत के प्रथम स्वतन्त्र मंत्रिमण्डल का निर्माण कांग्रेस ने किया और पं० जवाहरलाल नेहरू स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री तथा डा० राजेन्द्रप्रसाद राष्ट्रपति घोषित किए गए । सम्पूर्ण भारत ने निर्विरोध अपने नेताओं को अपना पथ प्रदर्शक समझकर कानों और अपने देश की उन्नति के समस्त कार्य करने के अधिकार हस्तान्तरित कर चैन की सांस ली । इन सौ वर्षों के ब्रिटिश शासन का पर्यवेक्षण करने के उपरान्त हम दो निष्कर्षों पर पहुंचते हैं-- एक तो प्रजातंत्र की सैद्धान्तिक परिकल्पना और ब्रिटिश शासन में उसका व्यावहारिक रूप और दूसरे भारतवासियों का नूतन आलोक में जागरण, दासत्व के प्रति विद्रोह और स्वातन्त्र्य भावना का अभ्युदय । ब्रिटिश शासन-काल में जहां एक और साम्राज्यवादी शोषण -नीति क्रियाशील रही वहां बर्क, मनरो, एलफिनस्टोन मैटकाफ तथा मैलकम जैसे व्यक्तित्व भी थे, जिन्होंने अपनी ही जाति की क्रूरता की आलोचना की ।

इस प्रकार सन् १८५०-१६५०ई० के मध्य भारत की राजनीतिक गतिविधियों का विश्लेषण करने से स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्र के दैनन्दिन जीवन से शासन-नीति का घनिष्ठ सम्बन्ध इस युग में जुड़ गया है । जीवन के प्रत्येक पक्ष में शासन-नीति अपना अमिट प्रभाव डालती है । शिक्षा, अर्थ, धर्म और समाज-सुधार, सेना और संदीप में सम्पूर्ण शासन-नीति का दैनिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण विषय केप्रत्येक पक्ष को समझने और उसपर दृष्टिपात करने के लिए उस कुछ नीतियों का सविस्तार विश्लेषण एक प्रकार से आवश्यक हो जाता है । अत: आगे के कुछ पृष्ठों में शासन की प्रत्येक नीति पर अलग-अलग प्रकाश डाला गया है ।

(ख) विविध नीतियाँ

शासन-नीति

मन्त्रिमण्डलात्मक शासन-पद्धति के में विश्वास करने वाले अंग्रेजों ने जब देश-देशान्तर में अपने उपनिवेश स्थापित किये तब वहाँ की शासन-पद्धति को भी पूर्णत: अपने अनुरूप बनाने का प्रयास किया। इंगलैण्ड एक स्वतन्त्र देश था और उपनिवेश उसके आधीन थे। अत: उपनिवेशों की शासन-पद्धति पर इंगलैण्ड की शासन-पद्धति का प्रभाव होने पर भी शासकों की स्वार्थ भावना ने उसे जन-कल्याणकारी न रहने दिया। नौकरशाही ने अपने अधिकारों के मद में शोषण और दमन का जो नग्न नृत्य किया, उसने मंत्रिमण्डलात्मक शासन को निरंकुश राजतंत्र का रूप दे दिया।

सन् १८५८ ई० में भारत का शासन ब्रिटिश ताज के आधीन होने पर, भारत जैसा विशाल देश भी अन्तर्राष्ट्रीय जगत में ब्रिटिश ताज के एक उपनिवेश के रूप में ही माना जाने लगा। यहाँ की शासन-नीति भी अंग्रेज साम्राज्यशाही के नियन्त्रण में आ गई थी। किन्तु वैचारिक दृष्टि से प्रजातंत्र के समर्थक होने पर भी भारत में आए गवर्नर जनरल और वाइसराय अपनी लोकतांत्रिक दृष्टि को स्थायी नहीं रख सके। भारत-भूमि में प्रवेश करने के साथ ही वह साम्राज्यवाद के पोषक बनकर भारत में राज्य भी करते थे और शासन भी। शासन-तंत्र एक ही होने पर भी गवर्नर जनरलों के व्यक्तित्व और उनके अपने सिद्धान्तों और आदर्शों के अनुरूप उनकी शासन-पद्धति में निरन्तर परिवर्तन होता रहता था। उल्लेखनीय यह है कि लार्ड डलहौजी से लेकर लार्ड माउण्ट बेटन तक जितने भी उदार और अनुदार वाइसराय व गवर्नर जनरल भारत में आए, उनकी शासन-नीति मूल रूप में साम्राज्य विस्तार की ही रही। इतना अवश्य है कि कैनिंग, रिपन, हार्डिंज आदि उदार वाइसरायों के काल में शोषण और दमन का भीषण प्रभाव न रहा, किन्तु लार्ड लिटन, कर्जन, इरविन, विलिंगटन

आदि अनुदार और कठोर कार्रवाइयों ने इन कर्मों को पूरा कर ब्रिटिश साम्राज्यशाही की क्रूरता का अच्छा परिचय दिया ।

देश की आन्तरिक शासन-नीति के समान ही विदेश नीति के सम्बन्ध में भी अंगरेज़ों ने साम्राज्यवादी नीति का ही अनुसरण किया । भारत की प्रमुख शक्तियों को अपने साम्राज्य में मिलाने के पश्चात् अंगरेज़ों की वक्र दृष्टि निकटस्थ देशों पर पड़ी और यांडूब की संधि (सन् १८२६ई०) द्वारा कम्पनी का साम्राज्य विस्तार हो गया । जिन व्यापारिक सन्धियों के माध्यम से अंगरेज़ों ने भारत में प्रवेश किया था, उन्हीं संधियों के आवरण में बर्मा को भी अधिकृत कर लिया ।

लार्ड विलियम बैंटिंक के के समय (सन् १८२८-३५ई०) में रूस द्रुतगति से पूर्व की ओर बढ़ने का प्रयास कर रहा था । अत: बैंटिंक ने उत्तरी पश्चिमी सीमा को सुदृढ़ बनाने के लिए सिन्ध के अमीरों के साथ संधि की और पंजाब केसरी रणजीत सिंह के साथ मैत्री । ज्यों-ज्यों अंगरेजों के राज्य का विस्तार उत्तर-पश्चिम की ओर होता गया, त्यों-त्यों अफगानिस्तान पर उनकी वक्र दृष्टि पड़ती गई । लार्ड आकलैण्ड (सन् १८३७-४२) के समय में जब उत्तर-पश्चिम के स्थल मार्गों से फ़ांस और रूस के आक्रमण का भय हुआ तब शासक वर्ग अफगानिस्तान से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए लालायित हो उठा । बाह्यरूप से तटस्थता की नीति का ढोंग करने पर भी लार्ड आकलैण्ड के ने व्यापारिक उद्देश्य के बहाने एलेक्जण्डर बर्न्स को काबुल भेजा और २६ जून सन् १८३८ई० को अंगरेज, रणजीतसिंह और शाहशुजा (दोस्त मुहम्मद द्वारा अपदस्थ काबुल का शाह) की त्रिकोणीय संधि में यह निश्चय किया गया कि शाहशुजा को काबुल के सिंहासन पर बैठाया जाय और वह रणजीत सिंह और अंगरेज़ों की स्वीकृति के बिना किसी विदेशी शक्ति से सम्बन्ध न रखे और यदि कोई सेना अफगानिस्तान में प्रवेश करे तो वह उसको रोके । आकलैण्ड की इस योजना के फलस्वरूप प्रथम अफगान युद्ध (सन् १८३८-१८४२) हुआ । अप्रैल सन् १८३९ई० में कन्धार और जुलाई में गजनी पर अंगरेज़ों का आधिपत्य हो जाने से दोस्त मुहम्मद जैसे लोकप्रिय शासक को काबुल छोड़कर

आत्मसमर्पण कर देना पड़ा । वह बन्दी बनाकर कलकत्ता भेज दिया गया, किन्तु वीर और स्वतन्त्रता प्रेमी अफगान जाति ने शाहशुजा को शासक के रूप में स्वीकार नहीं किया । और अंग्रेज़ों के हस्तक्षेप से क्रुद्ध होकर अफगान जनता ने विद्रोह कर दिया । नवम्बर सन् १८४१ई० के लगभग ही अफगानों ने बर्न्स के निवासस्थान पर आक्रमण कर उनकी हत्या कर दी । दोस्त मुहम्मद के पुत्र मुहम्मदखां ने अफगानों का नेतृत्व ग्रहण किया । स्थिति उत्तरोत्तर बिगड़ती ही गई । प्रान्त में अकबर खां से समझौता होने पर ब्रिटिश सेनाओं ने वहां से प्रस्थान किया ।

सन् १८४२ में लार्ड ऐलनबरो ने (गवर्नर जनरल) प्रथम अफगान युद्ध का अन्त कर भारतीय साम्राज्य और ब्रिटिश सेना को आघात से बचाने के उद्देश्य से सेनाओं को अफगानिस्तान से वापस बुलाने का निश्चय किया। लाहौर संधि के उपरान्त अंग्रेज रेजिमेण्ट के सिक्ख-शासन में हस्तक्षेप करने के कारण सन् १८४८-४९ में द्वितीय सिक्ख युद्ध हुआ । पंजाब को कम्पनी के राज्य में सम्मिलित करने के उपरान्त डलहौजी ने सिक्खों पर विजय प्राप्त कर सन् १८४९ई० में उसे अंग्रेजी राज्य में मिला लिया । उत्तर-पश्चिम में कम्पनी के राज्य की प्राकृतिक सीमाओं का निर्धारण करने के उपरान्त डलहौजी ने बर्मा को अंग्रेजी राज्य में मिलाने का प्रयास किया, जिसके परिणामस्वरूप सन् १८५२ में बर्मा का द्वितीय युद्ध हुआ । अंग्रेज़ों ने रंगून को नृशंसता पूर्ण ढंग से लूटा और लगभग एक माह पश्चात् दक्षिण बर्मा पर अधिकार कर लेने पर भी उत्तरी बर्मा की ओर बढ़ने का साहस न किया । २० दिसम्बर की घोषणा द्वारा पीगू प्रान्त को अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया गया ।

सन् १८५७ की क्रान्ति से अंग्रेज़ों का ध्यान आन्तरिक शान्ति और सुव्यवस्था की ओर आकर्षित हुआ । इस समय विदेश नीति गौण थी । किन्तु सन् १८६४ में जब लारेन्स भारत का गवर्नर जनरल होकर आया तब उसे भूटान के साथ ही कबीलों की समस्या, अफगानिस्तान और मध्य एशिया की समस्या का सामना भी करना पड़ा । कबाइलियों के सम्बन्ध में उसने तटस्थता और निर्हस्तक्षेप की नीति का अनुसरण किया और

अफगानिस्तान और मध्य एशिया के सम्बन्ध में उसकी नीति अकर्मण्यता की थी । रूस के मध्य एशिया की और बढ़ने से वह चिन्तित न था, किन्तु वह रूस और ब्रिटिश सरकार के प्रभाव क्षेत्र निश्चित कर देना चाहता था । उसकी इस अकर्मण्यता की नीति का अनुसरण उसके उत्तराधिकारी लार्ड मेयो और लार्ड नार्थब्रुक ने किया ।

सन् १८७१ई० में अफगानिस्तान तथा रूस ने ब्रिटिश सरकार द्वारा निर्धारित एक सीमा-रेखा को स्वीकार कर लिया । लार्ड मेयो के प्रयत्न से बिलोचिस्तान तथा फारस के बीच सीमा निर्धारित हो जाने से दोनों राज्यों के सीमा सम्बन्धी संघर्ष भी समाप्त हो गये । लार्ड नार्थब्रुक (सन्१८७२-७६) के समय में रूस अफगानिस्तान की ओर बढ़ रहा था । फलत: अफगानिस्तान के अमीर शेरअली ने चिन्तित होकर अंग्रेजों के साथ संधि का प्रयत्न किया ।

सन् १८७४ई० में इंगलैण्ड में अनुदारदलीय मंत्रिमण्डल के निर्माण के साथ ही भारत की नौकरशाही की नीति में भी परिवर्तन हुआ । अनुदार दलीय मंत्रिमण्डल अग्रगामी नीति का समर्थक होने के कारण अफगानिस्तान में एक ब्रिटिश रेजिमेण्ट रखना चाहता था । लार्ड नार्थ ब्रुक ने इस नीति का विरोधी होने के कारण अपना पद त्याग दिया और इंगलैण्ड चला गया ।

सन् १८७६ई० में अग्रगामी नीति का समर्थक लार्ड लिटन अफगानिस्तान के सम्बन्ध में एक निश्चित योजना बनाकर भारत आया । वह अफगानिस्तान को विभाजित करने के पक्ष में था, जिससे वह कभी प्रबल न हो सके । अफगानिस्तान के एक ओर रूस था तो दूसरी और ब्रिटेन । लार्ड लिटन ने शेरअली से ब्रिटिश राजदूत का स्वागत करने का अनुरोध किया । २७अगस्त सन् १८७८ई० को जब लिटन का पत्र काबुल पहुँचा तब शेरअली अपने द्वितीय पुत्र अब्दुल्ला जान की मृत्यु से शोकाकुल था । शेरअली के उत्तर में विलम्ब होने के कारण सर नेवाइल चेम्बरलेन को एक मिशन पर पेशावर भेजा गया । किन्तु उसे अली मस्जिद से आगे न बढ़ने दिया गया । नवम्बर सन् १८७८ई० में लिटन ने अमीर से यह माँग की कि वह ब्रिटिश सरकार से क्षमा माँगे और ब्रिटिश स्थायी राजदूत का स्वागत

करे । शेरअली से उत्तर न मिलने पर ब्रिटिश सेनाओं ने अफगानिस्तान में प्रवेश किया । शेरअली ने रूस से सहायता मांगी, किन्तु सहायता के अभाव में सन् १८७९ ई० में शेरअली का देहान्त होने के पश्चात् उसके पुत्र याकूब खां ने गान्डमक की संधि (सन् १८७९) में यह स्वीकार किया कि वह विदेश नीति में ब्रिटिश सरकार के परामर्श और उसकी इच्छानुसार ही कार्य करेगा । काबुल में स्थायी रूप से ब्रिटिश रेजिमेण्ट रखने देने के साथ ही उसने कुर्रम के दर्रे को भी ब्रिटिश सरकार को देने का वचन दिया । अतः ब्रिटिश सरकार ने उसे काबुल का अमीर बनाकर धन-जन से उसकी सहायता की और अफगानिस्तान से अपनी सेनाएं हटाने का निश्चय कर लिया । किन्तु यह समझौता क्षणिक था । ब्रिटिश रेजिमेण्ट मेजर कैवेगनरी के काबुल पहुंचने के लगभग डेढ़ माह के अन्दर स्वतन्त्रता प्रेमी अफगान जाति ने उसकी हत्या कर दी । क्रुद्ध होकर लिटन ने अपनी सेनाएं अफगानिस्तान भेजी । अक्टूबर माह में चारासियाब नामक स्थान पर अफगानों की पराजय हुई और याकूब खां बन्दी बना लिया गया । इस प्रकार द्वितीय अफगान युद्ध की घटनाओं ने लिटन को अफगानिस्तान को विभाजित करने की अनुकूल परिस्थितियां प्रदान कीं । दोस्त मोहम्मद का पौत्र अब्दुर्रहमान, जो रूसी सरकार के यहां कैदी के रूप में रह रहा था; परिस्थितियों से लाभान्वित होने के उद्देश्य से सन् १८८०ई० में अफगानिस्तान आया । लार्ड लिटन ने उसे अफगानिस्तान का अमीर बनाने का निश्चय कर लिया था किन्तु इस कृत्य के सम्पादित होने के पूर्व ही इंगलैण्ड की राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन के फलस्वरूप लार्ड लिटन को वापस बुला लिया गया और उसके स्थान पर लार्ड रिपन भारत का गवर्नर जनरल और वायसराय होकर आया । उसने अब्दुर्रहमान को अफगानिस्तान का अमीर स्वीकार कर लिया । साथ ही अमीर ने यह वचन दिया कि इंगलैण्ड के अतिरिक्त अन्य किसी विदेशी शक्ति के साथ राजनीतिक सम्बन्ध न रखेगा । उसने पिशिन तथा सिबी के जिले भी अंगरेजों के अधिकार में छोड़ दिये । अंगरेजों ने भी अमीर को वचन दिया कि विदेशी आक्रमण होने पर वे उसकी सहायता करेंगे और अफगानिस्तान के किसी भी भाग में ब्रिटिश रेजिमेण्ट रखने का प्रयत्न न किया जायगा । ब्रिटिश सेनायें अफगानिस्तान से हटा ली गईं । अब्दुर्रहमान ने

अपने प्रतिद्वन्द्वी अयूब खां को परास्त कर कन्धहार और हिरात पर अधिकार कर लिया और अफगानिस्तान में पुन: राजनीतिक एकता स्थापित हो गई ।

सन् १८८७ई० में अफगानिस्तान और रूस के मध्य पंजदेह की समस्या चल रही थी । सन् १८८७ई० में अफगानिस्तान तथा रूस का सीमा सम्बन्धी झगड़ा समाप्त हो गया और दोनों देशों के बीच सीमा-रेखा निर्धारित हो गई , जिसे दोनों देशों ने एक समझौते पर हस्ताक्षर कर स्वीकार कर लिया ।

पूर्वी सीमा पर साम्राज्यवाद की नीति का अनुसरण करते हुए लार्ड डफरिन के बर्मा के शेष भाग को अधिकृत करने का प्रयास करने पर सन् १८८५ में तृतीय बर्मा युद्ध का सूत्रपात हुआ । बर्मा के राजा थीबा के ब्रिटिश राजदूत का उसके आशानुरूप स्वागत न किया और अंग्रेज व्यापारिक कम्पनी पर दण्ड के रूप में जुर्माना करने के साथ ही जर्मनी, इटली और फ्रांस के साथ व्यापारिक-संधि-वार्ता की जिसे ब्रिटिश सरकार सहन न कर सकी । थीबा से दण्ड सम्बन्धी जांच करने का अनुरोध करने के साथ ही कुछ अनुचित मांगें भी की गई , जिसे उसने अस्वीकार कर दिया । अत: लार्ड डफरिन की आज्ञा प्राप्त करते ही रंगून में एकत्रित अंग्रेजी सेनाओं ने उत्तरी बर्मा की ओर कूच किया । बर्मी निवासी इसके लिए तैयार न थे । अत: अंग्रेजी सेनाएं निर्विरोध बढ़ती गयीं । सेनाओं के राजधानी में प्रवेश करने के उपरान्त नि:सहाय राजा ने आत्म समर्पण कर दिया और पहली जनवरी सन् १८८६ई० को उत्तरी बर्मा ब्रिटिश साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया । लार्ड डफरिन के शासन-काल में ही तिब्बत ने सम्पूर्ण सिक्किम पर आधिपत्य करने का प्रयास किया और अंग्रेजी सरकार द्वारा संरक्षित पर्वतीय मार्गों पर अधिकार कर लिया । फलत: सन् १८८८ ई० में अंग्रेजों ने तिब्बतियों को वहां से निकाल कर सिक्किम पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया । सन् १८८८ ई० में लार्ड लैंसडाउन भारत का गवर्नर जनरल और वायसराय होकर आया । वह अग्रगामी

नीति का समर्थक था । इसके शासन-कालमें उत्तरी-पूर्वी तथा पूर्वी सीमा पर ब्रिटिश अंतर्गत प्रान्तों को बढ़ाने तथा उनकी सीमायें निर्धारित करने का कार्य किया गया । अत: अंग्रेजों के प्रभाव क्षेत्र में सिक्किम और चटगांवसे उत्तर-पूर्व के पर्वतीय प्रदेश आगये । इरावदी नदी के पार शान तथा करेनों की रियासतें जो बर्मा की पूर्वी सीमा पर स्थित थीं, अंग्रेजों के अधिकार में आ गयीं । अफगानिस्तान और ब्रिटिश साम्राज्य के मध्य स्थित कबाइली क्षेत्र में भी लैंसडाउन ने अपने पग बढ़ाये और बोलन दर्रे तक रेलवे लाइन का निर्माण कर दिया । अफगानिस्तान का अमीर कबाइली क्षेत्र में अंग्रेजों के प्रवेश का इच्छुक न था, क्योंकि वह उसे दोनों के मध्य एक पर्दा मानता था । अत: लैंसडाउन की अग्रगामी नीति ने ब्रिटिश सरकार और अफगानों के मध्य मनोमालिन्य उत्पन्न कर दिया । ब्रिटिश सरकार ने डूरेण्ड की अध्यक्षता में एक शिष्टमण्डल अफगानिस्तान भेजा । दोनों पक्षों के समझौते द्वारा यह निश्चित हुआ कि अमीर सीमा स्थित कबाइलियों के क्षेत्र में हस्तक्षेप न करेगा । सीमा-रेखा अंग्रेज और अफगान कमिश्नरों द्वारा जहाँ सम्भव होगा वहाँ निश्चित कर दी जायगी । भारतीय सरकार ने भी अमीर को वचन दिया कि वह अमीर के गोला-बारूद लेने पर कोई आपत्ति न करेगी । उसकी आर्थिक सहायता भी बारह लाख रुपये से बढ़ाकर अट्ठारह लाख रुपये कर दी जायगी । समझौते के परिणामस्वरूप दोनों देशों में मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो गये । पूर्व में आसाम के पर्वतीय प्रदेश में स्थित मनीपुर के शासक की मृत्यु होने से वहाँ उत्तराधिकार के लिए संघर्ष हुआ और सम्पूर्ण राज्य ब्रिटिश सरकार के संरक्षण में आगया । किन्तु मनीपुर को ब्रिटिश साम्राज्य में सम्मिलित करने के स्थान पर राजवंश के एक अल्पवयस्क बालक को सिंहासनारूढ़ कर उसकी सहायता के लिए एक ब्रिटिश पोलिटिकल एजेण्ट की नियुक्ति कर लैंसडाउन ने मनीपुर के स्वतन्त्र राज्य में अपनी कूटनीति के माध्यम से प्रवेश के लिए मार्ग निकाल लिया ।

भारत की उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर स्थित 'कलात' अंग्रेजों के संरक्षण में था । वहाँ के खान ने जब सन् १८९३ ई० में अपने वजीर और

उसके सातों पुत्रों की हत्या करवा दी तो खान की सरकार ने उसके कृत्यों का उत्तर देने के लिए क्वेटा बुलवाया और कलात के सरदारों की सम्मति से उसे राज्य त्यागने के लिए विवश कर उसके पुत्र को सिंहासनासीन किया एवं कलात के विद्रोह को अपनी कूटनीति से शान्त किया ।

सन् १८९८ ई० में लार्ड कर्जन भारत आया, उसने कबाइलियों के उपद्रव को शान्त करने के लिए 'शान्ति पूर्वक प्रवेश' की नीति का अनुसरण किया । मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हुए उसने धीरे-धीरे ब्रिटिश सेनाएं हटाकर उनके स्थान पर कबाइलियों की सेनाओं को अंग्रेज़ अधिकारियों के संरक्षण में रखा । सन् १९०१ई० में उसने उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर एक प्रान्त स्थापित करके शासन के लिए एक कमिश्नर नियुक्त कर दिया । कबाइली क्षेत्र सम्बन्धी नीति उसकी सफल रही । फलतः उसके उत्तराधिकारियों ने भी कबाइली क्षेत्र के सम्बन्ध में उसकी नीति का ही अनुसरण किया । अफगानिस्तान के नये अमीर हबीबुल्ला ने अंग्रेजों से अपने पिता को दी जाने वाली आर्थिक सहायता लेना बन्द कर दिया और तीन वर्षों तक उनके साथ कोई सम्बन्ध न रखा । सन् १९०४ ई० में अमीर और ब्रिटिश सरकार में समझौता हो गया । अमीर को पहले से अधिक सुविधाएं देने और संधि सम्बन्धी उसके दृष्टिकोण को स्वीकार कर लेने के परिणामस्वरूप दोनों राज्यों में मैत्री हो गई । फारस की खाड़ी में अंग्रेजों के प्रभाव को बढ़ाने के उद्देश्य से लार्ड कर्जन ने खाड़ी के बन्दरगाहों तथा देश के भीतरी व्यापारिक केन्द्रों में दूतावास स्थापित किए । तिब्बत का शासक भी रूस से घनिष्ठता बढ़ाने का प्रयास कर रहा था । अतः मार्च सन् १९०४ई० में ब्रिटिश सेना ने ग्यान्त्से की ओर प्रस्थान किया । भीषण संघर्ष के उपरान्त तिब्बती सेनाओं के पराजित हो जाने पर ब्रिटिश सेना ने ग्यान्त्से में प्रवेश किया । वहां से सेनाएं ल्हासा गयीं और दलाई लामा के प्रतिनिधि से संधि वार्ता कर गत सितम्बर को संधि-पत्र पर हस्ताक्षर किए । इस संधि से तिब्बत की विदेश नीति पर ब्रिटिश सरकार का पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो गया ।

सन् १९०७ ई० में अंग्रेजों का रूस के साथ समझौता हो गया । अफगानिस्तान के सम्बन्ध में रूस ने भारत सरकार के माध्यम से बातचीत करने का निश्चय किया । तिब्बत राज्य की सीमा की दोनों ने आदर की दृष्टि से देखने का निश्चय किया एवं अपने राजदूत सीधे न भेजकर चीन के माध्यम से दोनों राज्यों ने तिब्बत से वार्तायें करने की योजना बनायी । फारस की स्वतन्त्रता और सीमा का सम्मान करते हुए रूस और ब्रिटेन दोनों ने निश्चय किया कि उत्तरी फारस रूस के और दक्षिण फारस अंग्रेजों के प्रभाव क्षेत्र में रहेगा । सन् १९१४ ई० के महासमर के समय भी अफगानिस्तान का अमीर हबीबुल्ला अंग्रेजों का मित्र बना रहा रूस और जर्मनी का दबाव पड़ने पर भी उसने तटस्थता की नीति का ही अनुसरण किया । किन्तु सन् १९१९ में उसकी हत्या के उपरान्त अमानुल्ला (हबीबुल्ला का पुत्र) अफगानिस्तान का अमीर बन गया । वह भारत से मैत्री करना चाहता था, किन्तु अफगानिस्तान के युद्धप्रेमी दल ने उसे भारत के साथ वैमनस्य करने के लिए बाध्य किया और सन् १९१९ई० में तृतीय अफगान युद्ध हुआ । परास्त होने के पश्चात् अमीर अंग्रेजों से संधि करने के लिए विवश था । संधि वार्ता द्वारा उसे आर्थिक सहायता से वंचित कर दिया गया, किन्तु उसकी स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया गया ।

सन् १९२१ई० से भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन और पकड़ता गया । अतः पर राष्ट्र नीति की अपेक्षा आन्तरिक शासन व व्यवस्था की ओर सरकार ने विशेष ध्यान दिया । इसके अतिरिक्त यह कहना अनुचित न होगा कि आन्तरिक शासन के समान ही विदेश नीति के प्रबन्ध में भी सरकार ने अपनी नीति पटुता से समय-समय पर अग्रगामी साम्राज्यवादी नीति और निष्क्रियतावादी या तटस्थता की नीतिका अनुसरण कर उत्तर-पश्चिम सीमा पर अफगानिस्तान, सिन्ध, कलात आदि तथा और उत्तरी-पूर्वी सीमा पर नेपाल, सिक्किम, भूटान, तिब्बत और उत्तरी पूर्वी पर्वतीय मार्गों तक अपना आधिपत्य जमाने के साथ ही बर्मा तक अपने साम्राज्य का विस्तार कर प्राकृतिक और वैज्ञानिक सीमाओं का निर्धारण किया

एवं भारत को चारों ओर से सुरक्षित कर लिया। अंग्रेज शासकों ने साम्राज्यवाद की नीति का अनुसरण कर न केवल अपना साम्राज्य विस्तार किया, वरन् साम्राज्य को सुदृढ़ बनाकर ब्रिटिश साम्राज्यशाही की जड़ों को मजबूत भी किया।

अर्थनीति

अंग्रेजों ने भारत में व्यापारियों के रूप में प्रवेश किया, किन्तु देश की दुरवस्था ने उन्हें व्यापारी से शासक बना दिया। जब व्यापारशाही साम्राज्यशाही में बदल गई तब व्यापारी-शासकों ने आर्थिक शोषण की नीति अपनाई, जिससे राजनीतिक दासता प्राप्त करने पर भी वह भारतीयों को युग-युग तक अपने दासत्व में रख सके। शासन की आधारशिला अर्थ को अपने आधिपत्य में करने के उद्देश्य से हेस्टिंग्ज के समय (११ सितम्बर १८१३ई०) से ही भारत के प्राचीन उद्योग धंधों को नष्ट करना और इंग्लिस्तान के उद्योगधंधों को उन्नति देना अंग्रेजों की भारतीय अर्थ-नीति का एक अंग बन गया। मंडियों की माँग के कारण ब्रिटिश वस्तुओं (कमोडिटीज़) ने भारत की मंडियों से ही भारतीय माल को निकाल फेंका। दस्तकारी का विनाश हो गया और कृषि ही जीवनयापन का एकमात्र साधन रह गई। अतः सन् १८१३ई० का चार्टर ऐक्ट वर्तमान भारत की दरिद्रता और असहायता का मूल कारण कहा जा सकता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इंगलिस्तान के बने हुए कपड़े भारत में लाकर बेचने का विचार अंग्रेज स्वप्न में भी नहीं कर सकते थे, किन्तु आर्थिक साम्राज्यवाद की स्थापना हो जाने से अंग्रेजों को आर्थिक शोषण में सहायता मिलने लगी। उद्योग-धंधों की दृष्टि से विश्व का सबसे उन्नत देश भारत ब्रिटिश शासन-काल में औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ता ही गया। भारतीय जुलाहों का शोषण कर मैनचेस्टर की कपड़ों की मिलों का विकास किया गया और

स्वतन्त्र वाणिज्य के नाम पर यहाँ से सस्ती रुई व ले जाकर मैनचेस्टर के सूती वस्त्र उद्योग का विकास कर भारतीय जुलाहों की आजीविका ही समाप्त कर दी गई । बंगाल पर अंग्रेजों का अधिकार हो जाने के पश्चात् अंग्रेजों ने वहां के बुनकरों पर शासन करना शुरू किया । उन्हें कुछ रुपया पेशगी देकर अंग्रेज माल तैयार हो जाने पर भाव लगाकर माल खरीद लेते थे । जुलाहे अपना माल अन्य किसी के हाथ बेच न सकें, इसलिए कम्पनी कभी-कभी जुलाहों के घर पर पहरा तक बैठा देती थी ।

कम्पनी के कर्मचारी इससे कम्पनी के अधिकार पत्र पर बिना चुंगी के सुपारी, नमक, पान, तम्बाकू आदि का व्यापार करते थे । अधिक लाभ होने के कारण उनकी प्रतिस्पर्धा में भारतीय व्यापारी टिक न सके और धीरे-धीरे सारा व्यापार अंग्रेजों के हाथ में चला गया । प्लासी के युद्ध के आगामी पन्द्रह वर्षों तक कर्मचारियों की यह लूट-खसोट चलती रही । वारेन हेस्टिंग्ज़ ने यहाँ आकर कम्पनी के कर्मचारियों का व्यापार बन्द करा दिया । साथ ही उसने जुलाहों को पेशगी देने की प्रथा भी बन्दकर दी ।

वस्त्र-उद्योग की भांति ही भारत के अन्य प्रमुख उद्योगों का भी विनाश कर कम्पनी ने अपनी कुटिल नीति से भारत को औद्योगिक दृष्टि से पंगु बना दिया । सन् १८३३ई० तक कम्पनी भारत का शासन और व्यापार दोनों करती थी और दोनों का हिसाब एक में मनकन-छोलक-लके रखती थी। अत: जब भी व्यापार में घाटा होता तो वह शासन की सुव्यवस्था के नाम पर ऋण ले लेती थी और उस ऋण का भुगतान भारतीयों को सूद सहित करना पड़ता था । भारतीय धन से ही भारतीय जनता के साथ व्यापार करके उनका शोषण किया जाता था । साम्राज्य विस्तार के लिए मिश्र, ब्रह्मा, अफगानिस्तान , चीन आदि देशों को भेजे गए सैनिकों पर किया गया व्यय भी भारतीयों से ही लिया जाता था । इस प्रकार विदेशी शासकों ने अपनी कुचालों से भारतीयों का आर्थिक शोषण किया और उद्योग -धंधों का अन्त करके आगामी वर्षों के लिए देश को दुर्बल बना दिया ।

सन् १८५७ ई० की क्रान्ति के पश्चात् सत्ता का हस्तान्तरण होने से हमारे आर्थिक जीवन में परिवर्तन हुआ । प्रारम्भ में पार्लियामेण्ट ने भी शोषण की नीति को कुछ परिष्कृतरूप में अपनाया । किन्तु कालान्तर में कुछ नये-नये साधनों का भी प्रयोग किया गया । सन् १८५७ई० के विद्रोह को दबाने में जितना धन व्यय किया गया था, वह राष्ट्रीय ऋण माना गया । अनेक प्रकार के कर लगा दिए गए । भारतीयों के स्थान पर अंग्रेज पदाधिकारी नियुक्त किए जाने से शासन-व्यवस्था सम्बन्धी जो व्यय बढ़ा उसकी पूर्ति भी भारतवासियों को ही करनी पड़ती थी । इंगलैण्ड का कई अरब रुपया द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले भारत पर राष्ट्रीय ऋण के रूप में लद गया । फलतः देश निर्धन होता गया जब कि इंगलैण्ड के कंगाल भी लखपती बन गए ।

शिक्षा के प्रसार ने भारतीयों को उनकी स्थिति से परिचित कराया । फलतः सरकार का संरक्षण न मिलने पर भी भारतीयों ने व्यापार की ओर ध्यान देना आरम्भ कर दिया । कुछ ही दिनों में बम्बई,कलकत्ता आदि स्थानों में कई भारतीय कारखानों के विकास से भारतीय धन का विदेशों में जाना कम होने लगा । द्वितीय विश्वयुद्ध के समय (सन्१६३६-४०ई०), जब इंगलैण्ड के सारे कारखाने युद्ध सामग्री बनाने में व्यस्त थे, इंगलैण्ड ने भारत से कच्चा माल लेना शुरु कर दिया । धनाभाव के कारण सरकार ने कागज के रुपयों में दाम चुकाना शुरु किया फलतः भारत का पुराना ऋण अदा होने के साथ ही इंगलैण्ड पर भारत का लगभग ६४ अरब रुपया ऋण हो गया ।

अंग्रेजों ने हमारे उद्योगधंधों का अन्त करके हमें पूर्णरूपेण कृषि पर ही निर्भर रहने के लिए विवश किया । खेतों के छोटे छोटे टुकड़ों में बंट जाने से कृषि का विनाश हुआ और सरकारी सहायता के अभाव में आर्थिक दशा शोचनीय होती गई । कम्पनी के हाथ में दीवानी का अधिकार जाने से पूर्व लगान की दृष्टि से शासक और उसकी प्रजा में प्रत्यक्ष सम्बन्ध था । जहाँ बहुत बड़ी-बड़ी जागीरें थीं वहाँ जागीरदार स्वयं लगान वसूल करके सरकार को एक निश्चित धनराशि भेज देते थे । किसी-किसी स्थान पर कमीशन पर लगान वसूल

करने वाले ठेकेदार माने जाते थे । जब लगान वसूली का कार्य कम्पनी के हाथ में आया तो कर्मचारियों की अयोग्यता के कारण क्लाइव ने जमींदारों के माध्यम से लगान वसूल करने की व्यवस्था की । जमींदारों के माध्यम से किसानों का जो शोषण किया गया, उसके परिणामस्वरूप उनकी आर्थिक स्थिति शोचनीय होती गई । सन् १७७१ ई० में बंगाल, बिहार और उड़ीसा की लगान वसूल करने का कार्य कम्पनी ने अपने कर्मचारियों के हाथों में देने का निश्चय किया । वारेन हेस्टिंग्ज़ ने सन् १७७२ई० में लगान वसूली के निरीक्षण के लिए एक रेवेन्यु बोर्ड स्थापित किया । अंग्रेज़ कलेक्टरों की नियुक्तियां हुईं और उनकी सहायता के लिए एक भारतीय दीवान रखा गया । हेस्टिंग्ज़ लगभग तेरह वर्षों तक भूमि-व्यवस्था में लगा रहा । अन्त में उसने ठेके की व्यवस्था के स्थान पर पंचसाला प्रबन्ध कर दिया । किन्तु यह व्यवस्था भी सफल न हो सकी, क्योंकि बोली बोलने वाले ठेकेदार किसानों के शोषण के बिना बोली की रकम नहीं दे पाते थे । अंग्रेज कलेक्टर उनके इन कार्यों में सहयोगी होते थे । अतः कलेक्टरों के अधिकार देशी दीवानों को दे दिए गए और उनपर नियंत्रण हेतु एक रेवेन्यु कमेटी खोली गई । तीनों प्रान्तों को छः प्रान्तों में विभाजित करके पांच सदस्यों की एक प्रान्तीय समिति बनाई गई । किन्तु इन सुधारों से विशेष लाभ न हुआ और गृह-सरकार को भूमि का वार्षिक प्रबन्ध करने के लिए आदेश देने पड़े । सन् १७८१ई० में प्रान्तीय समितियों के स्थान पर लगान समिति की स्थापना हुई । जमींदारों को यह आदेश दिया गया कि वे लगान वसूल करके सीधे कलकत्ता कोष में भेज दिया करें । किन्तु भूमि का यह वार्षिक प्रबन्ध एवं केन्द्रीयकरण की नीति भी सफल न हो सकी । जब कार्नवालिस भारत आया तो उसने इस देश में किसानों तथा व्यापारियों को धनहीन होते, प्रजा तथा जमींदारों को दरिद्रता में डूबे और केवल ऋण-दाताओं की उन्नति करते पाया ।[१]

---

[१] रविभानुसिंह नाहर : 'आधुनिक भारत', पृ० ५६८-५८२ ।

सन् १७८६ई० में सर जान शोर ने लगान के विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त पर आधारित राजस्व व्यवस्था की, जिसके अनुसार जिलों को राज्य की इकाई मानकर उन्हें कलेक्टर के अधीन कर दिया गया। तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित होकर कार्नवालिस ने प्रारम्भ में सर जान शोर की व्यवस्था को ही कार्यान्वित किया। कार्नवालिस के सामने भूमि के स्वामित्व और व्यवस्था की अवधि की समस्या थी। उक्त दोनों ही प्रश्नों पर शोर के साथ मतभेद होने पर भी बोर्ड आफ कण्ट्रोल के द्वारा स्थायी प्रबन्ध के पक्ष में निर्णय दिया जाने पर सन् १७९३ई० में कार्नवालिस ने भूमि का स्थाई प्रबन्ध कर दिया। इस प्रबन्ध के पीछे कार्नवालिस का मुख्य उद्देश्य कम्पनी की आय निश्चित करना, ठेकेदारी प्रथा का उन्मूलन कर तत्सम्बन्धी दोषों का अन्त एवं कृषि की उन्नति करना और भारत में अंग्रेजी राज्यके समर्थक के रूप में एक जमींदार वर्ग का निर्माण करना था। भूमि का स्थायी प्रबन्ध एक ओर कृषक वर्ग के पतन का कारण हुआ तो दूसरी ओर विलासी जमींदारों की भी क्षति हुई। बहुत से जमींदार निश्चित लगान अदा न कर सकने के कारण अपनी भूमि को बेच कर सम्पत्ति से वंचित हो जाते थे। इस व्यवस्था से न तो सरकार की आय बढ़ी और न ही कृषि की उन्नति हो सकी। भूमि के प्रति एक उदासीन वर्ग की उत्पत्ति हो जाने से कृषकों को बुरी तरह दबाने के प्रयत्न किए गए।

जमीन्दारों के शोषण से कृषकों को मुक्त करने के लिए सन् १९३८ई० में बंगाल में फ्रांसिस फ्लाउड के सभापतित्व में फ्लाउड कमीशन बैठा। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में स्थायी प्रबन्ध तथा जमीन्दारी प्रथा को दूषित बतलाते हुए रैयतवारी प्रथा लागू करने का परामर्श दिया। किन्तु पराधीन भारत में शासक वर्ग के स्वार्थों के कारण जमीन्दारी उन्मूलन नहीं हो सका।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि विदेशी शासकों ने देश के धन का अपहरण कर युग-युग तक आर्थिक दासत्व को बनाए रखने के उद्देश्य से अपनी कुटिल नीति के द्वारा कृषि, उद्योग और व्यापार सभी क्षेत्रों में जिस

शोषण की नीति का अनुसरण किया उसके दुष्परिणामों से हम आज स्वतन्त्रता प्राप्ति के चौंतीस वर्ष पश्चात् भी पूर्णतया मुक्त नहीं हो सके ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इस शोषण की नीति का अन्त करने के उद्देश्य से जमींदारी प्रथा का उन्मूलन कर दिया गया और सरकारी सहायता प्रदान कर कृषि के विकास के लिए सतत् प्रयत्न किए जा रहे हैं । देश की आय का अधिकांश भाग देश के अन्दर ही रहे इस तथ्य को दृष्टि में रखकर देशी वस्तुओं को प्रोत्साहन देने के हेतु विदेशी वस्तुओं पर चुंगी अधिक लगा दी गई और देशी कारखानों में तैयार वस्तुओं की प्रगति पर सरकार पूर्णरूपेण ध्यान देती आ रही है । किन्तु प्रजातन्त्र के इस युग में भी देश के अन्दर जिस पूंजीवादी वर्ग का उदय हो चुका है, उसके कारण आर्थिक वैषम्य आज भी बना हुआ है । धनी और निर्धन दोनों वर्गों की खाई दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है ।

धर्म और समाज-सुधार सम्बन्धी नीति

धर्म भारतीय जन-जीवन का मूलाधार है । धर्मभीरु भारतीय युग-युग से अपने सामाजिक ही नहीं, वरन् राजनीतिक जीवन में भी धर्म को प्राधान्य देते आए हैं । अपने धर्म पर किसी प्रकार का आक्षेप अथवा हस्तक्षेप उन्हें सह्य नहीं था । नीति-कुशल अंग्रेजों ने जन सामान्य की इस मनोवृत्ति से अवगत होकर ही अपनी धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया । उन्होंने अपने धर्म को बलात् भारतीयों पर न लादकर अपनी नीति कुशलता से भारतवासियों के मन और मस्तिष्क पर शासन किया और अपने विचारों, सिद्धान्तों, आदर्शों और परोक्ष रूप से अपने धार्मिक विश्वासों को शनैः शनैः भारतीय जन-जीवन में उतार कर अज्ञानांधकार में डूबे भारतीयों के जीवन की दिशा ही बदल दी । राजनीतिक दृष्टि से सुदृढ़ होने के पश्चात् जब अंग्रेज महाप्रभुओं ने हिन्दुओं के धर्म को विनष्ट करना चाहा, तो धर्मभीरु भारतीय जनता उनकी खुले रूप से विरोधी हो गई । शासक वर्ग की ईसाई धर्म प्रचार नीति ने धर्म परायण हिन्दू जनता के धार्मिक विश्वासों पर आघात किया । शासकों ने ईसाई धर्म को प्रश्रय दिया और भारत

में ईसाई धर्म के प्रचारार्थ असंख्य मिशनरियाँ खोलीं एवं उनको गुप्त रूप से आर्थिक सहायता प्रदान करना प्रारम्भ किया । हिन्दुओं के उत्तराधिकार, विवाह, सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार आदि में हस्तक्षेप धर्म के क्षेत्र में हस्तक्षेप का पहला कदम था । धार्मिक भावनाओं पर कुठाराघात और सामाजिक परम्पराओं में हस्तक्षेप का दुष्परिणाम सन् १८५७ का प्रथम स्वातन्त्र्य युद्ध हुआ ।

कम्पनी के शासन का अन्त और महारानी

विक्टोरिया की प्रभुता स्थापित होने पर सम्राज्ञी ने समस्त भारतीय प्रजा को धार्मिक कार्यों में हस्तक्षेप न करने का आश्वासन दिया । किन्तु अधिकारी वर्ग की कुटिल नीति ने महारानी के आश्वासन को सफल न होने दिया और प्रतिकूल परिस्थितियों में फँसा विपन्न वर्ग ईसाइयत के शिकंजे को धीरे-धीरे प्रेमपूर्वक निगलने लगा । अतः समाज के उन्नायकों और भारतीय संस्कृति के संरक्षकों --राजाराम मोहनराय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, पं० श्रद्धाराम शर्मा फिल्लौरी ने ईसाइयत के मोह-जाल को काटने तथा भारतीय संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा करने के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिए ।

अशिक्षित भारतवासियों ने अज्ञान के कारण धर्म के जिस विकृत रूप को बढ़ावा दिया था, उसके परिणामस्वरूप देश में रूढ़िवादिता धार्मिक पाखण्ड आदि दिन-पर-दिन बढ़ते जा रहे थे । धर्म के नाम पर अनाचार हो रहा था । सामाजिक कुरीतियाँ-- जैसे बालविवाह, सती प्रथा आदि को प्रोत्साहन मिल रहा था और विधवा विवाह का निषेध कर दिया गया था । धर्म के पर्दे के पीछे घृणित से घृणित कार्य किए जाते थे । अतः सन् १८२९ ई० में सर्वप्रथम लार्ड विलियम बैंटिंग ने सती प्रथा और बाल विवाह का निषेध और विधवा विवाह सम्बन्धी कानून बनाकर हिन्दुओं की रूढ़ धार्मिक-प्रथाओं में हस्तक्षेप किया । इससे एक वर्ष पूर्व ही सन् १८२८ ई० में बंगाल में राजारामनमोहनराय ने ब्रह्म समाज की स्थापना, हिन्दुओं के धार्मिक विचारों में सुधार करने और पूजा-पाठ

आदि को आडम्बर से ऊपर उठाकर सादा और सुग्राह्य बनाने के उद्देश्य से की थी । इसी प्रकार महादेव गोविन्द रानाडे ने बम्बई में प्रार्थना समाज की स्थापना कर एकेश्वरवाद का प्रचार किया और धर्म को कर्मकाण्ड तथा रीति-नीति की शृंखला से मुक्त कराया । सन् १८७५ई० में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना करके सामाजिक समता का संदेश दिया, विधवा विवाह का प्रचार किया और हिन्दू धर्म की रक्षा की । हिन्दुओं को मुसलमान और ईसाई होने से रोककर उन्होंने हिन्दू धर्म को जो स्थायित्व दिया वह अविस्मरणीय है । स्वामी दयानन्द ने आर्यों की वैदिक सभ्यता के प्रतिष्ठापन के लिए जो साहित्यिक और प्रायोगिक कार्य किये वे सराहनीय हैं । दयानन्द का 'सत्यार्थ प्रकाश' आज भी समाज के बहुत बड़े भाग का पथ प्रदर्शन कर रहा है । सन् १९०५ई० में गोपालकृष्ण गोखले ने भारतीयों को राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर करने तथा राष्ट्रीयता की शिक्षा देने का प्रयास किया । सन् १९४०ई० में भारत समाज की स्थापना हुई जो थियोसोफिकल सोसायटी की ही एक शाखा है । इस समाज का भी उद्देश्य हिन्दुओं के रीति-रिवाजों और धार्मिक संस्कारों के साथ-साथ हिन्दू समाज के कर्मकाण्ड में सुधार करना और हिन्दू समाज से कुरीतियों और पाखंडों का उन्मूलन करना था । इससे यह स्पष्ट है कि एक ओर तो भारतीय संस्कृति के उन्नायक हिन्दुओं के स्वत्व की रक्षा के लिए प्रयत्न कर रहे थे और दूसरी ओर शासक वर्ग दलित और शोषित वर्ग को अर्थ और सामाजिक मर्यादाओं का लोभ दिलाकर परोक्ष रूप से अपना धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य कर रहा था । हिन्दू संस्कारों की प्रबलता के कारण अधिकांश हिन्दू दलितावस्था में भी धर्म परिवर्तन के लिए तैयार नहीं हुए । हिन्दू धर्म को स्थायी रखकर उन्होंने अपनी नैतिक दृढ़ता और राष्ट्रीय एकता का परिचय दिया । उन्नीसवीं शताब्दी के इन धार्मिक आन्दोलनों के फलस्वरूप राजनीतिक चेतना की एक लहर देश में सर्वत्र व्याप्त हो गई और जिस जन-जागृति का अभ्युदय हुआ उसने भारतीयों को पराधीनता की शृंखलाओं से मुक्त कर दिया । स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् धर्मनिरपेक्ष शासन की स्थापना कर भारतीय नेताओं ने धर्म के क्षेत्र में तटस्थता की

नीति का अनुसरण किया और प्रत्येक धर्मावलम्बी को अपने धर्म के क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी गई ।

शिक्षा नीति

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सत्तारूढ़ होने के समय मध्य युगीन शिक्षा के प्रतीक स्वरूप कुछ मकतब और मदरसे ही शेष रह गये थे । इन शिक्षा संस्थाओं में व्यावहारिक और वैज्ञानिक शिक्षा का अभाव था । इसलिए कम्पनी के अधिकारियों ने अपनी सत्ता के विस्तार के साथ ही साथ व्यापारिक और प्रशासकीय सुविधाओं के लिए यदा-कदा शिक्षा के क्षेत्र में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया था । किन्तु उन्हें भारत में शिक्षा-प्रसार के प्रति कोई विशेष रुचि नहीं थी ।

सन् १८१३ ई० के कम्पनी के चार्टर की ४३ वीं धारा के अनुसार सर्वप्रथम शिक्षा की व्यवस्था का भार कम्पनी के ऊपर पड़ने से शिक्षा के क्षेत्र में शासक वर्ग का हस्तक्षेप हुआ । तत्पश्चात् लार्ड विलियम बैंटिंग ने सन् १८३५ई० में मैकाले मिनिट्स की स्वीकृति देकर भारतीय शिक्षा को एक निश्चित मोड़ दिया और देशी शिक्षा में आस्था रखने वालों को जन-सामान्य की शिक्षा व्यवस्था के प्रति सशंकित और निराश कर दिया ।

मैकाले का उद्देश्य अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से देशभक्त नागरिकों के स्थान पर राजभक्त नागरिक तैयार करके उन्हें शासन के लिए उपयोगी यंत्र बनाना था । अपने लक्ष्य की सिद्धि हेतु उसने भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में प्राच्य और पाश्चात्य विवाद को खड़ा कर दिया, जिसका अन्त लार्ड ऑकलैण्ड ने अपनी नीति घोषणा से किया । आकलैण्ड केवल उच्च वर्ग को शिक्षित करने के पक्ष में था । उसका विचार था कि उच्च वर्ग के शिक्षित हो जाने के पश्चात् शिक्षा स्वयं ही छन-छन कर निम्न वर्ग तक पहुंच जायेगा । अतः

सन् १८३९ई० में नये शिक्षा के छनने का सिद्धान्त (फिल्ट्रेशन थ्योरी) घोषित किया, जो बैंटिक द्वारा निर्धारित नीति का ही समर्थन था । इस प्रकार जन-साधारण को शिक्षा उस समय तक उपेक्षित ही रही । अधिकारी वर्ग की इस नीति की भारतीयों पर स्वस्थ प्रतिक्रिया न हुई । पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति एवं शिक्षा में आस्था रखने वाले मुट्ठी भर लोग ही इस नीति से प्रभावित हुए । किन्तु जन-सामान्य की उपेक्षा दृढ़ से दृढ़ सत्ता को भी जर्जर कर देती है । इस तथ्य से अवगत होने के कारण ही राजनीति-कुशल शासकों ने कम्पनी के शासन के विस्तार, उसकी सुरक्षा और मूल उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु शिक्षा के क्षेत्र में समन्वय करने का प्रयास किया । कालान्तर में स्थिति को समझकर शासकवर्ग ने धर्म प्रचार के स्थान पर शिक्षा प्रसार के उद्देश्य से भी शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना का निश्चय किया और सन् १८५४ई० में सर चार्ल्स वुड का आदेश-पत्र (मैग्नाकार्टा ऑफ इण्डियन एजुकेशन) भारत आया और सन् १८५७ई० में लन्दन विश्वविद्यालय के नमूने पर कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई ।

इसी वर्ष भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम का प्रथम महायुद्ध हुआ और शासनसत्ता के साथ ही साथ शिक्षा भी कम्पनी के हाथों से निकल कर पार्लियामेण्ट के हाथों चली गयी । सन् १८८२ई० में लार्ड रिपन ने एक आयोग (हंटर कमीशन) की स्थापना की । किन्तु इस आयोग ने भी सन् १८५४ई० के आयोग के सुझावों में ही परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किया । सन् १८५४-८२ई० के मध्य उच्च शिक्षा की प्रगति संख्या की दृष्टि से सन्तोषजनक थी, किन्तु शिक्षा-संस्थाएं केवल परीक्षा संस्थाएं थीं । उच्च शिक्षा के प्रसार के क्षेत्र में वे कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकीं । शिक्षा संस्थाओं की संख्या में वृद्धि के साथ ही शिक्षा का स्तर निम्न होता गया । शिक्षा में रटने की प्रथा और पुस्तकीय ज्ञान पर विशेष बल दिया जाने लगा । शिक्षा का उद्देश्य जीवन में सफलता प्राप्त करना न होकर परीक्षा में सफलता प्राप्त करना हो गया और उसका मूल्य चंद चांदी के टुकड़ों से आंका जाने लगा ।

कर्जनशाही में यद्यपि मैकाले की नीति का परित्याग कर दिया गया और भारतीय भाषाओं को शिक्षा के क्षेत्र में

प्रश्रय मिला, किन्तु उसकी शिक्षा-नीति राजनीति से पूर्णरूपेण प्रभावित थी। अतः राष्ट्रीय नेताओं को इससे बड़ा असन्तोष हुआ। १६ मार्च सन् १९११ई० को गोखले ने अनिवार्य और निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा के सम्बन्ध में अपना विधेयक रखा। किन्तु राज्य-कर्मचारियों और पुराने जमींदारों के विपक्ष में मत देने के कारण विधेयक स्वीकृत न हो सका। श्री गोखले के प्रयत्नों के फलस्वरूप सरकार अब यह समझने लगी कि भारतीय अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का अनुभव करने लगे हैं। अतः सन् १९१२ ई० में सीमा प्रान्त में निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की गई। सन् १९१३-२१ ई० की अवधि में माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में शीघ्र प्रगति हुई तथा शिक्षा का सर्वांगीण विकास हुआ।

सन् १९१४ई० में प्रथम विश्वयुद्ध में भारतीयों ने राज-भक्ति का अच्छा प्रदर्शन किया। अतः युद्ध की समाप्ति के पश्चात् सन् १९१७ई० में विश्वविद्यालय की स्थिति में सुधार हेतु एक आयोग की स्थापना की गई, जिसकी संस्तुतियां अन्य विश्वविद्यालयों के लिए भी उपयोगी सिद्ध हुईं। सन् १९१७-२१ई० के मध्य विश्वविद्यालयों की संख्या पांच से चौदह हो गई जिनमें से १२ विश्वविद्यालय ब्रिटिश भारत में थे। अब तक लखनऊ, पटना, रंगून आदि विश्वविद्यालय स्थानीय देश-भक्ति के फलस्वरूप निर्मित हो चुके थे। बनारस विश्वविद्यालय की स्थापना प्राचीन भारतीय संस्कृति और धर्म की रक्षा हेतु अलीगढ़ विश्वविद्यालय साम्प्रदायिकता की पुष्टि के हेतु और ढाका विश्वविद्यालय इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु स्थापित किए गए। तत्पश्चात् विश्वविद्यालयों की स्थापना की भरमार सी हो गई और नागपुर तथा आगरा में भी विश्व-विद्यालय बड़ी धूम से खोले गए।

सन् १९२१ई० में द्वैध शासन के परिणामस्वरूप शिक्षा की बागडोर भारतीय मन्त्रियों के हाथ में आ गई। शिक्षा की नई-नई योजनाएं बनीं। किन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण वे कार्यान्वित न हो सकीं। राष्ट्रीय आन्दोलन ने शिक्षा-प्रसार पर काफी जोर दिया। फलतः अनेक राष्ट्रीय विद्यालय बन गए। जैसे-जैसे राष्ट्रीय जागृति बढ़ती गई वैसे वैसे सरकारी

शिक्षा के क्षेत्र में सुधार करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। अतः सरकार ने म्युनिसिपल तथा जिला बोर्डों को अपने अधिकार क्षेत्रों में निःशुल्क प्रायमरी शिक्षा देने का तथा शिक्षा को अनिवार्य बनाने का अधिकार दे दिया, जो वास्तव में सन् १८८२ ई० के हंटर कमीशन द्वारा इस सम्बन्ध में की गई संस्तुति का ही अनुकरण था। सरकार के प्रारम्भिक शिक्षा में व रुचि लेने से समग्र भारत में प्रायमरी स्कूलों का एक जाल-सा बिछ गया। सन् १९४७ई० के पश्चात् राष्ट्र-नेताओं ने भी प्रायमरी शिक्षा के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया। अतः इस पर कई प्रयोग किए गए। वार्धा योजना ने तो प्रायमरी शिक्षा को बहुत अधिक प्रभावित किया है। डिस्ट्रिक्टबोर्ड और म्युनिसिपल बोर्ड द्वारा अँग्रेजी सरकार ने मिडिल स्कूलों तक के निरीक्षण की जो योजना बनाई थी, वह आज भी प्रचलित है।

माध्यमिक शिक्षण संस्थाओं की संख्या में भी काफी वृद्धि हुई। किन्तु स्तर उत्तरोत्तर गिरता ही गया। इन विद्यालयों में औद्योगिक शिक्षा नितान्त आवश्यक थी। कुछ प्रान्तों में मैट्रिकुलेशन एग्जामिनेशन नाम की तत्सम् परीक्षाएं प्रचलित थीं। शिक्षा विभाग की स्थापना हो जाने के पश्चात् शिक्षण कार्य एवं व्यवस्था के निरीक्षण की पूर्ण व्यवस्था कर दी गयी थी। प्रारम्भ में माध्यमिक स्कूलों में शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी थी। किन्तु एक कालान्तर में मातृभाषा के प्रेमियों ने लड़-झगड़ कर शिक्षा का माध्यम वर्नाक्युलर करवा लिया और विद्यार्थियों को एक विदेशी भाषा के स्थान पर निज भाषा में शिक्षित किया जाने लगा।

विश्वविद्यालयों की संख्या में भी वृद्धि होती रही। कुछ विश्वविद्यालय परीक्षा लेने का कार्य करते थे और कुछ शिक्षण कार्य। किन्तु इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि विश्वविद्यालयों का उद्देश्य चाहे जो भी रहा हो सन् १८३५-१९४७ई० की अवधि के मध्य उन्होंने कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया। हाँ, देश में उच्च कोटि के बेकारों का एक दल अवश्य खड़ा कर दिया।

पराधीन भारत की शिक्षा-नीति पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि विदेशी सत्ता-प्रभुओं ने अपने क्षुद्र स्वार्थों की

पूर्ति हेतु जिस शिक्षा-पद्धति का निर्माण किया, उसने देश के भावी नागरिकों को परावलम्बी बना दिया। धार्मिक शिक्षा के अभाव में नैतिकता का ह्रास होता गया। पाश्चात्य जगत की चकाचौंध ने हमें इतना मोहाच्छन्न कर लिया कि उचित और अनुचित का विचार छोड़कर हम अंग्रेजियत के रंग में रंगते गए। विदेशी खान-पान, विदेशी वेश-भूषा और विदेशी संस्कृति को अपना कर शासक वर्ग में सम्मिलित होना ही मानो देश के अधिकांश लोगों के जीवन का ध्येय बन गया। उसी समय शासकों की कुटिल नीति ने देश को मानसिक गुलामी की जंजीरों में जकड़ने के उद्देश्य से अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम घोषित कर मानों हमारी वाणी को ही अवरुद्ध कर दिया। शिक्षा में समय का अपव्यय होने के साथ ही पुस्तकीय ज्ञान की प्रधानता और तर्क शक्ति के अभाव से जीवन के व्यावहारिक पक्ष की शिक्षा में अवहेलना होती गई। केवल वही व्यक्ति शिक्षित समझा जाने लगा जो अंग्रेजी बोल सके और लिख सके। अंग्रेजी के इस बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर ही श्रीमती एनीबेसेण्ट ने पाठशालाओं में संस्कृत की शिक्षा अनिवार्य करने पर बल दिया और संस्कृत एवं अंग्रेज़ी के सम्मिलित ज्ञान के द्वारा धार्मिक और राष्ट्रीय जीवन में सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सन् १९४८-४९ में राधाकृष्णन् विश्वविद्यालय आयोग ने भी धार्मिक और राष्ट्रीय जीवन में सामन्जस्य उत्पन्न करने के लिए और देश-वासियों के चारित्रिक विकास के उद्देश्य से, शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर (विशेषकर प्राथमिक और माध्यमिक स्तर पर) नैतिक एवं सर्वप्रिय धार्मिक शिक्षा देने पर बल दिया। इसके साथ-ही-साथ इस आयोग ने शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों को इस प्रकार संगठित करने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया कि एक ओर विद्यार्थियों में चरित्र-निर्माण, निर्भीकता, स्वावलम्बन, नेतृत्व आदि भावनाओं का संचार हो तो दूसरी ओर वे अपने सामाजिक और राष्ट्रीय उत्तरदायित्व के प्रति भी जागरूक रहें। तत्पश्चात् माध्यमिक शिक्षा आयोग ने (मुदालियर माध्यमिक शिक्षा आयोग) स्वतन्त्र भारत की तत्कालीन आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर माध्यमिक शिक्षा के दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया और उसे

नया जीवन देकर चेष्टा इस बात की की गई कि माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करके भारतीय नवयुवक भविष्य में सुयोग्य नागरिक बन सकें और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफल होकर देश को शक्तिशाली बनाने के साथ ही उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा भी करसके । पाठ्यक्रम में विभिन्नीकरण के हेतु राधाकृष्णन् विश्वविद्यालय आयोग तथा मुदालियर माध्यमिक शिक्षा आयोग ने इसी दृष्टि से सुझाव दिए । आचार्य नरेन्द्रदेव ने भी शिक्षा में नया जीवन लाने के हेतु पाठ्यक्रम में विभिन्नीकरण का समर्थन किया, जिससे शिक्षा जीवनोपयोगी होकर व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास कर सके ।

देशी नरेशों के प्रति नीति

मध्ययुग में एक केन्द्रीय सत्ता के अभाव में सम्पूर्ण भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था । इन रियासतों के राजा परस्पर युद्ध विग्रह में संलग्न रहते थे । उनकी पारस्परिक फूट स्वार्थान्धता ने अंग्रेजों को साम्राज्य विस्तार की नीति को प्रश्रय दिया । धीरे-धीरे देशी राज्यों पर कम्पनी का प्रभुत्व स्थापित हो गया । इन राजाओं के मूल्य पर ही कम्पनी के के अधिकारी अपनी सीमाएं बढ़ाकर अपनी साम्राज्य-लिप्सा को पूर्ण कर रहे थे । यह साम्राज्य-लिप्सा निरन्तर बढ़ती ही गई और यथा समय यथा अवसर कम्पनी के अधिकारियों ने हस्तक्षेप और निर्हस्तक्षेप की नीति का अनुसरण अनुसरण करते हुए देशी-नरेशों की शक्ति के धन और बल दोनों ही दृष्टि से क्षीण किया । साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति का अनुसरण कर यह स्वार्थान्ध अधिकारी येन केन प्रकारेण अंग्रेजी साम्राज्य का विस्तार करने में निमग्न थे । वे देशी नरेशों के अवरोध को समाप्त कर भारत में निष्कंटक राज्य करने का स्वप्न सम्भवतः देख रहे थे । अतः सहायक संधि द्वारा व और शासन में कुप्रबन्ध का दोषारोपण करके ईस्टइण्डिया कम्पनी के अधिकारी देशी राज्यों के को अंग्रेजी साम्राज्य में मिलाते गए और जो राज्य सहायक संधि और कुप्रबन्ध के फंदे में न फंस सके उनका विलयन करने के हेतु कूटनीति का आश्रय लेकर सन् १८३४ई० में देशी राजाओं और नवाबों द्वारा गोद लेने कीप्रथा का भी अन्त कर दिया गया । पुत्र विहीन राजा की

मृत्यु होने पर दत्तक पुत्र को सिंहासन के अधिकार से वंचित रखकर कम्पनी ने अपने साम्राज्य विस्तार के लिए जिस नीति का अनुसरण किया, उससे कम्पनी के बाद साम्राज्य का शरीर हृष्ट-पुष्ट होता गया । वैलेजली की सहायक संधि ने देशी राज्यों की महत्त्वाकांक्षाओं को कुचल दिया । इस सहायक संधि को स्वीकार करने वाले राज्य कम्पनी की स्वीकृति के बिना किसी राज्य से युद्ध अथवा संधि नहीं कर सकते थे । इससे देशी राज्यों की प्रतिष्ठा को ठेस पहुँची । प्रतिवर्ष लम्बी धनराशि न दे सकने के कारण कितने ही राज्य कम्पनी के हाथ में चले गये । देशी राज्यों के विलयन के परिणामस्वरूप देशी नरेश अंग्रेजों को घृणा तथा शंका की दृष्टि से देखने लगे थे । सन् १७९८ई० में हैदराबाद के निज़ाम तथा सन् १८०१ में अवध के नवाब पर दबाव डालकर औरसन् १७९९ में मैसूर के शासक टीपू सुलतान के साथ युद्ध करके और सन् १८०२ में मराठों से युद्ध करके कम्पनी के अधिकारियों ने बेसीन की प्रसिद्ध संधि की । वैलेजली के पश्चात् लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने भी अग्रगामी साम्राज्यवाद की नीति का अनुसरण किया । सन्१८३४ई० में गोद लेने की प्रथा का निषेध हो जाने से सतारा, नागपुर, झाँसी, सम्भलपुर, जैतपुर, तंजौर और कर्नाटक पर कम्पनी का प्रभुत्व स्थापित हो गया । सन् १८५३ई० में झांसी और बुन्देलखण्ड को अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया गया और सन् १८५६ई० में अवध अंग्रेजी साम्राज्यान्तर्गत आ गया । कोलाबा, माण्डवी और अम्बाला की रियासतों पर डलहौज़ी से पूर्व ही आधिपत्य किया जा चुका था । डलहौज़ी ने भी इसी नीति पर अमल किया । उसके चंगुल से हिन्दू सिक्ख, बौद्ध या मुसलमान किसी धर्म के भारतीय-नरेश बच न सके । वाजिदअली शाह को षड्यन्त्र द्वारा दिल्ली के सम्राट से तोड़ने का प्रयत्न किया गया । हेस्टिंग्ज़ ने अवध के नवाब वज़ीर को अवध के बादशाह की उपाधि दी । जैसे-जैसे यह नवाब दिल्ली सम्राट से स्वतन्त्र होते गए वैसे-ही-वैसे अंग्रेजों द्वारा इनकी पराधीनता भी बढ़ती गई । शक्तिशाली राजाओं को युद्ध के लिए भड़काना और फिर दुर्बल राज्यों को संरक्षण प्रदान कर उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना ही इन शासकों का मुख्य लक्ष्य था । इस नीति का अनुसरण करने के परिणामस्वरूप धीरे-धीरे अंग्रेजी साम्राज्य का विस्तार होतागया और मध्ययुगीन सामन्त शाही के के रहे

सहे अवशेष भी समाप्त हो गए । उपाधियाँ और सनदें देकर जो गौरव इन नरेशों को प्रदान किया गया उसके परिणामस्वरूप वे जनहित को भूलकर केन्द्रीय सत्ता के भक्त बन गए और उसके प्रति सहानुभूति भी प्रदर्शित करने लगे । विदेशी शासकों ने छोटे और बड़े सभी राजाओं,नवाबों और जमीन्दारों का एक ऐसा वर्ग तैयार कर लिया जो ब्रिटिश साम्राज्यशाही का समर्थक था । ब्रिटिश साम्राज्य के आधार स्तम्भ देशी राजा और नवाब ब्रिटिश कूटनीति के ही शिकार होते गए । शनैःशनैः उनकी सत्ता समाप्त होती गई और उनके स्थान पर कम्पनी का प्रभुत्व स्थापित हो गया । देशी राज्यों को अंग्रेजी साम्राज्य में मिलाने के साथ ही साथ उनकी रियासतों का आर्थिक शोषण करके उन्हें धनहीन करने का प्रयास भी किया गया । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जिन देशी -नरेशों के बल पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का भारत में प्रवेश हुआ, जिन राजाओं ने अंग्रेजी साम्राज्यशाही को विकसित होने का स्वर्ण अवसर प्रदान किया, उन्हीं नरेशों की सत्ता को समाप्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने उचित और अनुचित सभी साधनों का प्रयोग कर देशी रियासतों की शक्ति को धूल प्राय कर दिया । वास्तव में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के लिए इन रियासतों का अन्त होना आवश्यक भी था,क्योंकि जब तक देशी-नरेशों की सत्ता बनी रहती तब तक ब्रिटिश साम्राज्यशाही का एक छत्र और निष्कंटक साम्राज्य स्थापित नहीं हो सकता था । डलहौजी ने देशी राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने की जिस नीति का अनुसरण किया उसके भारतीय राजनीति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिणाम दृष्टिगोचर हुए । डलहौजी की राज्यापहरण की नीति से अंग्रेजी साम्राज्य का प्रासाद पूर्ण हुआ । उसने वैलेजली और लार्ड हेस्टिंग्ज द्वारा खींचे गए ब्रिटिश साम्राज्यशाही के मानचित्र के रिक्त स्थानों में रंग भरने के अधूरे कार्य को पूर्ण किया ।

डलहौजी की राज्य-अपहरण की नीति के कारण भारतीय नरेशों में जो असन्तोष उत्पन्न हुआ उसकी प्रतिक्रियास्वरूप सन् १८५७ का गदर हुआ । विद्यमान परिस्थितियों का प्रतिकार करने के लिए रियासतों के सम्बन्ध में भारतसरकार की नीति में परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव करके

सम्राज्ञी विक्टोरिया ने सन् १८५८ की उद्घोषणा में यह व्यक्त किया कि ब्रिटिश सरकार भविष्य में भारतीय रियासतों को अपने राज्य में नहीं मिलाएगी । रियासतों के प्रति शंका तथा सन्देह की नीति का त्याग करके ब्रिटिश सरकार ने उन्हें इकट्ठा करने के लिए प्रयत्न किया । कई अवसरों पर सरकार ने भारतीय रियासतों पर अपने प्रभुत्व के सम्बन्ध में भी घोषणा की । लार्ड कैनिंग, लार्ड मेयो, लार्ड लिटन, लार्ड कर्जन, लार्ड मिण्टो तथा लार्ड रीडिंग ने इस सम्बन्ध में अपने वक्तव्य भी दिए हैं । रियासतों में सर्वोच्च शक्ति के प्रभुत्व को बनाए रखने के उद्देश्य से ही रियासतों में रेजीडेण्ट की नियुक्ति की गई । नरेशों को कार्य करने की कोई स्वतन्त्रता नहीं थी । वे रेजिडेण्ट के नियन्त्रण में थे । रेजिडेण्ट रियासतों में ब्रिटिश हितों को दृष्टि में रखकर नरेशों को परामर्श देता था । इस प्रकार से वह सम्राट और रियासतों के मध्य में मध्यस्थ का कार्य किया करता था । पणिक्कर के अनुसार " वे सब लोग, जिन्हें भारतीय रियासतों का निजी अनुभव है, जानते हैं कि रेजिडेन्सी की कुसफुसाहट भी रियासत की गरज है तथा ऐसा कोई विषय नहीं, जिस पर रेजिडेण्ट अपना परामर्श देने में अपने-आपको योग्य नहीं समझता ।"[१] अतः यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि रेजिडेण्ट रियासत का दूसरा शासक था, जिसका रुख देखकर राजा को अपने राज्य का शासन सूत्र परिचालित करना पड़ता था ।

सन् १९२७ में भारत सरकार तथा भारतीय रियासतों के पारस्परिक सम्बन्धों की जांच तथा आवश्यक सिफारिशें करने के लिए 'बटलर कमेटी' की नियुक्ति की गई । समिति के सदस्यों ने भारतीय रियासतों तथा ब्रिटिश ताज में सीधे सम्बन्ध की घोषणा करके ब्रिटिश भारत तथा भारतीय रियासतों के मध्य में बीच की दीवार खड़ी कर दी । बटलर कमेटी ने सर्वश्रेष्ठ साम्राज्य तथा भारतीय रियासतों के मध्य सम्बन्ध के विषय में कहा कि " यह एक जीवित विकासशील रेखा

---

१ महाजन : 'भारत १५२६ से आगे', भारतीय रियासतें, पृ० ५८१

सम्बन्ध है, जिसे परिस्थितियों ने बनाया तथा जो इतिहास, कल्पना तथा वर्तमान तथ्यों का मिश्रण है[1]। किन्तु उक्त समिति की सिफारिशों की आलोचना करते हुए चिन्तामणि ने कहा -- "बटलर कमेटी का प्रारम्भ बुरा हुआ, उसकी नियुक्ति का समय भी प्रतिकूल था, उसके विचारणीय विषय भी अनुकूल नहीं थे, उसके सदस्य भी बुरे थे तथा उनकी जांच करने की पद्धति भी बुरी थी। इसकी रिपोर्ट भी तर्क तथा परिणामों की दृष्टि से बुरी थी[2]।" सर एम० विश्वेश्वरैया के अनुसार "बटलर समिति के विवरण में भारतीय रियासतों के निवासियों के सम्बन्ध में कोई इशारा नहीं है। उनके सुझाव असहानुभूतियुक्त, अनैतिहासिक तथा कठिनता से वैधानिक अथवा कानूनी है..... उनके दृष्टिकोण में कोई नवीन विचार-वर्धक धारा [illegible] नहीं। निश्चितरूप से उसमें प्रेरणा, विश्वास तथा आशाप्रद कुछ नहीं[3]।"

सन् १९३५ के अधिनियम द्वारा रियासतों को इस बात का विकल्प दिया गया कि वे संघ में सम्मिलित हों अथवा नहीं। द्वितीय महासमर की अवधि में भी भारतीय रियासतों के सम्बन्ध में कुछ नहीं किया गया। केवल मात्र आश्वासन दिए जाते रहे कि उनकी इच्छा के विरुद्ध कांग्रेस के साथ किसी प्रकार का समझौता नहीं किया जायगा। क्रिप्स मिशन (१९४२ई०) ने भी रियासतों के प्रतिनिधियों को अपना भविष्य तय करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी। १२ मई सन् १९४६ ई० को मन्त्रिमण्डल के [illegible] प्रतिनिधियों ने घोषणा की कि "ब्रिटिशसरकार किसी भी अवस्था अथवा परिस्थिति में किसी भारतीय सरकार को उच्च सत्ता हस्तान्तरित नहीं करेगी। यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि जिस समय ब्रिटिश भारतमें एक स्वशासन करने वाली सरकार अथवा सरकारें अस्तित्व में आएंगी, उस समय ब्रिटिश सरकार के लिए रियासतों के साथ किए गए समझौतों को निभाना सम्भव नहीं होगा। उस अवस्था में वे सब अधिकार जो उच्च शक्ति को रियासतों

---

१ महाजन : भारत १५२६ से आगे, भारतीय रियासतें, पृ०५७८

२ ,, ,, ,, पृ० ५८२

३ ,, ,, ,, पृ० ५८२

की ओर से प्राप्त हैं, उन्हें वापस कर दिए जायेंगे[1]।" सन् १९४७ के भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम द्वारा भारतीय रियासतों पर सम्राट के प्रभुत्व को समाप्त कर दिया गया। रियासतों तथा उनके शासकों के सम्बन्ध में सब संधियां, समझौते तथा कार्य, जिनका प्रयोग सम्राट करते थे," १५ अगस्त सन १९४७ई० को समाप्त हो जाने थे । इस उपबन्ध के परिणामस्वरूप भारतीय रियासतें बिलकुल स्वतन्त्र हो गईं । भारत तथा पाकिस्तान की सरकारों को पिछली भारत सरकार के अधिकार उत्तराधिकार में प्राप्त नहीं हुए[2]। रियासतों की समस्याएं नये डोमीनियनों के हल करने के लिए छोड़ दी गईं । गृह मंत्री सरदार पटेल ने अपनी राजनीतिक दूरदर्शिता से भारतीय रियासतों की समस्या को सुलझाकर रियासतों का एकीकरण, लोकतंत्रीकरण और आधुनिकीकरण किया ।

सैन्य नीति

राष्ट्र की सुदृढ़ता और स्थायित्व के लिए अर्थ के समान ही सैन्य संगठन का अपना विशेष महत्त्व है । आन्तरिक शान्ति और सुव्यवस्था के लिए पुलिस विभाग और सीमा सुरक्षा के लिए सुसंगठित सेना की महती आवश्यकता का अनुभव करने के कारण ही अंग्रेजों ने भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने के साथ ही यहां की मध्ययुगीन सैन्य व्यवस्था में आमूल परिवर्तन कर आधुनिक युद्धास्त्रों से सुसज्जित सेना का संगठन किया । व्यक्तिगत वीरत्व के अतिरिक्त अन्य समस्त दोषों से युक्त सैन्य संगठन ही हिन्दुओं और तत्पश्चात् मुगलों के पतन का मूल कारण था । भारत के जिस विशाल साम्राज्य को मुगलों ने तलवार के बल पर हस्तगत किया था, वह तलवार के बल पर ही छिन गया ।

अंग्रेजों की कूटनीति ने उन्हें व्यापारी से शासक बना दिया और व्यापारी शासक कूटनीति से प्राप्त साम्राज्य को तलवार से शासित करने का स्वप्न देखने लगे । प्रारम्भ में अपने किलों की रक्षा के लिए जो सेना ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीय राजाओं और नवाबों की अनुमति से रखी थी उसका उपयोग होने लगा साम्राज्य विस्तार के लिए । अतः यह कहना अनुचित

---

१ भारत १५२६ से आगे, पृ०५८३ ।

न होगा कि अंग्रेजों ने भारतीय सैनिकों के बल का प्रयोग करके ही भारत में अपना साम्राज्य विस्तार किया । प्रारम्भ में वेलेजली ने सबसीडियरी एलयान्स अर्थात् आर्थिक सहायता के आधार पर फौजी मित्रता करके रियासतों में अंग्रेज सेनापतियों के संरक्षण में अंग्रेजी सेनाएं रखीं, व जिसका सम्पूर्ण व्यय देशी रियासतों को देना पड़ता था । सबसीडियरी एलयान्स के पर्दे के पीछे उसने देशी राजाओं और नवाबों का उनके ही राज्य में ब्रिटिश सरकार का बन्दोबस्त बना दिया । सन् १८४८ई० में जब लार्ड डलहौजी भारत आया, तब पंजाब के अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित हो जाने के कारण उत्तरी-पश्चिमी सीमा सुरक्षा एक प्रधान समस्या बन चुकी थी । अतः सेना को बंगाल से हटाकर उत्तर-पश्चिम की ओर ले जाना प्रारम्भ हुआ और कलकत्ते के स्थान पर मेरठ को बंगाल के तोपखाने का केन्द्र बना दिया गया । सेना की छावनियां शिमला चली गई जहां स्वयं गवर्नर जनरल अपनी कौंसिल के साथ रहता था । डलहौजी भारतीय सैनिकों पर विश्वास नहीं करता था अतः उसने भारतीय सैनिकों पर विश्वास नहीं करता था, अतः उसने भारतीय सैनिकों के सम्बन्ध में न्यूनता, विशृंखलता और वितरण की नीति से कार्य किया । उसका विचार था कि यदि भारतीय सैनिक संख्या में कम कर दिए जाएं और वे इधर उधर वितरित रहें तो सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र न रच सकेंगे । गोरखों को सेना में भर्ती कर उसने उनकी एक अलग सेना ही बना दी । भावी विपत्ति से बचने के उद्देश्य से उसने अंग्रेज-सैनिकों की संख्या में वृद्धि न करने के लिए संचालकों के पास प्रस्ताव भी भेजा । किन्तु इंगलैण्ड और रूस के पारस्परिक तनाव के कारण डलहौजी का प्रस्ताव पारित न हो सका । सेनाओं को देश के एक भाग से दूसरे भाग में भेजने की व्यवस्था करने के उद्देश्य से उसने परिवहन के साधनों (रेल, सड़क) का भी विकास किया । डलहौजी की भारतीय सैनिकों के प्रति घृणा और अविश्वास एवं वेतन, भत्ता, तरक्की आदि में भेदभाव होने के कारण सैनिकों में असन्तोष उत्पन्न हो रहा था । वे अंग्रेज सैनिकों की अपेक्षा संख्या में भी अधिक थे । इसी समय कारतूस में सुअर की चर्बी के प्रयोग की सूचना प्राप्त कर भारतीय सैनिकों के मन मे अपने अधिकारियों के प्रति द्वेषाग्नि भड़क उठी और वे

संगठित विद्रोह के लिए तैयार हो गए । समस्त भारतीय सैनिकों ने बगावत कर दी।

सन् १८५७ की संगठित क्रान्ति या सैनिक विद्रोह से भयभीत होकर अंग्रेजों ने सैनिक पुनर्संगठन की आवश्यकता का अनुभव किया और अपनी साम्राज्यशाही को मजबूत बनाने के लिए अपनी सेना को नए सांचे में ढाला । मध्ययुगीन घुड़सवार सेना का स्थान आधुनिक तोपखानों ने ले लिया । अंग्रेज़ समुद्री मार्ग से आए थे, इसलिए उन्होंने थल सेना के साथ ही जलसेना और वायु सेना का भी पूर्ण विकास किया । भारत जैसे विशाल देश की सुरक्षा की दृष्टि से शासक वर्ग ने स्थान-स्थान पर सैनिक छावनियां बनाने के साथ ही सैन्य विभाग का भी निर्माण किया । सेना में अनुशासन और व्यवस्था बनाए रखने के लिए सहयोग, क्रियाशीलता और सक्षम नेतृत्व पर बल दिया गया । आधुनिक युद्धास्त्रों का निर्माण करवा कर अंग्रेजों ने अपनी सैन्य शक्ति में संवर्द्धन करने का प्रयास किया । आधुनिक युद्धास्त्रों से सुसज्जित अंग्रेजी सेना केवल साम्राज्य की शोभा ही नहीं थी, साम्राज्य के लिए उसकी कुछ उपयोगिता भी थी । इसीलिए वार्षिक बजट में घाटा होने पर भी सेना के व्यय में कमी नहीं की गई । सैन्य संगठन पर जितना व्यय इंगलैण्ड करता था उससे कई गुना अधिक व्यय भारत जैसे गरीब देश को अपनी सेना पर करना पड़ता था । क्योंकि भारतीय सेना के बल पर ही अंग्रेज़ अपने साम्राज्य की नींव को संभाले थे । इसके साथ ही जातीय स्वार्थ से प्रेरित होकर और जन-विद्रोह के भय से भारतीय सैनिकों की संख्या घटाकर आधी कर दी गई और सभी महत्वपूर्ण सैनिक केन्द्रों और छावनियों में योरोपीय सैनिकों की नियुक्ति होने से और तोपखाने को भी पूर्णरूप से योरोपीय सैनिकों के नियन्त्रण में दे देने से सैनिक व्यय बढ़ गया । शासकों की यह नीति उनके संदेह और अविश्वास की द्योतक है ।

ब्रिटिश अधिकारियों ने भारतीय सेना की एकता और एकदेशीयता की भावना को समूल नष्ट करने के लिए सेना संगठन में आमूल परिवर्तन किया । सेना बटालियन, कम्पनी, स्क्वैड्रन तथा निश्चित जातीय प्लाटूनों में बांट दी गई । इन विभिन्न टुकड़ियों का विभाजन जाति, सम्प्रदाय तथा धर्म के आधार पर था । सेना में वैमनस्य उत्पन्न करने की नीति का सुझाव देते हुए

जान लारेन्स ने कहा है कि 'गदर के पूर्व की सेना का सबसे बड़ा दोष जो निर्विवाद रूप से अत्यन्त भयानक और घातक था, बंगाल की सेना में समता और भ्रातृत्व था। इससे बचने की अमोघ औषधि है, उनमें वैषम्य स्थापित करना। जो सब इन दो उपायों के अवलम्बन से सफलतापूर्वक स्थापित किया जा सकता है। प्रथम यूरोपियनों की संख्या में वृद्धि, दूसरा विभिन्न जातियों को अलग-अलग रेजीमेण्ट बनाना।[1]" सरकार सेना नीति निर्धारित करने में भविष्य में लारेन्स के सुझावों का ही अनुसरण करती रही।

सन् १८५७ की क्रान्ति के उपरान्त यह भी निश्चय किया गया कि भविष्य में भारत के स्थानीय कार्यों के लिए यूरोपीय सैनिकों का प्रवेश नहीं किया जायगा। सरकार की सेना नीति-शासन के अन्तिम वर्षों तक यही बनी रही। फौज और मैदान में अंग्रेज अफसरों का ही संरक्षण रहा। भारतीय सैनिकों की संख्या में कमी करने के साथ ही उन्हें उच्च सैनिक पदों से वंचित कर सामान्य सैनिक की स्थिति में ही रखा गया, जिससे वे साम्राज्यशाही का विरोध न कर सकें। लार्ड कर्जन के शासन-काल में सेना नीति में कुछ परिवर्तन हुआ। भारतीय सीमा-सुरक्षा के लिए रखी गई सेनाओं का उपयोग [illegible] विदेशों में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के लिए होने लगा। कर्जन ने जब चीन और दक्षिण अफ्रीका में भारतीय सैनिक भेजे तो भारतीयों के असन्तुष्ट होने पर भी शासकों की नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसी प्रकार प्रथम और द्वितीय महासमर में भी भारतीयों के परामर्श के बिना भारतीय सैनिकों का युद्ध में प्रवेश कर दिया गया। साम्राज्य-विस्तार के उद्देश्य से संगठित की गई यह सेनाएं राष्ट्रीय आन्दोलन के दमन के लिए भी प्रयोग में लाई गईं। पुलिस की शक्ति अथवा यों कहें कि डण्डे के बल पर नौकरशाही ने राष्ट्रीय आन्दोलन का दमन भी किया।

-0-

---

१ केशवप्रसाद शर्मा : 'हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का ऐतिहासिक विश्लेषण', पृ०६-

अध्याय -- पाँच

-0-

आधुनिक हिन्दी-गद्य में राजनीतिक तत्त्व की अभिव्यक्ति

सैद्धान्तिक पक्ष (सन् १८५० - १९५०)

अध्याय -- पांच

-0-

आधुनिक हिन्दी-गद्य में राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति

सैद्धान्तिक पक्ष (सन् १८५०-१९५०)

सामान्यतः साहित्य की दृष्टि सौन्दर्यानुप्रेरित होती है, उसकी भावुक, अनुभूति-प्रवण कला-चेतना जहाँ भी उस सौन्दर्य-बोध की तृप्ति पाती है, वहीं प्रबल रूप से मुखरित होती है । वह चीज चाहे राजनीति जैसा रूखा और स्थूल चीज ही क्यों न हो । साहित्य जब इस क्षेत्र में प्रवेश करता है तो प्राय: वह केवल सैद्धान्तिक चर्चा ही नहीं करता, वरन् उन सिद्धान्तों को मानव-जीवन में घटित होता हुआ अनुभव भी करता है और उन सिद्धान्तों से जिन सांस्कृतिक तत्वों की उपलब्धि होती है, उन्हीं का प्रतिपादन करता है । अत: राजनीति के जो सैद्धान्तिक दृष्टि रही है, उसे ध्यान में रखते हुए हम इस युग के गद्य-लेखकों की राजनीतिक दृष्टि की परीक्षा के लिए प्रवृत्त होते हैं ।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी का हिन्दी गद्य राजनीति के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही पक्षों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से अवलोकनीय है । राजनीतिक तत्व के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों की अभिव्यक्ति करते समय इस युग के गद्य-लेखकों को हम पाश्चात्य और भारतीय राजदर्शन के सिद्धान्तों का समन्वय करते हुए पाते हैं । उन्होंने जिन नवीन राजनीतिक आदर्शों की स्थापना की वह उनके गूढ़ अध्ययन, चिन्तन

दृष्टिकोण, मौलिकता और सहज मानवीय दृष्टि के परिचायक हैं ।

राष्ट्र और राज्य

राजनीति-विशारदों द्वारा दी गई 'राष्ट्र' की परिभाषाओं पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भूमि, जनसंख्या, एक शासन की अधीनता एवं भाषा, धर्म और संस्कृति की एकता निर्विवाद रूप से राष्ट्र के आवश्यक तत्व हैं । प्रेमचन्द ने इन्हीं तत्वों के आधार पर राष्ट्र की परिभाषा देते हुए कहा है कि 'राष्ट्र प्राणियों के उस समूह को कहते हैं जिनका एक विचार, एक सद्भाव हो, एक राजनीतिक संगठन हो, एक भाषा हो और एक साहित्य हो ।'[1] किन्तु भौगोलिक-विस्तार होने के साथ ही विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों और मतावलम्बियों का एक राष्ट्र में सम्मिलित किया जाना राष्ट्र की एक सम्यक् परिकल्पना बनी और भाषा, धर्म एवं संस्कृति की एकता और एक शासन की अधीनता राष्ट्र-संगठन के आवश्यक तत्व नहीं रह गए । संयुक्त राज्य अमेरिका में अनेक जाति, धर्म और सम्प्रदाय के लोग निवास करते हैं, स्विटजरलैण्ड में तीन भाषाएं बोली जाती हैं और तीनों में ही राजकार्य होता है, फिर भी संयुक्त-राज्य अमेरिका और स्विटजरलैंड दोनों ही अपने में एक राष्ट्र हैं। उक्त तथ्यों के सन्दर्भ में जैनेन्द्र की 'राष्ट्र' की परिभाषा देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने मानव-ऐक्य उद्भव की एकता के सिद्धान्त को अपनाकर 'राष्ट्र' शब्द का व्यावहारिक और तात्विक विश्लेषण प्रस्तुत किया है । जैनेन्द्र के अनुसार 'राष्ट्र वह नहीं है, जिसमें एक ही जाति, एक ही प्रान्त, एक ही दल, एक ही देश हो । उसमें विविध श्रेणियां, विविध जातियां, कई प्रान्त, कई हित अनिवार्य हैं ।'[2] अर्थात् राष्ट्र-मानव

---

१ प्रेमचन्द : 'साहित्य का उद्देश्य', पृ० २००

२ जैनेन्द्र : 'प्रस्तुत प्रश्न', पृ० ८८

समाज या मानव जीवन की वह अन्तिम इकाई है जो विषमताओं में एकता स्थापित करती है। बर्गेस, बार्कर, रैमजे म्योर, जिमर्न, हयूग्ली आदि राजनीति-विशारदों ने भी राष्ट्र को मूलरूप में व्यक्तियों का समूह ही माना है[1]।

गुलाबराय ने राष्ट्र के लिए जाति और सम्प्रदाय की एकता को आवश्यक नहीं बताया है। उनके विचार से राष्ट्र वह राजनीतिक इकाई है, जिसके निवासी एक शासन के अधीन हों और उनके राजनीतिक हितों में भी एक ध्येयता हो[2]। गुलाबराय की राष्ट्र की

१(क) "मानव-वंशिक उद्भावनाजन्य एकता से बद्ध व्यक्तियों का वह समूह जो भौगोलिक दृष्टि से एक भूमि-क्षेत्र में निवास करता हो, राष्ट्र कहलाएगा।" (बर्गेस)

(ख) "राष्ट्र ऐसा व्यक्तियों का समूह है जो एक निश्चित स्थल के निवासी हों, जो सामान्यतः विभिन्न जातियों के हैं, किन्तु समान इतिहास से ग्रहण किए हुए विचारों एवं भावनाओं के परिपोषक हों, जो वर्तमान से अधिक अतीत से सम्बद्ध हों, जिनकी भाषा एक हो, जिन्होंने अपनी एकता की भावना को अभिव्यक्त करने के लिए अपना राज्य बना लिया हो, या वे अपना राज्य बनाने की इच्छा रखते हों।" (बार्कर) ("राजनीति शास्त्र के आधार", -- पन्त, गुप्ता, जैन, पृ०७०)

२ "राष्ट्र के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसके रहने वाले एक जाति व सम्प्रदाय के ही हों। राष्ट्र एक राजनीतिक इकाई है। उसके निवासियों के राजनीतिक हितों की एक ध्येयता और शासन की एकसूत्रता उनमें संगठन स्थिर रखने के लिए आवश्यक है। सभी सम्प्रदाय और सभी प्रान्त राष्ट्र के अंग हैं।"

गुलाबराय : "मेरे निबन्ध जीवन और जगत"
--"साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीयता", पृ० १८२

परिकल्पना मानव-वंशिक अनुभव की एकता के सिद्धान्त का समर्थन करने के साथ ही राजनीतिक तत्व को भी महत्व देती है। इसके विपरीत महादेवी वर्मा ने आध्यात्मिक एकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि वैचारिक विषमता होने पर भी राष्ट्र की एकता सम्भव है। इस दृष्टि की सूक्ष्मता देते हुए उन्होंने कहा है कि "राष्ट्र विभिन्न स्थूल और सूक्ष्म रूपों और मूलधारा- अन्तर्धारा शक्तियों का एक जीवित गतिशील विग्रह है[1]।" रेनान ने भी कहा है कि "राष्ट्र एक ऐसा आध्यात्मिक सिद्धान्त है जो ऐतिहासिक जटिलताओं की पृष्ठभूमि में जन्म लेता है। यह परिवार है जो केवल भूमि की सीमाओं से ही नहीं बनता है[2]।" एक अन्य विचारक ने लिखा है कि "राष्ट्र एक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक एकता है और वह सामाजिक विकास का उत्कृष्टतम उत्पादन है[3]।" वासुदेवशरण अग्रवाल ने भूमि, भूमि पर बसने वाले जन और जन की संस्कृति के सम्मिलित स्वरूप में ही राष्ट्र की परिकल्पना की है[4]। उनके विचार से पृथिवी और पृथिवी-पुत्र के पारस्परिक सम्बन्ध पर ही राष्ट्र की कल्पना निर्भर है और दोनों के मानसिक सम्बन्ध से राष्ट्र का बहुमुखी विकास होता है। यदि यह सम्बन्ध हृदय में नहीं है तो पृथिवी केवल मिट्टी का ढेला है[5]।

---

१ महादेवी वर्मा : "क्षणदा", "हमारा देश और राष्ट्रभाषा" पृ० १००

२ पंत, गुप्ता, जैन : "राजशास्त्र के आधार", पृ० ६६

३ ,, : ,, पृ०७०

४ "भूमि, भूमि पर बसने वाले जन और जन की संस्कृति इन तीनों के सम्मिलन से राष्ट्र का स्वरूप बनता है।" "पृथिवीपुत्र"-वासुदेवशरण अग्रवाल- "राष्ट्र का स्वरूप", पृ० ६१।

५ "राष्ट्र की कल्पना पृथिवी और पृथिवीपुत्र के पारस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर है। मातृ-भूमि और उसके पुत्र इन दोनों का समन्वय राष्ट्र है। इनका जो मानसिक सम्बन्ध है, उसी से राष्ट्र का बहुमुखी विकास होता है।" वासुदेवशरण अग्रवाल : "पृथिवीपुत्र", पृ० ६०

वासुदेवशरण अग्रवाल की राष्ट्र के स्वरूप की धारणा अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त[1] पर आधारित है और भूमि और उसपर बसने वाले जन के आध्यात्मिक सम्बन्धों को व्यक्त करती है। वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपनी राष्ट्र की परिकल्पना में सांस्कृतिक तत्व को भी समाविष्ट कर लिया है।

भावात्मक दृष्टि से राष्ट्र और राज्य दोनों एक माने जा सकते हैं और कभी-कभी माने भी जाते हैं, किन्तु शब्दों का विश्लेषण करने से यह ज्ञात होता है कि सूक्ष्म दृष्टि से दोनों में अन्तर है। राष्ट्र यदि जातीयता का सूचक है तो राज्य राजनीतिक इकाई का बोध कराता है। जैनेन्द्र ने राज्य को एक सुगठित विशाल सामाजिक इकाई माना है[2]। उनके विचार से राज्य शासन का बाह्य रूप है, इसलिए मानव समुदाय के आध्यात्मिक विकास के साथ ही साथ वह निश्शेष हो जायगा[3]। ग्रीन आदि आदर्शवादी विचारकों ने भी राज्य की आवश्यकता उसी समय तक मानी है, जब तक मनुष्य का आध्यात्मिक और नैतिक विकास नहीं होता।

राज्य के कर्तव्य

राजतंत्र, अधिनायक तंत्र और प्रजातंत्र सभी शासन-पद्धतियों में राज्य अथवा राज्य के प्रतीक के रूप में सरकार का यह दायित्व है कि वह जनता की प्राथमिक आवश्यकताओं --भोजन,

----

१ "माताभूमि: पुत्रोअहं पृथिव्या:।" (अथर्व०पृथिवीसूक्त)

२ "पश्चिम की दृष्टि से इन्सान के रूप में बिखरी फैली जीवन की वैयक्तिक इकाई को नष्ट करके एक सुगठित विशाल सामाजिक इकाई को जन्म देने की चेष्टा की, उसका नामकरण हुआ स्टेट।"
-- जैनेन्द्र : पूर्वोदय, पृ० ३५

३ "स्टेट जो शासन संघ के अन्दर होना चाहिए किन्तु नहीं है, उसी का बाहरी रूप है। भीतर का शासन ज्यों-ज्यों जागता जायगा, त्यों-त्यों ही बाहर का तंत्रीय शासन, यानी स्टेट, व्यर्थ पड़कर निश्शेष होता जायगा।" -- जैनेन्द्र : 'प्रस्तुत प्रश्न', पृ० १८७।

वस्त्र, गृह-की पूर्ति करने के साथ ही जन-सामान्य के नैतिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक विकास में प्रयत्नशील रहे एवं उसे कूप-मण्डूक वातावरण से निकाल कर जीवन के प्रति प्रगतिशील दृष्टिकोण प्रदान करे । विषय का समुचित विश्लेषण करने की दृष्टि से राज्य के उक्त कर्तव्यों को आर्थिक, सामाजिक, नैतिक और सांस्कृतिक चार वर्गों में विभाजित किया गया है ।

राज्य के आर्थिक कर्तव्य

आर्थिक दृष्टि से व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा और जनता की समृद्धि करना राज्य का दायित्व है । किन्तु अंग्रेजों के शासन-काल में प्राचीन हिन्दू राजाओं की प्रजावत्सलता, पालकत्व गुण और दानशीलता एवं प्लेटो और अरस्तू के राजनीतिक आदर्शवाद की अवहेलना करके शासक वर्ग जब शोषण का लक्ष्य सम्मुख रखकर शासन करने लगा तब आर्थिक विषमता का प्रादुर्भाव हुआ । इस दूषित अर्थ-नीति का विरोध उन्नीसवीं और बीसवीं दोनों ही शताब्दियों के हिन्दी गद्य लेखकों ने जमकर किया है । भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र ने धन के विदेश-गमन पर क्षोभ व्यक्त किया, करों की अधिकता एवं मुक्त व्यापार (फ्री ट्रेड) नीति की कटु आलोचना की एवं औद्योगीकरण पर बल दिया । क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी का लेखक यह देख रहा था कि औद्योगीकरण के माध्यम से अंग्रेज धन का शोषण कर रहे हैं । अतः देश-प्रेम के उन्माद में उद्योगों की स्थापना का समर्थन करना उसके लिए स्वाभाविक ही था, किन्तु बीसवीं शताब्दी के लेखक ने आर्थिक शोषण से क्षुब्ध होने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विरोध नहीं किया । हाँ, भारी अतिरिक्त मशीन उद्योगों से उत्पन्न बेकारी, मंहगी, विषमता आदि दोषों से अवगत होने के कारण भारी मशीन उद्योग का विरोध और गृह उद्योगधंधों का समर्थन किया । अध्यापक पूर्णसिंह

ने मशीनों का शोषण-निरूपण करते हुए कहा है कि "मशीनें बनाई तो गई थीं मनुष्यों का पेट भरने के लिए-परन्तु वे काली-काली मशीनें ही नागिन बनकर उन्हीं मनुष्यों का भक्षण कर ड जाने के लिए मुख खोल रही हैं[1]। जैनेन्द्र ने मशीन युग को व्याधि का चिन्ह माना है[2] और यशपाल ने मशीनों से उत्पन्न विषमता और अन्याय की ओर लक्ष्य किया है[3]। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने लेख 'भय' में व्यवसायी संस्कृति से उत्पन्न निज-व्यापारी की शोषण की नीति का उल्लेख किया है[4]। क्योंकि व्यापार-नीति ने ही बड़े-बड़े राज्यों को माल की बिक्री के लिए लड़ने वाले सौदागर बना दिया है। अतः इस पृथ्वी-तल पर सुख और शान्ति की स्थापना के लिए व्यापारोन्माद का दूर होना अति आवश्यक है[5]। यह अर्थोन्माद का ही फल है कि व्यापार राजनीति या राष्ट्रनीति का प्रधान अंग हो गया और व्यापार के माध्यम से जनता का क्रम-क्रम से रक्त चूसता चला जा रहा है। फलतः देश के चलते-फिरते

---

१ 'मजदूरी और प्रेम' - अध्यापक पूर्ण सिंह के निबन्ध, पृ० १४८।

२ "मशीन युग स्वयं व्याधि का चिन्ह और फल है, कारण नहीं।"
-- जैनेन्द्र : 'प्रस्तुत प्रश्न', पृ० १९८।

३ "मशीन ही ने तो सत्यानाश किया है।...... मशीन की बदौलत ही तो सब ओर विषमता और अन्याय दिखायी देता है। कोई करोड़पति बना बैठा है और कोई टके का मजदूर!!....."
यशपाल : 'मनुष्यत्व का आधार या विनाश की सभ्यता', चक्कर क्लब टिप्पणी, पृ० ६४।

४ "कुछ लोग अलग-अलग यदि दूर लोभ के व्यापार में रत रहें तो थोड़े से लोग ही उनके द्वारा दुःखी या त्रस्त होंगे यदि उक्त व्यापार का साधन एक बड़ा दल बांधकर किया जायगा, तो उसमें अधिक सफलता होगी और उसका अनिष्ट प्रभाव बहुत दूर तक फैलेगा।" --चिन्तामणि, भाग १, पृ० १२३

५ "व्यापार नीति राजनीति का प्रधान अंग हो गई है। बड़े-बड़े राज्य माल की बिक्री के लिए लड़ने वाले सौदागर बन गए। जिस समय क्षात्रधर्म की प्रतिष्ठा थी, एक राज्य दूसरे राज्य पर कभी-कभी विजय कीर्ति की कामना [illegible]

नर कंकालों के कारागार हो रहे हैं[1]। अत: सबल देशों के पारस्परिक अर्थ संघर्ष और सबल और निर्बल देशों के अर्थ-शोषण का अन्त करने के लिए राजनीति और वाणिज्यनीति को एक दूसरे से अलग होना चाहिए[2]।

वाणिज्यवाद ने श्रेणीबद्ध समाज की रचना में सहायक तत्व का कार्य किया। औद्योगीकरण के परिणाम स्वरूप पूंजीवाद को प्रोत्साहन मिला और समाज का एक वर्ग अर्थात् बड़े-बड़े उद्योगपति और भूमिपति अपनी पूंजी को निरन्तर बढ़ाते गए एवं श्रमिक वर्ग की स्थिति दिन प्रतिदिन शोचनीय होती गई। पूंजीवादी व्यवस्था ने जिस श्रेणीबद्ध समाज को जन्म दिया, उसका उल्लेख करते हुए जैनेन्द्र ने अपने लेख 'गांधी नीति' में

(पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी का अवशिष्टांश)

इसे सांस धन हरण करने की ताक में लगा रहता है। यहां से भिन्न-भिन्न राज्यों का परस्पर सम्बन्ध समस्या इतनी जटिल हो गई है। कोई-कोई देश लोभवश इतना अधिक माल तैयार करते हैं कि उसे किसी देश के गले मढ़ने की फिक्र में दिन रात मरते रहते हैं। जब तक यह व्यापारी-भाव दूर न होगा तब तक इस पृथ्वी पर सुख-शांति न होगी।

--रामचन्द्र शुक्ल : 'चिन्तामणि', भाग१-'लोभ और प्रीति', पृ०७४

---

1 अर्थशास्त्र के प्रभाव से अर्थोन्माद का उसके साथ संयोग हुआ और व्यापार राजनीति या राष्ट्रनीति का प्रधान अंग हो गया। योरप के देश के देश इस धुन में लगे हैं कि व्यापार के बहाने दूसरे देशों से जहां तक धन खींचा जा सके, बराबर खींचा जाता रहे। पुरानी चढ़ाइयों की लूटपाट का सिलसिला आक्रमण काल तक ही -- जो बहुत दीर्घ नहीं हुआ करता था--रहता था। पर योरप के अर्थोन्मादियों ने ऐसी गूढ़ जटिल और स्थायी प्रणालियां प्रतिष्ठित की जिनके द्वारा भूमण्डल की न जाने कितनी जनता क्रम-क्रम से रक्त चूसता चला जा रहा है-- न जाने कितने देश चलते-फिरते कंकालों के कारागार हो रहे हैं। --रामचन्द्र शुक्ल : 'चिन्तामणि' भाग१ - 'मद', पृ०१९८।

2 सबल और सबल देशों के बीच अर्थसंघर्ष की, सबल और निर्बल देशों के बीच अर्थ-शोषण की प्रक्रिया अनवरत चल रही है, एक क्षण का विराम नहीं है। यदि सार्वभौम वाणिज्यवृत्ति से उतना अनर्थ कभी नहीं होता, यदि राजनीति उसके दूर से अपना लक्ष्य अलग रखती। पर इस युग में दोनों का विलक्षण सहयोग हो गया है। वर्तमान अर्थोन्माद को शासन के भीतर रखने के लिए क्षात्र धर्म के उच्च और पवित्र आदर्श को लेकर क्षात्रसंघ की प्रतिष्ठा आवश्यक है।

लिखा है कि "जहां बड़े कल-कारखाने हुए वहां जनपद दो भागों में बंटने लगता है। वे दोनों एक-दूसरे को गरज की भावना से पकड़ते और अविश्वास से देखते हैं। वे परस्पर शत्रु बने रहने के लिए एक दूसरे का आंख बचाते हैं और मिथ्याचार करते हैं। मिल-मालिक मजदूरों की झोपड़ियों को यथाशक्ति अपने से दूर रखता है और अपनी कोठी पर चौकीदारों का दल बैठाता है। उधर मजदूरों की आंख में मालिक और मालिक का बंगला कांटा बने रहते हैं"[1]। जैनेन्द्र के उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि आर्थिक वैषम्य के कारण मालिक और मजदूर में परस्पर मनोमालिन्य बना रहता है। क्योंकि सर्वहारा श्रमिक वर्ग निरन्तर कठोर परिश्रम करने पर भी अपने जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते। पूंजीवादी व्यवस्था में श्रमिक वर्ग की दुरवस्था का वर्णन अध्यापक पूर्ण सिंह ने भी किया है[2]।

जैनेन्द्र ने मशीनों को वर्गभेद का कारण मानने पर भी उनका पूर्ण निषेध नहीं किया, क्योंकि यंत्र और यंत्र-उद्योग मनुष्य की मनुष्यता के विकास में सहायक हो सकते हैं। अतः जैनेन्द्र ने मशीनों को उसी सीमा तक निषिद्ध माना है, जहां वे मालिक और मजदूर का भेद उत्पन्न करती हैं[3]। उनके विचार से उद्योगों के राष्ट्रीयकरण या समाजीकरण से भी

---

१ जैनेन्द्र : 'पूर्वोदय', पृ०८१

२ "..... इन्सानों की वह मजदूरी किस काम की जो बच्चों, स्त्रियों और कारीगरों को भूखा नंगा रखती है, और केवल, सोने, चांदी, लोहे आदि धातुओं का ही पालना करती है।
--अध्यापक पूर्ण सिंह के निबन्ध : 'मजदूरी और प्रेम', पृ०१४८

३ "क्या कोई ऐसा माप है जो एक यन्त्र को विधायक और दूसरे को विघातक बतला दे सके? तो मैं समझता हूं कि इस प्रश्न का उत्तर यह बन सकता है कि जिसके कारण मानव-सम्बन्ध बिगड़ें, जिससे दो व्यक्तियों के बीच मालिक और मजदूर का सम्बन्ध बनता हो, यह स्थिति समाज के लिए विषम है और उसमें विस्फोट का बीज है।"

--जैनेन्द्र : 'प्रस्तुत प्रश्न', पृ०९१-९२

विषमता दूर नहीं होगी, क्योंकि कच्चे माल की उपलब्धि और तैयार माल की खपत के लिए दूसरे मुल्कों का शोषण होने के कारण आर्थिक दासता, उपनिवेशों की माँग और साम्राज्यशाही को प्रोत्साहन मिलता है। उद्योगों के केन्द्रित होने से मौलिक अधिकार भी केन्द्रित हो जाते हैं और उस केन्द्रित प्रभुता का नाम ही एकतंत्रशाही (डिक्टेटर-शिप) है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पूंजीवाद ही एकतंत्रशाही को जन्म देता है।[1] जैनेन्द्र ने मशीन के आकर्षण को त्याज्य माना है मशीन को नहीं।[2] गांधी के विचारों से प्रभावित होने के कारण उन्होंने यन्त्रों के प्रयोग का समर्थन करने पर भी यान्त्रिक जीवन नीति (जो कि यन्त्रों के लिए मनुष्य को काम में लाती है, मनुष्य के लिए यन्त्र को नहीं) का

---

१ "उद्योगों के एक जगह केन्द्रित हो जाने से मौलिक अधिकार केन्द्रित हो जाता है और वैसी केन्द्रित प्रभुता का नाम ही डिक्टेटरशिप है। जहाँ मशीन लोगों को मजदूर बनाने के काम में लाई जाती है, वहाँ वह किसी दूसरे को मालिक भी बनाती है। सैकड़ों हजारों के पीछे एकाध मालिक होता है। इसी का तर्क कुछ बढ़ा-चढ़ा रूप है कि लाखों करोड़ों अनुगत हों और एक डिक्टेटर हो। किन्हीं भी दो के बीच में अगर दासता और प्रभुता का सम्बन्ध रहने दिया जाता है, तो उस रोग का उत्कर्ष स्वभावतः डिक्टेटरशाही में सम्पूर्ण होता है। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि पूंजीवाद डिक्टेटरशाही को जन्म देता है।"

—जैनेन्द्र : 'प्रस्तुत प्रश्न', पृ० १८८ ।

२ "मशीन में जिसे वैसा आकर्षण है, वह उसका त्याग कर दे। लेकिन वैसे आकर्षण की जरूरत नहीं है, इसलिए उससे घबराने की भी जरूरत नहीं है। अतः मशीन मात्र में निषेध भाव रखने का मैं समर्थक नहीं हूं।"

—जैनेन्द्र : 'प्रस्तुत प्रश्न', पृ० १८३ ।

समर्थन नहीं किया है[१]। राहुल सांकृत्यायन ने जनता की आवश्यकताओं और लाभ के लिए उद्योग-धंधों को चलाने का समर्थन और पूंजीवाद का विरोध किया है[२]। क्योंकि पूंजीवाद का भयंकर परिणाम दरिद्रता है[३]। राहुल सांकृत्यायन के विचार से "मनुष्य का श्रम ही धन है।" किन्तु पूंजीवादी देशों में इसको काम नहीं दिया जा सकता। क्योंकि लाभ का ध्येय सामने रखकर श्रम का अपव्यय और नाश बहुत भारी परिमाण में होता है। अत: उन्होंने भयंकर दारिद्र्य का अन्त करने के लिए साम्यवादी व्यवस्था को स्वीकार किया है[४]। सम्पूर्णानन्द ने भी आर्थिक

---

१ "यन्त्र और यान्त्रिक उद्योग अपने-आप में पाप नहीं है। हाथ से काम चलाने वाली चीज़ क्या यन्त्र नहीं है? चर्खा यन्त्र क्यों नहीं है? कुम्हार का चाक भी यन्त्र ही है। इस भाँति चर्खे और चाक को उपयोग में लाना एक प्रकार से यान्त्रिक उद्योग भी ठहरता है .... लेकिन यान्त्रिक जीवन-नीति जो कि यन्त्र के लिए मनुष्य को काम में जुटा लाती है, मनुष्य के लिए यन्त्र को नहीं, उस नीति और सभ्यता का समर्थन नहीं हो सकेगा।" -- जैनेन्द्र : 'प्रस्तुत प्रश्न', पृ० १६१

२ ".... हमारी सरकार अपना पहला कर्तव्य समझे -- सभी देशवासियों के खाने, कपड़े, मकान, दवा, शिक्षा आदि का प्रबन्ध करना। यह सब तभी हो सकता है जब कि केवल जनता की आवश्यकता और लाभ के लिए उद्योगधंधे चलाये जायें। पूंजीवादी व्यवस्था कुछ-कौस परिवारों को भले ही करोड़पति बना दे, किन्तु वह साधारण जनता को भूख और बेकारी से त्राण नहीं दे सकती।" --राहुल सांकृत्यायन : 'आज की समस्यायें' पृ० २२।

३ "पूंजीवाद का भयंकर परिणाम बहुत से व्यक्तियों को घोर दरिद्रता में रखता है।" -- राहुल सांकृत्यायन : 'साम्यवाद ही क्यों', पृ० ४२।

४ "हमारी भयंकर दरिद्रता का अन्त करने के लिए साम्यवाद ही कर सकता है, क्योंकि वही सदुपयोग के साथ सभी लोगों को काम दे सकता है।" --राहुल सांकृत्यायन : 'साम्यवाद ही क्यों' - हमारी भयंकर दरिद्रता की दवा साम्यवाद, पृ० ५५।

शोषण और वर्ग-भेद से क्षुब्ध होकर साम्राज्यशाही और शोषण दोनों का अन्त करने के लिए समाजवादमूलक राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकता का अनुभव किया।[1] किन्तु जैनेन्द्र के विचार से मानव-मनोवृत्तियों में परिवर्तन हुए बिना व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोध निरर्थक है।[2] किन्तु समाजवादी विचारधारा के समर्थक प्रकाशचन्द्र गुप्त ने ऊँचे-ऊँचे पदों और ऊँचे-ऊँचे वेतनों का विरोध इसी दृष्टि से किया है कि यदि समाज के एक वर्ग-भेद विशेष को उच्च पद और उच्च वेतन दे दिया जायगा तो वह जन-सामान्य का शोषण करने लगेगा और जन-साधारण की स्थिति में सुधार होना सम्भव न हो सकेगा।[3]

---

[1] पूंजीशाही मानव समाज की सुख-समृद्धि, शांति और संस्कृति के लिए घातक है और उसका उन्मूलन होना चाहिए। जब तक शोषक और शोषित वर्ग रहेंगे अर्थात् जब तक शोषण होगा तब तक कलह, दासता और अशान्ति बनी रहेगी। इसलिए इस प्रकार का वर्गभेद भी मिटना चाहिए। उसी समाज में समुचित उन्नति हो सकती है, जिसमें सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था समाजवादी ढंग पर हो। इतना ही नहीं, यह भी आवश्यक है कि राष्ट्र-राष्ट्र की प्रतियोगिता का स्थान अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग ले और यह तभी सम्भव होगा जब प्रत्येक राष्ट्र अपने यहां पूंजीशाही को दबा चुका हो और प्रकृति की दी हुई कृषि और खनिज सामग्री का उपयोग थोड़े से व्यक्तियों के लाभ के लिए नहीं, वरन् मनुष्यमात्र के लाभ के लिए किया जाय।
--सम्पूर्णानन्द : 'समाजवाद', पृ०३८८-३८९

[2] 'समाज के सुधार में मानव मनोवृत्ति में परिवर्तन होना अति आवश्यक है। वृत्ति के परिवर्तन के बिना व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोध निरर्थक है।'
--जैनेन्द्र : 'प्रस्तुत प्रश्न', पृ०२८-२९

[3] ... आज फिर देश में भयंकर बाढ़ आई है-- भूख, बेकारी, गरीबी और महामारी की। इसके विरुद्ध अपनी आधुनिकता की निरन्तर दुहाई देने वाले गवर्नमेन्ट शासक कौन से बांध बना रहे हैं? ऊँचे-ऊँचे

(अगले पृष्ठ पर देखें)

सर्वहारा श्रमिक वर्ग की स्थिति में सुधार हेतु अध्यापक पूर्णसिंह ने धन और ऐश्वर्य की जन्मदात्री हाथ की कारीगरी की उन्नति का समर्थन करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि भारत जैसे दरिद्र देश में यदि भारी मशीन उद्योगों को प्रोत्साहित किया जायगा तो यह देश और भी दरिद्र हो जायगा[1]। इसके विपरीत यदि हममें से हर आदमी अपनी उंगलियों की सहायता से साहसपूर्वक अच्छी तरह काम करे तो हम मशीनों की कृपा से बढ़े हुए परिश्रम वालों को वाणिज्य के जातीय संग्राम में सहज ही पछाड़ सकते हैं। ....[2] "सर्वहारा श्रमिक वर्ग के उद्योगपतियों के शोषण से मुक्त कराने के उद्देश्य से पूर्णसिंह जी ने जन-सामान्य को श्रम का महत्त्व बतलाते हुए[3] कहा है कि मजदूरी करना जीवन यात्रा का आध्यात्मिक नियम है।" रिचार्ड ग्रेग ने भी कहा है कि यदि समाजवाद मुख्यतः श्रमिकों (जिनकी समाज में सबसे अधिक संख्या है) का कार्यक्रम है, तो उसके अनुयायियों में से प्रत्येक का धर्म है कि कुछ न कुछ शरीर श्रम करे-- एक प्रतीक की दृष्टि से और इसलिए भी कि सर्वश्रेष्ठ (कामन) अनुभव द्वारा आचरण एवं विश्वास की एकता का विकास हो[3]। लेखक के इस मन्तव्य का प्रभाव राजनेताओं पर भी पड़ा। स्वयं

(पूर्व पृष्ठ की अवशिष्ट टिप्पणी)

वैतनधारी पशुओं और लूटमार के बाँध ? जनता की रक्षा इन कागज़ी बाँधों से क्या होगी ? जनता के शोषक विलासी मुग़ल तो पत्थर के एकाध बाँध अपनी स्मृति की रक्षा के लिए छोड़ भी गए हैं, किन्तु इन 'आधुनिक' शोषकों के स्मारक क्या यही लूटमार और अभूतपूर्व शोषण के गढ़ रह जायेंगे ? इस तूफ़ानी बाढ़ में उनकी कागज़ की नावें भी कितने दिन चल सकेंगी ?"

--प्रकाशचन्द्र गुप्त : 'रेखाचित्र' - नये स्केच--बाँध, पृ० ६३

----

१ जब तक धन और ऐश्वर्य की जन्मदात्री हाथ की कारीगरी की उन्नति नहीं होती तब तक भारतवर्ष ही की क्या, किसी भी देश या जाति की दरिद्रता दूर नहीं हो सकती। यदि भारत के तीस करोड़ नर-नारियों की उंगलियाँ मिलकर कारीगरी के काम करने लगें तो उनकी मजदूरी की बदौलत कुबेर का महल उनके चरणों में आप ही आप आ गिरे। ... भारतवर्ष जैसे दरिद्र देश में मनुष्य के हाथों की मजदूरी के बदले कलों से काम लेना काल का डंका बजाना होगा। दरिद्र प्रजा और भी दरिद्र होकर मर जायगी।"
--अध्यापक पूर्णसिंह के निबन्ध : "मजदूरी और प्रेम", पृ० १४६ (अगले पृष्ठ पर)

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने शारीरिक श्रम को महत्व देते हुए खादी और चर्खे का रचनात्मक कार्यक्रम जन-सामान्य के समक्ष प्रस्तुत किया । युग का नेतृत्व करने के कारण गांधी के राजनीतिक सिद्धान्त, जो सत्य, अहिंसा और प्रेम पर आधारित थे, भावी साहित्यकारों का आदर्श बन गए । बीसवीं सदी के दूसरे और तीसरे चरण के लगभग सभी साहित्यकार गांधीवाद से प्रभावित थे । हिन्दी गद्य लेखकों में विशेषरूप से जैनेन्द्र और प्रेमचन्द का साहित्य गांधी के राजनीतिक विचारों से प्रभावित है ।

गांधी के राजनीतिक विचारों से प्रभावित होने के कारण जैनेन्द्र ने उन्नीसवीं शताब्दी के लेखक के समान देशी मिलों में बनी वस्तुओं को भी 'स्वदेशी' न मानकर घरेलू खादी एवं ग्रामोद्योगों का समर्थन किया। क्योंकि इन उद्योगधंधों में परस्पर के सहयोग से कार्य होने के कारण श्रम की समस्या विषम नहीं होती,

---

(पूर्व पृष्ठ की टिप्पणियाँ)

२ अध्यापक पूर्ण सिंह के निबन्ध, पृ० १४६ ।

३ ,, ,, पृ० १४४ ।

४ " If socialism is primarily a programme for the manual worker, who makeup the mass of the people, then those who profess it ought all to do some manual work, both as a symbole, and so as to develop, though a common experience a unity of attitude and understanding."

--रामनाथ सुमन: 'गांधीवाद की रूपरेखा'-रिचार्ड बी० ग्रेग, पृ० ७६।

उत्पादन-आवश्यकता की दृष्टि में रखकर किया जाता है, इसलिए वस्तुएँ सस्ती होती हैं, पारस्परिक सम्पर्क बना रहने के कारण किसी का विरोध नहीं होता, सद्भाव बना रहता है और स्पर्धा की भावना भी विकसित नहीं होती[1]। इसके विपरीत मशीन के स्थूल बल में आवश्यकता से अधिक उत्पादन पर बल दिया जाता है, फलत: धन का केन्द्रीकरण होने से समाज में वर्गभेद की भावना उत्पन्न होती है। इसीलिए जैनेन्द्र ने घरेलू उद्योग-धंधों में यन्त्रों का निषेध न करने पर भी आवश्यकता से अधिक उत्पादन का विरोध किया है[2]। उनके विचार से यन्त्रों को यदि एक व्यक्ति सम्हाल सकता है और उससे यदि एक परिवार का भरण-पोषण हो सकता है तो वह उपकारी है[3]। इसके विपरीत भौगोलिक सीमाओं के अन्तर्गत यदि बृहदाकार

---

1. "मशीन का (अर्थात् पूंजी का) बल स्थूल है। उससे प्रेम के बल से आगे यह हारा ही रहा है। प्रेम के माने हैं सहयोग। घरेलू उद्योग सहयोग द्वारा बड़ी से बड़ी मशीन को मात कर सकते हैं... घरेलू उद्योग में जिस बल का बीज मैं देखता हूँ वह यही है। उसमें सबका पारस्परिक सम्पर्क बना रहता है और बढ़ता है, और परस्पर के हित विरोध न बनकर बहुत कुछ एकत्रित होते जाते हैं। यह बल बृहदाकार मशीन में (Large Scale Production) नहीं है। उसमें परस्पर का सद्भाव कम होता है और स्पर्धा के बीज बोये जाते हैं। उसमें विनाश (Disintegration) छिपा हुआ है।"
   --जैनेन्द्र : 'प्रस्तुत प्रश्न', पृ० २००-२०१
2. "घरेलू उद्योग में मशीन के तत्व का उपयोग निषिद्ध नहीं है। सिर्फ बृहदाकारता (Mass Production) का ही विरोध किया जाता है।" -- जैनेन्द्र : 'प्रस्तुत प्रश्न', पृ० २००।
3. "यन्त्र भी वैसा ही उपकारी है जिसके चलाने में किसी को मालिक और दास न बनना पड़े, अर्थात् जिसे एक आदमी संभाल सके और एक परिवार का जिससे पेट भर सके।" -- जैनेन्द्र : 'प्रस्तुत प्रश्न', पृ० १९६।

यान्त्रिक उद्योगों को प्रोत्साहित किया जाय तो उन उद्योगों से भी किसी न किसी रूप में 'देशी पूंजीवाद' को बढ़ावा मिलेगा ही[1]।

गांधी के राजनीतिक विचार धर्म की सुदृढ़ पृष्ठभूमि पर आधारित थे, इसीलिए उन्होंने प्रेम और अहिंसा का आदर्श उपस्थित किया। मानव-प्रेम का स्वरूप उनके स्वदेशी और हरिजन आंदोलन में देखा जा सकता है। अहिंसा का समर्थन भी उन्होंने नैतिक बल को बढ़ावा देने के लिए ही किया। क्योंकि वह जानते थे कि सुदृढ़ साम्राज्यशाही को भारतवासी शारीरिक बल से परास्त नहीं कर सकते। धर्म भीरू भारतीयों में शारीरिक बल की अपेक्षा आत्मिक बल अधिक है, अत: वह सत्य के लिए आग्रह कर सकते हैं। देश में हिंसा की प्रवृत्ति को बलवती करके क्रान्ति का आवाहन करना सर्वथा अव्यावहारिक नीति होती, अत: गांधी ने मनसा वाचा कर्मणा, अहिंसा का समर्थन किया। प्रेमचन्द ने भी क्रान्ति को देश के लिए अहितकर माना और अहिंसा का समर्थन करते हुए कहा है कि देश को जल की जरूरत है अग्नि की नहीं। आग लगाकर जलाने के सिवा और क्या किया जा सकता है। क्रान्ति-क्रान्ति की दुहाई देकर वक्तृताओं में हिंसा की पुट देकर, भोले-भाले और अदूरदर्शी कार्यकर्ताओं की पीठ ठोंककर,

---

१ "....स्वदेशी को भौगोलिक राष्ट्र के अर्थ में लेने से गड़बड़ उपस्थित हो सकती है। इससे 'देशी' पूंजीवाद को बढ़ावा मिलता है। और उस राह तो एक दिन राष्ट्रीयसत्ता में उतर आना होगा। उसके अर्थ होंगे, राष्ट्र-तन्त्रीय शासन। यान्त्रिक उद्योगाश्रित समाजवाद का यही परिणाम आने वाला है यानी ऐसा समाजवाद राष्ट्रवाद, फासिज्म आदि को बुलावा ही देगा। गांधी नीति का स्वदेशी सिद्धान्त, अत: हिन्दुस्तानी मिलों को नहीं, घरेलू चरखों को चाहता है।"
-- जैनेन्द्र : 'गांधी नीति' - पूर्वोदय, पृ०८२।

देश में जो आग लगाई जा रही है, उसका परिणाम अच्छा न होगा। .... हम देश को इस परिस्थिति से बचाना चाहते हैं, क्योंकि हमने अब तक जो कुछ किया है, शान्त रहकर ही किया है और आगे भी जो हमारी जीत होगी वह अहिंसा ही के बल से होगी। हिंसा का भूत हमारे सिर पर सवार हुआ और हमारा सर्वनाश हुआ। केवल मौखिक अहिंसा से काम नहीं चल सकता। हमें मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसा का अनुयायी होना पड़ेगा।[१]" जैनेन्द्र प्रेमचन्द से एक कदम और आगे बढ़े। उन्होंने विश्व-मानवता और विश्व-बंधुत्व के भावों को विकसित करने के लिए अहिंसा को एक आवश्यक तत्त्व माना। क्योंकि यही एक ऐसी शक्ति है जो अहंकार का पोषण नहीं करती और राष्ट्रीयता के नाम पर अनाचार करने से रोकती है। अतः मानव-मात्र को बाह्य शासन से यदि कोई शक्ति मुक्त कर सकती है तो वह अहिंसा ही है, क्योंकि शासकों की अदला-बदली से जन-स्वातन्त्र्य का किंचित् भी सम्बन्ध नहीं है।[२]

---

१ विविध प्रसंग, भाग २, देश की वर्तमान परिस्थिति, पृ० ७५ (जून सन् १९३१)

२ "हिंसा का रास्ता बंधुत्व तक नहीं पहुंचा सका, नहीं पहुंचाएगा। वह तो माया है जो हमें सब कुछ समझा देती मालूम होती है। आदमी क्या अपने को छल नहीं सकता? पर अहिंसा के बल से ही एकता बढ़ सकती है। क्योंकि वही बल है जिसमें अहंकार का पोषण नहीं होता, बल्कि विसर्जन होता है। नहीं तो तरह-तरह के आदर्शों के नाम पर और राष्ट्रीयता के नाम पर अहंकारों को पुष्ट किया जाता है। उससे बन्धन ही बढ़ सकता है, स्वतन्त्रता के दर्शन नहीं हो सकते। कारण, शासन पदों पर बैठे हुए लोगों में अदल-बदल हो जाने से जन-स्वातन्त्र्य का किंचित भी सम्बन्ध नहीं है।"

--जैनेन्द्र : 'पूर्वोदय' - 'अहिंसा का हल', पृ० १३६

राज्य के सामाजिक दायित्व

राज्य के सामाजिक दायित्व के अन्तर्गत रूढ़ियों और परम्पराओं का अन्त करके जन-सामान्य को प्रगतिशील दृष्टिकोण प्रदान करना राज्य का मुख्य लक्ष्य माना गया है । परम्पराओं एवं रूढ़ियों के संबंध में मान्यता एवं मूल्य देश-काल सापेक्ष है । जो आज उचित है, प्रगति का द्योतक है, वही कल रूढ़ि बन जाता है । जैसे मध्ययुगीन बालविवाह और सती प्रथा आधुनिकता का बोध होने के साथ ही रूढ़िवादी परम्पराएं मान ली गयीं और उनका शीघ्र विरोध प्रारम्भ हो गया तथा विधवा विवाह एवं स्त्री-शिक्षा को मान्यता दी गई । बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र दोनों ने ही बाल-विवाह का विरोध किया । मिश्र जी ने इस कुप्रथा को रोकने के लिए सरकार से किसी प्रकार का अनुनय-विनय नहीं की । क्योंकि वह बंधन के समान कानून की अधिकता को पराधीनता का द्योतक मानते थे । उन्होंने समाज-सुधार और आचार-व्यवहार के लिए सरकार से कानून बनाने का अनुरोध न करके समाज-हितैषियों-- पण्डित, मौलवी समुदाय का मुखिया-से इस ओर ध्यान देने का आग्रह किया[1] । इसके विपरीत पं० बालकृष्ण भट्ट ने बालविवाह को रोकना राज्य का सामाजिक दायित्व माना और सरकार से बाल विवाह विषयक कानून बनाने का अनुरोध किया[2] ।

१ "सहों २ बातों के लिए कानून बनवाने से देश का क्या हित होगा ? जो बातें प्रजा स्वयं कर सकती है, उनमें राजा को हाथ डालना कहां की नीति है ।" --"प्रतापनारायण ग्रंथावली" --"सोश्यल कान्फ्रेन्स", पृ०३२२

२ "गवर्नमेंट को चाहिए कि बाल्य विवाह को जुर्म में दाखिल कर पूरे दिन पर आने के पहले जो अपने कन्या या पुत्र का विवाह करे, उसके लिए कोई भारी सजा या जुर्माना कायम कर दो ।"

संपा० दुलारेलाल : "साहित्य सुमन" --"आत्मनिर्भरता", पृ०२०५ ।

राज्य के नैतिक और सांस्कृतिक दायित्व

आदिम युग में सुरक्षा की भावना से प्रेरित होकर ही विशाल जन-समूह ने राज्य का संगठन किया था । अतः प्रजा की सुरक्षा का प्रबन्ध करना और उसे आध्यात्मिक विकास का अवसर प्रदान करना राज्य का नैतिक दायित्व है । प्रेमघन सर्वस्व ने राज्य के नागरिक सुरक्षा के दायित्वका समर्थन करते हुए अंग्रेजी सरकार को परामर्श दिया कि वह सैनिक विभाग पर अधिकाधिक व्यय करें, क्योंकि सैनिक विभाग के सन्तुष्ट होने से ही जनता सुखी होगी[1] । सम्पूर्णानन्द ने भी राज्य के इस दायित्व की ओर लक्ष्य करके कहा है कि राज समाज का प्रतीक है, इसलिए जनता की सुरक्षा राज की जिम्मेदारी है । आर्थिक या अन्य कारणों से राज्य चाहे अन्य बातों में जनता की सेवा न कर सके परन्तु जो राज सुरक्षा का पालन नहीं कर सकता उसे जनता क्षमा नहीं कर सकती । बर्बर जातियों तक में राज का, राज के अगुणी के रूप में राजा व या सरकार का, यह अनन्य कर्तव्य रहा है[2] । सम्पूर्णानन्द ने जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा के समान ही आध्यात्मिक विकास का अवसर प्रदान करना भी राज्य का ही दायित्व मानता है । राज्य के इस दायित्व की पूर्ति हेतु उन्होंने राज्य और समाज के ऐसे धर्ममूलक संगठन की कल्पना की है जो समता के सिद्धान्त पर आधारित है और नागरिकों के उच्च नैतिक चरित्र के निर्माण में सहयोग प्रदान कर

---

१ "जितना अधिक व्यय पुलिस विभाग में गवर्नमेण्ट कर सके उतना ही अच्छा है । क्योंकि इन्हीं सन्तुष्ट रखने से प्रजा सुखी होगी । इनकी लालच कम हो जायगी और फिर यह उन सहस्र प्रजा दुःखकारी उपायों को जो धनोपार्जन के उद्देश्य सेव करते हैं छोड़ देंगे ।"

प्रेमघन सर्वस्व : 'भारतवर्ष के लुटेरे और उनकी दीन दशा', द्वि०भाग, पृ० २८३

२ सम्पूर्णानन्द : 'जनता की सुरक्षा' -- 'स्फुट विचार', पृ० ११८-१२०।

समाज से भ्रष्टाचार, अनैतिकता आदि कुप्रवृत्तियों को दूर करे एवं प्रेम और सहयोग की वृद्धि करके मानव-धर्म और मानव-संस्कृति को पुष्पित और पल्लवित होने का सुअवसर प्रदान करे।

नागरिकों के उच्च नैतिक चरित्र के निर्माण के साथ ही राज्य का यह दायित्व है कि वह नागरिकों को अपने मानसिक विकास का उचित अवसर प्रदान करे एवं जातीय और राष्ट्रीय संस्कृति का रक्षा और पुनरुद्धार करे। राज्य के इस दायित्व के सम्बन्ध में हिन्दी गद्य-लेखकों में परस्पर विचार-वैभिन्य है। कुछ लोगों का विचार है कि नागरिकों के मानसिक विकास हेतु राज्य को शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। 'सभ्य राजा का पहला कर्तव्य यह है कि वह प्रजा की शिक्षा का यथेष्ठ प्रबन्ध करे।'[1] इसके विपरीत कुछ लेखकों का विचार है कि शिक्षा देश की संस्कृति का प्रतीक है, इसलिए स्वराज्य और परराज्य दोनों ही स्थितियों में शिक्षा राज्य के संरक्षण से मुक्त होनी चाहिए। क्योंकि राज्य से किसी प्रकार की सहायता लेने का अर्थ है शिक्षा को राज्य की नीति के अनुसार ढालना। राज्य की नीति के अनुसार ढली शिक्षा जातीय और राष्ट्रीय संस्कृति की रक्षा करने की अपेक्षा राज्य के आदर्शों की रक्षा विशेषरूप से करती है।[2] सम्भवत: इसी

---

१ 'स्त्री शिक्षा की आलोचना'--'सरस्वती', जनवरी १९०७, पृ०२१।

२ 'हमारे विद्यालय ही राष्ट्र की संस्कृति के सबसे बड़े रक्षक हैं। विद्यालय पूर्ण स्वतन्त्र होना चाहिए, चाहे स्वराज्य हो, या पर राज्य। राज्य से किसी प्रकार की सहायता लेना मानो शिक्षा का गला घोंटना है। और जब शिक्षा के पैरों में बेड़ियां पड़ गयीं तो उस शिक्षा की गोद में पले हुए छात्र भी गुलाम मनोवृत्ति के मनुष्य हों तो कोई आश्चर्य नहीं।'
--'विविध प्रसंग' भाग३ --'स्वामी श्रद्धानन्द और भारतीय शिक्षा-प्रणाली', पृ०२०२।

दृष्टि से प्राचीन भारतीय राजनीतिज्ञों एवं शिक्षाविदों ने शिक्षा को राज्य के संरक्षण से मुक्त रखा था । किन्तु अंग्रेजों के शासन-काल में शिक्षा राज्य -संरक्षण में आ गई और साथ ही नवशिक्षित युवकों की मनोवृत्तियों में परिवर्तन होने के फलस्वरूप देश की राष्ट्रीय और जातीय संस्कृति का ह्रास और एक विदेशीय संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होने लगा ।

शासन तन्त्र

राज्य में व्यवस्था बनाये रखने वाली मशीन को शासन तंत्र (सरकार) कहते हैं । यह वास्तव में राज्य की कार्यकारिणी समिति है अथवा वह कार्यवाहक है, जिसके द्वारा राज्य अपनी इच्छा को प्रदर्शित करता है और अपनी इच्छा की पूर्ति कराता है । यह राज्य का एक विशेष अंग है और राज्य की शक्तियों का संचालन करता है । लॉस्की का कथन है कि शासन वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा राज्य की शक्तियां प्रकट की जाती हैं । शासन स्वयं सर्वोच्च सत्ताधारी नहीं है, उसके पास अपने निजी अधिकार और शक्तियां नहीं हैं, उसके पास जो कुछ है, वह राज्य से उसके संगठन द्वारा दिया हुआ है[1] । आदर्शवादी विचारकों ने राज्य के समान ही शासन की आवश्यकता का अनुभव भी उसी समय तक किया है, जब तक व्यक्ति में अन्त: शासन का अभाव है । ज्यों-ज्यों अन्त:शासन की प्रवृत्ति बलवती होती है, त्यों-त्यों व्यवस्था के इस बाह्य उपकरण की उपादेयता कम होती जाती है । जैनेन्द्र ने आदर्शवादी विचारकों की इस विचारधारा का समर्थन करते हुए कहा है कि देश को उत्तरोत्तर स्वायत्त शासन की ओर बढ़ना चाहिए[2] ।

---

१ डा० बृजमोहन शर्मा : 'राजशास्त्र के मूल सिद्धान्त', पृ०५१

२ धीमे धीमे विकास के साथ 'सरकार' नाम की चीज़ लुप्त हो जायगी । सरकार माने बाहरी शासन । भीतरी शासन की कमी है, इसी से बाहरी शासन ज़रूरी हो जाता है । उस बाह्यशासन का अभिप्राय है, अन्तरस्थ शासन को जगाने और मज़बूत बनाने में सहायक होना । ... जैसे जैसे अन्त: शासन जागेगा, वैसे ही वैसे बाह्य उपादान कम होते चलेंगे । ... देश को उत्तरोत्तर स्वायत्त शासन की ओर बढ़ना चाहिए ।' -- जैनेन्द्र : 'प्रस्तुत प्रश्न', पृ०५ ।

शासन का स्वरूप

किसी राज्य का शासन वहाँ के लोगों की प्रकृति, स्वभाव और राजनीतिक उन्नति पर निर्भर है । शासन में कितने लोग सम्मिलित हैं और राजा, कुल तथा प्रजा में से प्रभुत्व शक्ति(सर्वोच्च सत्ता) का संचय तथा स्रोत किसमें है, इस आधार पर शासनतंत्र के स्वरूप का निर्णय किया जाता है । जब किसी एक उच्चतम सत्ता की प्रेरणा से राज्य का कार्य संचालित होता है तब उसे राजतंत्र शासन कहा जाता है । राजतंत्र शासन के दो भेद किये जा सकते हैं-- पहला निरंकुश राजतंत्र दूसरा सवैधानिक राजतंत्र । निरंकुश राजतंत्र में राजा की आज्ञा ही सर्वोपरि है, किन्तु आदर्श निरंकुश राजा पूर्ण सत्ताधारी होने पर भी अपनी प्रजा के भावों का आदर करता है और उसके हित के कार्य करता है, जबकि स्वेच्छाचारी निरंकुश राजा प्रजा के हितों की ओर ध्यान नहीं देते । सवैधानिक राजतंत्र में राजा की शक्तियां देश के किसी लिखित अथवा अलिखित विधान से या जनमत से सीमित होती हैं । जब शासन-सत्ता कुछ थोड़े से चतुर और बुद्धिमान लोगों के हाथ में होती है तो उसे कुलीन तंत्र और जब सर्वोच्च सत्ता जन-प्रतिनिधियों के हाथ में होती है तब उसे जनतंत्र अथवा लोकतंत्र की संज्ञा दी जाती है ।

उन्नीसवीं शताब्दी के लेखक ने राजा की सर्वोपरि सत्ता में विश्वास करने पर भी प्राचीन भारतीय राजनीति के आदर्शानुकूल प्रजा-सम्मत राज्य की ही कल्पना की । यह और बात दूसरी है कि प्रजातंत्र शासन-पद्धति के आदर्शों और सिद्धान्तों का स्पष्ट और सुलझा हुआ स्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के गद्य में परिलक्षित नहीं होता । किन्तु बीसवीं शताब्दी के गद्य में लोकतंत्र के आदर्शों और सिद्धान्तों का निरूपण बड़े ही स्पष्ट और सुलझे हुए ढंग से हुआ है । जैनेन्द्र ने जनतन्त्र को 'सबका राज्य' कहा है । उनके अनुसार शब्द के अर्थ के साथ व्यभिचार करके स्थूल वास्तविकता में उसे एक पार्टी का राज्य या अराज्य बनाया जा सकता है[1] । इसके विपरीत सम्पूर्णानन्द ने लोकतंत्र

---

१ जैनेन्द्र : 'प्रस्तुत प्रश्न', पृ० २२

की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'संघटित सम्पन्न वर्गों की इच्छा के अनुकूल शासन, परन्तु इस प्रकार कि साधारण जनता समझे कि शासन में हमारा भी हाथ है।'[1]

लोकमत

जनतंत्र शासन में राजसत्ता जनता में केन्द्रित होने से लोकमत का महत्व बढ़ जाता है। अंग्रेजों के शासन-काल में प्रतिनिधि शासन-पद्धति होने के कारण स्वेच्छाचारी शासकों पर नियंत्रण और शासन में सुधार के लिए लोकमत की भावना का महत्व स्थापित किया गया। बालकृष्ण भट्ट ने इस भावना से प्रेरित होकर अफसरशाही की निरंकुशता को रोकने के लिए लोकमत की आवश्यकता बतलाते हुए कहा कि 'जिस ढर्रे पर बिटिश गवर्नमेंट का राज्य चल रहा है, उसमें बड़े-बड़े हाकिमों और बड़े बड़े ओहदेदारों को मनमाना कर गुजरने में यदि कोई बात रोक सकती है तो पब्लिक ओपीनियन सर्वसाधारण का लोकमत है।'[2] बालमुकुन्द गुप्त राजा-प्रजा का भाव रखने पर भी लोक सम्मत शासन के ही समर्थक थे।[3] इसीलिए उन्होंने बंग विच्छेद का विरोध किया। जैनेन्द्र ने अनीति के मद में झूले हुए देश को शिक्षा देने एवं उसपर नियंत्रण रखने के लिए जागृत लोकमत की आवश्यकता का प्रतिपादन किया।[4] लेकिन यहां आकर

1 सम्पूर्णानन्द : 'समाजवाद', पृ०६२

2 'हिन्दी प्रदीप' मई, १८८५ई०, पृ०१८७।

3 'क्या आंख बन्द करके मनमाने हुक्म चलाना और किसी की कुछ न सुनने का नाम ही शासन है? क्या प्रजा की बात पर कभी ध्यान न देना और उसको दबाकर उसकी मर्जी के विरुद्ध जिद से सब काम किये चले जाना ही शासन है?' --सातवां चिट्ठा (भारत मित्र, २सितम्बर, १९०५ई०), गु० निबन्ध संग्रह पृ०४५।

4 'अनीति के मद में झूले हुए देश को शिक्षा देने का क्या कोई उपाय नहीं है ....उपाय है और वह उपाय हाथ पर हाथ धरे बैठना नहीं है। सबसे बड़ा अंकुश लोकमत है।' -- जैनेन्द्र : 'प्रस्तुत प्रश्न', पृ०३।

नहीं रुक जाता वह आगत लोकमत का सम्बन्ध सभ्यता और संस्कृति से भी जोड़ता है । सभ्यता उसका तक उन्नत हुए लोकमत का ही नाम है ।

निर्वाचन पद्धति

लोकतांत्रिक शासन जनता के प्रति उत्तरदायी होता है । जनता ही अपने प्रतिनिधियों को चुनकर विधान निर्माण और शासन कार्य संचालन की अनुमति देती है । अत: जनतंत्र शासन-पद्धति में सरकारों के संगठन के लिए निर्वाचन अति आवश्यक है । बड़े-बड़े राज्यों में जनता प्रत्यक्षत: शासन पर नियन्त्रण नहीं रख सकती । इसलिए प्रतिनिधि शासन-पद्धति का अनुसरण किया जाता है । बालमुकुन्द गुप्त ने अपने 'शिवशम्भू के चिट्ठे' में जनप्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का समर्थन किया है[1] । किन्तु प्रतिनिधियों के निर्वाचन की कोई व्यवस्था नहीं है । जब कि बीसवीं शताब्दी के लेखकों ने आम चुनाव द्वारा प्रतिनिधि चुने जाने में विश्वास व्यक्त किया है । क्योंकि जन प्रतिनिधि पुनर्निर्वाचित होने की महती आकांक्षा को सम्मुख रखकर ही जन-कल्याण में संलग्न होते हैं । गुलाबराय ने संयुक्त निर्वाचन को देश के

---

१ "....यह दीन भंगड़ ब्राह्मण शिवशम्भु शर्मा तीसरी बार अपना चिट्ठा लेकर आपकी सेवा में उपस्थित है । इसे भी प्रजा का प्रतिनिधि होने का दावा है । इसी से यह राज प्रतिनिधि के सम्मुख प्रजा का कच्चा चिट्ठा सुनाने आया है ।....

अवश्य ही इस देश की प्रजा ने इस दीन ब्राह्मण को अपनी सभा में बुलाकर कभी अपने प्रतिनिधि होने का टीका नहीं किया और न कोई पट्टा लिख दिया है । आप जैसे बाजाबता राज प्रतिनिधि हैं वैसा बाजाबता शिवशम्भु प्रजा का प्रतिनिधि नहीं है ।.... तथापि यह इस देश की प्रजा का यहां के चिथड़ापोश कंगालों का प्रतिनिधि होने का दावा रखता है ।"

--वैसराय का कर्तव्य - 'शिवशम्भु के चिट्ठे' (भारत मित्र, २० दिसम्बर १९०४ ई०), पृ० २३-२४ ।

लिए हितकर माना है । उनके विचार से पृथक् निर्वाचन और काउन्सिलों में स्थान सुरक्षित रखने से ही दो राष्ट्र की कल्पना को प्रोत्साहन मिला है[१]। इसके विपरीत जैनेन्द्र ने वर्तमान निर्वाचन पद्धति को अनावश्यक माना है,क्योंकि वोट द्वारा प्रतिनिधि चुने जाने की पद्धति में सच्चा प्रतिनिधि बनने की संभावनाएं नहीं हैं[२]। दलों के प्रचार और आतंक के भय से वोट खुले मन का नहीं हो पाता[३]। प्राय: महत्वाकांक्षी व्यक्ति ही चुनाव में खड़े होते हैं या खड़े किए जाते हैं, इसलिए चुनाव प्रथा न ही नैतिकता की वृद्धि में सहायक होती है और न इससे राष्ट्र की आशाएं पूर्ण हो पाती हैं[४]। क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि

---

१ "राष्ट्रीय विषयों में पार्थक्य भावना का पोषण करना राष्ट्र के लिए घातक है । पृथक निर्वाचन एवं काउन्सिलों में स्थान सुरक्षित रखने के परिणामस्वरूप ही तो दो राष्ट्र की कल्पना को प्रोत्साहन मिला और देश का विभाजन हुआ । पार्थक्य की भावना को दूर हटाकर संयुक्त निर्वाचन ही देश के लिए हितकर है । संयुक्त निर्वाचन के साथ-साथ बहुसंख्यक जातियों पर इस बात का उत्तरदायित्व आ जाता है कि इस संयुक्त निर्वाचन के कारण अल्पसंख्यकों के हितों की हानि न हो । उनके योग्य व्यक्तियों को चुनाव में आ जाना चाहिए । बहुसंख्यकों की अनुदारता ही पार्थक्य की भावना को जन्म देती है ।" -- गुलाबराय : 'मेरे निबन्ध जीवन और जगत' पृ० १८४ ।

२ "वोटों की गिनती द्वारा जो प्रतिनिधि चुने जाने की पद्धति है,क्या उसमें सच्चे प्रतिनिधि चुने जाने अथवा किसी के सच्चे प्रतिनिधि बनने की सम्भावना भी रहती है ? -- नहीं रहती । ऐसे प्रतिनिधि भी देखने में आते हैं,जिन्हें खबर नहीं कि वे कहां के प्रतिनिधि हैं और जहां के प्रतिनिधि हैं, उन्हें खबर नहीं कि हमारा कोई प्रतिनिधि भी है । इसलिए 'यदि' प्रतिनिधि' शब्द से वोट गणना वाले प्रतिनिधि का भाव आता है तो कहना होगा कि नैतिक पुरुष हो अथवा नहीं भी हो । अधिक सम्भावना उसके प्रतिनिधि नहीं होने की है ।"

-- जैनेन्द्र : 'प्रस्तुत प्रश्न',पृ० २६ ।

३ "वोट विवेक का ही हो हृदय का ही हो । उसके लिए या तो प्रत्येक व्यक्ति में विवेक शक्ति इतनी आ जाय कि वह किसी दलीय दबाव से आतंकित न हो, या फिर वातावरण में से दलातंक ही इतना क्षीण हो जाय कि व्यक्ति के विवेक में विकार न आवे ।" --जैनेन्द्र : 'प्रस्तुत प्रश्न',पृ० २६ ।

४ "मतगणना वाले तंत्र से (Democracy)समाज की आशाएं पूर्ण नहीं हो रही हैं......" -- जैनेन्द्र : प्रस्तुत प्रश्न',पृ० २७ ।

बहुमत सदैव ठीक ही हो । प्रजातंत्र शासन-पद्धति में बहुमत को ही मान्यता दी जाती है, इसलिए बहुमत प्राप्त व्यक्ति यदि स्वार्थान्ध हो जाय तो देश के लिए हानिकारक होता है । बहुमत की प्रधानता होने के कारण अवसरवादी मनोवृत्ति बढ़ जाती है । जनतंत्र शासन में चुनाव के साथ ही साथ शासक बदलते रहते हैं । अतः अवसरवादी लोग बहुमत के नाम पर अपना स्वार्थ सिद्ध करने में संलग्न रहते हैं । वे अल्पमत का भी विरोध नहीं करते, क्योंकि आज का अल्पमत कल का बहुमत हो सकता है । प्रभाकर माचवे ने जनतंत्र शासन की इस अवसरवादी मनोवृत्ति की ओर लक्ष्य करके कहा है कि "जनतंत्र में पद बदलते रहते हैं, आज की माइनोरिटी कल की मेजोरिटी हो सकती है । तो बुरा क्यों बनो? दोनों हाथों लड्डू रखो । माइनोरिटी से कहो कि मेजोरिटी तुम पर दमन-अत्याचार उत्पीड़न कर रही है और मेजोरिटी से कहो कि यह माइनोरिटी ही सब कुछ गड़बड़ कर रही है ।"[1]

शासक

शासन की बागडोर जिन व्यक्तियों के हाथ में होती है, उन्हें शासक कहा जाता है । [illegible] राजतंत्र शासन-व्यवस्था में राजा[2] और जनतंत्र शासन में प्रजा के प्रतिनिधि ही शासक की कोटि में आते हैं । प्राचीन भारतीय राजनीति के आदर्शानुकूल उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रतापनारायण

---

१ प्रभाकर माचवे : 'खरगोश के सींग' - सुशामद, पृ०१४०, सन् १९४८ ई० ।

२ 'राजा' शब्द का अर्थ है 'प्रजा का रंजन [illegible] करने वाला' राज्य व्यवस्था को भली प्रकार चलाने के लिए प्रजा जिसको अपना नेता निर्वाचित करती है वही राजा है । 'राजशास्त्र के मूल सिद्धान्त' - डा० ब्रजमोहन [illegible]शर्मा पृ०३८ ।

मिश्र ने[1] राजा के दैवी स्वरूप की परिकल्पना की और उसे ईश्वर का पर्याय माना । युग निर्माता भारतेन्दु ने भी शासक को विशिष्ट शक्ति सम्पन्न मानकर उसके गुण गान किए और बालकृष्ण भट्ट ने महारानी विक्टोरिया में दैवी गुणों की प्रतिष्ठा करके शासक के दैवी स्वरूप में अपना विश्वास व्यक्त किया । उल्लेखनीय यह है कि राजा के दैवी स्वरूप की कल्पना करने पर भी उन्नीसवीं शताब्दी के लेखक ने राजा को जन-सामान्य के बीच ही देखना चाहा है, क्योंकि जनता के बीच रहकर ही वह जनता के सुख-दुःख का भागीदार हो सकता है । प्राचीन भारतीय राजनीति के आदर्शानुकूल राजा के पालकत्व गुण में इन लेखकों का विश्वास था । अतः जब अंग्रेज़ शासकों ने प्रजावत्सलता और पालकत्व गुण का परित्याग कर अपनी स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों के अनुसार निरंकुश शासन की नीति अपनाई तब राजा की सर्वोपरि सत्ता से इन लेखकों का विश्वास उठ गया और वे राजा को सामान्य मानव के रूप में देखने लगे । उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के संधिकाल में बालमुकुन्द गुप्त ने शासक को सामान्य मानव की दृष्टि से देखा और इस बात की अपेक्षा की कि वह जनता के बीच रहे एवं उसके सुख दुःख का भागीदार हो[2] ।

---

१ "राजा की जाति, धर्म, आचार व्यवहार कुछ हो क्यों न हो हम उसे मान्य करते करते हैं । मान्य ही नहीं, वरंच यदि हमें प्राप्त रहे तो हम उसे पूजने लगें । ईश्वर का नाम पढ़े-लिखों में जगन्नाथ इत्यादि और बिना पढ़ों में दई राजा आदि से प्रत्यक्ष है कि हम ईश्वर और राजा को पर्याय समझते हैं ।"
—"प्रतापनारायण ग्रन्थावली" - "हम राजभक्त हैं", पृ० २१३

२ "क्या भारत में ऐसा समय भी था जब प्रजा के लोग राजा के घर जाकर होली खेलते थे और राजा-प्रजा मिलकर आनन्द मनाते थे ? क्या कभी भारत में राजा लोग प्रजा के आनन्द को किसी समय अपना आनन्द समझते थे ? अच्छा यदि आज शिवशम्भु शर्मा अपने मित्रवर्ग सहित अबीर गुलाल की झोलियां भरे रंग की पिचकारियां लिये अपने राजा के घर होली खेलने जाए तो कहां जाए? राजा दूर सात समुद्र पार है । राजा का केवल नाम सुना है । न राजा को शिवशम्भु ने देखा न राजा ने शिवशम्भु को । खैर, राजा नहीं उसने अपना प्रतिनिधि भारत में भेजा है । कृष्ण द्वारिका ही में हैं पर उद्धव को प्रतिनिधि बनाकर ब्रजवासियों को संतोष देने के लिए ब्रज में भेजा है । क्या उस राज प्रतिनिधि के घर जाकर

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

सम्प्रभुता

राज्य की सर्वोच्च सत्ता ही सम्प्रभुता है । यह विधियों से नियन्त्रित नहीं होती । फ्रेंच विचारक बोदां ने कहा है कि 'यह नागरिकों तथा प्रजा के ऊपर परम शक्ति है जो कि विधि द्वारा नियंत्रित नहीं है'[1] । जेलिनेक के अनुसार 'सम्प्रभुता राज्य का वह गुण है, जिसके द्वारा राज्य अपनी इच्छा तथा शक्ति के अतिरिक्त और किसी से कानूनन सीमित नहीं है'[2] । बर्गेस ने सम्प्रभुता को राज्यान्तर्गत व्यक्ति तथा व्यक्ति समूहों के ऊपर मौलिक निरंकुश तथा असीमित शक्ति माना है[3] और विलोबी ने इसे राज्य की परमेच्छा कहा है[4] । उक्त सभी परिभाषाओं का विश्लेषण करने से

(पूर्व पृष्ठ का अवशिष्टांश)

शिव शम्भु होली नहीं खेल सकता ?.... माई लार्ड नगर ही में है पर शिवशम्भु उनके द्वार तक नहीं फटक सकता है, उनके घर चलकर होली खेलना तो विचारना दूसरा है । माई लार्ड के घर तक प्रजा की बात नहीं पहुंच सकती । बात की हवा नहीं पहुंच सकती ।... प्रजा की बोली वह नहीं समझता, उसकी बोली प्रजा नहीं समझती। प्रजा के मन का भाव वह न समझता है न समझना चाहता है। उनके मन का भाव न प्रजा समझ सकती है न समझने का कोई उपाय है ...
--छठा चिट्ठा- एक दुराशा, पृ०३४-३५(भारत मित्र १८मार्च१९०५ई०)

---

1. "Sovereignty is supreme power over citizens and subjects unrestrained by law"
राजनीति शास्त्र के आधार – पंत, गुप्ता, जैन, पृ०१९५,

2. " It is that characteristic of the state in virtue of which it cannot be legally bound except by its own will/or limited by any other power than itself." quoted in Gerner.

3. " It is original absolute, unlimited power over the individual subject and over all association of subjects."

4. "sovereignty is the supreme will of the State."
राजनीति शास्त्र के आधार – पंत, गुप्ता, जैन, पृ०१९६,

यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्प्रभुता राज्य की सर्वप्रधान शक्ति है । यह आंतरिक और बाह्य विषयों में पूर्ण स्वतन्त्र है । स्वतंत्र शासन में यह शक्ति राजा में केन्द्रित होती है, किन्तु जनतंत्र में सम्प्रभुता राजा में केन्द्रित न होकर जनता में केन्द्रित होती है ।

सम्प्रभुता का केन्द्र का आधार

उन्नीसवीं शताब्दी के लेखक राजा में दैवी शक्ति की अवधारणा लेकर चले थे, इसलिए उन्होंने राजसत्ता को राजा में केन्द्रित किया और जन-सामान्य की स्थिति में सुधार हेतु राजा से सहानुभूति की अपेक्षा की । किन्तु बीसवीं शताब्दी के लेखक ने शासक को संप्रभु शक्ति न मानकर जनसेवक माना, संप्रभुता को जनता में केन्द्रित किया और पशु बल के स्थान पर नैतिक बल को मान्यता दी । क्योंकि पशुबल से शरीर पर विजय प्राप्त की जा सकती है हृदय और आत्मा पर नहीं । लेखक राजा के कर्तव्यों में इतना ही नहीं मानता कि वह शासन को सुचारुरूप से चला सके वरन् मानवीय तत्व को प्रधान मानते हुए राजा-प्रजा के आत्मिक सम्बन्धों को भी महत्व देता है । चूंकि जार्ज ने इस आत्मिक सम्बन्ध की उपेक्षा की इसलिए पूर्ण सिंह ने उन्हें कायर कहा और उनकी निन्दा की[१] । इसके विपरीत बालमुकुन्द गुप्त ने राजा-प्रजा के इस आत्मिक सम्बन्ध की प्रधानता के कारण ही कृष्ण की प्रशंसा की है और उस

---

१ "इन्द्र की तरह ऐश्वर्यवान् और बलवान होने पर भी दुनिया के छोटे जार्ज बड़े कायर होते हैं क्यों न हों उनकी हुकूमत लोगों के दिलों पर नहीं होती । दुनिया के राजाओं के बल की दौड़ लोगों के शरीर तक है ।"
प्रभातशास्त्री : "अध्यापक पूर्ण सिंह के निबन्ध", पृ० ५२

यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्प्रभुता राज्य की सर्वप्रधान शक्ति है । यह आंतरिक और बाह्य विषयों में पूर्ण स्वतन्त्र है । स्वतंत्र शासन में यह शक्ति राजा में केन्द्रित होती है, किन्तु जनतंत्र में सम्प्रभुता राजा में केन्द्रित न होकर जनता में केन्द्रित होती है ।

सम्प्रभुता का केन्द्र का आधार

उन्नीसवीं शताब्दी के लेखक राजा में दैवी शक्ति का अवधारणा लेकर चले थे, इसलिए उन्होंने राजसत्ता को राजा में केन्द्रित किया और जन-सामान्य की स्थिति में सुधार हेतु राजा से सहानुभूति की अपेक्षा की । किन्तु बीसवीं शताब्दी के लेखक ने शासक को संप्रभु शक्ति न मानकर जनसेवक माना, संप्रभुता को जनता में केन्द्रित किया और पशु बल के स्थान पर नैतिक बल को मान्यता दी । क्योंकि पशुबल से शरीर पर विजय प्राप्त की जा सकती है हृदय और आत्मा पर नहीं । लेखक राजा के कर्तव्यों में इतना ही नहीं मानता कि वह शासन को सुचारु रूप से चला सके वरन् मानवीय तत्व को प्रधान मानते हुए राजा-प्रजा के आत्मिक सम्बन्धों को भी महत्व देता है । चूंकि जार्ज ने इस आत्मिक सम्बन्ध की उपेक्षा की इसलिए पूर्ण सिंह ने उन्हें कायर कहा और उनकी निन्दा की[1] । इसके विपरीत बालमुकुन्द गुप्त ने राजा-प्रजा के इस आत्मिक सम्बन्ध की प्रधानता के कारण ही कृष्ण की प्रशंसा की है और उस

---

1 "इन्द्र की तरह ऐश्वर्यवान् और बलवान होने पर भी दुनिया के छोटे जार्ज बड़े कायर होते हैं क्यों न हों इनकी हुकूमत लोगों के दिलों पर नहीं होती । दुनिया के राजाओं के बल की दौड़ लोगों के शरीर तक है ।"
प्रभातशास्त्री : 'अध्यापक पूर्ण सिंह के निबन्ध', पृ०५२

प्रशंसा के माध्यम से लार्ड कर्जन को प्रजा के साथ आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सचेत किया है[1]।जैनेन्द्र ने भी सत्ता का आधार शासक के नैतिक बल को माना है,पशुबल को नहीं,क्योंकि नैतिक बल के आगे पशुबल को सदैव ही पराजित होना पड़ता है[2]। शासक जाति के लिए नैतिक बल का महत्त्व दर्शाते हुए प्रेमचन्द ने भी कहा है कि "चरित्रबल से ही एक जाति दूसरी जाति पर आतंक जमा सकती है । पशुबल से स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सकता[3]। क्योंकि सत्ता यदि पशु बल पर आधारित हो तो जनता उसे पराधीनता का हेतु समझकर

१... कि ऐं क्या भारत में ऐसा समय भी था जब प्रजा के लोग राजा के घर जाकर होली खेलते थे और राजा प्रजा मिलकर आनन्द मनाते थे ? क्या कभी भारत में राजा लोग प्रजा के आनन्द को किसी समय अपना आनन्द समझते थे ?अच्छा यदि आज शिवशम्भु शर्मा अपने मित्र वर्ग सहित अबीर गुलाल की भोलियां भरे रंग की पिचकारियां लिये अपने राजा के घर होली खेलने जाय तो कहां जाये ? राजा दूर सात समुद्र है । राजा का केवल नाम सुना है । न राजा को शिवशम्भु ने देखा न राजा ने शिवशम्भु को । खैर, राजा नहीं उसने अपना प्रतिनिधि भारत में भेजा है । कृष्ण द्वारिका ही में है पर उद्धव को प्रतिनिधि बनाकर ब्रजवासियों को संतोष देने के लिए ब्रज में भेजा है । क्या उस राज प्रतिनिधि के घर जाकर शिव शम्भु होली नहीं खेल सकता ।" -- 'छूटा चिट्ठी',पृ०३४ ।

२ "नैतिक बल चाहिए, नैतिक ज्ञान काफ़ी नहीं । कोरा नैतिक ज्ञान पशु-बल को हरा नहीं सकता । हाँ नीति का सच्चा बल हो, तो उसके आगे पशु-बल तो हारा ही रखा है ।" -- जैनेन्द्र : 'प्रस्तुत प्रश्न',पृ०१४ ।

३ 'विविध प्रसंग'भाग२ -- अमृतराय

'गोरी जातियों का प्रभाव क्यों कम हो रहा है ?'

जून,१९३१९०,पृ०७७ ।

विद्रोह के लिए कृतसंकल्प हो जाती है।[1]

लोकेच्छा

राजनीतिक चेतना के अभ्युदय के साथ ही सत्ता का आधार लोकेच्छा[2] को माना गया क्योंकि सबल से सबल शासक भी बल प्रयोग के द्वारा अधिक दिनों तक शासन नहीं कर सकता। उसे शासित का विश्वास अर्जित करना ही पड़ता है।[3] जैनेन्द्र ने भी शासक और शासित के पारस्परिक विश्वास को सुशासन की अनिवार्यता माना है।[4] उनके विचार से सार्वभौम मताधिकार या चुनाव पारस्परिक विश्वास और सद्भावना की आवश्यक शर्त नहीं है 'वोट' डाले बिना भी विश्वास का, अधिकार का आदान प्रदान हो सकता है। क्योंकि जनता ही सरकार की शक्ति का स्रोत है। धन, जन, बल सब जनता में ही केन्द्रित है और वहीं से प्राप्त होता है। प्रेमचन्द ने भी जन-शक्ति में विश्वास व्यक्त करते हुए कहा है कि "हिन्दुस्तान का उद्धार हिन्दुस्तान की जनता पर निर्भर है।"[5]

---

१ "वह ज़माना गया, जब जनता पशु बल के प्रदर्शन से डर जाया करती थी। अब वह डरती नहीं, वह उसे अपनी पराधीनता का हेतु समझ कर उसकी जड़ खोदने के लिए दृढ़ संकल्प कर लेती है।..... कोई कानून जिसको राष्ट्र के नेताओं ने स्वीकार नहीं किया है और जिसका केवल पशुबल पर आधार है, अब जनता उसके सामने सिर झुकाने को तैयार नहीं है।" - विविधप्रसंग भाग २, पृ० ५२-५३
-- अमृतराय : "पशावन और शान्ति"

२ लोकेच्छा -- "सम्पूर्ण जन समाज की सामूहिक इच्छा अथवा सर्व साधारण का कल्याण करने वाली व्यक्तिगत इच्छाओं का समूह है।"
--बोसांके : "राजशास्त्र के मूल सिद्धान्त" -डा० ब्रजमोहन शर्मा, पृ० २३५

३ "प्राचीन काल से ही राज-सत्ताधारियों का यह प्रयत्न रहा है कि प्रजा उनको सर्वोपरि, समदृष्टि, निःस्वार्थ और निष्पक्ष माने। बात यह है कि कोई शासक कितना ही प्रबल क्यों न हो केवल बल प्रयोग के सहारे बहुत दिनों तक शासन कर नहीं सकता। अतः प्रजा में यह भाव उत्पन्न करना आवश्यक होता है कि राज प्रतीक अर्थात् सरकार केवल लोकहित अर्थात् सर्वहित से प्रेरित है और

शासित

शासित वह विशाल जनसमूह है जो राजाज्ञा का पालन करता है । राजतंत्र शासन-व्यवस्था में उस विशाल जन-समूह को प्रजा[१] कहा जाता है, किन्तु गण तंत्र शासन में वही विशाल जन समूह नागरिक[२] की कोटि में आ जाता है । प्राचीन भारतीय राजनीति के आदर्शानुकूल राजा के ईश्वरप्रदत्त अधिकारों की परिकल्पना करने के कारण उन्नीसवीं शताब्दी के गद्यकारों ने जनता को प्रजा के रूप में देखा और राजनीतिक अधिकारों की मांग पर विशेष बल न देकर जनता के सुख की कामना करते हुए शासकों की स्तुति की । किन्तु नागरिकता की भावना ज्यों-ज्यों स्पष्ट और व्यापक होती गई त्यों-त्यों सामाजिक अधिकारों की मांग के साथ ही राजनीतिक अधिकारों की मांग की जाने लगी अर्थात् जनता ने शासन में भाग लेने के अधिकार

(पूर्व पृष्ठ का अवशिष्टांश)

उसका समर्थन करना सब का कर्तव्य है । "

-- सम्पूर्णानन्द -- 'समाजवाद', पृ० २१ ।

४ "शासन को शासित का विश्वास-पात्र होना चाहिए, यह तो सुशासन के लिए अनिवार्य तथ्य बात है हा.... "

-- जैनेन्द्र : 'प्रस्तुत प्रश्न', पृ० १६

५ विविध प्रसंग, भाग २, पृ० २२

---

१ "प्रजा वे व्यक्ति हैं, जिन्हें निर्वाचित होने अथवा निर्वाचित करने का अधिकार प्राप्त नहीं है ।" --डा० ब्रजमोहन शर्मा : 'राजशास्त्र के मूल सिद्धान्त', पृ०४७

२ नागरिक वे लोग हैं जिन्हें सामाजिक अधिकारों के अतिरिक्त राजनैतिक अधिकार अर्थात् शासन में भाग लेने का अधिकार भी प्राप्त है । व्यक्तिगत स्वतंत्रता, सम्पत्ति, संविदा आदि सामाजिक अधिकारों के अतिरिक्त मत देने निर्वाचन में मत प्राप्त करने तथा राज्य के विधानमंडल एवं अन्य प्रतिनिधि संस्थाओं का सदस्य बनने तथा राज्य के विविध पदों पर नियुक्त होकर राज्य की सेवा करने अथवा "सद्ज्ञान युक्त निर्णय द्वारा सामाजिक हित में योग देने" के राजनैतिक अधिकार

(अगले पृष्ठ पर देखें)

की मांग की । प्रजा के जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता के सामाजिक अधिकारों की मांग तो उन्नीसवीं शताब्दी के लेखक ने भी की थी, किन्तु बीसवीं शताब्दी के लेखक ने सार्वभौम मताधिकार, विधान मण्डल एवं अन्य प्रतिनिधि संस्थाओं के सदस्य बनने तथा राज्य के विविध पदों पर नियुक्ति प्राप्त करने के अधिकार की मांग की ।

नागरिक अधिकार और कर्तव्य

नागरिकता की भावना का विकास होने के साथ ही अधिकार और कर्तव्य का प्रश्न उठा । जब तक जनता प्रजा थी तब तक उसके राज्य के प्रति कर्तव्य तो थे, किन्तु अधिकार के नाम पर केवल सामाजिक अधिकार ही उसे दिए जाते थे । नागरिक की परिकल्पना ने विशाल जन-समूह को सामाजिक अधिकारों के साथ ही साथ राजनैतिक अधिकारों से भी विभूषित किया । राज्य की ओर से दिए गए अधिकारों के बदले में नागरिकों को कर्तव्य भी करने पड़ते हैं । क्योंकि अधिकार और कर्तव्य दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, जो एक का अधिकार है, वही दूसरे का कर्तव्य हो जाता है । कर्तव्य की उपेक्षा करके व्यक्ति अधिकारों का उपभोग नहीं कर सकता । इसीलिए जैनेन्द्र ने अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्य की भावना को प्रधान माना है[1] । क्योंकि बिना कर्तव्य के अधिकार कोरा अहं है[2] ।

(पूर्व पृष्ठ का अवशिष्टांश)
भी नागरिक को प्राप्त होते हैं । दूसरे शब्दों में नागरिक को केवल अधिकार ही नहीं मिलते वरन् वह राज्य के प्रति समाज के सामान्य हित एवं प्रगति के लिए भी उत्तरदायी होता है । -- गुरुमुख निहाल सिंह : "राजनीतिक विज्ञान एवं संगठन के मूल सिद्धान्त", पृ० ३३२ ।

1. "सामूहिक जीवन में अधिकार की चेतना मंद हो, जिम्मेदारी की ही भावना प्रधान हो ।" --प्रस्तुत प्रश्न, पृ० ९६ ।
2. "अधिकार जहाँ तक कर्तव्य के साथ चले, वहीं तक जायज है । नहीं तो अधिकार अपने आप में कोई भी चीज़ नहीं है, वह कोरा अहंकार है ।" -- प्रस्तुत प्रश्न, पृ० ४० ।

वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी अधिकार की अपेक्षा कर्तव्य को प्राधान्य देते हुए कहा है कि जो जन मातृभूमि के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहता है उसे अपने कर्तव्यों के प्रति पहले ध्यान देना चाहिए।[1]

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र आदि ने और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राहुल सांकृत्यायन ने जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना राज्य का दायित्व माना, किन्तु सम्पूर्णानन्द के विचार से इन आवश्यकताओं की पूर्ति करना राज्य का दायित्व होने के साथ ही जनता का अधिकार है। उनके विचार से 'जीवन का अधिकार प्राणिमात्र को है, कम से कम वह तो जीवन का अधिकारी है ही जो दूसरों को नहीं सताता।'[2] जीवन के अधिकार के साथ ही भोजन और वस्त्र की सुव्यवस्था का प्रश्न भी जुड़ा है एवं वाक्-स्वातन्त्र्य ही मनुष्यता का प्रतीक माना जाता है।[3] सम्पूर्णानन्द ने कहा है कि जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति अपना मानसिक और आध्यात्मिक विकास करना चाहता है। दूसरे शब्दों में शिक्षा प्रदान करना एवं नैतिक बल का संग्रह करने के उपयुक्त वातावरण की सृष्टि करना राज्य का दायित्व और नागरिक का अधिकार है। इसके विपरीत प्रेमचन्द का विचार है कि शिक्षा राजकीय संरक्षण से मुक्त हो। क्योंकि शिक्षा राष्ट्र की संस्कृति का निर्माण करती है। यदि विद्यालय राज्य से किसी प्रकार की सहायता लेंगे तो उनकी शिक्षा नीति राज्य की इच्छानुसार संचालित होने से नागरिकों में पराधीनता की भावनाएं उत्पन्न होंगी।[4]

---

१ वासुदेवशरण अग्रवाल : 'राष्ट्र का स्वरूप' - पृथिवीपुत्र, पृ०६४

२ सम्पूर्णानन्द -- 'स्फुट विचार' - हमारा सांस्कृतिक पतन, पृ०६७

३ 'यदि सचमुच अब युद्ध का (द्वितीय विश्वयुद्ध) अन्त होने जा रहा है और मनुष्यमात्र के लिए भोजन-वसन की सुव्यवस्था तथा भाषणादि की स्वतन्त्रता होने जा रही है तो यह मानना होगा कि अब सचमुच मनुष्य मनुष्य होने जा रहा है।'
--सम्पूर्णानन्द : 'समाजवाद', पृ०२८।

४ 'हमारे विद्यालय ही राष्ट्र की संस्कृति के सबसे बड़े रक्षक हैं। विद्यालय पूर्ण स्वतंत्र होना चाहिए, चाहे स्वराज्य हो या पराराज्य। राज्य से किसी प्रकार की सहायता लेना मानो शिक्षा का गला घोंटना है। और जब शिक्षा के पैरों में बेड़ियां पड़ गईं तो उस शिक्षा की गोद में पले हुए छात्र भी गुलाम मनोवृत्ति के मनुष्य हों तो कोई आश्चर्य नहीं।' विविध प्रसंग, भाग३-स्वामी श्रद्धानंद और राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली, पृ०२०१-२।

राहुल सांकृत्यायन ने मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करना नागरिकों का जन्मसिद्ध अधिकार माना है[१]। क्योंकि शिक्षित मनुष्य ही राज्य की समस्याओं को समझकर उनका समाधान प्रस्तुत कर सकता है और अपने अधिकार और कर्त्तव्य का सदुपयोग भी कर सकता है।

स्वतन्त्रता

फ्रांस की राज्यक्रान्ति(सन् १७८९ई०) और अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम (सन् १७७६ई०) से प्रेरणा लेकर उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के हिन्दी गद्य-लेखकों ने स्वतन्त्रता समानता और स्वशासन के सम्बन्ध में अपने विचारों को बार-बार व्यक्त किया है और तत्कालीन शासन से उसकी मांग भी की है। तिलक के उग्र राजनीतिक विचारों से प्रभावित होकर बालकृष्ण भट्ट ने स्वतन्त्रता का नारा बुलन्द किया और स्वशासन की मांग की[२]। हरबर्ट स्पेंसर, लास्की आदि राजनीतिज्ञों की भांति पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने करने के अधिकार की स्वाधीनता सक्रिय (Positive) स्वतन्त्रता का समर्थन किया और इच्छानुसार उन्नति की संज्ञा दी है[३]। जैनेन्द्र ने स्वतन्त्रता का अर्थबोध कराते हुए कहा कि अपने अधीन

---

१ अपनी मातृ-भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने का अधिकार हमारा वैसा ही जन्मसिद्ध अधिकार है, जैसा राजनैतिक स्वतन्त्रता का।
--राहुलसांकृत्यायन : "मातृभाषाओं की समस्या, आज की समस्या", पृ०४४

२ जिस देश की गवर्नमेण्ट हो वहीं उसी देश के लोगों से उसका इन्तजाम होने से उस गवर्नमेण्ट का चिर स्थायित्व बना रहता है। विदेशियों से इन्तजाम कराने से वह गवर्नमेण्ट बहुत दिनों तक नहीं चलता। -- हिन्दी प्रदीप, जून, १८८०ई०, पृ०४

३(क) "प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार उन्नति करने का पूर्ण अधिकार है, यदि उसे यह अधिकार प्राप्त है तो वह स्वाधीन है।"
-- कुछ पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, पृ०१०१

(ख) "प्रत्येक मनुष्य वह करने को स्वतन्त्र है, जिसकी वह इच्छा करता है यदि वह किसी अन्य मनुष्य की समान स्वतन्त्रता का हनन न करता हो।"
--पंत, गुप्ता, जैन : "जस्टिस हरबर्ट स्पेंसर -राजनीति शास्त्र के आधार", पृ०४

(ग) "स्वतन्त्रता का अर्थ विकास करने की शक्ति से है अर्थात् वह शक्ति जिसके द्वारा हम अपनी पसन्द का ऐसा जीवन व्यतीत कर सकें जिसपर बाहर के लोगों द्वारा कोई भी निषेध लागू न हो।"
-- राजनीतिशास्त्र : आशीर्वादम्, पृ०२३०

होना और दूसरे पर आक्रमण की लालसा का न होना ही स्वाधीनता है [1]।
जैनेन्द्र की स्वतन्त्रता की परिकल्पना से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह स्वयं
स्वतन्त्र होने के साथ ही दूसरों को स्वतन्त्र होने का अवसर प्रदान करने में
विश्वास करते हैं। इसीलिए उन्होंने मर्यादित स्वतन्त्रता का समर्थन किया है [2]।

स्वतन्त्रता का समर्थक होने पर भी हिन्दी गद्य
लेखकों ने न ही स्वेच्छाचारिता का समर्थन किया और न ही उसे प्रोत्साहित
किया। डॉ प्रतापनारायण मिश्र ने उस स्वेच्छाचारी मनोवृत्ति पर व्यंग्य
अवश्य किया है [3]। क्योंकि स्वेच्छाचारिता सामाजिक जीवन की विरोधिनी है।
यदि स्वेच्छाचारिता को ही स्वतन्त्रता मान लिया जाय तो समाज में इस
प्रकार की स्वतन्त्रता सम्भव नहीं हो सकती। समाज का आधार सहयोग है
और सहयोग बिना कुछ नियमों के असम्भव है। अतएव समाज में व्यवस्था
बनाए रखने का लक्ष्य सामने रखकर ही सम्भवतः हिन्दी - गद्य- लेखकों

---

१ "स्वाधीनता का मतलब अपने आधीन होना है- किसी और देश का उसपर
आतंक न हो। साथ ही उसका मतलब होना चाहिए किसी अन्य देश
पर उसे लोभ की अथवा आक्रमण की लालसा न हो। क्योंकि अगर वैसी
लालसा है तो उतने अंश में उसको स्वस्थ नहीं कहना होगा। वह पराधीन
है,-- पर की तृष्णा के आधीन।" --जैनेन्द्र : "प्रस्तुत प्रश्न", पृ० ९-१

२-"पूर्ण स्वतन्त्रता केवल उच्छृंखलता है।" -- प्रस्तुत प्रश्न", पृ०४२

३ "आवश्यकता ही का नाम स्वतन्त्रता है। जिसे जब किसी बात की
आवश्यकता होती है और उसकी पूर्ति का किसी और से आसरा नहीं
देख पड़ता तब वह दुनिया भर का संकोच छोड़ के अपना काम निकालने
के लिए सभी कुछ कर लेता है। यह स्वतन्त्रता नहीं तो क्या है।"
--"प्रतापनारायण ग्रन्थावली"--"स्वतन्त्रता", पृ०४४३।

ने स्वतन्त्रता की मांग करने पर भी शासक विहीन राज्य की कल्पना नहीं की । हां, स्वेच्छाचारी विदेशी शासन का विरोध और स्वशासन की मांग अवश्य की ।[1]

समानता

व्यक्ति को व्यक्तित्व के विकास के लिए समान अवसर प्रदान करना ही समानता है । यह राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और नैतिक किसी भी प्रकार की हो सकता है । किन्तु यह निश्चित है कि आर्थिक समानता के अभाव में अन्य समानताओं का कोई अस्तित्व नहीं है । इसलिए हिन्दी गद्य लेखकों ने शासक और शासित के मध्य बढ़ते हुए भेद-भाव को देखकर राजनीतिक समानता के साथ ही साथ आर्थिक समानता का समर्थन भी किया, क्योंकि आर्थिक विषमता के रहते हुए राजनीतिक समता का सिद्धान्त व्यर्थ है ।[2] बालकृष्ण भट्ट और राधाचरण गोस्वामी दोनों ने ही शासक वर्ग के शिमला और मसूरी जाने का विरोध किया है, क्योंकि जन-सामान्य से दूर ऐश्वर्य और विलास का जीवन व्यतीत करने से शासक और शासित परस्पर मिल नहीं पाते । भेद की खाई बढ़ती ही जाती है । वे दोनों नदी के दो किनारों की भांति एक-दूसरे से अलग रहते हैं । दोनों को जोड़ने का एकमात्र साधन आर्थिक समानता की नीति का अनुसरण है । शासक और शासित के मध्य भेद को मिटाने के साथ

---

१ "जिस देश की गवर्नमेण्ट हो वहां उसी देश के लोगों से उसका इन्तजाम होने से उस गवर्नमेण्ट का चिर स्थायित्व बना रहता है । विदेशियों से इन्तजाम कराने से वह गवर्नमेण्ट बहुत दिनों तक नहीं चलती ।"

--बालकृष्ण भट्ट : 'हिन्दी प्रदीप' जून सन १८८०ई०, पृ०४ ।

२ "बिना आर्थिक सहायता के राजनैतिक समानता सम्भव नहीं है अन्यथा राजनैतिक शक्ति भी आर्थिक शक्ति द्वारा ही व्यवहृत होगी ।"

--पंत, गुप्ता, जैन : 'नागरिक राजनीति शास्त्र के आधार', पृ०३०२ ।

भी इस युग के लेखक ने जन-सामान्य में धन के समान वितरण और व्यक्तित्व के विकास के लिए समान अवसर की मांग करके आर्थिक और सामाजिक समानता के सिद्धान्त को मान्यता दी। बालकृष्ण भट्ट ने कहा है कि 'राज्य के लिए प्रजा पर समभाव रखना यावत् राजनीति और पालिटिक्स का पहला सूत्र है।[1] समानता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए ही प्रतापनारायण मिश्र ने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्त्रियों के लिए समानाधिकार की मांग की।[2] बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में नारी की दुरवस्था का मूल कारण उसका आर्थिक दृष्टि से पुरुष पर आश्रित होना मानकर सम्पूर्णानन्द ने आर्थिक दृष्टि से नारी की स्वतन्त्रता में विश्वास व्यक्त करते हुए कहा कि 'स्त्री की हीनता का कारण उसका आर्थिक अधीनत्व है। स्त्रियां पुरुषों से किसी बात में कम नहीं है जो काम पुरुष कर सकता है वह स्त्री भी कर सकती है। अब पुरुषों के समान स्त्रियों को भी सभी पेशों में घुसना चाहिए और अपनी जीविका आप उपार्जन करना चाहिए।'[3]

राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता मूलत: एक मानसिक प्रवृत्ति या भावना है। यह वह ऐतिहासिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा राष्ट्रीयताएं राजनीतिक इकाइयों में बदल जाया करती हैं। लार्ड ब्राइस ने कहा है कि 'राष्ट्रीयता की भावना

---

१ 'हिन्दी प्रदीप', जिल्द १०, संख्या३, नवम्बर सन१८८६ई०, पृ०१६

२ 'तुम्हारे घर की स्त्रियां बकरी भेड़ नहीं हैं, उनको भी सब बातों में उतना ही अधिकार है जितना तुम्हारा है, अत: उनको अनादृत रखना लोक-परलोक दोनों में विडम्बना का कारण होगा।....'

प्रतापनारायण ग्रन्थावली : 'ग्रामों के साथ हमारा कर्तव्य', पृ० २६६

३ स्फुट विचार, पृ०१४६;

वह अनुभूति या अनुभूतियां हैं,जो व्यक्तियों के एक समूह को उन बन्धनों के प्रति सजग बनाती हैं,जो पूरी तरह से न तो राजनीतिक होते हैं, न धार्मिक और जो उन व्यक्तियों को ऐसे समाज के रूप में संगठित करने देते हैं जो या तो राष्ट्र होता है या राष्ट्र होने की क्षमता रखता है।[1] जिमर्न ने कहा है कि धर्म की भांति राष्ट्रीयता भी आत्मपरक (subjective) है; मनोवैज्ञानिक है; मन की एक अवस्था है; एक आध्यात्मिक धारणा है; भावना का, विचार का और जीवन का एक तरीका है।[2] जे०एच०रोज ने कहा है कि "यह दिलों का एक ऐसा एकता है जो एक बार बनकर कभी न बिगड़े।[3] भाषा, धर्म,संस्कृति,विचार और आदर्श एवं समान आर्थिक हित राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहित करते हैं इसलिए विदेशी शासन के आधीन होने पर भी राष्ट्रीयता की भावनाएं विकसित हो जाती हैं। प्राचीन काल में और मध्यकाल में स्पष्ट राष्ट्र किसी राजा या नवाब के राज्य की सीमाओं में बद्ध होता था,इसलिए राष्ट्रीयता की भावना भी संकुचित थी। परन्तु आधुनिक युग में राष्ट्र की परिकल्पना में विस्तार होने के साथ ही राष्ट्रीयता के भाव भी बदल गए। जैनेन्द्र ने राष्ट्रीयता की भावना का विश्लेषण करते हुए कहा है कि "जो हम

---

1 " The sentiment of nationality is that feeling or group of feelings which makes an aggregate of men conscious of ties, not being wholly either political or religious, which unite them in a Community which is, either actually or potentially, a nation." (7:118)
राजनीति शास्त्र ;आशीर्वादम पृ० ५६८

2 Nationality, like religion, is subjective, psychological, a condition of mind, a spiritual possession, a way of feeling, thinking and living." राजनीति शास्त्र - आशीर्वादम, पृ० ५६८ ।

3 "A union of hearts once made, never unmade," राजनीति शास्त्र आशीर्वादम, पृ० ५६८ ।

कथ्यों को अपनी भावना से एकता में नहीं पिरो देता, वह राष्ट्रीयता भी नहीं है[1]।" जैनेन्द्र द्वारा दी गई राष्ट्रीयता की परिभाषा मैकआइवर के साहचर्य के अभिप्राय को व्यक्त करती है एवं बर्न्स और जिमर्न की परिभाषा के अति निकट है[2]। गुलाबराय ने राष्ट्र के हित और अहित की चेतना को ही राष्ट्रीयता का मूल माना है[3]। किन्तु प्रेमचन्द के विचार से साहित्य और संस्कृति की एकता ही राष्ट्रीयता का विकास कर सकती है। जब तक विभिन्न प्रान्त अपने अपने साहित्य और संस्कृति की पृथकता की रक्षा करने में संलग्न रहेंगे अर्थात् संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में समग्र राष्ट्र को महत्त्व देने के स्थान पर प्रान्तीय भक्ति को ही मान्यता देंगे तब तक राष्ट्रीयता का विकास होना दुःसाध्य है[4]। वासुदेवशरण अग्रवाल के विचार से पृथ्वी और पृथ्वी-पुत्र के मध्य माता और पुत्र के पारस्परिक सम्बन्ध की सक्रिय चेतना एवं पवित्र अनुभूति ही राष्ट्रीयता का मूल है। तभी राष्ट्र-निर्माण के अंकुर उत्पन्न होते हैं और सभी जन मातृभूमि के प्रति श्रद्धा से नत हो जाता है[5]। वासुदेव शरण

---

१ प्रस्तुत प्रश्न, पृ०१२

२ "राष्ट्रीयता से साहचर्य का अभिप्राय प्रकट होता है, वह एक भाँति की जातिगत भावना को प्रकट करती है, और पारस्परिक सम्बद्धता की द्योतक है।" मैकआइवर
राष्ट्र को एकता के पाश में आबद्ध करने वाले संस्कृति के संयोगकारी तत्वों तथा एकता की जटिल मानसिक भावनाओं के संयुक्तीकरण को अभिव्यक्त करने वाला शब्द राष्ट्रीयता है। बर्न्स,
पंत, गुप्ता, जैन : राष्ट्रीयता संयुक्त भावनाओं का एक स्वरूप है -राजशास्त्र के आधार, पृ०७२

३ "राष्ट्र का हित सब का सम्मिलित हित है और राष्ट्र का अहित सब के लिए घातक है। ऐसी चेतना ही राष्ट्रीयता का मूल है।"
--गुलाबराय : 'साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीयता' - मेरे निबंध जीवन और जगत, पृ०१८२।

४ "अगर भारत में भिन्न-भिन्न उपराष्ट्र बने रहेंगे और सभी अपने साहित्य और संस्कृति की पृथकता की रक्षा करते रहेंगे और एक दूसरे से मिलने की कोशिश न करेंगे तो राष्ट्रीयता का विकास कयामत तक न होगा। हमें अपनी प्रान्तीय भक्ति को कुछ न कुछ त्यागना पड़ेगा।" --विविध प्रसंग भाग३- 'हिन्दी' से हमारा नम्र निवेदन, पृ०३२४।

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

अग्रवाल की राष्ट्रीयता की भावना का मूल अथर्ववेद का पृथ्वी सूक्त है ।
महादेवी वर्मा ने राष्ट्रीयता का सम्बन्ध धर्म और पूंजी से जोड़ते हुए कहा है
कि 'हमारी राष्ट्रीयता जनता की पुत्री होने के साथ साथ धर्म और पूंजी की
पोष्यपुत्री भी रही है, अतः दोनों ओर के गुण अवगुण उसे उत्तराधिकार में
मिलते रहे हैं । उनकी छाया में धार्मिक विरोध भी पनप सके और आर्थिक
वैषम्य से उत्पन्न बौद्धिक मतभेद भी विकास पाते रहे'[1] । महादेवी जी की
राष्ट्रीयता की उक्त व्याख्या सूक्ष्म और सारगर्भित होने के साथ ही उच्च
राष्ट्रीय भावनाओं से उत्पन्न विरोधों की ओर भी संकेत करती है ।

राष्ट्रोन्नति

लोक-सम्मत प्रतिनिधि शासन-तंत्र में राष्ट्रीयता
की भावनाओं को विकसित होने का सुअवसर मिला । राष्ट्रीयता के बाह्य
उपकरणों के रूप में राष्ट्र-ध्वज, राष्ट्र गान, राष्ट्र का मानचित्र, नदी, पर्वत, समुद्र
आदि प्राकृतिक दृश्य अतीत की गौरव गाथाएं और भविष्य का स्वर्णिम प्रकाश,
राष्ट्र की फौजी परेड आदि हमारे राष्ट्रीय पर्व, राष्ट्र की व्यवस्थापिका
सभा आदि संस्थाओं और उनके गगनचुम्बी विशाल भवनों ने राष्ट्र के मूर्तरूप को

(पूर्व पृष्ठ का अवशिष्टांश)

'माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्या: । ('भूमि माता है, मैं उसका पुत्र हूं ।)'
जन के हृदय में इस सूत्र का अनुभव ही राष्ट्रीयता की कुंजी है । इसी भावना से
राष्ट्र-निर्माण के अंकुर उत्पन्न होते हैं । ... इस भाव के द्वारा ही मनुष्य पृथ्वी
के साथ अपने सच्चे सम्बन्ध को प्राप्त करते हैं । जहां यह भाव नहीं है वहां जन
और भूमि का सम्बन्ध अचेतन और जड़ बना रहता है । जिस समय भी जन का
हृदय भूमि के साथ माता और पुत्र के सम्बन्ध को पहिचानता है उसी क्षण आनंद
और श्रद्धा से भरा हुआ उसका प्रणाम भाव मातृभूमि के लिए इस प्रकार प्रकट
होता है-- 'नमो मात्रे पृथिव्यै । नमो मात्रे पृथिव्यै माता पृथ्वी को प्रणाम
है । माता पृथ्वी को प्रणाम है ।'
--वासुदेवशरण अग्रवाल : 'राष्ट्र का स्वरूप', पृथिवीपुत्र, पृ०८३

---

१ दीपशिखा, पृ०१३

प्रस्तुत कर करके राष्ट्रीय भावों को उद्दीप्त किया । फलत: भारतीय एकता, स्वाधीनता, स्वतन्त्रता, निर्भयता तथा देशोन्नति का लक्ष्य लेकर पारस्परिक प्रेम, संगठन और सहयोग से कर्तव्य रत हो गए । राष्ट्रोन्नति के लिए उन्होंने वैयक्तिक और कौटुम्बिक स्वार्थों का त्याग किया, भारत की एकता पर बल दिया एवं जातिवाद, साम्प्रदायिकता, सामाजिक भेदभाव और प्रान्तीयता की भावनाओं को दूर करने का प्रयास किया । देशोन्नति का मूल राजनीतिक और सामाजिक एकता में निहित है, इसलिए बालकृष्ण भट्ट ने राजनीतिक एकता पर बल दिया।[1] बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने भी देशोद्धार का मूल तत्त्व एकता को मानकर कहा है कि "भारत का फूट ही ने सर्वनाश किया है । आगे भी जो कुछ हमारे उद्धार की आशा हो सकती है, वह केवल एकता ही के द्वारा सम्भव है ।"[2] अन्यत्र एक स्थल पर उन्होंने पुन: लिखा है कि "चाहे हम रोवें, चाहे गावें, चाहे उपवास करें, चाहे भूखे मरें, किन्तु बिना ऐक्य के स्वराज्य नहीं प्राप्त होगा ।"[3] इसके विपरीत

---

[1] "देश की उन्नति और वास्तविक भलाई करने का द्वार हम राजनैतिक एकता को ही मानेंगे । जब तक कोई जाति एक राजनैतिक समूह न होगी जिसका एक ही राजनैतिक उद्देश्य है और जिस जाति के लोग एक ही राजनैतिक ख्याल से प्रोत्साहित नहीं है तब तक आप उस जाति की सम्पत्ति और वृद्धि की बुनियाद किस चीज़ पर कायम रक्खेंगे ।"

" -- भट्ट निबन्ध माला" - जातियों का अनूठापन, पृ० ५०

[2] प्रेमघनसर्वस्व - "नेशनल कांग्रेस की दुर्दशा", द्वितीय भाग, पृ० ३२५

[3] ,, द्वितीय भाग, भूमिका, पृ० १७

गुलाबराय ने राजनीतिक एकता के लिए समानता की आवश्यकता का अनुभव किया है[१] और प्रेमचन्द ने राजनीतिक एकता के लिए सांस्कृतिक एकता को आवश्यक माना। उनके विचार से यदि सांस्कृतिक एकता के बिना राजनीतिक एकता प्राप्त हो भी जाय तो वह स्थायी नहीं हो सकती।[२] इसी प्रकार साम्प्रदायिक एकता का संदेश देते हुए प्रतापनारायण मिश्र ने कहा है कि 'हिन्दू मुसलमान दोनों भारतमाता के हाथ हैं। न इनका उनके बिना निबाह है न उनका इनके बिना। अतः सामाजिक नियमों में एक दूसरे के सहायक हों। इसमें दोनों का कल्याण है। कोई दाहिने हाथ से बायाँ हाथ अथवा बाएं हाथ से दाहिना हाथ काट के सुखी नहीं रह सकता।'[३]

राजनीतिक दल

राजनीतिक दल उन मनुष्यों का संगठन है जो समान राजनीतिक विचारों और आदर्शों के पोषक हों एवं समान राष्ट्रीय हित के लिए संगठित हुए हों। बर्क ने कहा है कि 'राजनीतिक दल ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो किसी राष्ट्रीय हित की पूर्ति के लिए किसी एक विशिष्ट सिद्धांत

१ 'राजनीतिक उन्नति के लिए वही राजनीतिक व्यवस्था उत्तम है जिससे समाज में शान्ति और साम्य स्थापित रहे, सबको समान अधिकार रहे, कोई अपनी जाति या मत के कारण समाज के किसी लाभ से वंचित न रहे, सबको अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों के विकास और उनके उपयोग से न्यायानुकूल लाभ उठाने के लिए समान अवसर मिले, उचित कार्य करने में किसी की स्वतंत्रता में बाधा न आवे, सबका चाहे वह पदाधिकारी हो और चाहे साधारण पुरुष मान और गौरव रहे, लोग भूखे न मरें, किसानों का भार हल्का हो, बेकारों की बेकारी कम हो, सम्पत्ति की रक्षा हो, धर्म के शांतिपूर्ण आचरण में बाधा न पड़े, देशवासी देश की उन्नति के साधनों का स्वयं निर्णय कर सकें, और देश के सुचारु रूप से शासन का और उसकी रक्षा का स्वयं अपने ऊपर भार लेने की योग्यता प्राप्त कर सकें।' - नागरिक के कर्तव्य और अधिकार- प्रबन्ध प्रभाकर, पृ०३५७-३५८।

२ 'सांस्कृतिक एकता के बिना राजनैतिक एकता प्राप्त हो भी जाय तो स्थायी नहीं हो सकती।' 'क्षेत्रीय' से हमारा नम्र निवेदन, विविध प्रसंग, भाग ३, पृ० [illegible]
(शेष अगले पृष्ठ पर)

को मानकर अपना संगठन करते हैं[1]।" यह न्यूनाधिक नागरिकों का ऐसा संघटित दल है जो समस्त कार्य एक राजनीतिक इकाई के रूप में ही करता है । यह एक ऐसी संस्था है जो किसी सिद्धान्त या नीति के समर्थन में बनाई जाती है और जो संवैधानिक साधनों द्वारा उन सिद्धान्तों या नीतियों के अनुसार शासनतंत्र का निर्माण करने की चेष्टाएं करती हैं[2]। सार्वजनिक विषयों में एक विशिष्ट विचार रखने वाले अनेक व्यक्ति जब सत्ता पर अधिकार जमाने तथा उसका प्रयोग करने के लिए संगठित हो जाते हैं,सार्वजनिक हित की दृष्टि से एक निश्चित कार्यक्रम का निर्धारण करके उसको लोकप्रिय बनाने एवं संवैधानिक साधनों के द्वारा निर्वाचनों में विजय प्राप्त करने तथा राजनीतिक सत्ता व राजनीतिक नियन्त्रण अपने हाथों में लेने के लिए अपने-आपको व्यवस्थित कर लेते हैं, तो वे एक 'राजनीतिक दल' का रूप ले लेते हैं[3]। अस्तु राजनीतिक दल कुछ व्यक्तियों का एक ऐसा समुदाय है-- जिसमें सामान्यत: एक से विचारों के सदस्य रहते हैं और जो यदि सब सार्वजनिक समस्याओं के सम्बन्ध में नहीं तो कुछ के सम्बन्ध में मतैक्य अवश्य रखते हैं । वे निरन्तर अपने क्रिया कलापों से शासन तंत्र का नियंत्रण अपने हाथ में लेने की चेष्टा करते हैं,जिससे वे जिन

(पूर्व पृष्ठ का अवशिष्टांश)

३- प्रतापनारायण ग्रन्थावली,पृ०३५७

---

१ पंत,गुप्ता,जैन : 'राजनीति शास्त्र के आधार',पृ०५५३

२ ,, ,, पृ० ५५३

~~३ गुरुमुख निहाल सिंह : 'राजनीति विज्ञान एवं संगठन के मूल सि~~

३ गुरुमुख निहाल सिंह : 'राजनीति विज्ञान एवं संगठन के मूल सिद्धांत' पृ० ३९५ ।

सिद्धान्तों या नीतियों में रुचि रखते हैं उनको शासन-तंत्र के साधन द्वारा सिद्धि कर सकें[१]।

राजनीतिक दलों का अस्तित्व यों तो प्रत्येक युग में किसी न किसी रूप में होता है, किन्तु प्रतिनिधि शासन-पद्धति में इन दलों का महत्व और आवश्यकता दोनों की अभिवृद्धि हो जाती है। अंग्रेजों के शासन-काल में जनता में ऐक्य की भावना का विकास करने के हेतु राजनीतिक संगठन या राजनीतिक दल की आवश्यकता और महत्व को भारतीय बुद्धिजीवियों ने अनुभव किया एवं देश की प्रमुख राजनीतिक संस्था कांग्रेस ने साहित्यिकों का ध्यान अपनी और आकर्षित किया। प्रतापनारायण मिश्र ने कांग्रेस की जय-जयकार की और उसे साक्षात् दुर्गा का स्वरूप माना[२]। क्योंकि हमारे पौराणिक आख्यानों में दुर्गा युद्ध की देवी मानी गई हैं और कांग्रेस का राजनीतिक लक्ष्य भी प्रतिद्वन्द्वी ब्रिटिश शासकों से युद्ध करना ही था। अन्तर इतना ही है कि दुर्गा हिंसा की प्रतीक हैं और कांग्रेस का स्वातन्त्र्य संग्राम अहिंसात्मक था। 'रथयात्रा' लेख में प्रतापनारायण मिश्र ने कांग्रेस को श्रीकृष्ण और प्रजा हितैषी देशभक्त जनता को राधा एवं विरोधियों के दल को अयनघोष कहा है। कृष्ण अपने युग के क्रान्तिकारी नेता थे। उन्होंने निरंकुश

---

१ पंत, गुप्ता, जैन : 'राजनीति शास्त्र के आधार', पृ०५५२
(Thoughts on the Causes of Present discontent, 1770, P 16.)

२ "कांग्रेस साक्षात् दुर्गा जी का रूप है, क्योंकि वह देश हितैषी, देव प्रकृति के लोगों की स्नेहशक्ति से आविर्भूत हुई है," देवानां दिव्य गुण विशिष्टानां तेजोराशि समुद्भवा। है। फिर हम ब्राह्मण होके इसकी जय क्यों न बोलें --' कांग्रेस की जय, निबंध नवनीत', पृ०८२

राजा कंस के विरुद्ध विद्रोह किया था, बंगाल के नवयुवकों ने स्वेच्छाचारी ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह का शंखनाद किया । घटना साम्य को उपस्थित करके प्रतापनारायण मिश्र ने इस तथ्य की पुष्टि की है कि इस देश के नवयुवक अति प्राचीनकाल से ही अनाचार और स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध विद्रोह करते रहे हैं ।

देशव्यापी राजनीतिक संगठन एवं देशोन्नति के लिए भाषा ऐक्य अति आवश्यक है । इसीलिए भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि हिन्दी गद्य लेखकों ने मातृभाषा हिन्दी की समृद्धि पर बल दिया[1] । बालकृष्ण भट्ट ने सरकार की उर्दू का पक्षपात करने की नीति का विरोध किया, महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अंग्रेजी को राजभाषा के रूप में स्वीकार करने पर भी अंग्रेजी पढ़े-लिखे नवयुवकों की हिन्दी के प्रति उदासीनता देख कर क्षोभ व्यक्त किया है[2] ।

१(क) " .... कब कहां किस जाति ने अपनी भाषा का गौरव बढ़ाये बिना किसी बात में उन्नति की है ? कोई बतावे तो हम दृढ़तापूर्वक कहते हैं और कोई हठी हमारे विरुद्ध कुछ कहेगा तो प्रमाणित कर देंगे कि हिन्दू समुदाय, हिन्दी के शुभाकांक्षी, जब तक हिन्दी की ममता एवं सहानुभूति में तन मन धन से सच्चे उत्साही न होंगे, देशी, विदेशी प्राचीन नवीन सुलेखकों के सरस भाव हिन्दी में न भरेंगे, तब तक किसी के किए कुछ न होगा
--प्रतापनारायण ग्रन्थावली, पृ० ३२७

(ख) " भारत में विदेशी भाषा बड़ा ही गजब ढा रही है । उसी की कृपा से हम लोग अपनी भाषा व भूल से रहे हैं । अंग्रेजीबाज मातृभाषा को घृणा की दृष्टि से देखते हैं । द्विवेदी मीमांसा - प्रेमनारायण टण्डन, देशी भाषाओं में शिक्षा- महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृ० २०१

२ "कितनी लज्जा, कितने दुख, कितने परिताप की बात है कि विदेशी लोग इतना कष्ट उठाकर और इतना धन खर्च करके संस्कृत सीखें और संस्कृत साहित्य के जन्मदाता भारतवासियों के वंशज फारसी और अंग्रेजी की शिक्षा के मद में मतवाले होकर यह भी न जानें कि संस्कृत नाम किस चिड़िया का है? संस्कृत जानना तो दूर की बात है, हम लोग अपनी मातृभाषा हिन्दी भी तो बहुधा नहीं जानते और जो लोग जानते भी हैं उन्हें हिन्दी लिखते शरम आती है । इन मातृभाषा द्रोहियों का ईश्वर कल्याण करे ।
प्रेमनारायण टण्डन : मातृभाषा द्वारा शिक्षा, द्विवेदी मीमांसा, पृ० २७७ ।

नेता

जनतंत्र की भावना का विकास होने के साथ ही जन-नेतृत्व के लिए नेता की आवश्यकता का अनुभव किया गया । तिलक ,गोखले गांधी जैसे देश-भक्त नेताओं के अभ्युदय एवं प्रभाव के प्रकाश में साहित्यकारों की दृष्टि इस ओर गई और वे राजनेताओं के गुण और दोष निरूपण करने लगे । पद्मसिंह शर्मा की नेताओं के गुण-दोष के सम्बन्ध में सूक्ष्म दृष्टि है । वह ढोंगी नेताओं से परिचित हैं उनपर व्यंग्य करते हुए आधुनिक नेताओं की तुलना महाभारत के कर्मयोगी कृष्ण से की[1] और उन्हें भारतीय नेताओं के लिए अनुकरणीय बताया है । पद्मसिंह शर्मा ने नेता के गुणों का उल्लेख करते हुए कहा है कि "नेता नितान्त निर्भय और विचारों का दृढ़ होना चाहिए, ऐसा कि संसार की कोई विपत्ति या आलोचना उसे किसी दशा में भी अपने व्रत से विचलित न कर सके ।"[2] गुलाबराय ने भी धैर्य,दृढ़ता,निर्भयता और निष्पक्षता नेता के विशिष्ट गुण माने हैं ।[3]

-0-

---

१ "श्रीकृष्ण ने आजकल के अमानतदार लीडरों की तरह 'सर्वप्रियता' की या हर दिल अज़ीज़ी में फंसकर अपने खरेपन पर दाग नहीं लगाया । मेल मिलाप की मोह-माया में भूलकर न्याय को अन्याय और धर्म को अधर्म नहीं बताया । निरपराध को अपराधी बताकर अपनी 'समदर्शिता' या 'उदारता' का परिचय नहीं दिया । श्रीकृष्ण अपने प्राणों का मोह छोड़कर दुर्योधन को समझाने गये और भयानक संकट के भय से भी कर्तव्य पराङ्मुख न हुए । एक आजकल के लीडर हैं, किसी दुर्घटना को रोकने के लिए तार पर तार दिए जाते हैं पधारने की प्रार्थना की जाती है पर 'हमारी कोई नहीं सुनता' कह कर टाल जाते हैं । पहुंचते भी हैं तो उस वक्त जब मारकाट हो चुकी है, सो भी सरसरी तहकीकात के बहाने लीपापोती के लिए । लेक्चर देना और तहकीकात के लिए पहुंच जाना, लीडरों के लिए इतना ही काफी है । 'गोलों बीस कदम तो बन्दा तीस कदम' ।

आजकल के लीडर हर कहीं निमन्त्रण पाने के प्रयत्न में रहते हैं । आज अप-मानित होकर असहयोग की घोषणा करते हैं, कल उल्टी चिट्ठियों के द्वारा निमंत्रण पाकर सहयोग करने दौड़ते हैं । --पद्मपराग,प्रथम भाग,पृ०८

२ पद्मपराग,पृ०२

३ "धैर्य दृढ़ता और निश्चय के साथ किया हुआ कार्य सफल होता है । सत्य का अवलंब लेकर निर्भयता से कार्य करना चाहिए । जहां पर मताधिकार का प्रश्न हो,जहां उसकी राय ली जावे वह स्वतंत्रता पूर्वक दे,उसमें किसी का पक्षपात न करे । धन और मान के प्रलोभनों से विचलित न हो और न बन्धुत्व जाति और साम्प्रदायिकता का ख्याल करे । -- प्रबन्ध प्रभाकर,पृ०२५३ ।

अध्याय -- छः

-o-

आधुनिक हिन्दी गद्य में राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति
का
व्यावहारिक पक्ष

स्वीकारात्मक स्वरूप (सन् १८५० - १९५०)

(क) उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी गद्य साहित्य में राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति का स्वीकारात्मक स्वरूप ।

(ख) बीसवीं शताब्दी के हिन्दी गद्य में राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति का स्वीकारात्मक स्वरूप ।

-o-

अध्याय -- छ:

-o-

आधुनिक हिन्दी गद्य में राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति का व्यावहारिक पक्ष

राजनीतिक तत्व के सैद्धान्तिक पक्ष की अभिव्यक्ति विशेषरूप से गम्भीर और साहित्यिक निबन्धों में हुई। किन्तु उसके व्यावहारिक पक्ष का उल्लेख गम्भीर साहित्यिक निबन्धों में छुट-पुट रूप से और सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में विशेषरूप से हुआ। क्योंकि यह पत्र-पत्रिकाएं लोपाठक वर्ग तक पहुंचने का सीधा और सरल माध्यम थीं। युग के माने-जाने साहित्यकारों ने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अंग्रेजी शासन-नीति का स्पष्ट उल्लेख करके जन सामान्य की राजनीतिक चेतना उद्बुद्ध की और राष्ट्रीयता की भावनाओं का संचार किया। इन लेखकों के निबन्धों में शासन-नीति की आलोचना के दो रूप दृष्टिगत होते हैं। कभी तो वे अंग्रेजी शासन के साथ आयी हुई सुव्यवस्था प्रशासनिक उदारता, प्रजातंत्र की विचार-धारा, शिक्षा के प्रसार, न्याय, पुलिस प्रबन्ध सुरक्षा और शासन की सुव्यवस्था से मुग्ध होकर अंगरेज और अंग्रेजी शासन की प्रशंसा करते हैं और कभी दिन-प्रति-दिन घटित होने वाली देश की घटनाओं के बीच शासन के आर्थिक शोषण, सांप्रदायिकता हिन्दी-उर्दू के पक्षपात आदि को लेकर तीखे व्यंग्य और आलोचना करते हैं। इस प्रकार हमें व्यावहारिक राजनीति के वर्णन के दो रूप दृष्टिगत होते हैं--

(१) स्वीकारात्मक स्वरूप,

(२) आलोचनात्मक स्वरूप ।

प्रस्तुत प्रकरण में उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में अभिव्यक्ति के स्वीकारात्मक स्वरूप का वर्णन किया गया है और सप्तम एवं अष्टम अध्याय में अभिव्यक्ति के आलोचनात्मक स्वरूप की विवेचना की गई है। आलोचनात्मक स्वरूप को दो अध्यायों में विभक्त करने का मूल कारण विषय-सामग्री का आधिक्य उतना नहीं है जितना यह तथ्य कि चिन्तन की पद्धति और प्रबुद्धता की प्रणाली में एक मूलभूत अन्तर है तथा आलोचना के विषय भी एक सीमा तक भिन्न हैं।

(क) उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी गद्य साहित्य में राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति का स्वीकारात्मक स्वरूप ।

मध्ययुगीन मुसलमान राज्य की उच्छृंखलता एवं अतियों और आतंक का अनुभव भारतीयों को हो चुका था। अतः ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के शासन-काल की नागरिक-सुरक्षा, स्वास्थ्य, न्याय-व्यवस्था, शिक्षा और शासन के सुप्रबन्ध ने समस्त देश में नए शासकों के प्रति श्रद्धा और विश्वास के भाव भर दिए। सन् १८५७ के विद्रोह के पश्चात् पाश्चात्य ढंग के प्रतिनिधि शासन और महारानी विक्टोरिया की उदार नीति के घोषणा पत्र ने देशवासियों को अंग्रेज शासकों के प्रति राजभक्ति का प्रदर्शन करने के लिए सुदृढ़ नैतिक आधार प्रदान किया। अतः नई शासन-व्यवस्था के प्रति आस्था और विश्वास से प्रेरित होकर जन समुदाय निर्विकार भाव से अपने नए शासकों के प्रशस्ति गान गाने लगा। साहित्यकार का भी इस प्रभाव से बच सकना सम्भव न था। राजनीतिक परिस्थितियों के वशीभूत होकर, देश को शान्त, सुखी और उन्नत बनाने के उद्देश्य से इस शताब्दी के हिन्दी गद्य-लेखकों ने अपनी कृतियों में राज-भक्ति का प्रदर्शन किया। आश्रयदाता के प्रशस्तिगान गाने की जो परम्परा मध्ययुग से चली आ रही थी, उसका अनुसरण करते हुए इस युग के लेखकों ने अपने साहित्य में राजन्य वर्ग की प्रशंसा की। किन्तु परिस्थितियां बदल गई थीं। राजाश्रय की प्रथा समाप्त हो चुकी थी। प्रतिनिधि शासन

पद्धति में साहित्यकार अपनी जीविका के लिए राज्याश्रित नहीं था । वह बुद्धिजीवी होने के साथ-साथ श्रमजीवी भी हो रहा था । स्वतन्त्र नागरिक होने के नाते और साहित्य का नाता राजाश्रय से छूट जाने के कारण इस युग का साहित्यकार राजन्य वर्ग का दास न होकर अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण स्वतन्त्र था । न आश्रयदाता की तनी हुई भृकुटियाँ उसे भयभीत करती थीं और न ही आश्रय-दाताओं के हास-विलास के लिए काव्य-रचना करने के लिए उसे बाध्य किया जा सकता था । बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों से उत्पन्न आत्मबल और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता ने इस युग के लेखक को जीवन के प्रति नई दृष्टि प्रदान की । फलत: साहित्यकार का लक्ष्य बदल गया । वह सहज ही जनता का प्रतिनिधि बनने की सामर्थ्य अर्जित करने लगा और व्यक्तिगत अथवा आश्रयदाता की अभिरुचि को तृप्त करने वाली रति-स्थायी भाव जन्य अनुभूतियों के स्थान पर राजा और प्रजा के दायित्वपूर्ण सम्बन्धों की अवधारणाएँ उसके काव्य की प्रेरणा बनीं । समग्र राष्ट्र का नेतृत्व कर साहित्यकार ने अपने साहित्य में शासक के साथ ही शासित की यथार्थ दशा का चित्रण किया एवं राजन्य वर्ग को कर्तव्य-बोध कराने का प्रयास किया । जन-सामान्य की स्थिति में सुधार हेतु हिन्दी गद्य लेखकों ने राज-कर्मचारियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की । किन्तु इस प्रशंसा के पीछे साहित्यकार का कोई व्यक्तिगत स्वार्थ न था । अत: प्रशंसा में भी चाटुकारिता की भावना के स्थान पर जन-कल्याण की भावना का प्राबल्य ही है । जाति और धर्म के संकीर्ण बन्धनों को तोड़कर समस्त देश के सुख की अभिवृद्धि करने के उद्देश्य से शासकों के व्यक्तिगत गुणों की प्रशंसा करते समय इस युग के लेखक की दृष्टि मध्ययुगीन राज्याश्रित कवियों से भिन्न रही है । राजाओं के वैभव, सौन्दर्य, युद्धप्रियता, शौर्य और पौरुष की प्रशंसा करने के स्थान पर हिन्दी गद्य लेखकों ने प्राचीन एवं अपने समकालीन राजन्य वर्ग के न्याय, समदृष्टि, प्रजावत्सलता, कर्तव्यपरायणता आदि गुणों की प्रशंसा की । वर्तमान शासकों की प्रशंसा करने के साथ ही समय-समय पर पूर्ववर्ती राजाओं के गुणगान करके इस युग के लेखक ने

अपने जातीय गौरव के प्रति निष्ठा के भाव प्रदर्शित किए। उन्होंने ब्रिटिश शासकों को भारतीय परम्पराओं का बोध कराकर उन्हें भी उन गुणों से युक्त होने के लिए प्रेरित किया। भारत के ब्रिटिश शासकों की द्वैध नीति को लक्ष्य करकर प्रतापनारायण मिश्र ने वाजिद अली शाह की प्रजावत्सलता और समदृष्टि का वर्णन करते हुए कहा है कि " तुमने अपनी प्रभुता के समय हिन्दू मुसलमान दोनों को अपनी प्यारी प्रजा समझा है। ..... सहस्त्रों के पेट तुम्हारे अनुग्रह से पलते थे।"[1] शासकों के व्यक्तिगत गुणों की प्रशंसा और शासन में किए गए सुधारों की प्रशंसा के मूल में इस युग के लेखक की दृष्टि तुलनात्मक थी। भारतेन्दु ने सामंती संस्कृति में पलने के कारण और बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी आदि ने देश की दुरवस्था से दुःखी होकर अनुनय-विनय की नीति का अनुसरण करते हुए शासकों की स्तुति की।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी गद्य लेखकों की प्रशंसा का विषय विशेषरूप से सम्राट या सम्राज्ञी, भारत में आए, प्रगतिशील विचारों के वाइसराय और गवर्नर जनरल एवं कभी-कभी स्थानीय राज-कर्मचारी जो जिलाधीश आदि भी हुआ करते थे। इसके अतिरिक्त युवराज आदि के आगमन पर अभिनन्दन गीत लिखकर उनसे सुधार के लिए निवेदन करने की प्रथा भी प्रचलित थी। भारतेन्दु ने इंगलैण्ड के राजकुमार आदि के शुभागमन के अवसरों पर प्राचीन भारतीय भावना से प्रेरित होकर अपने विचार व्यक्त किए हैं। ड्यूक आफ एडिनबरा के भारत शुभागमन के अवसर पर भारतेन्दु ने 'श्री राजकुमार सुस्वागत पत्र' (सन् १८६६ई०) की रचना की एवं सन् १८८४ई० में उन्होंने लार्ड रिपन की प्रशंसा में 'रिपनाष्टक' लिखा। सन् १८८६ई० में प्रतापनारायण मिश्र ने राजकुमार विक्टर के भारत-आगमन

---

1 निबन्ध नवनीत, वाजिद अली शाह, पृ० ६३-६४।

के अवसर पर 'युवराजकुमार स्वागतसे' एवं 'मिस्टर चार्ल्स ब्राडला के स्वागत में 'स्वागतसे महात्मन्' की रचना की । महारानी विक्टोरिया भी अपनी उदारता और प्रजावत्सलता के कारण अपने युग के लगभग सभी हिन्दी गद्य-लेखकों की प्रशंसा की पात्र रही है । बालकृष्ण भट्ट ने सम्राज्ञी विक्टोरिया के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए उन्हें भारतेश्वरी की उपाधि दी है । भट्ट जी ने अपने लेख 'अपूर्व वेदान्त' में महारानी विक्टोरिया को गोत्रभिद् प्रभंजन, विद्याधर चन्द्रमा, लोकेश, वरुण, ईशान, निर्ऋति, लोकमाता आदि विशेषणों से विभूषित किया है[१]। वरुण, ईशान और निर्ऋति क्रमशः उत्तर-पश्चिम, उत्तर-पूर्व और

---

१ .....महारानी जिष्णु अथवा इन्द्र हैं, क्योंकि 'जि' धातु जिससे जिष्णु बना है उसके अर्थ जय करने के हैं, इसी से उन्हें हम सब लोग विजयिनी कहते हैं-- महारानी इन्द्र हैं 'इदि' धातु जिससे इन्द्र बना है उसके अर्थ परम ऐश्वर्यवान् हैं, सो उनसे बढ़कर ऐश्वर्य आज दिन किसका है महारानी 'गोत्रभिद्' हैं, क्योंकि 'गोत्र' पर्वत 'भिद' चूर्ण करना-- पर्वतों को चूर चूर कर न जानिए कितनी रेल की सड़कें बना दी हैं-- गोत्र वंश को भी कहते हैं कितने राजवंश में भेद करवाये उनका विनाश कर डाला-- जिष्णु हैं क्योंकि उनका प्रभुत्व व्यापक है-- शंकर हैं क्योंकि अपने जाति वालों को सब प्रकार का सुख देती हैं-- भीम हैं क्योंकि हम सब प्रजा वर्ग उनसे अत्यन्त डरते हैं-- दण्डधर हैं, क्योंकि दण्ड के द्वारा प्रजा का शासन करती हैं-- 'प्रभंजन, पवन हैं क्योंकि प्रबल शत्रुओं को रण में जय किया है-- वाचस्पति हैं, क्योंकि बहुत पढ़ी लिखी हैं-- विद्याधर हैं क्योंकि बहुत विद्याधारण करती हैं-- चन्द्रमा हैं क्योंकि 'चदि' आनन्दमय हैं-- लोकेश अर्थात् ब्रह्मा हैं, क्योंकि लोगों की ईश्वरी हैं-- अप्पति वरुण हैं क्योंकि समुद्र पर जितना अधिकार इनका है उतना किसी का नहीं है वैश्वानर अग्नि हैं क्योंकि सब नरों की हितकारी हैं-- ईशान हैं क्योंकि अपने ऐश्वर्य बल से सबों का शासन करती हैं--निर्ऋति हैं क्योंकि ऋति कहते पीड़ा को सो उनके द्वारा पीड़ा का निराकरण होता है--विश्वंभरा हैं क्योंकि अपनी जाति के समस्त देवगणों का भरपूर भरण करती हैं--दुर्गा हैं क्योंकि दुराधर्ष हैं-- लोकमाता लक्ष्मी हैं क्योंकि जवानी भर सर्व समर्पित हो जननी के समान हमारे देश की प्रजाओं का रक्षण करती हैं..." --अपूर्व वेदान्त', हिन्दी प्रदीप १सितम्बर, सन् १८८७ई०, जिल्द११, संख्या१, पृ०७ ।

दक्षिण- पश्चिम के दिक्पाल हैं। महारानी विक्टोरिया को वरुण, ईशान और निर्ऋति की उपाधि से विभूषित कर भट्ट जी ने उनकी तुलना दिक्पालों से की है और इस प्रकार उन्हें शक्ति और संरक्षण का प्रतीक माना है। उत्तर-पश्चिम में स्थित इंग्लैण्ड की सम्राज्ञी का सुदूर भारत(दक्षिण-पश्चिम) पर शासन करना वास्तव में उनकी शक्ति और बुद्धिमत्ता का प्रतीक है।

प्राचीन भारतीय धारणा के अनुसार राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है। वह पिता के समान अपनी प्रजा का पालन करता है। इसीलिए भट्ट जी ने विक्टोरिया को लोकमाता कहकर उनके प्रजावात्सल्य में अभिवृद्धि करने का प्रयास किया है। भारतेश्वरी को विभिन्न दैवी गुणों से युक्त मानने के साथ ही उनके स्वरूप में दैवी परिकल्पना परम्परा का अनुसरण जान पड़ती है। सम्राज्ञी के चरित्र में पौराणिक व्यक्तित्व का आरोप कर भट्ट जी ने अपनी धार्मिक मनोवृत्ति का परिचय देने के साथ ही धर्म और राजनीति के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को भी व्यक्त किया है। महारानी के प्रताप की प्रशंसा करते हुए भट्ट जी अपने देश के वैदिक देवताओं को भी उसका अनुचर पाते हैं।[१] 'भंग की तरंग' लेख में विक्टोरिया के प्रताप का उल्लेख करते हुए पुन: भट्टजी ने लिखा है कि " धन्य है महारानी का प्रताप जिसके सामने इन्द्र वरुण भी बद्धान्जलि हो रहे हैं तो छोटे मोटे राजाओं को कौन गिने[२]।" प्रतापनारायण मिश्र ने भी महारानी विक्टोरिया के प्रति श्रद्धा के भाव व्यक्त

---

१ "... निदान सर्वदेवमयी होकर सूर्यदेव को आज्ञा दे रक्खा है कि वह उसके राज्य में सदा प्रकाश पहुंचाता रहे। इसी से महाराणी के राज्य में सूर्यास्त होता ही नहीं -- महाराणी की आज्ञा से अग्नि, वरुण, वायु आदि देवगण समय समय अनेक अनेक कल और यन्त्रों केदे द्वारा उसका अभीष्ट सिद्ध करते हैं और उसकी सेवा कर रहे हैं।" --हिन्दी प्रदीप-जिल्द१ संख्या१, १सितम्बर सन् १८७७ ई० 'अपूर्व वेदान्त', पृ०७-८।

२ हिन्दी प्रदीप- अगस्त सन् १८७७ ई०, भंग की तरंग, पृ०४।

किए हैं।

वाइसराय और गवर्नरजनरलों की प्रशंसा

सन् १८६७ई० के लगभग जब भारतेन्दु ने कलम संभाली तब देश में अंग्रेजी शासन दृढ़ हो चुका था। अंग्रेजी राज्य के सुखों से प्रभावित होकर स्वभाव से राजभक्त हिन्दू जनता "चिरजीवो सदा विक्टोरिया रानी" की धुन का अलाप रही थी। साहित्यकार ने भी जनता के स्वर में स्वर मिलाकर शासक जाति की प्रशंसा करने के हेतु भारत में आए वाइसरायों और गवर्नरों की प्रशंसा में जीवन चरित्र और स्वागत गीत लिखे[1]। भारतेन्दु ने लार्ड म्यो(सन् १८६६-१८७२ई०) की मृत्यु के पश्चात् उनका जीवन चरित्र लिखा[2]। भट्ट जी ने भी लार्ड म्यो की समदृष्टि और जनता के प्रति सहानुभूति की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "सर विलियम म्यूर के समय अमीर गरीब रोजगारी बेतिहर सब अपने अपने धन्धे में लगे थे अब के समान हाथ-पर-हाथ रखे नहीं बैठे थे श्रीमान जिस जिले में जाते थे वहां दरबार कर रईस और जिमींदारों से बड़े यखलाक से मिलते थे और उनकी बेहतरी का कोई-न-कोई उपाय सोचते थे[3]। "सर ऐंटोनी मेगडानेल की प्रजा वत्सलता और अध्यवसाय की प्रशंसा भी भट्ट जी ने अपने लेख "धन्य हो प्रभुवर प्रजा के प्राण रक्षक धन्य हो" -- में की है[4]। एक उद्योग जनक

---

१ विक्टोरिया अष्टाङ्गी, रिपनाष्टक,युवराज कुमार स्वागतंते, स्वागतंते महात्मन्, ।

२ भारतेन्दु के निबन्ध- केसरीनारायण शुक्ल,"लार्ड म्यो साहब की जीवन चरित्र",पृ० १५०-१५८ ।

३ हिन्दी प्रदीप मई सन १८८०,ई०सर विलियम म्यूर और वर्तमान समय,पृ० १२।

४ श्रीमान की प्रभु शक्ति स्थिर अध्यवसाय, महानुभावता प्रजावत्सलता जल में तुंबी की नाई सबके ऊपर प्रकाशमान् थी जिसकी आकृति से देखने वालों को बोध होता था कि श्रीमान् जैसे ही प्रजावत्सल हैं,वैसे ही अपने इरादे के भी बड़े पक्के और दृढ़ हैं।" हिन्दी प्रदीप-जिल्द२१,संख्या५-६,माह जनवरी, फरवरी,सन् १८९८ई०,पृ० २५ ।

किंवदन्ती लेख में उन्होंने मैकडानल साहब के त्याग और कर्तव्यनिष्ठा का उल्लेख करते हुए उन्हें "कर्तव्य की परख का जौहरी" बतलाया है[1]। लार्ड लिटन के समय में जब यह आज्ञा हुई कि भारतवासियों को बिना विलायत गए योग्यता के आधार पर सिविल सर्विस में नियुक्ति दे दी जाय तब भट्ट जी लार्ड लिटन ऐसे क्रूर शासक की प्रशंसा करने से भी न चूके। लिटन की निष्पक्षता और उदार प्रकृति की प्रशंसा करते हुए भट्ट जी ने कहा है कि "अब सच श्रीमान् बहुत न्यायशील और स्वजाति पक्षपात शून्य हैं।...[2]" राधाचरण गोस्वामी ने अपने लेख "भारतवर्ष के उत्साही वीर व देशी वालण्टियर" में लार्ड रिपन की प्रशंसा की है[3]।

स्थानीय कर्मचारियों की प्रशंसा

नागरिकों के स्वास्थ्य की दृष्टि से स्थानीय शासन का अपना महत्व है। इसीलिए उन्नीसवीं शताब्दी के लेखक ने स्थानीय

----

१ "हिन्दी प्रदीप", जिल्द २१, संख्या ३,४, नवम्बर, दिसम्बर, सन् १८९७, पृ० ५।

२ ,, सितम्बर सन् १८७९ई०, जि०३, संख्या१, पृ० २०।

३ "लाट साहब जो भारतवर्ष में आये, कुछ भी अधिक दिन नहीं हुए पर वाह रे लाट साहब! दो घड़ी में हिन्दुस्तानियों की पीड़ा, अंगरेजों की न्याशनलटी पहिले लाट साहबों की करतूत अखबारों की पुकार, और भारतवर्ष का दुर्दैव सब जान लिया और उसका उपाय भी गढ़ लिया! वाह रे फोटो-ग्राफी! और वाह रे कारीगरी! ऐसे ही सत्पुरुषों में सर्वशक्तिमान्, जगदीश्वर अपनी अपार शक्ति का बिन्दु विसर्ग डाल देता है।"

-- भारतेन्दु -- वैशाख, शुक्ला १५ सं० १९४०, पुस्तक १, अंक२,२२ मई सन् १८८३ई०, पृ०२१।

शासन के अन्तर्गत शहरों की सफाई, गलियों की स्थिति में सुधार आदि की प्रशंसा की और स्थानीय राजकर्मचारियों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करके उन्हें कर्तव्य निष्ठ होने के लिए प्रेरित किया । श्रीमान् लेन साहब की प्रशंसा करते हुए भट्ट जी ने कहा है कि " श्रीमान् लेन साहब बहादुर को अनेक २ धन्यवाद है, जिन्होंने शहर की गलियों के सुधारने की बहुत कुछ कोशिश की थी ।[1] इसी प्रकार श्रीमान् मालम साहब की व्याज स्तुति करते हुए भट्ट जी ने लिखा है कि .... उक्त साहब बहुत कुछ मुनासिब तबियत के लिए हम लोगों में प्रसिद्ध हैं और जब से मैजिस्ट्रेट नियत हो यहाँ आए हैं प्रजा को किसी तरह की पीड़ा नहीं पहुँची कदाचित् इसका सब भेद उन्हें मालुम[2] नहीं है नहीं तो ऐसा न्याय विरुद्ध कभी न होने देते ।"

शासकों के जातीय गुणों की प्रशंसा

शासकों के व्यक्तिगत गुणों की प्रशंसा करने के साथ-ही-साथ भारतेन्दु युगीन हिन्दी गद्य-लेखकों ने स्थान-स्थान पर उनके जातीय गुणों की प्रशंसा भी की है । अंग्रेज जाति की जातीय एकता की भावना, शौर्य, पराक्रम, साहस, औदार्य, कर्तव्यनिष्ठा और देशभक्ति को प्रकाश में लाकर अपने देशवासियों के अनुकरणीय आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया है । क्योंकि देशोन्नति और देशोद्धार के लिए जातीय एकता, शौर्य, पराक्रम, साहस, कर्तव्यनिष्ठा, देशभक्ति आदि गुण अनिवार्य हैं ।

वीरता

अंग्रेज जाति के वीरत्व की प्रशंसा करते हुए भट्टजी ने कहा है कि " ब्रटानिया को निराबनिया ही मत समझे रहो जिस दिन युद्ध के

---

१ "हिन्दी प्रदीप" मई सन् १८८०ई०, जिल्द३, संख्या६, पृ०३ ।

२ ,, ,, ,, ,, ,, पृ० ४ ।

लिए भरपूर सन्नद्ध हो ललकार कर ब्रिटिश सिंह अपने सिंह विक्रान्त पौरुष के साथ खड़ा हो जायगा, उस दिन इस सिंह के क्रोधानल में कितने रूस घास के समान जलकर राख के ढेर लग जायेंगे[1]।" अन्यत्र ब्रिटिश जाति की शक्ति और सामर्थ्य की ओर लक्ष्य करते हुए भट्ट जी ने कहा है कि "इंगलैण्ड कुम्हड़े की बतिया नहीं है कि रूस के मुकाबिले अंगुली मात्र के देखने से मुरझा जाय[2]।"

राजनीतिक दूरदर्शिता

अंग्रेजों की राजनीतिक दूरदर्शिता और कूटनीति की प्रशंसा करते हुए भट्ट जी ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि ब्रिटिश जाति भारत ऐसे विशाल उपनिवेश की सुरक्षा छल बल से करने में निरन्तर प्रयत्नशील रही है। इसीलिए जब रूस ने अफगानिस्तान पर आधिपत्य करके भारत में प्रवेश करने के लिए मार्ग बनाना चाहा तब सरकार ने लड़ने-भिड़ने की अपेक्षा अफगानिस्तान से सुलह करने की नीति अपनाई। सरकार की कूटनीति की ओर लक्ष्य करके भट्ट जी ने कहा है कि यह कभी सम्भव नहीं है कि हमारी सरकार उस रीछ की गीदड़ भभकी में आय दबकर भारतवर्ष को छोड़ बैठेगी[3]।"

शासन नीति की प्रशंसा

शासकों के व्यक्तिगत और जातीय गुणों की प्रशंसा करने के साथ ही साथ इस युग के लेखक ने शासन नीति और शासन में समय-समय पर किए गए सुधारों की प्रशंसा भी की है। जिस समय भारतेन्दु ने साहित्य के प्रांगण में प्रवेश किया उस समय अंग्रेजी शासन सुदृढ़ हो चुका था। अंग्रेजी राज्य न्यायिक व्यवस्था, पुलिस, आदि के संरक्षण में भारतवासियों

१ 'क्या होगा' -- हिन्दी प्रदीप, सन् १८८५, जिल्द ८, संख्या १०, पृ०८।
२ ,, ,, ,, ,, ,, ,,
३ ,, ,, ,, ,, ,, ,,

को मुसलमानी राज्य के अत्याचार, उत्पीड़न और दिन-रात की कलह और अशान्ति से पहले पहल त्राण मिला था । अतः भारतीयों ने मुसलमान राज्य की अपेक्षा अंग्रेजी शासन को कहीं अधिक श्रेयष्कर समझा । प्रत्यक्षतः सुख- शान्ति के साथ पाश्चात्य सभ्यता द्वारा प्रदत्त विविध वैज्ञानिक साधनों के सुखोपभोग वैध शासन, निष्पक्ष न्याय पद्धति, शिक्षा आदि के कारण हिन्दी गद्य-लेखकों ने अंग्रेजी राज्य के गुणगान किए, प्रगति की इच्छा से सुधारों की सराहना की एवं उन्हें ग्रहण किया ।

स्थानीय शासन

अंग्रेजों के शासन-काल में देश वासियों की राजनीतिक उन्नति और राजस्व में संशोधन किए गए थे । लार्ड रिपन ने देश-वासियों को प्रशासकीय कार्यों में प्रशिक्षित करने के उद्देश्य से स्थानीय स्वायत्त शासन सम्बन्धी प्रस्ताव पारित किया था । स्थानीय शासन - प्रबन्ध के लिए म्युनिसिपैलिटी की स्थापना करने का भट्ट जी ने सरकार से अनुरोध किया है, क्योंकि स्थानीय शासन के माध्यम से जनता को राज्य-कार्य में प्रविष्ट होने का सुअवसर मिलेगा और उसपर मनमाना अत्याचार नहीं किया जा सकेगा[१] । स्थानीय शासन प्रबन्ध की व्यवस्था हो जाने पर भट्ट जी ने सरकार के इस कृत्य के प्रति कृतज्ञता भी व्यक्त की है । नये स्वर में पुराने गीत शीर्षक और महामारी का तेरहवां कांग्रेस शीर्षक लेख के अन्तर्गत श्री शंकर नैय्यर (सभापति)के व्याख्यान का हिन्दी रूपान्तर करते हुए भट्ट जी ने कहा है कि ब्रिटिश जाति के उदार शासन के प्रभाव से ऐसा होने लगा है कि हम लोगों के लिए भी सिविल सरविस का द्वार वैसा ही खोल दिया गया है जैसा इंगलैण्ड वालों के लिए-- छोटे तथा बड़े लाट की कौंसिलों में हम लोगों में से भी मेम्बर चुने जाते लगे हैं इत्यादि

---

१ हम लोग राजकाज में प्रविष्ट हो अपना प्रबन्ध आप ही अच्छी तरह कर सकें और किसी तरह का अत्याचार या अन्याय साधारण प्रजा पर न होने पाए ।
--हिन्दी प्रदीप, जनवरी, सन् १८८०ई०, जिल्द३, संख्या५, कालांतर मीमांसा, पृ० २०

और सब हमारी राजनैतिक उन्नति अंगरेजी राज्य के वहीं स्थिर रहने ही से हो सकेगी[1]।"

न्याय

अंग्रेजों के शासन-काल में परिवहन और प्रसार के साधनों का विकास हो जाने से समग्र भारत एकसूत्र में आबद्ध हो गया था। छोटी छोटी रियासतों का स्थान संघ शासन प्रणाली ने ले लिया था। निरंकुश राजतंत्र के स्थान पर सिद्धान्त रूप में स्वीकृत प्रतिनिधि शासन ने लेखक वर्ग को आकर्षित किया और वह नये शासन-तंत्र के निष्पक्ष न्याय व्यक्तिगत स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व भाव की प्रशंसा करने लगे। अंग्रेजों की निष्पक्ष न्याय-व्यवस्था की प्रशंसा बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र दोनों ही लेखकों ने की है[2]।

---

1 'हिन्दी प्रदीप', जिल्द २१, संख्या ५-६, वर्ष १८६८, मास जनवरी, फरवरी पृ० ६।

2 (क) "सरकार अंग्रेजी के राज्य में बाघ बकरी एक घाट पानी पीते हैं।" प्रताप-नारायण ग्रन्थावली, 'टेढ़ जानि शंका सब काहू'-- प्रताप नारायण मिश्र (ब्राह्मण खंड२, संख्या२, १५ मई, सन् १८८४ई०), पृ० ५८।

(ख) "हिन्दुस्तान में ब्रिटिशशासन जो सुख और आराम का है शेर और बकरी एक घाट पानी पीते हैं।" सोना और सुगंध, हिन्दी प्रदीप, जिल्द१८, संख्या १,२, सितम्बर, अक्टूबर, सन् १८६४ई०, पृ० ८।

(ग) "न्याय और इन्साफ सबके लिए एक सा खुला है। शेर बकरी एक घाट पानी पीते हैं। किसी पर किसी का अन्याय और अत्याचार नहीं चल सकता। एक एक आदमी आजाद और स्वच्छंद है।" नये तरह का जुनून भट्ट निबन्धावली, पृ० १६४।

(घ) "ब्रिटिश राज्य का न्यायकारी सूर्य सहस्त्र किरनों से प्रकाश कर रहा है-- शेर बकरी एक घाट पानी पीते हैं तब क्यों सर्वतोभावेन हमारी ही हार होगी?" .... "अब जानि पाहि यह मानी। और विहीन मही में जानी --हिन्दी प्रदीप, सितम्बर सन् १८८६ई०, जिल्द१०, संख्या१, पृ० १४।

(ङ०) "वाह! वाह! क्या आराम और चैन है सब ओर से जान और माल की रक्षा हो रही है बाघ और बकरी एक घाट पानी पीते हैं।" न्यायखंड शीर्षक--'हिन्दी प्रदीप, एक जुलाई, सन् १८८६ई०, जिल्द१०, संख्या११, पृ० ४।

बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र दोनों के वक्तव्य अंग्रेज़ी राज्य में सबल और निर्बल दोनों के हितों की समान व्यवस्था को व्यक्त करते हैं । शासकों की न्याय -नीति में अपना विश्वास व्यक्त करते हुए भट्ट जी ने कहा है कि उनके किसी काम में (चाहे जो हो) न्याय-अन्याय विचारना व्यर्थ है । वे हमारे राजा हैं और राजा करे सो न्याव है, "पासा परे सो दांवा"

<u>सुरक्षा</u>

मध्ययुगीन मुसलमान राज्य की देशव्यापी अशांति अव्यवस्था और असुरक्षा को भारतीय भूले न थे । दुर्बल शासन के युग में नादिर शाह और अहमद शाह अब्दाली के हमलों के आतंक और विध्वंस पूर्ण आक्रमणों के पश्चात् अंग्रेज़ी शासन की छत्र-छाया में एक सुदृढ़ केन्द्रीय शासन की स्थापना होने से देश की छोटी से छोटी इकाई व्यवस्थित रूप से शासित होने लगी जब कि मध्ययुग में कर वसूली तो होती थी किन्तु राजधानी से दूर स्थित स्थानों में शासन की कोई सुव्यवस्थित योजना न थी । अत: एक केन्द्रीय शासन की स्थापना होने से देशव्यापी लूट-खसोट और विदेशी आक्रमण के भय से मुक्त होने पर इस नए शासन की प्रशंसा करना स्वाभाविक था[1] । सुरक्षा की इस भावना को व्यक्त करते हुए भट्ट जी ने कहा है कि "अंग्रेज़ी शासन की रक्षा हम पर न रहे तो देश में राज-बिराजी लूट-मार लड़ाई भिड़ाई फैल जाय ।.... मुसल्मान फिर हिन्दुओं को सताने की कोशिश करने लगे और हिन्दू राजा आपस में लड़ना

१(क) "अंग्रेज़ों के राज्य में सब प्रकार का सुख पाकर अवसर पाकर भी हम लोग वे जो इस समय उन्नति न करें तो हमारे केवल अभाग्य और परमेश्वर का कोप ही है "भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है" -- भारतेन्दु के निबन्ध-- केसरीनारायण शुक्ल, पृ० ४२ ।

(ख) "प्रजा मात्र के जान माल की भरपूर रक्षा है । किसी को किसी पर किसी तरह की ज़ोर ज़ुल्म की कोई शिकायत नहीं है ।" --भट्ट निबंधावलि, "ढोल के भीतर पोल, पृ० ६२ ।

आरम्भ कर दें[1]।" अंग्रेजों की शासन-व्यवस्था की नींव उनका सुदृढ़ सैन्य संगठन ही था। विदेशी शत्रुओं के आक्रमण से सुरक्षा की ओर लक्ष्य करते हुए भट्ट जी ने कहा है कि "यह गवर्नमेण्ट ही है जो हमें बाहर वालों के हमलों से बचा रही है और हमारे जान माल की रक्षा का बीड़ा उठाये हुए है[2]।" "प्रजारंजनशील संतती" लेख में भी भट्ट जी ने इसी सुरक्षा की भावना को व्यक्त किया है। वह कहते हैं कि "अंगरेज राजा के शुभ पदार्पण से मुसलमानी राज्य की अपेक्षा देश में ~~स्वकब्ज~~ स्वास्थ्य रक्षा और अमन चैन भरपूर है[3]।"

शिक्षा की उन्नति और भारतीय संस्कृति की रक्षा

अंगरेजों के शासन-काल में विज्ञान आदि उपयोगी विषयों की सुसंगठित शिक्षा की व्यवस्था और पुराने ग्रन्थों के पुनरुद्धार ने देशवासियों की धर्मान्धता को दूर कर वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान की थी एवं अज्ञान के कुहासे को दूर कर उनमें नव-चेतना का संचार किया था। अतः भट्ट जी ने स्थान स्थान पर भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए सरकार के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त की है। वह कहते हैं कि -- "सबको अपने लिए तरक्की करने का द्वार खुला है अनेक तरह की विद्या और विज्ञान तथा शिल्प का प्रादुर्भाव देख हमको अपनी प्राचीन सभ्यता का अभिमान जाता रहा[4]।" "नये रंग में पुराने गीत" शीर्षक के अन्तर्गत भट्ट जी ने अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी शिक्षा से उत्पन्न जागृति का वर्णन करते हुए कहा है कि "अंगरेजी राज्य ने हमको अपनी तरक्की करने की

---

१ "नये रंग में पुराने गीत" -हिन्दी प्रदीप, जनवरी फरवरी, सन् १८६८ई०, पृ० ४।

२ ,, ,, ,, ,, ,, ,, पृ० ५

३ "हिन्दी प्रदीप" अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर, सन् १८८७ई०, जिल्द ११, संख्या २, ३, ४, पृ० ४४।

४ "सोना और सुगंध" --"हिन्दी प्रदीप, जिल्द १८ संख्या १, २, सितम्बर-अक्टूबर, सन् १८६४, पृ० ७।

राजसत्ता को माफ कर दिया और अंगरेजी शिक्षा दे उस तरक्की का बीज बो दिया, जिसके द्वारा हम अपने को ऊपर उठा सकते हैं-- अपनी सामाजिक, राजनैतिक तथा धर्म सम्बन्धी हीनता पहचानने लगे और अन्धकार में पड़े २ जो टटोल रहे थे उससे अलग हो जाग उठे और नया जन्म पाया जिस नया जन्म पाने की हमें बड़ी आवश्यकता थी[1]।"

राज-भक्ति

ब्रिटिश शासन-काल में समग्र राष्ट्र की उन्नति होते देखकर भारत का बुद्धिजीवी वर्ग इस राज्य के स्थायित्व की कामना करने लगा। युग-निर्माता भारतेन्दु ने अंग्रेज राज्य की वृद्धि की कामना करते हुए कहा है कि "ईश्वर करे जब तक फूलों में सुगन्धि और चन्द्रमा में प्रकाश है और पद्मिनी नायक सूर्य जब तक उदयाचल पर उगता है। और गंगा जमुना जब तक जमुना धारा बहती हैं तब तक उनके रूप-बल-तेज और राज्य की वृद्धि होय, जिसमें हम उनके कर-कल्प वृक्ष की छाया में सब मनोरथ से पूर्ण होकर सुखपूर्वक निवास करें[2]।"

बालकृष्ण भट्ट ने भी देश में ब्रिटिश राज्य के संरक्षण की कामना करते हुए कहा है कि "अंगरेजी सरकार की सदा हम पर छाया बनी रहे जिसमें हम सुख और चैन से अपने दिन बितावें और जैसा कम्पनी के राज्य के बर्ताव का सुख आज तक याद कर रहे हैं वैसा ही अब भी याद करें[3]।" ब्रिटिश राज्य के गुणों के कारण भट्ट जी देश के कल्याण के लिए अंग्रेजी राज्य

---

१ 'हिन्दी प्रदीप', जिल्द २१, संख्या ५,६ वर्ष १८९८, माह जनवरी, फरवरी, पृ० ४।

२ श्री राजकुमार सु-स्वागत पत्र (१८६९) 'भारतेन्दु ग्रन्थावली', द्वितीय भाग, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० ६२४-२५।

३ 'हिन्दी प्रदीप' फरवरी, सन् १८८०ई०, जिल्द ३, संख्या ६, पृ० १२।

की आवश्यकता बतलाते हुए कहते हैं कि " तुम्हारे ही राज्य के अभी बहुत दिनों तक बने रहने से इस देश का कल्याण है..... इसी से हम तुम्हारी भक्ति को अपने चित्त में स्थान दिये हैं और तुम्हारे बैरियों से लड़ने को तुमसे आगे प्राण होमते हैं....[1] "।

(ख) बीसवीं शताब्दी के हिन्दी गद्य में राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति का स्वीकारात्मक स्वरूप ।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में देश का राजनीतिक वातावरण राजभक्ति के लिए उपयुक्त न था । नौकरशाही की दमन नीति और विशाल जनसमूह की राजनीतिक चेतना अर्थात् नागरिक अधिकारों के प्रति जागरूकता, जनमत के निर्माण, शिक्षा के प्रसार और स्वतन्त्रता की भावना का विकास होने से राज-भक्ति का स्थान देश-भक्ति ने पूर्णतया ले लिया । फलत: देश-भक्ति और देश-प्रेम का मूर्तरूप साहित्य में दृष्टिगत होने लगा । समय-समय पर राज-भक्ति के भाव भी व्यक्त किए गए, किन्तु वह राजभक्ति भी परोक्षत: देश-भक्ति का ही एक रूप थी । साहित्यकार का मुख्य लक्ष्य जन-सामान्य में सक्रिय राजनीतिक चेतना उद्बुद्ध करना ही था । अत: उन्नीसवीं शताब्दी के लेखकों के समान शासक जाति में देवत्व की प्रतिष्ठा इस शताब्दी के साहित्य में नहीं की गई । शासन में किए गए सुधारों की सीधे-सादे शब्दों में प्रशंसा करके शासक जाति को सुधारों के लिए प्रेरित करना ही इस शताब्दी के लेखकों का मुख्य लक्ष्य था । सुधारों की प्रशंसा करने के साथ ही समय-समय पर सुधारकर्ता की प्रशंसा भी कर दी जाती थी ।

स्थानीय शासन में सुव्यवस्था

स्थानीय शासन में सुव्यवस्था की प्रशंसा व्यक्त करते हुए 'काश्मीर यात्रा -- श्रीनगर' लेख में लेखक ने कहा है कि " अब सैकेटेरियेट

---

१ 'अनकण्टक्स' -- हिन्दी प्रदीप, मार्च, सन् १८८६ई०, जिल्द ६, नं०७, पृ०६ ।

का प्रवेश हुआ, म्युनिसिपैलिटी आदि का प्रबन्ध हुआ है, तब से कुछ सफाई हो चली है। पक्की नालियाँ बन गई हैं, गली और सड़कें बुहारी जाती हैं इससे आशा है कि काल पाके नगर की सफाई हो जायगी[1]।" लेखक का उक्त कथन निश्चय ही शासन में उसके विश्वास को व्यक्त करता है।

शासकों के व्यक्तिगत गुणों की प्रशंसा

शासकों के व्यक्तिगत गुणों की ओर इस शताब्दी के लेखक का ध्यान अपने पूर्ववर्ती लेखकों के समान ही आकर्षित हुआ है। बालमुकुन्द गुप्त ने मार्ले साहब के सौजन्य की प्रशंसा करते हुए कहा है कि "बहुत दिन पीछे एक साधु पुरुष एक विद्वान् सज्जन भारत का सर्व-प्रधान शासक होता है...... आप इस देश के मार्ले लार्ड के भी मार्ले लार्ड हैं[2]।" इसी प्रकार लार्ड किचनर के सद् व्यवहार, कार्य तत्परता, निष्पक्षता, न्याय और वीरत्व की प्रशंसा सन् १६१५ई० की 'सरस्वती' में लार्ड किचनर शीर्षक लेख के अन्तर्गत की गई है। प्रथम विश्वयुद्ध में भारतीय सैनिकों ने यूरोप वासियों के समक्ष अपनी वीरता का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया था। किन्तु भारतीय सैनिकों के त्याग की प्रशंसा करने के स्थान पर लेखक ने उसका श्रेय दिया लार्ड किचनर को। क्योंकि प्रशंसा के माध्यम से शासक वर्ग को वैधानिक सुधारों के लिए प्रोत्साहित करना ही साहित्यकार का उद्देश्य रहा है। 'लार्ड किचनर' लेख में लेखक ने कहा है कि "यदि लार्ड किचनर भारतीय सेनाओं को फिर से नये साँचे में न ढालते तो शायद सेना की इतनी संख्या भारत से यूरप के युद्धस्थल में न जा सकती[3]।"

---

१ 'सरस्वती' सन् १६००, मई माह, भाग१, खण्ड १, संख्या५, पृ० १६४।
२ 'भारतमित्र', १६ जनवरी, सन् १६०७, पृ०२२८-२२६।
३ 'सरस्वती' सन् १६१५, भाग १६ खण्ड १, संख्या १, पृ०२३।

उपरोक्त कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक सम्भवतः बंग-भंग के रद्द करने वाली उस शाही घोषणा को भूल गए जिसने भारतीयों के अन्तःकरण में ब्रिटिश न्याय के प्रति पुनः आस्था और विश्वास उत्पन्न कर दिया था, जिसकी प्रेरणा के फलस्वरूप भारतीय सैनिकों ने प्रथम विश्व-युद्ध में भाग लेकर शासकों की यथा समय सहायता करना अपना कर्तव्य समझा। यह सैनिकों की राज-भक्ति का परिणाम था, जिसका श्रेय मिला लार्ड किचनर को। इसी प्रकार सन् १६१८ई० की 'सरस्वती' में सर विलियम वेडरबर्न की प्रशंसा करते हुए सम्पादक ने उन्हें भारत का सच्चा हितैषी बताया है और उनकी मृत्यु पर शोक व्यक्त किया है, क्योंकि उनके समान भारत का हितैषी इंगलैण्ड में कोई नहीं रहा। भारत के कल्याण के लिए जो-जो कृत्य क उन्होंने किए उसका उल्लेख भी इस लेख में किया गया है[१]।

देशवासियों की प्रशंसा

राजनीतिक चेतना उद्बुद्ध होने के साथ-ही-साथ शासन और शासक की प्रशंसा ने ले लिया। देशवासियों की प्रशंसा करने का मुख्य उद्देश्य जन-सामान्य को अपने उज्ज्वल अतीत से परिचित कराकर देश-प्रेम के भावों को उद्दीप्त करना था। इसीलिए भारत के प्राचीन और तत्कालीन नरेश, नेतागण और सामान्य जनता इन लेखकों की प्रशंसा पात्र बनी। महाराज ट्रावनकोर के शासन की प्रशंसा करते हुए दिसम्बर सन् १६०७ की 'सरस्वती' में ट्रावनकोर को 'रामराज्य' और उसकी राजधानी त्रिवेन्द्रम को 'आनन्दालय'

---

१ "वेडरबर्न साहब जब तक पार्लियामेण्ट के मेम्बर रहे भारत के कल्याण का साधन किया। ब्राडला साहब की सम्मति से भारतीय व्यवस्थापक सभाओं के सुधार का कानूनी मसविदा पार्लियामेण्ट में उपस्थित किया। वेल्बी कमीशन के सामने गवाही देते हुए भारत का पक्ष लिया।"

'सरस्वती', मार्च, सन् १६१८, भाग १६, संख्या ३

प्रशंसा की गई है[1]। देश के गण्यमान्य नेताओं के सुकृत्य और त्याग एवं बलिदान का उल्लेख भी इस शताब्दी के लेखक ने किया है। अशिक्षित ग्रामीण भारतीयों की सूझ-बूझ की प्रशंसा करते हुए 'त्यागभूमि' में 'निरक्षरता और स्वराज्य' शीर्षक के अन्तर्गत लिखा है कि "भारत के ग्रामीण निरक्षर, अज्ञानी या बेवकूफ नहीं होते। वे बहुत गहरी बातें भी खूब समझते हैं। पंचायतों में बड़े कठिन मामलों को भी चतुरता से सुलझा देते हैं[2]।"

निष्कर्ष

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के राजनीति विषयक हिन्दी गद्य-साहित्य का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के लेखक ने शासन में सुधार करवाने का लक्ष्य सम्मुख रखकर शासक वर्ग के व्यक्तिगत और जातीय गुणों की एवं शासन नीति की प्रशंसा की है। इसीलिए इस शताब्दी के साहित्य में राज-भक्ति के स्वर ध्वनित होते हैं। किन्तु बीसवीं शताब्दी में प्रतिक्रियावादी शासन के फलस्वरूप हिन्दी गद्य लेखक अपने विचारों की अभिव्यक्ति में अपने पूर्ववर्ती लेखकों की अपेक्षा कहीं अधिक उग्र रहा है। फलतः शासकों की स्तुति का स्थान देशवासियों की प्रशंसा ने ले लिया और राज-भक्ति का पर्यवसान देश-भक्ति में हो गया।

-0-

---

१ "ट्रावनकोर ही का नाम 'रामराज्य' है, फिर भला वहां की प्रजा क्यों न सुखी हो? महाराज उच्च शिक्षा प्राप्त और राजकार्य कुशल हैं। उन्होंने प्रजा के सुख के लिए सभी साधन सुलभ कर दिए हैं। बड़े-बड़े विद्वानों को कर्मचारी रखा है। अनुभवशील और योग्य दीवान नियत करते आये हैं। विद्या और शिक्षा के विस्तार में कोई त्रुटि नहीं होने दी। फिर आपकी प्रजा आनन्दित न होगी तो किसकी होगी। आपकी राजधानी त्रिवेन्द्रम का अर्थ 'आनन्दालय' है।

-- सरस्वती, दिस० सन् १६०७, "महाराज ट्रावनकोर" पृ०५०४।

२ त्यागभूमि -- सं० १६८५, पृ० ६०१।

अध्याय -- सात

-0-

आधुनिक हिन्दी गद्य में राजनीतिक तत्त्व की अभिव्यक्ति का व्यावहारिक पक्ष: आलोचनात्मक स्वरूप(सन् १८५०-१९००)

अध्याय -- सात

-0-

आधुनिक हिन्दी गद्य में राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति का व्यावहारिक पक्ष आलोचनात्मक स्वरूप (सन् १८५०-१६००)

अँग्रेज़ी शासन के आरम्भिक वर्षों में शासकों के न्याय और समदृष्टि में भारतीय जनता का जो विश्वास था, वह विदेशी शासकों की विश्वासघाती नीति से धीरे-धीरे खण्डित होता गया । इंगलैण्ड की लोकतांत्रिक शासन-शैली को देखकर जो विश्वास जगा था, वह उसके साम्राज्यवादी व्यवहार और से सहज ही चूर-चूर हो गया और इस युग का स्वतन्त्र चेता साहित्यकार स्वेच्छाचारी शासन की आलोचना करके प्रजा के अधिकारों एवं लोकहित सम्बन्धी शासन के दायित्व के विचारों की स्थापना वे करने लगा । निश्चय ही इन कटु आलोचना में आधुनिक लेखक की लोकतांत्रिक निष्ठा मुखर है । दीनम्हीन जनता को उसकी वास्तविक स्थिति से परिचित कराकर राजनीतिक चेतना उद्बुद्ध करने का लक्ष्य सामने रखकर हिन्दी गद्य-लेखकों ने प्रतिक्रियावादी शासन की आलोचना करनी प्रारम्भ कर दी । उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी गद्य-लेखकों के राजनीतिक चिन्तन का विषय शासन-व्यवस्था और जनता की दुरवस्था तक ही सीमित था । यथावसर सरकार और सरकारी कृत्यों की आलोचना और सुकृत्यों की प्रशंसा करना ही लेखक का मुख्य कथ्य था । आर्थिक शोषण और दमन, शासन में कुव्यवस्था और अपव्यय, देश-दारिद्र्य, शासकों की भेद-नीति, भाषा और शिक्षा-नीति, सेना नीति, विदेश नीति, अकाल, दरबार आदि ही इन लेखकों का वर्ण्य विषय था । शासन को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए एवं जन-सामान्य के जीवन को सुखी और समृद्ध

बनाने के लिए अर्थ की महत्ता सर्वोपरि है, इसलिए उस शताब्दी का लेखक अर्थ नीति की ओर विशेषरूप से आकृष्ट हुआ । शासन के अन्य पक्षों की आलोचना भी अर्थ की दृष्टि से ही की गई ।

अर्थनीति

शासन-यन्त्र को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए अर्थ की महत्ता सर्वोपरि है । इसीलिए समाज के जिस वर्ग के हाथ में शासन का सूत्र होता है, वह उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व प्राप्त करने का प्रयास करता है । उत्पादन के साधनों पर अधिकार प्राप्त करने की इस प्रवृत्ति ने ही विदेशी शासकों को अपने व्यापार की वृद्धि और भारतीय उद्योग-धंधों को विनष्ट करने के लिए प्रेरित किया । कृषि प्रधान देश भारत में उत्पादन का प्रमुख साधन-भूमि है । अतः प्रभुत्व प्राप्त करने के पश्चात् साम्राज्यशाही ने यहां की भूमि पर आधिपत्य करना प्रारम्भ कर दिया और लगान वसूली का कार्य सरकार का अधिकार हो गया । अर्थ-संग्रह करके अपनी शक्ति का संवर्द्धन करने के उद्देश्य से सरकार ने करों में वृद्धि करना प्रारम्भ किया । भूमि पर लगान और अन्य कर नित्य-प्रति बढ़ते गए, किन्तु उनका उपयोग जन-सामान्य के हित के लिए न होकर शासकों की विलासी वृत्ति को तृप्त करने के लिए होने लगा । क्योंकि ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनाई गई आर्थिक नीति का उद्देश्य भारत का आर्थिक शोषण करना था[१] । यह शासन-तंत्र अत्यधिक

१(क) "व्यापार के इतिहास में तकलीफ की ऐसी दूसरी मिसाल पाना मुश्किल है । जुलाहों की हड्डियां हिन्दुस्तान के मैदानों को सफ़ेद किए हुए हैं ।"
--पण्डित जवाहरलाल नेहरू : लार्ड विलियम बैंटिंग (हिन्दुस्तान की कहानी) पृ०४०७।

(ख) "हम साधारण तथा ब्रिटिश माल और मुख्यतः लंकाशायर का माल बेचने के लिए भारत पर अधिकार जमाए हुए हैं ।" ब्रिटिश होम सेक्रेटरी आनरेबुल सर विलियम जानसन । भारतीय राजनीति की वर्तमान स्थिति - श्रीयुत सुधीन्द्र बसु-- सरस्वती पत्रिका-- सितम्बर, १६२६, खण्ड-२, संख्या-३, पृ० ३३० ।

खर्चीला था और सरकारी सेवा में अंग्रेज़ों की नियुक्ति करने के कारण राष्ट्रीय आय का एक बड़ा हिस्सा विदेश चला जाता था । जातीय स्वार्थ से प्रेरित होकर शासक भारत को एक कृषि प्रधान देश बनाये रखना चाहते थे, जिससे इंगलैण्ड के उद्योगों के लिए कच्चा माल प्राप्त हो सके और तैयार माल की बिक्री के लिए भारत का बाज़ार बना रहे । फलत: भारतीय उद्योग नष्टप्राय हो गए और जनता निरंतर निर्धन होती गई । निलहों के अत्याचार और भारतीयों की विभिन्न आर्थिक समस्याएं राष्ट्रीय असन्तोष की भावना बढ़ाती गईं । इसी कारण भारतीय जनता अपनी आर्थिक दुर्दशा के लिए ब्रिटिश शासन को ही उत्तरदायी समझने लगी ।

धन का अपहरण

विदेशी शासकों ने उद्योग,व्यापार,करों की वृद्धि और खर्चीली शासन-व्यवस्था के माध्यम से धन के अपहरण की जो नीति अपनाई उसका साकार स्वरूप हिन्दी गद्य-साहित्य में दर्शनीय है । व्यापारी शासक देश के धन का अपहरण कर रहे हैं, यह उन्नीसवीं और बीसवीं दोनों ही शताब्दियों के लेखक के लिए सबसे अधिक चिन्ता का विषय था । उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतेन्दु बालकृष्ण,भट्ट प्रतापनारायण मिश्र,राधाचरण गोस्वामी, बदरीनारायण चौधरी, 'प्रेमघन' आदि गद्य-लेखकों ने अति चिन्तनीय स्वर में शासकों की इस नीति की आलोचना की है । युग-निर्माता भारतेन्दु ने अंग्रेज़ी राज्य को समस्त सुखों का आगार मानने पर भी धन के विदेश गमन पर क्षोभ व्यक्त किया[1] एवं जनता को अंग्रेज़ी राज्य के आर्थिक और साम्राज्यवादी पहलू को समझाया है । धन-अपहरण की नीति का उल्लेख करते हुए प्रतापनारायण मिश्र ने कहा है कि --" रुपया जहाज़ों में लदा विलायत चला जाता है । जब तक उसके रोकने का यत्न न होगा, जब तक दूसरे मुल्कों से यहां रुपया न आवेगा, तब तक इस रुई सीया कपड़ा आदि बेचने या

---

१ 'अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी ।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी ।।'

ब्याज खाने से पचा होना....[१]" । भट्ट जी ने अनेक स्थलों में भी इसी प्रकार का भाव अपने लेखों में व्यक्त किया है । बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने देशवासियों की सुप्तावस्था और अंग्रेजों की धनअपहरण की नीति का उल्लेख करते हुए कहा है कि "रुपया जब तक सामने खनकता रहा, रकशा नम्बरदन का नशा जमा रहा । जब उसकी खनखनाहट सात समुद्र पार जा न बची, नशा उतर गया ।[२]"

उद्योग

इंगलैण्ड में यान्त्रिक कला का विकास हो जाने के फलस्वरूप अंग्रेज़ अपने कला-नैपुण्य का परिचय देने के साथ ही मशीनों की बनी सुन्दर और सस्ती वस्तुएं भारत के बाज़ारों में बेचने लगे । देश का धन अपहरण करने का यह परोक्ष साधन समस्त देश का रक्त चूस कर उसे एक जीता-जागता कंकाल बना रहा था । दिसम्बर सन् १८८०ई० के 'हिन्दी प्रदीप' में भट्ट जी ने इस तथ्य का उल्लेख करते हुए कहा है कि --" वेगवान प्रबल प्रवाह के साथ विलायती कारीगरी के पम्प द्वारा भारत लक्ष्मी का सर्वस्व विदेशियों में खिंचा जाता है और हमारे उनींन्दे कुलांगारों के जी में यह सब बात कभी एक पल भर के लिए भी स्थान नहीं पाती.....[३]" प्रतापनारायण मिश्र ने भी अंग्रेज़ों के इस नैपुण्य का उल्लेख करते हुए कहा है कि "जिस भारत लक्ष्मी को मुसलमान सात सौ वर्ष में अनेक उत्पात करके भी न ले जा सके, उसे उन्होंने सौ वर्ष में धीरे-धीरे ऐसे मज़े के साथ उड़ा लिया कि हंसते खेलते विलायत जा पहुंची[४] ।"

---

१ 'मार मार कहै जाओ नामर्द सौ खुदा हो ने बनाया है'--प्रतापनारायण ग्रन्थावली' सं०विजयशंकर मल्ला (ब्राह्मण खंड१,संख्या५, १जुलाई,सन१८८३ई०)पृ०२३।

२ 'स्वदेशीवस्तु स्वीकार और विदेशीय बहिष्कार'-- प्रेमघन सर्वस्व,द्वितीय भाग, पृ० २३६ ।

३ 'हिन्दी प्रदीप',सन्१८८४ई०,दिसम्बर,जिल्द ८,संख्या४,पृ०११ ।

४ 'निबन्ध नवनीत' भाग १,पृ०३४ ।

वाटर वर्क्स विभाग आदि की स्थापना करके अँग्रेज़ों ने भारतवासियों को जीवन की सुविधाएं प्रदान कीं, किन्तु देश की भौगोलिक सीमाओं के अन्दर इन वस्तुओं के निर्माण की कोई व्यवस्था नहीं थी । अत: वाटर-वर्क्स विभाग की स्थापना भी धन के अपहरण का एक साधन बन गई । इसीलिए जनता की सुविधा के लक्ष्य पर दृष्टिपात न करके उन्नीसवीं शताब्दी के लेखक ने वाटरवर्क्स विभाग की स्थापना करने की सरकारी नीति की कटु आलोचना की और इसे देश का आर्थिक शोषण करने की एक कूटनीतिक चाल माना है[1] ।

व्यापार

व्यापार के माध्यम से धन-अपहरण की नीति का उल्लेख उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी-गद्य में यत्र-तत्र दृष्टव्य है । प्रतापनारायण मिश्र ने व्यापार के माध्यम से अंगरेज़ों की धन-अपहरण की नीति को स्पष्ट करते हुए कहा है -- "चमड़ों को सुई,अंग ढांकने को कपड़ा,कहां तक कहिए शरीर रक्षा के लिए औषधि तक विदेश से आवै, एक २ के ठौर पर चार २ उठवावै और जो कुछ पास की पूंजी ले जावै वह सीधे सात समुद्र पार हो पहुंचावै और वहां से सौ जन्म तक फिर भारत का मुंह न देखने पावै[2] ।" वाणिज्य ~~का~~ व्यापार के माध्यम से धन के अपहरण की नीति का उल्लेख भट्ट जी ने भी किया है । वह कहते हैं कि -- "देश का

---

१ ".... बनारस,इलाहाबाद,कानपुर,आगरा आदि छोटे बड़े शहरों की म्युनिसि-पलिटी को वाटरवर्क्स का ऐसा एक चसका दिया कि धरती भर में लोहाई लोहा बिछवाय ज़मीन पोली कर डाला और कपड़े में प्रति वर्ष कई करोड़ का जो घाटा होता था उसे भांत भांत के पाइप और बड़े बड़े बंबे ढाल ढाल भेजकर उस घाटे को पूरे लिया --हमारी शैतानी अक्ल को धन्यवाद दीजिए कि लोहा पै तुम्हारा सोना छीन लेते हैं जब तक तुम दूसरी तलवार रुपया खींचने की निकालोगे --तुम इसके लिए कुछ सोचोगे तब तक में हम कोई ढाल ढाल हम पास पास" -बालकृष्ण भट्ट-"हिन्दी प्रदीप",सन् १८८९८०,जनवरी-फरवरी,मार्च,जिल्द १४,संख्या ५,६,७,पृ०८ ।

२ "न जाने क्या होना है "--"प्रतापनारायण ग्रन्थावली", पृ०४०८(ब्राह्मण खण्ड७, १५ फरवरी ह०सं० ७) ।

वनिज इंगलैण्ड के आधान ही रहा है मुनाफ़ा का सारांश मक्खन वहीं जाता है छाछ में हम लोग अपना निर्वाह करते हैं थुक का परन्तु इंगलैण्ड हमें देकर सोना चांदी हमसे खींचे लेता है[1]।"

स्वतन्त्र वाणिज्य नीति

भारत के धन को अपने देश में ले जाने के लिए विदेशी शासकों ने कुटनीतिक चालें चलना प्रारम्भ कर दिया था। फ्री ट्रेड, चुंगी और कर-व्यवस्था, भारतीय उद्योगों को नष्ट कर भारत को एक कृषक देश घोषित कर देना आदि चालें विदेशी शासकों द्वारा चली जा रही थीं, जिसका स्पष्टीकरण उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी-गद्य-लेखकों ने पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से किया है। 'फ्री ट्रेड' लेख में भट्ट जी ने शासकों की निर्यात व्यापार की नीति का उल्लेख करते हुए कहा है कि "फ्री ट्रेड हमारे शिक्षा गुरु अंगरेज़ महानुभावों की एक बानी है बड़े बड़े पोलिटिकल विचारों का सारांश है राजनीति का लुआब है गुदा है[2]।" फ्री ट्रेड को भट्ट जी ने पिशाच माना है। क्योंकि इस फ्री ट्रेड के नाम पर ही शासक वर्ग अपनी व्यापार-नीति निर्धारित कर देश को दीन-हीन बना रहे थे। स्वतन्त्र वाणिज्य से मानवमात्र में प्रेम और सौहार्द्र की वृद्धि होगी, इस विचार की आलोचना करते हुए भट्टजी ने कहा है कि --" यह नया और अनोखा सौहार्द्र भाव देखा गया कि अन्न पैदा करने वाले खेतिहर बेचारे मर मर अन्न पैदा करें उनकी लड़कों की भांति बहला फुसला अथवा कभी को उन्हें नवाब साहब भी बनाकर उनके खाने का सब अन्न बटोर ले जाय और अन्त में लाचार हो उस अन्न के बदले में दिए हुए उन खेल खिलौने अथवा लोहे के लक्कड़ों को बेच फिर दूसरे देशों से अन्न लावें जिससे जितना उन्होंने दिया उसका चौथाई भी हाथ न लगे[3]।"

---

१ 'हिन्दुस्तान में दरिद्रता का वास क्यों दृढ़ होता जाता है' -हिन्दी प्रदीप, नवम्बर, सन् १८८६, जिल्द १०संख्या३, पृ० २१।

२ हिन्दी प्रदीप, जनवरी, फरवरी, मार्च सन १८८८ई०, जिल्द ११, संख्या ५, ६, ७पृ०६।

३ 'फ्री ट्रेड' -- हिन्दी प्रदीप, जिल्द ११, संख्या ५, ६, ७, सन् १८८८ ई०, पृ० ७।

स्वतंत्र वाणिज्य नीति का अनुसरण करते हुए भारत से अनाज का निर्यात किया जा रहा था। परिणामस्वरूप देश में अन्न मंहगा हो रहा था और दुर्भिक्ष पड़ रहे थे। अत: भट्ट जी क्षुब्ध होकर व्यंग्य की भाषा में कहते हैं कि " इस भारत भूमि ब को खोद-खोद जहाजों में लाद लाद इंगलैण्ड भेज दो और समुद्र पाट पाट उसे इंगलैण्ड की भूमि ब नार डालो जिसमें भारत की भांत इंगलैंड की धरती भी उर्वरा और रत्नगर्भा हो जावे परन्तु भारत का नाम उसमें न लगा रहे उपरान्त हेतिहरों को उसी तरह जहाजों में लाद लाद इंगलैण्ड पहुंचा दो बाकी लोगों को यहां के यहीं डुबो कर आप भी इस सेवा का पुण्य भोगने को स्वर्ग सदृश वहीं जाकर बसिये क्योंकि १२ सेर १० सेर तथा ८ सेर का अन्न बिकने से कैसी ही मंहगी हो होगी प्रजा धीरे धीरे रसातल को पहुंचेगी।[1]" जब अमेरिका ने इंगलैण्ड को गेहूं निर्यात करना बन्द कर दिया तब सामयिक अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के प्रति जागरूकता का भाव का भाव व्यक्त करते हुए भट्ट जी ने कहा कि" हम तो उसी दिन अपना करम ठोंक बैठे थे जिस दिन सुना कि अमरीका वालों ने 'स्वदेश बट्टू के गोल माल के कारण इंगलैण्ड को गेहूं देना बन्द कर दिया है अन्न की ऐसी ही खींच बनी रहा और राजा की ओर से इसके रोकने का कुछ प्रबन्ध न किया गया तो आश्चर्य नहीं कि कुछ दिनों में अभी प्रसेर का गेहूं बिके-- गवर्नमेण्ट को हमारा उचित परामर्श यही है कि हम सब लोग जहाजों में लदलद बंगाले की खाड़ी में डुबो दिये जायं इंगलैण्ड ही बाहे जिये[2]।"

खाद्यान्नों के निर्यात से उत्पन्न अकाल और भुखमरी की स्थिति से क्षुब्ध होकर स्वदेश प्रेमी भट्ट जी ने अपने 'हिन्दी प्रदीप[3]' में गेहूं निर्यात के सम्बन्ध में कई लेख लिखे। गेहूं निर्यात के सम्बन्ध में अपने भाव व्यक्त करते

१' फ्रीट्रेड' --हिन्दी प्रदीप- जन०,फर०,मार्च,सन्१८८८,जिल्द११,संख्या ५,६,७पृ०११।

२' दुर्भिक्ष' --कब और किसे कहेंगे' -हिन्दी प्रदीप-,जिल्द ११,संख्या२,३,४,अक्टू०,नव०, दिस०,सन् १८८७ई०,पृ०५२।

३' ईश्वर भी क्या ठठोल है' --हिन्दी प्रदीप,सन् १८९३ई०

'बड़ों के बड़े हौसिले' --हिन्दी प्रदीप -सन् १८९४ई०।

'गवर्नमेण्ट की गेहूं पर विकट दृष्टि' -- हिन्दी प्रदीप,सन् १८८६ई०,जिल्द११सं०८

'दुर्भिक्ष दलित भारत' --हिन्दी प्रदीप,जन०,फर०,मार्च,सन् १८६१ई०।

'गेहूं के साथ प्रजा का प्राण भी विलायत खिंचा जाता है' --हिन्दी प्रदीप,जुलाई सन्१८६१ई०।

'हमारे देश से अन्नपूर्णा भी अब विदा हुई' --हिन्दी प्रदीप,जन०,फर०,मार्च, सन्१८६१ई० आदि।

समय भट्ट जी की वक्र दृष्टि सदैव ही रैली ब्रदर्स पर रही है[1]। 'बड़ों के बड़े हौसले' लेख में भट्ट जी ने लिखा है कि "रैली ब्रदर के हौसले का अंत तब होगा कि हिन्दुस्तान में एक दाना भी गेहूं का न रह जाय, सब का सब जहाजों में लाद विलायत तथा और मुल्कों में पहुंचा दें[2]।" भट्ट जी ने रैली ब्रदर को भारतीयों का प्रतिद्वन्द्वी माना है और उसकी तुलना पायोनियर से की है[3]।

भारत से गेहूं का मनमाना निर्यात करके सरकार धनोपार्जन कर रही थी और दीन-दलित भारत एक कृषक देश होने पर भी अन्नाभाव से पीड़ित था, क्योंकि अकाल जनित भारत में भी सरकार की दृष्टि अन्न निर्यात की ओर थी और वह खाद्यान्नों के निर्यात को निरन्तर प्रोत्साहित करती थी[4]। सरकार की इस नीति से खिन्न होकर भट्ट जी ने कहा है कि 'अन्न का कमिशन न किया गया कि विलायत में जो यहां का अन्न ढोया जा रहा है वह बंद होता और अधिकांश प्रजा खाली पेट जो रहती है सो पेट भर अन्न खाने को पाती ....[5]'।

---

१ "हमारे किसान मर मर पच पच करोड़ों मन गेहूं पैदा करें। वह यदि सबका सब हमारे काम में आवे तो कुआंये न कुऐं पर गेहूं खेत में रहता है तभी रैली ब्रदर के कारिन्दे गांव गांव घूम खेत का खेत चुकता कर लेते हैं हम मुंह ताकते रह जाते हैं फसल पर भी बारह सेर तेरह सेर से आगे नहीं पा सकते।"
   -'ईश्वर की क्या ठिठोल है'-भट्ट निबंधावलि, पृ० २० (हिन्दी प्रदीप, सन् १८९३ ई०)

२ भट्ट निबन्धावलि, पृ० ८५ (हिन्दी प्रदीप, सन् १८९४ ई०)।

३ "खेत में गल्ला कच्चा खड़ा रहता है तभी रैली ब्रदर के आदमी घूम घूम भाव ते कर लेते हैं दु:खदाइयों में यह रैली ब्रदर भी हम लोगों के लिए दूसरा पायोनियर है--'पायोनियर' हम लोगों के विपक्ष लिख कर हमारा सत्यानाश किया करता है रैली ब्रदर अन्न के व्यौपार से...." --'दुर्भिक्ष दलित भारत'--हिन्दी प्रदीप-सन् १८९९ ई०, जन०, फर०, मार्च, जिल्द २४, सं० ५, ६, ७ पृ० ३।

४ 'गेहूं तो हमारा जीवन है प्राण है बल और पुष्टि का परम उत्तम साधन है उस पर विलायत वालों की कुदृष्टि कैसा भयंकर अत्याचार है और गवर्नमेण्ट उसके रोकने को कौन कहे उल्टा प्रोत्साहन कर रही है।' गेहूं पर गवर्नमेण्ट की विकट दृष्टि'-हिन्दी प्रदीप, सन् १८८९ ई०, जिल्द १२, संख्या ८, पृ० १८।

५ हिन्दी प्रदीप-सन् १८८७ ई०, अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर, पृ० ६।

देश प्रेमी भट्ट जी ने गेहूं निर्यात से उत्पन्न अकाल और दुर्भिक्ष से दुःखी होकर 'फ्री ट्रेड' को ही देश का शत्रु समझा[1]। क्योंकि स्वतन्त्र वाणिज्य के नाम पर भारत से कच्चा माल इंगलैण्ड को निर्यात कर वहाँ के उद्योगों का विकास किया जा रहा था और विलायत में बनी वस्तुएं पुनः भारत आती थीं तो उन पर से चुंगी हटा दी जाती थी। अतः विदेशी वस्तुएं सस्ती होने से देश की बनी वस्तुओं की मांग कम होती जा रही थी। देश के उद्योगधंधे यहां तक चौपट हो गए थे कि छोटी-से-छोटी सुई भी विलायत से बनकर आती थी। मैनचेस्टर के सूती वस्त्र उद्योग का तो विकास ही भारत के जुलाहों के शोषण द्वारा हुआ था। यहाँ से रुई का निर्यात कर दिया जाता था और मैनचेस्टर से मशीन द्वारा निर्मित सस्ते वस्त्र यहां आ जाते थे[2]। सर जान स्ट्रेची के समय में जब विदेशी कपड़े पर से चुंगी हटाकर उसे और सस्ता करने का साधन ढूंढा गया तब भट्ट जी ने सरकारी नीति की कटु आलोचना की, क्योंकि लंकाशायर वालों की हानि का ध्यान रखकर रुई के निर्यात पर चुंगी नहीं लगाई गई और उसी रुई से बने वस्त्रों को भारत में आयात कर से भी मुक्त कर सस्ते मूल्य पर बेच कर भारत के सूती वस्त्र उद्योग के विकास को रोक दिया गया। विलायती कपड़ों पर चुंगी न लगने से देशी कारीगरों की हानि का विचार कर भट्ट जी ने कहा है कि " मरे वे बेचारे जिन्होंने बम्बई, इन्दौर आदि में कपड़ा बनाने का कारखाना जारी किया है

---

१ "फ्री ट्रेड स्वच्छन्द वाणिज्य की "फ्रीडम स्वतन्त्रता हमारे ही प्राणों को हरने को की गई है।" --'दुर्भिक्ष दलित भारत -- हिन्दी प्रदीप, जिल्द २४, संख्या ५,६,७ जनवरी, फरवरी, मार्च, सन् १९६ ई०, पृ० ४।

२ "भारत भूमि में इतनी रुई ईश्वरेच्छा से होती है कि हमें दूसरे देश से उसे मंगाने की आवश्यकता नहीं, परन्तु क्या दीन जुलाहे का कल से काम लेने वाले मैनचेस्टर के लुटेरे जुलाहे के सामने कुछ चल सकता है ? यदि ऐसा हो सकता तो भारत के जुलाहे अपना काम छोड़ मारे मारे न घूमते। देश का धन परदेश न चला जाता, ..." 'प्रेमघनसर्वस्व', द्वितीय भाग, 'भारतवर्ष के लुटेरे और उनकी दीन दशा' पृ० २७६।

और जिससे हजारों गरीब मेहनतियों की जीविका है, विलायती कपड़ा एक तो यों ही सस्ता है चुंगी उठ जाने पर फिर देशी माल को कौन पूछेगा[1]।"

विलायती कपड़े पर से कर उठा देने से भारतीयों को ही उसकी हानि उठाना पड़ी। शासक वर्ग की स्वार्थपरता को देखकर भट्ट जी ने कहा है कि "यह फ्रीट्रेड यहीं तक उत्तम है जब तक इसके द्वारा मैनचेस्टर और लिवरपुल को कोई हानि नहीं पहुँचे..... मान लीजिए वे सब कारीगरी की चीजें जो विलायत से बन हिन्दुस्तान को आती हैं यहीं ही तैयार हुआ करें और उनका चालान उल्टा इंग्लैंड को हुआ करे तब इस स्वतन्त्र वाणिज्य की कभी कदर न की जायगी वरन् उसके रोकने का घोर आन्दोलन होगा.....[2]।"

कर

देशी कारीगरी को विनष्ट कर धन का अपहरण करने के साथ ही अंग्रेजों ने करों में वृद्धि कर दरिद्र भारतवासियों के जीवन को संकटापन्न कर दिया। देशवासियों की आय में वृद्धि हुए बिना ही इनकमटैक्स, लाइसेन्स टैक्स, टैरिफ टैक्स, हाउस टैक्स आदि कितने ही कर बढ़ा दिए गए थे[3]। यहाँ तक कि नमक जैसी दैनिक आवश्यकता की वस्तु पर भी कर लगा दिया गया था। महात्मा गांधी की डांडी यात्रा के पूर्व ही नमक कर पर आपत्ति व्यक्त करते हुए बालकृष्ण भट्ट ने 'नोन तथा सोना है' -- लेख लिखा। अपने इस लेख में नमक-कर पर व्यंग्य करते हुए यह कहते हैं कि " हमारी ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के चरणारविन्द की ऐसी ही महिमा है

----

१ 'अति प्रसन्नोदमही ददाति' - हिन्दी प्रदीप, मार्च सन १८८०ई०, जिल्द ३सं०७पृ०२१।

२ 'फ्रीट्रेड' - हिन्दी प्रदीप, सन् १८८८ई०, जिल्द ११, संख्या ५,६,७,पृ०७-८।

३ "कितनी रीतियों से सरकार हम लोगों से कर लेता है-- नोन का कर अफीम का कर, कानून के जाल में फँसाय बात २ में स्टैंप का कर इत्यादि इससे भी जब पेट न भरा तब लाइसेन्स टैक्स लगाया..... " --'इनकमटैक्स' (आय या आमद पर कर) बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, मार्च, सन् १८८६ई०, जिल्द ९, सं०७पृ०४।

कि जहाँ पर वे सुशोभित होते हैं वहाँ की मिट्टी अथवा पत्थर आदि वस्तुओं में से चाँदी बरसने लगती है तो नोन का सोना हो जाना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है....[1]" भट्ट जी अँग्रेज़ी राज्य में करों के आधिक्य से खिन्न और चिन्तित थे। अत: वह सरकार की कर-वृद्धि की नीति के प्रति आक्रोश व्यक्त करते हुए कहते हैं कि 'हिन्दुस्तान इंगलैण्ड से चाहे और बातों में तुलना न कर सके पर टैक्स देने में उससे बढ़कर न हुआ तो क्या बराबर होने से भी रहा.....[2]' दिन प्रतिदिन करों की वृद्धि देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानो टैक्स और अकाल भारत का पिण्ड अभी न छोड़ेंगे। 'तखफीफ' शीर्षक लेख के अन्तर्गत भट्टजी ने इस तथ्य की पुष्टि करते हुए लिखा है कि "टैक्स भला हम लोगों का पिण्ड कब छोड़ने वाला है नित २ नए तरह के टैक्स बढ़ते ही जाते हैं इधर दो तीन वर्षों से कोई साल खाली नहीं जाता, जिसमें एक नये महापुरुष टैक्स के रूप में अवतार ले प्रजा को बिना पीड़ा दिए स्वस्थ चित्त से रहने देते हों टैक्स और फैमीन तो इन दिनों हमारे देश की शोभा हो रहे हैं।[3]" प्रतापनारायण मिश्र ने भी करों की वृद्धि की ओर संकेत किया है[4]। मंहगी और दुष्काल के समय लाइसेंस टैक्स और इनकमटैक्स लगाने की सरकारी नीति की आलोचना करते हुए भट्ट जी ने कहा है कि "कैसे निश्चय हो कि ट्रैवी साहब बहादुर गल्ले का महसूल छोड़ फौरन से कोई दूसरे तरह का टैक्स बिना निकाले चुपचाप बैठ रहेंगे[5]।"

---

१ 'हिन्दी प्रदीप', सन् १८७९ ई०, जिल्द [illegible] संख्या५, पृ०३।

२ 'एक अनोखे पुत्र का भावी जन्म' -- हिन्दी प्रदीप, जनवरी सन् १८७८, पृ०१५।

३ हिन्दी प्रदीप, जुलाई सन् १८७९ ई०, पृ०३।

४ "....जिस देश में करोड़ों लोग रूखी सूखी रोटी को तरसते रहते हैं, करोड़ों कृषि, वाणिज्य, शिल्प सेवादि के द्वारा जो कुछ कमाते हैं उसका सार भाग टिक्कस, व्यापार, चंदा आदि की राह विलायत चला जाता है.... ।" --प्रतापनारायण ग्रन्थावलि, पृ०३६७ (ब्राह्मण खण्ड७, संख्या १, २, अगस्त, सितं० ई० सं०६)

५ 'अति प्रसन्नो दमड़ी ददाति' --हिन्दी प्रदीप, मार्च, सन् १८८० ई०, जिल्द३, संख्या७, पृ० २१।

करों की वृद्धि से किसी देश में वीरता का अंकुर नहीं जमने पाता[1]। क्योंकि जनता करों के बोझ से दबी रहती है[1]। इन भाव को व्यक्त करते हुए भट्ट जी ने लिखा है कि "लार्ड डफरिन ने क्यों विचार से यह नया इनकमटैक्स का वज्र हमारे छातों पर मारा है कि जो वीरता का अंकुर लार्ड लिटन के शस्त्र निग्रह कारी कानून जारी होने के उपरान्त भी भारतीय प्रजा में रह गया हो उसको वह नये टिकस की कलों में घिस घिस नाश कर दें[2]।" प्रतापनारायण मिश्र ने भी इनकमटैक्स का विरोध करते हुए अपने लेख 'इनकमटैक्स' में लिखा है कि "हमारी सरकार ने हम लोगों की किस आय में वृद्धि देखी है जो यह दुःखद कर बांधा है। ..... ऐसा कोई कर ही नहीं है जो सरकार ने निज हस्तगत न कर लिया हो। इस हालत में बिचारे छुटभइये लाइसेंस और चुंगी के डर से पहिले ही कुछ कर ही नहीं सकते, यदि कुछ करें तो तीन तालें हैं तेरह की भूख बनी रहती है[3]।"

भट्ट जी ने अंग्रेजों के शासन-काल में करों की अधिकता की निन्दा की है[4] एवं कराधिक्य से उत्पन्न आर्थिक शोषण की नीति का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि "राज कर के बोझ से हम लोग पिसे जा रहे हैं जो अलग २ भिन्न २ नाम रूप से उगाहा जाता है।....[5]" करों के माध्यम से अर्थ शोषण की नीति का उल्लेख भट्ट जी ने 'नकटा जिये बुरा हवाल' लेख में भी किया है[6]।

---

१ "जो लोग कर भार और टिकसों के बोझ से दब रहे हैं उनमें वीरता और उत्साह कभी नहीं स्थान पाता।" 'रूस की तैयारी', बालकृष्ण भट्ट -हिन्दी प्रदीप, मई सन १८८५ई०, पृ०२० ।

२ "रूस की तैयारी", हिन्दी प्रदीप, मई सन १८८५ई०, पृ०२० ।

३ निबन्ध नवनीत, भाग१, पृ०७५ ।

४ "टिकस वही अच्छा होता है जो दाल में नमक के माफिक हो... पर यहां तो टिकस दाल की जगह हो रहा है और फायदा नमक की जगह पर..." 'माघमेला' हिन्दी प्रदीप, जिल्द२२, संख्या२, वर्ष १८९९, फरवरी, पृ०१० ।

५ 'माघ' हिन्दी प्रदीप, जिल्द २२, संख्या८-९, अगस्त सितम्बर, सन् १८९९ई०, पृ०४१।

६ "टैक्स के बोझ से चिथरे निकले जाते हैं, परमट का महकमा, आबकारी, म्युनिसिपलिटी की कानून, चुंगी, स्टैम्प का इतना बढ़ जाना इत्यादि कितने नए नए कानून सब मिल देश को पोला बांस सा छूंछा कर दिया।" हिन्दी प्रदीप, नवम्बर, सन् १८८०ई०, संख्या ३, पृ०२० ।

अँग्रेज़ों के शासनकाल में लगाए गए विभिन्न कर न्याया-नुकूल नहीं थे, इसलिए भट्ट जी ने उन्हें असत् माना है । सरकार नित्यप्रति नए नए कर लगाती थी और हिन्दी पत्रों के सम्पादक सरकार की इस नीति का तथा शासन सम्बन्धी अन्य नीतियों की कटु आलोचना करते थे, जिसके फलस्वरूप उन्हें समय-समय पर दण्डित भी होना पड़ता था । 'हिन्दी प्रदीप' सम्पादक भट्ट जी पर जब सरकार ने टैक्स लगाया तब प्रतापनारायण मिश्र ने अपने पत्र 'ब्राह्मण' में उसका तीव्र विरोध किया[1] ।

शासन में अपव्यय

अँग्रेज़ी शासन-काल में करों की निरन्तर वृद्धि का मूल कारण खर्चीला शासन-तंत्र और शासन-व्यवस्था में अपव्यय था । शासन में अपव्यय की निन्दा हिन्दी के प्रायः सभी साहित्यकारों ने की है । भट्ट जी ने तो इस अपव्यय को ही नए नए टैक्सों के लगने का कारण माना है[2] । अँग्रेज़ी शासन-काल में राजप्रबंध में जो अंधाधुंध होता थी, उसका उल्लेख भी भट्ट जी ने अपने लेख 'इनकमटैक्स' में किया है[3] । शासन में अपव्यय न हो इस उद्देश्य से भट्ट जी ने सिविलियन कर्मचारियों का

---

1. "वह बिचारे कौन धंधा करते हैं, जो उन पर टिकस ? इन रुपयों में क्या सरकार का खजाना भर गया ? कर्मचारियों को कौन बड़ी नेकनामी हो गई ? कौन तनख्वाह बढ़ गई? कौन पदवी मिल गई ?" 'मरे को मारैं शाह मदार' प्रतापनारायण ग्रंथावलि पृ० १२५ (ब्राह्मण खण्ड ४, संख्या १-१५, अगस्त, ई०१९०३) ।
2. "प्रजा का प्राण और नस नस के लोहू के समान धन इस समय अनेक रूपों के द्वारा सरकार उगाहती है और फजूलखर्ची की रीति पर फूंकती है ।.... शरीर और प्राण का रुधिर चूसचूस तो इसी कर उगाहा जाता है और बरसात के पानी की भांति बहाया जाता है ।" इनकमटैक्स (आय या आमद पर कर), हिन्दीप्रदीप, मार्च, सन् १८८६ई०, जिल्द ६, संख्या ७, पृ० ६ ।
3. "जितना अंधाधुंध इस देश के राजप्रबन्ध में होता है उतना पृथ्वी मण्डल के किसी देश के राजप्रबन्ध में नहीं होता, जितना भारी तलब इस देश में आकर सिविलियन लोग पाते हैं अन्यत्र कहीं नहीं ..." हिन्दी प्रदीप, मार्च सन् १८८६ई०, जिल्द६, संख्या ७, पृ० ६ ।

वेतन घटाने और विभिन्न विभागों में अधिकारियों की संख्या कम करने एवं भारतीयों को उच्च पदों पर नियुक्त करने का सरकार से अनुरोध किया है,[१] क्योंकि अंग्रेज़ पदाधिकारियों के वेतन के रूप में देश की विशाल धनराशि विलायत जा रही था । सेना के खर्च में कमी करने के उद्देश्य से वह सैनिक दलों (रेजिमेण्ट) की संख्या एवं सैनिक पदाधिकारियों की संख्या में कमी करने और देशी पदाधिकारियों की नियुक्ति करने का अनुरोध करते हुए कहते हैं कि "इससे क्या लाभ कि हिन्दुस्तान के प्रत्येक प्रान्त की सेना अलग अलग समझी जाय अर्थात् हर एक हाथ के सेनापति कम्यांडर इन चीफ भिन्न २ रखे जायं? क्या एक मुख्य सेनापति रखने से सेना का बल कुछ घट जायगा-- उनके नीचे बीसों नायक सेनानी रहते हैं क्या उनसे सेना-भार नहीं सम्हल सकेगा -- तब क्यों करोड़ों रुपया हिन्दुस्तान का इस तरह पर लुटाया जाता है? ... क्यों नहीं देशी लोगों को सेना की अफसरी दी जाती ? यहां के लोगों को यदि अफसरी दी जाती तो क्यों विलायत से बड़ी २ तलब देकर साहब लोगों को बुलाने की तलब होती ? ...."[२] इसी प्रकार ग्रीष्मकाल में अधिकारियों के नैनीताल, शिमला और

---

१ "क्यों नहीं सरकार अपना खर्च कम करती ? क्यों नहीं सिविलियनों की तनख्वाह घटा देती ? क्यों नहीं बेहूदा ओहदों को जिनसे कुछ लाभ नहीं तोड़ देती ? कमिश्नर लोग किस काम आते हैं? सलाटरी कमिश्नर, स्टैम्प कमिश्नर, परमिट के कमिश्नर इत्यादि अनेक कमिश्नर के ओहदे हर एक डिपार्टमेण्ट में किस काम आते हैं । ऐसा ही सेक्रेटेरियट में देखो तो बात तरह के अलग २ सिक्रटरी के होने की क्या आवश्यकता है ? अण्डर सेक्रेटरी असिस्टेण्ट सेक्रेटरी जाइण्ट सेक्रेटरी इत्यादि कोड़ियों और दर्जनों के हिसाब से इतने सिक्रटरों के होने की क्या जरूरत है ? बम्बई और मन्दराज के गवर्नरों की क्या आवश्यकता है ? पश्चिमोत्तर पंजाब और बंगाल की भांत वहां भी लफ्टिनेण्ट क्यों न रखे जायं ? किसलिए बम्बई मन्दराज में गवर्नरों को रख उन्हें दोगुनी तनख्वाह दी जाती है ? ..." हिन्दी प्रदीप, मार्च सन १८८६०, जिल्द ६, संख्या ७, इनकमटैक्स, पृ०६-७ ।

२ 'इनकमटैक्स' - हिन्दी प्रदीप, मार्च सन् १८८६०, जिल्द ६, संख्या ७, पृ० ७ ।

दार्जिलिंग जाने पर भट्ट जी एवं राधाचरण गोस्वामी ने आपत्ति की है[1]। क्योंकि यह अधिकारी पहाड़ों की ठंडी हवा का रसास्वादन भूखी जनता के हाथों का रोटी छीन कर करते थे[2]। उन्नीसवीं शताब्दी का लेखक शासक और शासित के सामान्य जीवन स्तर में बराबरी का पक्षपाती था। वह शासक को बुर्जुवावर्ग के रूप में नहीं देखना चाहता था। इसीलिए शासकों की इस विषम नीति का तीव्र स्वर में विरोध किया गया। पब्लिक वर्क्स डिपार्टमैण्ट के अपव्यय को रोकने के लिए भी भट्टजी ने सरकार से अनुनय विनय की है।

विभिन्न करों के रूप में लिया गया रुपया अंग्रेज़ जाति के वैभवोन्माद में व्यय किया जाता था। जब प्रजा दुर्भिक्ष और कर से पीड़ित होकर त्राहि त्राहि करती थी तब उनके शासक अर्थात् छोटे और बड़े लाट साहब और अनेक दूसरे कर्मचारी जन गर्मी आते ही शिमला और नैनीताल की तरावट में जाकर करवट लेते थे। यह भी इन शासकों की प्रजावत्सलता, निष्पक्षता और न्याय। शासक जाति के इन कृत्यों की निन्दा करते हुए भट्ट जी ने कहा है कि "विकराल ग्रीष्म की खरतर घाम में तप कर जो धन प्रजा उपार्जन करती है

१(क) "हाईकोर्ट के जज यहां की गर्मी सह सकते हैं तो क्या लफ्टिनैण्ट और गवर्नर जैनरल नहीं सह सकते ? कमिश्नरी के ओहदे पर जब तक रहे तब तक गर्मी जाड़ा सब कुछ सहते रहे बोर्ड के मेम्बर होते ही मिज़ाज बदल जाता है बिना नैनीताल की ठण्डी हवा का मज़ा उड़ाये दिमाग साफ़ रहता ही नहीं.."
'इनकम्पैटैन्स', हिन्दी प्रदीप, मार्च, सन् १८८६ई०, जिल्द ६, संख्या ७, पृ०७।

(ख) "शिमला, दार्जिलिंग, महाबलेश्वर, उत्कामन्द, नयनीताल, आबू आदि पहाड़ों पर ग्रीष्म ऋतु में सबसे बड़े बड़े हुक्काम अपने २ बंधना बोरिया लेकर काफ़िरस्तान की चिड़ियों की भांति चढ़ जाते हैं, यह पहिले दर्जे का देश असरत नहीं है तो क्या है ?" 'अंगरेज़ी में देश असरत', 'भारतेन्दु', सं० राधाचरण गोस्वामी, पुस्तक १, माघ शुक्ला १५, सं०१६४०, वि०अंक ११, , ११ फर०, सन् १८८४ई०, पृ०१६३।

२"भूखों के हाथ की रोटी" छीन दुखियों के तन का वस्त्र उतार लोगों के प्राण का रुधिर चूस सरकार रुपया उगाहेगी और उस रुपये से इंगलैण्ड का प्रबल जठराग्नि को आहुति देगी। उस रुपये से सिविलियनों और सिपाहियों को शराब पिलाई

(अगले पृष्ठ पर देखें)

वह उनसे अनेक प्रकार के कर के रूप में छीन लिया जाता है और सिविलियन महाशयों के सुख साज में लगाया जाता है ... ।"[1]

देश दारिद्र्य

मंहगी और करों की वृद्धि से देश में दरिद्रता अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई थी । देश-प्रेमियों के लिए देश की दीन-हीन दशा को देखकर क्षुब्ध होना स्वाभाविक ही था । इस स्थिति में साहित्यकार या तो अतीत का गौरव-गान कर सन्तुष्ट हो सकते थे, अथवा वर्तमान दुरवस्था का चित्रण कर जन-चेतना उद्बुद्ध करने में अपना सहयोग दे सकते थे । हिन्दी गद्य-लेखकों ने जन-चेतना उत्पन्न करने के उद्देश्य से दोनों पक्षों को अपना वर्ण्य विषय बनाया । एक ओर यदि उन्होंने स्वर्णिम अतीत का चित्रण कर देश की महान परम्पराओं एवं पूर्वजों के शौर्य,साहस और वीरता का उल्लेख करके देश-प्रेम के भावों को उद्दीप्त किया तो दूसरी ओर वर्तमान दुरवस्था का चित्रण करके देश की दलितावस्था का साकार स्वरूप उपस्थित किया और उन्हें अपनी वर्तमान दशा

(पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी संख्या २ का अवशिष्टांश)
जायगी .... उसी रुपये से सिविलियनों को नैनीताल और शिमले की सरावट के मजे में मस्त करेगी ......" 'इनकम टैक्स'--हिन्दी प्रदीप,मार्च,सन् १८८६ई०, पृ०७-८।

१ 'सरकारी खर्च कैसे कम हो सकता है' -- हिन्दी प्रदीप,अप्रैल,सन् १८८६ई० जिल्द ६, संख्या ८,पृ०५ ।

२ "अब महा घोर काल उपस्थित है । चारों ओर आग लगी हुई है । दरिद्रता के मारे देश जला जाता है ।" 'वैष्णवता और भारतवर्ष', भारतेन्दु के निबन्ध' -- केसरीनारायण शुक्ल,पृ०४० ।

से ऊपर उठकर उन्नति के मार्ग पर आरूढ़ होने का संदेश दिया ।

राष्ट्रीय भावों को उद्दीप्त करने का लक्ष्य सामने रखकर हिन्दी गद्य-लेखकों ने अंग्रेजों के शासन-काल में जनता की जिस दीन हीन दशा का यथार्थ चित्रण किया है, वह उस युग की देशव्यापी दरिद्रता को समझने के लिए पर्याप्त है[1]। देश और विदेशी का भाव इस समय उदित हो चुका था, इसीलिए हिन्दी गद्य-लेखकों ने अंग्रेजी शासन-काल में जनता की स्थिति की तुलना मुस्लिम शासन से की है[2]। देश-दशा का चित्रण करते हुए 'समय का फेर' लेख में पंडित प्रतापनारायण मिश्र ने कहा है कि " मुसलमानों ने सात सौ बरस राज्य किया, उसमें भी बाजे बाजे बादशाहों ने हजारों आदमी मार डाले, सैकड़ों नगर लूट लिए, तो भी अन्न वस्त्र सबको मिलो रहता था । पर इस सुराज्य में सौ ही बरस के बीच यह दशा हो गई है कि देश भर में चौथाई से अधिक जन केवल एक बेर खा पाते हैं, सो भी पेट भर नहीं[3]।" भट्ट जी और बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया है[4]।

---

१ "हम यहाँ तक पामर और गतांग हो गये हैं कि पेट भर अन्न के लिए भी तरसते हैं ।" 'लोकोत्तर और सर्वसाधारण' बालकृष्ण भट्ट -- भट्ट निबन्ध माला', दूसरा भाग, पृ० १७४ ।

२ "…. जितना दरिद्र मुसलमानों के सात सौ वर्ष के प्रचण्ड शासन द्वारा न फैला था, उतना, वरंच उससे अत्यधिक, इस नीति-मय राज्य में विकसित है ।" --'इनकमटैक्स'--प्रतापनारायण मिश्र, निबन्ध नवनीत, भाग१, पृ० ७७।

३ 'प्रतापनारायण ग्रन्थावली', पृ० २७२(ब्राह्मण खंड ४, संख्या १०-११, १५ मई, जुन ह०सं०५) ।

४(क) "प्रजा बेचारी भूखों मर रही है जुगान जुग बीत गये देश में आधे से भी ज़ियादह लोग ऐसे हैं कि दोनों जून पेट भर न खाया होगा ….. " 'काल पर काल' बालकृष्ण भट्ट--हिन्दी प्रदीप, जिल्द २२, संख्या ८,६ वर्ष १८६६, माह अगस्त, सितम्बर, पृ० १७ ।

(ख) (अगले पृष्ठ पर देखें)

पण्डित प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट दोनों ही को अपने जीवन में अर्थाभाव का सामना करना पड़ा था । स्व-अनुभव के आधार पर देश की दरिद्रता और उससे उत्पन्न असन्तोष का जो चित्रण इन लेखकों ने किया वह सजीव और मर्मस्पर्शी है । मक्त-भ भट्ट जी ने लिखा है कि "देश सब निष्किंचन और दुर्भिक्ष-ग्रस्त हो गया पहले पेट की फिकिर हो जाय तब सब तरक्की सूझती। इंगित उठ दुर्भिक्ष यावत् वस्तु की मंहगी आमदनी का ओर सब और से मन्द आमदनी से ज़्यादह खर्च सब मिल तरक्की की भी तरक्की कर डाला है....[1] ।"

दारिद्र्य दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा था, किन्तु नेतागण उस ओर से विमुख थे । दैनिक जीवन के उपयोग की आवश्यक वस्तुओं पर कर लग जाने से वे मंहगी हो गई थीं । भट्ट जी ने उस स्थिति का यथार्थ दृश्य प्रस्तुत करते हुए कहा है कि " आगे दूध दही उपरी लकड़ी साग अनाज यावत् वस्तु पर चुंगी लगा दी और वे सब चीज़ें जिनके बिना गृहस्थ का एक दिन भी नहीं चल सकता और मंहगी बिकने लगीं छोटे बच्चे दूध को तरसते हैं । घी आंखों में लगाने तक को मुहाल हो गया गरीबों को सूखी दाल-रोटी कठिनाई से मिलती है[2] ।" प्रतापनारायण मिश्र ने भी अपने लेख 'धरती माता' में देश की दुरवस्था का वर्णन किया है ।

(पूर्व पृष्ठ की अवशिष्ट टिप्पणी संख्या ४(ख))

(ख) "अंगरेज़ी राज्य में दरिद्रता और दुःख बहुत बढ़ गया है, यदि उसका कुछ शीघ्र प्रतीकार न हुआ तो यह देश नष्ट हो जायगा । दुष्काल, मंहगी तथा रोग बढ़ता चला जाता और प्रजा अधिक उद्विग्न होती चली जा रही है ।"
--बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'--'प्रेमघन सर्वस्व', भाग २, पृ०५११ ।

---

१ 'नकटा जिया बुरा हवाल' --हिन्दी प्रदीप, जिल्द २१, संख्या ८,९, वर्ष १८९९, माह अगस्त, सितम्बर, पृ०१७ ।

२ 'पानी पानी पानी' --हिन्दी प्रदीप, सन् १८८९ई०, जुलाई-अगस्त, पृ०४ ।

जनसामान्य की स्थिति का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हुए मिश्र जी कहते हैं कि "खेती न किसान को, भिखारी को न भीख कहूं । बनिया को बनिज न चाकर को चाकरी । जीविका विहीन दीनहीन लोग आपस में, एक से एक कहें कहां जाइ का करी ।"[1] मिश्र जी के उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि अंग्रेजों के सुराज्य में व्यापारी से लेकर भिखारी तक, समाज का कोई भी वर्ग अपनी स्थिति से सन्तुष्ट नहीं था । सर्वत्र असन्तोष ही असंतोष दृष्टिगत होता है ।

अकाल

भारत की शस्य श्यामला धरित्री पर अंग्रेजी राज्य के पुष्ट और विस्तृत होने के साथ ही दुष्कालों की संख्या भी क्रमश: बढ़ती गई । उस समय रेलों के प्रसार से समग्र भारत एक शासनसूत्र में बंध चुका था, किन्तु अकाल पीड़ित प्रजा इतनी समृद्ध नहीं थी कि वह अन्य प्रान्तों से आए हुए अन्न को खरीद सके । देश से अन्न का निर्यात और स्वच्छन्द वाणिज्य नीति, कर तथा लगान की वृद्धि और देशी कला-कौशल एवं उद्योग-धंधों का नष्ट हो जाना ही देश व्यापी अकाल का कारण थे । देशी उद्योग-धंधों के विनाश और इंगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप भारत से कच्चा माल इंगलैण्ड जाने लगा था और वहां का तैयार माल भारत के बाजारों में दुगुने-चौगुने मूल्य पर बिकने लगा था । क्योंकि शासकों की पूर्ण सहानुभूति इंगलैण्ड के साथ थी न कि भारत की जनता के साथ । फलत: निर्धनता बढ़ती गई और देश में बराबर अकाल पड़ते रहे । अकाल और उससे उत्पन्न दुरवस्था का उल्लेख उन्नीसवीं शताब्दी के गद्य में यत्र-तत्र किया गया है । हिन्दी गद्यलेखकों ने देश व्यापी अकालों पर क्षोभ व्यक्त किया है और सरकार के अनुत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार की कटु आलोचना की है । सन् १८६६-१८६० के मध्य देशव्यापी अकाल

---

१ 'धरती माता'-प्रतापनारायण ग्रन्थावलि, पृ० २६६ (ब्राह्मण खंड ५, संख्या ६, १५ अप्रैल, ह०सं०)

पड़ा था । इस अकाल की भयंकरता पर प्रकाश डालते हुए भट्ट जी ने कहा है कि "दो वर्ष बीते कि कैसा भयंकर दुर्भिक्ष कुल हिन्दुस्तान भर में ताड़का राक्षसी के भयावने डोल सा फैल गया था ।"[1] "नये स्वर में पुराने गीत" शीर्षक लेख में भी भट्ट जी ने अकालों के आधिक्य पर क्षोभ व्यक्त किया है[2] । बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने देशव्यापी अकालों का मुख्य कारण अन्न निर्यात को माना है,[3] और सरकार की स अन्न निर्यात और लगान बढ़ाने की नीति पर आक्रोश व्यक्त करते हुए कहा है कि "अवश्य ही भारत भूमि प्रजा का पेट भर सकती है, न कि समस्त संसार का परन्तु आजकल तो यूरप आदि महाद्वीपों को इसे अन्न देकर ही कल मिलेगी चाहे भारत की प्रजा मरे या जीये । आज यदि भारत साम्राज्य इसका प्रबन्ध कर सकता तो सहज ही बेड़ा पार था, परन्तु वह तो विलायती प्रजा की प्रजा है, उसकी इच्छा के विरुद्ध वह कुछ भी नहीं मार सकता, इधर भारत की प्रजा सर्वथा परतन्त्र है उसे किसी प्रकार का अपना रोना करने का भी अधिकार नहीं । सरकारी लगान इतनी अधिक है कि जब तक किसान अपना अधिकांश अन्न न बेच दें, उसे कदापि दे नहीं सकते ।"[4]

स्वदेशी

चूंकि अंग्रेजों ने भारत के उद्योगों को विनष्ट करके और अपने देश में बने माल का भारत में प्रचार करके ही भारत का आर्थिक शोषण किया था, इसलिए स्वदेश हित-चिन्तकों ने देश के धन को देश में ही रहने का एकमात्र

---

१ 'काल पर काल' -- हिन्दी प्रदीप, जिल्द२२, संख्या ८, ६, अगस्त-सितम्बर, सन् १८६८, पृ०१७।

२ "अकाल ने थोड़े २ समय के उपरान्त मानो पारी बांध रक्खा है और हिन्दुस्तान को अपना घर कर लिया है ।" हिन्दी प्रदीप, जिल्द२१, संख्या ५, ६, जनवरी, फरवरी, सन् १८६८, पृ०८ ।

३ "भारतभूमि पूर्ववत्--यद्यपि अन्न उगलती ही चली जाती है किन्तु हां, वह अन्न अब देश में रहने नहीं पाता । रेल और जहाजों पर लद लद कर सात समुद्र पार जा पहुंचता है ।" --भयंकर दुष्काल' -प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग, पृ०५२४-५२५ ।

४ भयंकर दुष्काल' - प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग, पृ०५२५ ।

साधन विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार और स्वदेश में बनी वस्तुओं का प्रचार मानकर देशी उद्योगों को प्रोत्साहन देने का प्रयास किया। देशवासियों की उद्योग व्यवसाय के प्रति उदासीनता देखकर भट्ट जी ने क्षोभ व्यक्त किया है और देशवासियों को उद्योग व्यवसाय में संलग्न होने का परामर्श दिया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने देशवासियों को गांधी के स्वदेशी आन्दोलन के पूर्व ही स्वदेशी का सन्देश देकर भारत के लिए नवयुग का द्वार खोल दिया।[१] भारतेन्दु ने "स्वदेशी" का तात्पर्य केवल विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार ही नहीं माना, उनके विचार से स्वदेशी का तात्पर्य देश के उद्योगीकरण के लिए संघर्ष करना भी था। तत्पश्चात् बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने स्वदेशी की महत्ता आँकने के साथ ही यह स्पष्ट कर दिया कि स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार और उसके प्रयोग के लिए वृत्ति में परिवर्तन की आवश्यकता है। प्रेमघन जी ने "स्वदेशी वस्तु स्वीकार और विदेशीय बहिष्कार" शीर्षक के अन्तर्गत यह स्पष्ट किया है कि जब तक देशवासियों में स्वदेशानुराग, देशी वस्तुओं के प्रति सच्ची प्रीति और देशोद्धार की चिन्ता न होगी, तब तक स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार सम्भव नहीं है। क्योंकि केवल स्वदेशी के गीत गाने से ही विदेशी वस्तुओं का

---

१ "हम लोग सर्वान्तर्यामी सब स्थल में वर्तमान सर्वद्रष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते हैं और लिखते हैं कि हम लोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा न पहिनेंगे और जो कपड़ा कि पहले से मोल ले चुके हैं और आज की मिती तक हमारे पास हैं, उनको तो उनके जीर्ण हो जाने तक काम में लावेंगे पर नवीन मोल लेकर किसी भाँति का भी न पहिरेंगे। हिन्दुस्तान ही का बना कपड़ा पहिरेंगे। हम आशा रखते हैं कि इसको बहुत ही क्या प्रायः सब लोग स्वीकार करेंगे और अपना नाम इस श्रेणी में होने के लिए श्रीयुत बाबू हरिश्चन्द्र को अपनी मनीषा प्रकाशित करेंगे और सब देश हितैषी इस उपाय की वृद्धि में अवश्य उद्योग करेंगे।"

--रामविलास शर्मा : "आधुनिक हिन्दी साहित्य की राजनीतिक विरासत" विरामचिन्ह-(कविवचन सुधा, २३ मार्च, सन् १८७४ई०), पृ० ३१० ।

बहिष्कार नहीं किया जा सकता[1]। पंडित प्रतापनारायण मिश्र ने देशवासियों को देशी कपड़े के प्रयोग के लिए प्रोत्साहित करते हुए कहा है कि "भाइयों, यह तो तुम्हारे ही मतलब की बात है, आखिर कपड़ा पहिनोहीगे, एक बेर हमारे कहने से एक-एक जोड़ा देशी कपड़ा बनवा डालो। यदि कुछ सुभीता देख पड़े तो मानना, दाम कुछ दूने लगेंगे। चलेगा तिगुने से अधिक समय[2]।" स्वदेशी वस्त्रों की प्रशंसा करके मिश्र जी ने देशवासियों को यह समझाने का यत्न किया है कि स्वदेशी वस्त्र का उपयोग कर वे देशी शिल्प और लक्ष्मी का उद्धार करेंगे और देशोन्नति में सहायक होंगे[3]।

मिश्र जी के समकालीन लेखक भट्ट जी की आर्थिक सूझ-बूझ बहुत गहरी थी और वे यह जानते थे कि आर्थिक शोषण निम्न कोटि की और दारुण दासता है। अतः वे दासता के बन्धनों से मुक्त होने के लिए भारतीय धन को किसी भी प्रकार से देश में रोकने के पक्षपाती थे। अपने एक निबन्ध में इसी प्रकार का भाव व्यक्त करते हुए इन्होंने कहा है कि "तैमूर, नादिर, चंगेज, महमूद गजनवी आदि हमला करने वालों ने समय-समय देश पर आक्रमण कर इस कदर नहीं लूटा था जैसा विलायत की बनी चीजों से हमारा धन लूटा जाता है।

---

१ "विदेशी लोग तो स्वदेशानुराग के कारण सात समुद्र पार से भी आकर यहां अपने देश के पदार्थ को कार्य में लाते और हम अपने देश की बनी वस्तुओं को छोड़ विदेशी पदार्थ ले लेकर भकुआ बनने के प्रत्यक्ष प्रमाण बने हुए हैं, अपने देश के उद्यम का सर्वनाश कर रहे हैं जिस कारण कितने ही सुन्दर पदार्थ जो यहां बहुतायत से बनते थे, अब देखने में भी नहीं आते। निदान जब तक हममें स्वदेशानुराग न हो, अपने देश की वस्तुओं से सच्ची प्रीति न हो, अपने देशोद्धार की चिन्ता न हो, स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार कैसे सम्भव है? .... स्वदेशी वस्तु प्रचार के लिए विदेशी वस्तु बहिष्कार एक प्रधानाधार व मुख्य साधन है।"

--'प्रेमघन सर्वस्व', भाग २, पृ० २३५।

२ 'देशी कपड़ा' - 'निबन्ध नवनीत', (ब्राह्मण खण्ड ३, संख्या १२), पृ० ८०।

३ ,, - ,, ,, पृ० ८०।

ये नादिर आदि लुटेरे आए एक बार लूट पाट चले गए दो चार वर्ष उनके लूट का असर रहा थोड़े ही दिन बाद देश फिर अपनी पिछली की सी सम्पन्न दशा में आ गया। फैशनपरस्ती के जाल में फंस हम लोगों को विलायत की नफासत और चटकीलेपन ने ऐसा मोहित कर रखा है कि हमारा क्या और क्यों सत्यानाश हो गया कभी एक बार भी हम लोगों ने न सोचा।[1]

सरकारी नौकरी और न्यायालय

सरकारी नौकरी में प्रवेश हेतु सिविल सर्विस की परीक्षा देने के लिए विलायत जाने का नियम भी उन्नीसवीं शताब्दी के लेखक की दृष्टि में देश का धन अपहरण करने की एक कूटनीतिक चाल थी। पण्डित प्रतापनारायण मिश्र की दृष्टि से सिविल सर्विस के लिए हजारों रुपये व्यय करने की अपेक्षा उस धन का देशहित में व्यय किया जाना अधिक उचित था, क्योंकि सिविल सर्विस भी नौकरी ही है। अपने विलायत यात्रा लेख में मिश्र जी ने लिखा है कि "ऐसा उद्योग करो जिससे देश का धन देश ही में रहे। राज्य दूसरों का है, कुछ-न-कुछ धन तो अवश्य विदेश जायगा। यह बात तो पत्थर की लकीर ही है। पर कुछ ऐसा उद्योग करो जिससे यथोचित द्रव्य के अतिरिक्त एक कौड़ी भी विदेश को न जाय।"[2] इसी प्रकार अदालतों के माध्यम से धन अपहरण की नीति का उल्लेख करते हुए बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने कहा है कि " अदालती लुटेरी नटियों के हाव भाव ने उनको अपने वश में रूप वारांगनाओं की भांति जबतक उनमें धन का कुछ स्वारस्य पाती चुम्बक-सी उनके अस्थिमात्र शेष शरीर से लपटी रहतीं। प्रजामात्र इन वस्त्र मोचन करने वालियों से दरिद्र और दुःखी हो गई है।"[3]

---

१ 'हिन्दी प्रदीप'-अक्टूबर, सन् १८७५ई०, पृ० ३।

२ 'निबन्ध नवनीत', भाग १, पृ० ११४-११५।

३ 'भारतवर्ष के लुटेरे और उनकी दीन दशा'- प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग, पृ० २२७।

दरबार

अंग्रेज़ों के मन्त्रिमण्डलात्मक शासन में दीन-हीन प्रजा के धन से शाही दरबारों का आयोजन और उसमें धनिक वर्ग को उपाधियां और तमगे वितरित करने की नीति शासक वर्ग के स्वार्थ और विलासी मनोवृत्ति का प्रतीक है। ऐतिहासिक तथ्यों का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन वर्षों में देशव्यापी अकाल पड़े, उन वर्षों में भी शासकों ने दरबारों का आयोजन किया है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी-गद्य-लेखकों ने जनता के धन के इस अपव्यय का उल्लेख किया है। लार्ड म्यो के काशी-आगमन पर आयोजित लेवी दरबार (१ नवम्बर सन् १८७०ई०) का वर्णन भारतेन्दु ने अपने लेख 'लेवी प्राण लेवी' में किया है। काशी के रईसों की दरबार में आने की साज-सज्जा, श्रीमान् के स्वागत में क्वायद, रईसों की अव्यवस्था भीरुता आदि का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हुए भारतेन्दु ने कहा है कि "वाह वाह दर्बार क्या था 'कठपुतली का तमाशा' था या वलन्टियरों की 'क्वायद' की थी या बन्दरों का नाच था या किसी पाप का फल भुगतना था या फौजदारी की सजा थी।[1]" भारतेन्दु के उक्त कथन में गुलामी और दासता की अनुभूति के प्रति गहरा क्षोभ और ग्लानि है। उन्होंने इस दरबार को एक बन्दीगृह माना जहां राजा और रईस भी लार्ड को आदर से अर्घ्य पाद्य देते थे। वह कहते हैं कि "जब सब लोगों की हाजिरी हो चुकी श्रीयुत लार्ड साहिब कोठी पधारे और सब लोग इस बन्दीगृह से छूटकर अपने-अपने घर आए।[2]"

सन् १८७६-७८ई० के मध्य जब सम्पूर्ण देश अकाल से पीड़ित था, तब लार्ड लिटन ने दिल्ली दरबार (सन् १८७७) किया। इस दरबार में महारानी विक्टोरिया को 'कैसरे हिन्द' की उपाधि से विभूषित किया गया था। भारतीय-नरेशों ने अपनी दीन-हीन प्रजा के कष्टों की अवहेलना करके इस

---

१ केसरीनारायण शुक्ल : 'भारतेन्दु के निबन्ध', पृ० ११५।
२ ,, : ,, पृ० ११५।

दरबार में सम्मिलित हुए और महारानी विक्टोरिया को सम्राज्ञी स्वीकार करके अपनी राज-भक्ति का परिचय दिया। भारतेन्दु ने अपने लेख "दिल्ली दरबार दर्पण" में इस दरबार की सज्जा का वर्णन किया है। भारतीय नरेशों ने ब्रिटिश ताज के प्रति जो भक्ति प्रदर्शित की, उसका विस्तृत वर्णन इस लेख की विशेषता है। स्वयं वायसराय ने अपने वक्तव्य में भारतीय-नरेशों की इस राजभक्ति की प्रशंसा करते हुए कृतज्ञता व्यक्त की है। बालकृष्ण भट्ट ने भी इस दरबार की धूमधाम का वर्णन करते हुए दरबार के दुष्परिणामों की ओर संकेत किया है।[1]

शासन में अव्यवस्था और कुप्रबन्ध

अंग्रेजों के शासन-काल में समग्र भारत एक प्रशासकीय इकाई बन गया था और देश के प्रत्येक भाग अर्थात् प्रान्तों से लेकर छोटे-छोटे ग्राम तक प्रशासकीय दृष्टि से शासक वर्ग के आकर्षण का केन्द्र बन चुके थे। अंग्रेजों के सुदृढ़ और सुव्यवस्थित शासन-तन्त्र में भी जो शासन सम्बन्धी अव्यवस्था थी, शासन का जो कुप्रबन्ध था, उसका उल्लेख उन्नीसवीं शताब्दी के गद्य-लेखकों ने किया है। स्थानीय शासन में कुप्रबन्ध, अनाचार आदि का विस्तृत वर्णन भारतेन्दु और बालकृष्ण भट्ट दोनों ने ही अपने लेखों में किया है। अन्तर केवल इतना ही है कि भट्ट जी ने इलाहाबाद की म्युनिसिपैलिटी की कुव्यवस्था और कुप्रबन्ध का उल्लेख किया है तो भारतेन्दु ने बनारस की म्युनिसिपैलिटी का।

----

१ "लार्ड लिटन ने दिल्ली में धूमधाम का दरबार कर हमारे रजवाड़ों को निष्किंचन कर डाला ये सुद घूमघूम कर राजाओं का असंख्य धन आगत-स्वागत की तैयारी में व्यर्थ बरबाद करा रहे हैं।" लार्ड रिपन से लार्ड डफरिन के शासन में बड़ा अन्तर है - हिन्दी प्रदीप, सन् १८८५ई०, जिल्द ८, संख्या ४, पृ०३।

दोनों ही लेखकों ने स्व-अनुभव के आधार पर स्थानीय शासन की आलोचना की है। काशी की म्युनिसिपैलिटी के कुप्रबन्ध की ओर लक्ष्य करते हुए भारतेन्दु ने 'कंकड़ स्तोत्र' लेख लिखा। इस लेख में उन्होंने काशी की सड़कों पर पड़े कंकड़ों को शिवशंकर की उपाधि दी है। बरसात में सड़क के ठीक न होने पर क्या दशा होती है, यही इस लेख की विषयवस्तु है। काशी के कंकड़ों को संबोधित करते हुए भारतेन्दु कहते हैं,[1] कि "जब पानी बरसता है, तब सड़क रूपी नदी में आप द्वीप से दर्शन देते हो।" लेखक ने कंकड़ों में सब जातियों और समस्त आश्रमों का निवास माना है। भारतेन्दु का यह लेख बनारस की सड़कों की दुरवस्था का जीता-जागता स्वरूप उपस्थित करता है। भट्ट जी ने भी 'म्यूनिसिपैलिटी के इन्तिज़ाम में त्रुटि' शीर्षक लेख में गलियों की गन्दगी और नगरपालिका के कुप्रबन्ध पर आक्षेप किया है। नेटिव क्वारटर की मैली गलियों का वर्णन करते हुए वह कहते हैं कि "जैन सदर बाजार की सड़क तो दिन को श्मशान रात को कालरात्रि रहती ही है तो गली-कूचों की कौन कहा कभी इंगलिश लेडियां इसमें आवेंगी जो नापदान की बू नासारन्ध्र[2] में घुस जायगी अथवा सड़-कच्चों कासड़ा कालापानी का छिड़काव देख घिनैंगी।"

म्युनिसिपैलिटी के अधिकारियों का नगर की सफाई के प्रति उदासीन भाव देख कर भट्ट जी ने एक लेख लिखा--"निद्राविसर्जन"। अपने इस लेख में भट्ट जी ने स्थानीय अधिकारियों से सफाई करवाने का अनुरोध करते हुए कहा है कि "बरसात शुरू होने के पहले अधिकतर सावधानी गुप्त करें, जिससे मैली चीज़ों के सड़ने से हैज़ा या मलेरिया जनित ज्वरादि उपद्रव हमें बाधा न पहुंचा सकें।[3]" म्युनिसिपैलिटी के अधिकारियों ने जब सफाई पर ध्यान दिया

---

१ केसरीनारायण शुक्ल : 'भारतेन्दु के निबन्ध', पृ० ६५।

२ 'एक अनोखे पशु का भावी जन्म' - हिन्दी प्रदीप, जनवरी, सन् १८७९ई०, जिल्द २, संख्या ५, पृ० १५।

३ 'निद्रा विसर्जन' - हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर सन १८८०ई०, जिल्द४, संख्या ४, पृ० १६।

तो भट्ट जी ने सड़कों पर रोशनी के प्रबन्ध के लिए आग्रह किया[1]। अन्यत्र म्युनिसिपैलिटी के कुप्रबन्ध की ओर लक्ष्य करते हुए भट्ट जी ने उसे "मरल्ली घस घस", "मनुष्य लपेटी" और सरकार की छोटी बहन कहा है। उनके विचार से म्युनिसिपैलिटी भी एक कौतुक है। इलाहाबाद की म्युनिसिपैलिटी के कुप्रबन्ध पर आक्षेप करने के साथ ही भट्ट जी की दृष्टि जब गया की म्युनिसिपैलिटी के कुप्रबन्ध पर पड़ी तब उन्होंने "गया यात्रा" लेख लिखकर गया की दुरवस्था का बड़ा ही रोचक वर्णन किया है[2]। अपने इस लेख में भट्ट जी ने बंगाल की सरकार से यह अनुरोध किया है कि वह गया की म्युनिसिपैलिटी को नगर का सुधार करने के लिए बाध्य करे, जिससे यात्रियों को आराम मिले[3]। अन्त में भट्ट जी ने बंगाल गवर्नमेण्ट से पुन: अनुरोध किया है कि वह गया के जीर्ण-शीर्ण तीर्थस्थानों के सुधार की ओर ध्यान दे, क्योंकि बिना गवर्नमेण्ट के

---

१ "म्युनिसिपैलिटी को चाहिए कि गली २ रोशनी का बन्दोबस्त कर दे तो चोरों के भय से जो हम लोगों की रात रात भर जागते बीतता है, सो कले: निवृत्त हो, क्योंकि जब तक गलियों में घमकार सा ऐसा ही अंधकार छाया रहेगा तब तक पुलिस हजार चौकसी करे कुछ नहीं हो सकता।" हिन्दी प्रदीप, जनवरी, सन् १८८५ई०, जिल्द ८, संख्या ५, "पुलिस की निद्रा भंग", पृ० १० ।

२ "...... ऐसा मालुम होता है प्रेत पर्वत के अधिष्ठाता प्रेत लोग गया के पण्डों के कुचरित्र पर और वहां की म्युनिसिपैलिटी के प्रबन्ध पर खिन्न हो रोया करते हैं उन्हीं के आंसू और आंख की कीचड़ बह बह कर जमा हो रामकुण्ड के जलरूप में परिणत हो गया है।" "गया यात्रा"-हिन्दी प्रदीप, सन् १८९४ई०, जनवरी, फरवरी, मार्च, जिल्द १७, संख्या ५, ६, ७, पृ० ५ ।

३ "बंगाल गवर्नमेण्ट को हम सविनय चिताते हैं कि गया की म्युनिसिपैलिटी को इन तीर्थों के सुधार तथा जो यात्री वहां जाय उनके आराम और आसाइश के लिए लाचार करें और जो म्युनिसिपैलिटी गवर्नमेण्ट के हिदायत को अमल में न लावें तो गवर्नमेण्ट खुद इन तीर्थों की सफाई और मरम्मत करा दे खर्च उसका उन्हीं पण्डों से लिया जाय जिन्हें बिना मेहनत का इतना असंख्य धन यात्रियों से मिलता है।" "गया यात्रा" - हिन्दी प्रदीप, सन् १८९४ई०, जनवरी, फरवरी, मार्च, जिल्द १७, संख्या ५, ६, ७, पृ० ४ ।

हस्तक्षेप के उन तीर्थों का जीर्णोद्धार असम्भव है[1]। कहीं कहीं नदियों के उतारे और घाट आदि के कुप्रबन्ध से धर्म-परायण भारतीय जनता को तीर्थों की भूमि प्रयाग में जिन असुविधाओं का सामना करना पड़ता था, उन कष्टों और असुविधाओं की ओर अधिकारी वर्ग का ध्यान आकृष्ट करने का लक्ष्य सामने रखकर भट्ट जी ने एक स्थल पर लिखा है कि " नदियों के उतारे घाट आदि का प्रबन्ध निरधार सन्तान के समान अब तक धूर में लोटता पोटता है.... प्रबन्ध रूपी बालक के मलीन मुख प्रक्षालन का कुछ यत्न न किया गया, मालूम होता है, उसका प्राकृतिक प्रबन्ध बालक उस नीति रूपी अंधी मेहरी का दूध पीकर पला है जो नवाब वज़ीर की अमलदारी में बरती थी इसी से अंगरेज़ी अमलदारी उसे सौतेला लड़का समझ औरों को सौंप खबर नहीं लेती[2]।" भट्ट जी का उक्त कथन शासन की स्थानीय प्रबन्ध के प्रति उदासीनता का द्योतक है।

पुलिस

स्थानीय शासन व्यवस्था में नगरपालिका के समान ही नगर के पुलिस विभाग का भी अपना महत्व है। किन्तु यह विभाग अन्याय, अत्याचार, शोषण और दमन को जितना प्रोत्साहन देता है, उतना सम्भवत: अन्य कोई विभाग नहीं। पुलिस विभाग के अत्याचारों का वर्णन भी भट्ट जी के लेखों में यथास्थान मिलता है। यद्यपि यह सत्य है कि पुलिस विभाग की स्थापना नागरिक सुरक्षा की दृष्टि से की जाती है, किन्तु चोरी, डकैती और अन्य अनुचित कृत्यों के सम्पादन में उस विभाग का पूर्ण सहयोग रहता है।

---

१ ".... अन्त में बंगाल गवर्नमेण्ट से फिर प्रार्थना है कि गया के बेमरम्मत तीर्थों के सुधार की ओर ध्यान दे, क्योंकि बिना गवर्नमेण्ट के हस्तक्षेप के वहाँ के कुण्डों की सफाई तथा टूटे फूटे स्थानों का सुधार और मरम्मत असम्भव है यहाँ के पण्डों को इसका ख्याल होता तो हम कभी गवर्नमेण्ट को क्लेश न देते।" "गया यात्रा", हिन्दी प्रदीप, सन् १८६४ई०, जनवरी, फरवरी, मार्च, जिल्द १७, संख्या ५,६,७। पृ० १०।

२ "आपदामापतन्तीनां हितोप्यायाति हेतुताम्। मातृ जंघाहिवत्सस्य स्तम्भ-विति बन्धने" -- हिन्दी प्रदीप -दिसम्बर, सन् १८७६ई०, पृ० १८-१६।

इसीलिए 'हिन्दी प्रदीप' सम्पादक ने उस विभाग को घृणास्पद बताया है। उनके विचार से तो सर्कारी महकमों में पुलिस के मुहकमे का मुहकमा सृष्टि कर्ता की अनोखी रचना है। 'पंजाब की नई पांचाली'[1] लेख में भट्ट जी ने पुलिस के दुष्कृत्यों का वर्णन किया है।

पुलिस विभाग के कुप्रबन्ध, अनैतिकता और अत्याचार की ओर लक्ष्य करके भट्ट जी ने कहा है कि "इस महकमे के लोगों में नाम के अनुसार गुण भी है वरन् सच पूछो तो इस अंगरेजी राज्य के उत्तम प्रबन्ध और न्याय गुण में जो कभी-कभी धब्बा और कलंक लगता है तो पुलिस ही के कारण और कूड़ा करकट की भर्ती से जैसा यह महकमा बदनाम और अतर है, वैसा कोई दूसरा महकमा नहीं है।"[2] अन्यत्र इसी लेख में वह कहते हैं कि पुलिस का ऐसा जघन्य और निकृष्टतर प्रबन्ध देख मन में भांति २ की कल्पनायें उठती हैं कि क्या कारण जो राजकर्मचारियों में कोई उसके संशोधन की ओर चित्त नहीं देता व और इसके महा अत्याचार को देख सुन भी ऊपर के ओहदे वाले हाकिम सुनी अनसुनी कर देते हैं ....[3]" पुलिस विभाग के कर्मचारियों की चाटुकारिता क्रूरता, अनैतिकता और पक्षपात पर प्रकाश डालते हुए भट्ट जी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि ब्रिटिश शासन में पुलिस का अधिकारी बनने की योग्यता किन लोगों में है।[4]

---

१ 'हिन्दी प्रदीप'-जिल्द १३ संख्या ५,६,७, सन् १८९०ई०, जनवरी, फरवरी, मार्च, पृ० ५६।

२ ,, ,, ८ ,, ६, सन् १८८५ई०, पृ० ८।

३ ,, ,, ८ ,, ६, सन् १८८५ई०, पृ० ६।

४ "जिसे हाकिमों की खुशामद करनी खूब आती हो मुंह पोंछने के रूमाल से साहबों के बूट की गर्द भारना अच्छी तरह जो सीखे हो, उसे पुलिस का पूर्ण अधिकारी कहना उचित है अथवा प्रजा को हर तरह पर त्रास और पीड़ा पहुंचाय रुपया बटोरने में बड़ा व्युत्पन्न हो ईमानदारी को जिसने काली के खप्पर में फोंक दिया हो शहर के आवारा लोगों का जो परम पूज्य देवता हो अथवा आप ही उनसे दबकर उनके वशीभूत हो गया हो और जात का हिन्दू किसी तरह पर न हो इत्यादि गुणों की कामिल सर्टिफिकेट जिसे हासिल हो वह पुलिस के ओहदे का हकदार हो सकता है....।" 'पुलिस' - हिन्दी प्रदीप, फरवरी, सन् १८२८ई०, जिल्द ८, संख्या ६, पृ० ६-१०।

न्यायव्यवस्था

कानून निर्माण और उसके कार्यान्वयन के समान ही कानून की अवहेलना करने वालों को दण्डित करने के हेतु जो दण्ड विधान अपेक्षित है, उसका निर्माण अदालतों में ही किया जाता है। मध्ययुग में शासन के इस विभाग का मुख्य अधिकारी राजा ही था, किन्तु अंग्रेजों के शासन-काल में शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त के अनुसार इस विभाग को विधान निर्मात्री और कार्यपालिका से पृथक् कर दिया गया। पंचायतों द्वारा सीधी, सरल और शीघ्र निर्णय की न्यायपद्धति का स्थान आधुनिक न्यायालयों ने ले लिया। फलतः छोटे से छोटे विषय निर्णय हेतु अदालतों में जाने लगे। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने अंग्रेजों के शासन-काल में अदालतों के इस बढ़ते हुए महत्व का उल्लेख किया है।[१] विचारणीय यह है कि अंग्रेजों के शासन-काल में अदालतों का महत्व तो बढ़ा किन्तु न्याय पद्धति अत्यधिक खर्चीली और समय-साध्य हो गई।" अंग्रेजी शासन की मंहगी न्याय व्यवस्था से असन्तुष्ट होकर ही उन्नीसवीं शताब्दी के लेखकों ने कानून और न्याय पद्धति के दोनों की आलोचना की।[२] अंग्रेजों की आधुनिक न्याय-पद्धति में धनिक वर्ग तो अपने धन के बल पर न्याय प्राप्त कर सकता था, किन्तु जनसामान्य न्याय से वंचित था[३]। इसके साथ ही वकील और मुख्तार स्वत्व की

---

१ "अदालत ने वह खेल दिखाई कि सब अपने अपने को चतुर समझ दौड़ दौड़ कर अदालती रंगभूमि में लीला दिखाने को तत्पर हुए। कोई ऐसी बात ही नहीं, जिसका घर बैठे न्याय हो सके।" प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग, "भारतवर्ष के लुटेरे और उनकी दशा", पृ० २७७।

२ "यह कानून रुपये वाले लिए कामधेनु है रुपया खर्चों चोखे से चोखा बैरिस्टर कर लो सच्चे का झूठा और झूठे का सच्चा, सच है
"Law grinds the poor richmen rule the law."
"कालांतर मीमांसा" - हिन्दी प्रदीप- दिसम्बर सन् १८७६, जिल्द३, संख्या४, पृ० ३।

३ "जितने अन्यायी हैं उनको यह बड़ा भारी आश्रय मिल गया है। कोई सबल निर्बल को इन दिनों दबा सकता है। वह धन और अधिकार के कारण कभी भी इन पंचों की शरण ले सकता है, क्योंकि पंचों के पास बातें वैसी झूठी नहीं चल सकतीं यदि पंच न्यायी और योग्य हैं, जैसा कि अदालत में चलती है।"
"भारतवर्ष के लुटेरे और उनकी दशा" - प्रेमघन सर्वस्व", द्वितीय भाग, पृ० २७७।

रक्षा में सहायक न होकर बाधक ही होते थे। वे अपने स्वार्थों की पूर्ति के हेतु दो पक्षों को निरन्तर लड़ाये रखकर उनका अबाध गति से शोषण करते थे, और मुकदमों की तिथियां बढ़वा देते थे। जहांगीरी न्याय का समय बीत चुका था। न्याय प्रणाली मंहगी[1] होने के साथ ही न्याय प्राप्त करने के लिए लम्बी अवधि की आवश्यकता थी। धन और समय का व्यय करने के पश्चात् भी यह नहीं कहा जा सकता था कि वास्तविक न्याय हुआ है क्योंकि कचहरी में झूठ का सच और सच का झूठ किया जाता था। भट्ट जी ने न्याय के इस दोष की ओर संकेत किया और उसका विरोध करते हुए कहा कि "कचहरियों में झूठ का सच्च और सच्च का झूठ क्यों हो रहा है[2]।" कचहरी न्याय प्राप्त करने का केन्द्र है। अतः भट्ट जी ने "कचहरी" शब्द का विश्लेषण करके अंग्रेजों की मंहगी न्याय व्यवस्था की ओर संकेत किया है[3]। प्रतापनारायण मिश्र ने भी अंग्रेजों की मंहगी न्याय व्यवस्था और निष्पक्ष न्याय के अभाव का उल्लेख करते हुए कहा है कि "..... न्याय ऐसा कस्तूरी के भाव बिकता है कि बहुधा रुपये वाले ही पाते हैं, ...[4]"

---

१ "अदालत से जल्दी निर्णय होता ही नहीं अधिकार के सुख तथा आय को अपने हाथों से क्यों छोड़ें, जो होगा होगा कोई ग्राम कोई नगर और कोई स्थान भारत-भूमि में ऐसा नहीं जहां यह न होता हो।" --"प्रेमघन सर्वस्व", द्वितीय भाग, -"भारतवर्ष के लुटेरे और उनकी दीन दशा", पृ० २७७।

२ अपूर्व वैदान्त- हिन्दी प्रदीप-१ दिसम्बर सन्१८८७ई०, जिल्द ११, संख्या १, पृ० ४।

३ "कच बाल "हरी" मूड़ने वाली किन्तु मूड़ का बाल मूड़ लेना तो एक उपलक्षण मात्र है प्रजा के मूलधन को अलबत्ता मूड़ लेती है --" अपूर्व वैदान्त -हिन्दी प्रदीप, जिल्द ११, सं० १, दिस०, सन्१८८७ई०, पृ० ४।

४ "सत्य "-प्रतापनारायण ग्रन्थावली, पृ० ३६७ (ब्राह्मण खंड७, संख्या१-२, १५ अगस्त, सितम्बर ०सं० ६)

पक्षपात

शासन में कुप्रबन्ध तो था ही, साथ ही सरकार पक्षपात की नीति का अवलम्ब भी लेती थी। भारतीयों को शासन के समस्त महत्त्वपूर्ण पदों से वंचित रखने के उद्देश्य से ही विदेशी शासकों ने ब्रिटिश साम्राज्य के फौलादी ढांचे-- आई०सी०एस०-- की परीक्षा में प्रविष्ट होने की आयु पच्चीस वर्ष से घटाकर उन्नीस वर्ष कर दी[1]। इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा में प्रवेश के लिए आयु का प्रतिबन्ध लगाने के नियम की आलोचना करते हुए 'स्वार्थी दोषान् न पश्यति' लेख में कहा गया है कि 'प्रथम ही प्रथम सरकार का यह नियम हुआ कि २५ वर्ष की अवस्था में हिन्दुस्तानियों को विलायत जाकर सिविल सर्विस का पास करना होगा, जब उसमें हमारे बहुत से हिंदू भाई पास होने लगे तो लिटन महाशय के पेट में पीड़ा चली और २१ वर्ष की अवस्था का नियम ठूंस दिया-परन्तु तिस्पर भी हिन्दुस्तानी पास होने लगे तो अब अंत में १६ वर्ष की आयु का नियम बांधा है' कि न होगा बांस न बजेगी बांसुरी[2]।' आयु प्रतिबन्ध के इस नियम पर 'भारतोद्धारक' शीर्षक लेख में भी व्यंग्य किया गया है[3] और इस नियम का विरोध करते हुए लेखक ने कहा है कि जो अंग्रेज यहां (हिन्दुस्तान में) सिविल सर्विस के पद पर जावें वे भी १६ वर्ष की अवस्था में यहां आकर पास कर लें तब उनको वह पदवी मिले अन्यथा नहीं.....[4]।'

लार्ड लिटन के शासन-काल में बिना सिविल सर्विस की परीक्षा पास किए, बिना इंगलैंड गए, सिविल सर्विस में भारतीयों के प्रवेश को

---

१ द्रष्टव्य- अध्याय-चार, पृ० १६०-१६१।

२ 'भारतोद्धारक', आषाढ़, कृष्ण १, सं०१६४१, भाग १, संख्या १, पृ०१५।

३ 'यह नियम नियत किया जाता तो बहुत अच्छा होता कि गर्भ से निकलते ही हिन्दुस्तानी को विलायत जाकर सिविल सर्विस की परीक्षा देना होगा!!!'
--'भारतोद्धारक', श्रावण, कृष्ण १, सं०१६४१, भाग१, संख्या २, पृ०१६।

४ ,, ,, ,, ,, ,, पृ०२०।

आज्ञा दी थी तो सरकार ने हिन्दुस्तानी सिविलियनों का भी लिहाज़ और संख्या एक और पांच के अनुपात में रखी । वेतन में पक्षपात का विरोध करते हुए भट्ट जी ने 'नेटिव सिविलियन' लेख में यह स्पष्ट कर दिया है कि विलायत अब उतना दुर्घट नहीं है, जैसा पहिले था जब रेल, तार, स्टीमर आदि कुछ न थे । अतः अब यूरोपियनों को इतनी तनखाह क्यों दी जाती है । प्रारम्भ में जब कम्पनी के वंश वाले अच्छे प्रतिष्ठित घराने के लोग नियत होकर आते थे तब इतनी तनखाह उन्हें मिलना अनुचित न था । उनका विचार था कि राज पुरुषों पर पक्षपात और विषम दृष्टि का ऐसा धब्बा लगा हुआ है कि अत्यंत सावधान और चौकस होने पर भी वह पूरी प्रशंसा के भागी नहीं हो सकते ।

सिविल सर्विस के क्षेत्र में रंग-भेद की नीति को स्थायित्व देने के हेतु सरकार ने उसके दो भाग कर दिए-- इम्पीरियल सिविल सर्विस और ब प्रोविन्शियल सिविल सर्विस । इम्पीरियल सिविल सर्विस में अंग्रेज़ और प्रोविन्शियल सिविल सर्विस में भारतीयों के प्रवेश पर आपत्ति करते हुए भट्टजी ने कहा है कि" काले गोरे का फर्क अवश्य रहे--अंग्रेजों की स्वार्थपरता का यह ज्वलन्त उदाहरण है, क्योंकि सिविल सरविस कमीशन के इस निचोड़ से पूर्व भारतीय किसी प्रकार दूसरे तीसरे वर्ष सिविलियन हो ही जाते थे, किन्तु इम्पीरियल सर्विस ने उनकी जड़ें काट दीं और भारतीयों का इम्पीरियल सिविल सरविस में प्रवेश निषेध कर दिया गया ।" .

जातीय पक्षपात को बढ़ावा देते हुए जब सरकार ने हिन्दुस्तान के कोषाध्यक्ष सर जान स्ट्रेची को पेंशन लेकर विलायत जाने पर हिन्दुस्तान के कोषागार से ५०,००० रु० पारितोषिक दिया तब भट्ट जी ने सरकार के इस कृत्य की निन्दा की । वह कहते हैं कि "उक्त साहब ने कौन-सी खैरख्वाही हम लोगों के साथ की है, जिसके प्रत्युपकार में यहां के खजाने से उन्हें इतना अधिक दिया जाता है क्या यह उसी की दक्षिणा है जो जेनरेल रेवेन्यू के भांत एक सौ

मन का पत्थर लार्डमैन्स ऐक्ट हम लोगों के गले में बांधे जाते हैं।"[2]

अंगरेजों की न्याय-व्यवस्था में जातीय पक्षपात का प्राबल्य था। भारतीय जज अंग्रेजों के मुकदमों का फैसला नहीं कर सकते थे। लार्ड रिपन ने जब इस रंग-भेद की नीति को दूर करना चाहा तो अनुदार दल वालों ने उनका तीव्र विरोध किया।[2] न्याय के क्षेत्र में किए गए इस पक्षपात की आलोचना भट्ट जी ने अपने लेख 'अपूर्व सिद्धान्त' में की है।[3] प्रतापनारायण मिश्र ने भी न्याय के क्षेत्र में इस जातीय पक्षपात की निन्दा करते हुए कहा है कि "अंगरेज अपराधियों का इतना पक्षपात कि हिन्दुस्तानी हाकिम बिना यूरोपियनों की पंचायत बैठे, उनका न्याय ही न कर सकें ? क्यों न हो 'घर का परसैया अंधेरी रात'।"[4]

लार्ड रिपन ने न्याय के क्षेत्र में निष्पक्ष नीति का अनुसरण करने के उद्देश्य से इलबर्ट बिल(सन् १८८३ई०) पारित किया था, किन्तु शासक जाति ने इस बिल का विरोध करने के लिए तीव्र आन्दोलन किया। इलबर्ट बिल के विरुद्ध किए गए आन्दोलन पर प्रकाश डालते हुए राधाचरण गोस्वामी ने कहा है कि "..... आगे से अंग्रेज अपराधियों का विचार थोड़े से 'जस्टिस आफ दी पीस' हिन्दुस्तानी भी किया करेंगे, पर यह छोटी सी बात विराट रूप के समान वा बामन जी के पैर के समान त्रिलोकी में छा गई, और अंग्रेज लोग इसमें अपना अपमान,अप्रतिष्ठा, कलंक और यह पर्यन्त नास्ति सर्वनाश समझते हैं।"[5] इलबर्ट बिल के विरुद्ध किए गए

---

१ 'अन्धा पसै फिर २ अपने कौर्दे' -- हिन्दी प्रदीप,मई, सन् १८८०ई०,जिल्द ३, संख्या ६,पृ०२ ।

२ द्रष्टव्य- अध्याय चार,पृ० १६२-१६३,

३"इस देवता और मनुष्य का विभेद दोनों के न्यायाधिकार में प्रकट होता है,जैसा हिन्दुस्तानी हाकिम जो मनुष्य की कोटि में है,उसे इतना अधिकार नहीं है कि वह अंग्रेज अपराधी जो देवताओं की कोटि में रक्खे गये हैं उसका मुकद्मा कर सके ....." -- हिन्दी प्रदीप-दिसम्बर,सन् १८८७ई०,जिल्द११,संख्या ४,पृ०८ ।

४ प्रतापनारायण ग्रंथावलि,पृ०४५(ब्राह्मण खंड१,संख्या १२,१५ फरवरी,सन्१८८४ई०)

५ 'फौजदारी के कानून का संशोधन',भारतेन्दु -- सं०राधाचरणगोस्वामी (वैत्र शुक्ल १५ सं०१६४०वि०),२२ अप्रैल सन १८८३ई०, पुस्तक एक,अंक एक,पृ०३ ।

आन्दोलन का उपहास करते हुए गोस्वामी जी ने कहा है कि 'अंग्रेज़ लोग कितने थानों, या भागों में हिन्दुस्तानियों के मातहत हैं, अंग्रेज़ लोगों के यावत् दीवानी मुकदमे हिन्दुस्तानी फैसला करते हैं, अंग्रेज़ लोग बराबर हिन्दुस्तानी हाकिमों के इजलास में काम पड़ने पर टोपी उतार कर जाते हैं, अंग्रेज़ लोग कितने ही राजा महाराजाओं के यहाँ नौकर हैं, अंग्रेज़ लोग दमाशा लेकर कितने ही साहूकारों को नहीं चलाते हैं, अंग्रेज़ लोग कितने ही बड़े आदमियों के पहरेदार कोचवान हैं, अंग्रेज़ लोग लाखों रुपये के हिन्दुस्तानियों के कर्ज़दार हैं, अंग्रेज़ लोग दो दो आने में हिन्दुस्तानी लोगों को तमाशे दिखाते हैं, इत्यादि किसी बात में अंग्रेज़ लोग बेइज्जत नहीं होते, बेइज्जती अब केवल अदालत में हिन्दुस्तानी हुक्कामों के शरीर से जा चिपटी है....'[1]

भारतस्थित यूरोपवासियों के संगठित आन्दोलन के परिणामस्वरूप सरकार को यह समझौता करना पड़ा कि मैजिस्ट्रेट और सेशन जज चाहे यूरोपीय हों या भारतीय, यूरोपवासियों के मुकदमों पर विचार कर सकते हैं, किन्तु यूरोपियनों को जूरी की सुविधा का अधिकार होगा, जिसके आधे सदस्य यूरोपीय रहेंगे । इस प्रकार इलबर्ट बिल का मुख्य उद्देश्य ही जाता रहा, क्योंकि यह सुविधा भारतवासियों को नहीं दी गई । इलबर्ट बिल के खोखलेपन और निःसारता पर व्यंग्य करते हुए राधाचरण गोस्वामी ने कहा है कि "कलकत्ते को हवा लगते ही इलबर्ट बिल को लकवा मार गया । वी इलबर्ट बिल के हाथ पांव बेकार हो गये, आँखें फूट गईं, ज़बान टूट गई, अब क्या घड़ी दो घड़ी का मेहमान है, इसकी औषधि लार्ड रिपन के हाथ है, पर वह देते नहीं,......"[2]

लार्ड लिटन का वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट (सन् १८७८ई०) और आर्म्स ऐक्ट (शस्त्र विधयक) भी सरकार की रंगभेद की नीति को प्रकाशित करते हैं जा प्रेस ऐक्ट के द्वारा हिन्दी पत्रों के सम्पादकों का मुँह बन्द कर दिया गया था तो

---

१ भारतेन्दु -- राधाचरण गोस्वामी, २२ अप्रैल, सन् १८८३ई०, पुस्तक एक, अंक एक, पृ०३

२ 'इलबर्ट बिल को लकवा मार गया' --भारतेन्दु पौष शुक्ला १५, संवत्, १९४०, वि० पुस्तक १, अंक १०, पृ०१५०।

आर्म्स ऐक्ट द्वारा भारतवासियों के पुरुषत्व पर आघात करके उन्हें निरुपायी और शक्तिहीन बना दिया गया। अत: उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी गद्य-लेखकों ने प्रेस ऐक्ट और आर्म्स ऐक्ट दोनों ही की खुलकर निन्दा की है। लार्ड डफरिन के समय में जब कापीराइट बिल को स्वीकार किया गया तो भट्ट जी ने इसका विरोध किया, क्योंकि इस बिल का प्रयोजन भी तो हिन्दी पत्र-सम्पादकों की स्वतन्त्रता में बाधा डालना ही था[1]। लार्ड लिटन के आर्म्स ऐक्ट ने समग्र भारत-वासियों को शस्त्र विहीन करके असमर्थ, शक्तिहीन और दुर्बल बना दिया था। उनमें इतनी सामर्थ्य नहीं थी कि वे अपने शत्रु का सामना कर सकें। इसीलिए जब रूस ने अफगानिस्तान पर आक्रमण किया तब भट्ट जी ने रूस को अपेक्षा लार्ड लिटन को ही भारत और इंगलैण्ड का शत्रु माना, क्योंकि उनके शस्त्र विधेयक के फलस्वरूप देशवासी शस्त्रविहीन हो गए थे[2]।

साम्प्रदायिकता (जातिभेद)

रंगभेद के साथ-ही-साथ सरकार साम्प्रदायिकता अर्थात् हिन्दू-मुस्लिम नीति को भी बढ़ावा देती थी। मुसलमानों के अल्पसंख्या में होने के कारण सरकार को उनसे कोई भय न था। अत: समय-समय पर मुसलमानों को संरक्षण देकर उनका समर्थन प्राप्त करना विदेशी सरकार के लिए आवश्यक था। सरकारी नौकरियों में मुसलमानों की संख्या अनुपातत: अधिक थी। भट्ट जी ने न्याय की माँग करते हुए सरकारी नौकरियों में जनसंख्या के अनुपात में नियुक्ति की माँग की। इसी प्रकार उर्दू जानने वालों को ही सरकारी कार्यालयों में नियुक्त देना भी

---

1 "इस कापीराइट बिल के आन्दोलन का भी तो यही प्रयोजन है कि पत्र-सम्पादकों की स्वतन्त्रता में कुछ बाधा डाली जाय.... " लार्ड डफरिन व लार्ड लिटन के शासन में बड़ा अन्तर है', हिन्दी प्रदीप, सन् १८८५ई०, माह दिसम्बर, पृ०३।

2 "हमारे पास ऐसे शस्त्र भी नहीं छोड़ गये कि इस सरीखे भालु का मारना कहाँ रहा छोटे छोटे गीदड़ और भेड़ियों से भी अपने अपने पुत्र कलत्र मित्र और प्रेमियों का प्राण बचा सकें।" --'रूस की तैयारी' - हिन्दी प्रदीप-मई, सन् १८८६ई०, जिल्द ६, संख्या ६, पृ०२०।

जातीय पक्षपात है । भाषा के क्षेत्र में सरकार की इस पक्षपात नीति का उल्लेख करते हुए बदरीनारायण चौधरी ने 'प्रेमघन' ने कहा है कि "गरिबमोवर देशीय गवर्नमेण्ट के अधिकारी लोग जब ऐसे प्रचलित अक्षरों को अदालतों में चलाने का विचार कर रहे हैं, तब इसे पक्षपात के सिवाय और क्या कहा जाय[1] ।" भाषा के क्षेत्र में पक्षपात नीति का अनुसरण करके सरकार उर्दू को बढ़ावा देती थी और नागरी जो देश के अधिकांश लोगों की भाषा है, सरकारी संरक्षण के अभाव में विकासोन्मुखी नहीं हो पा रही थी । अतः सरकारी कार्यालयों में नागरी अक्षरों के प्रयोग पर बल दिया गया ।

जातीय भेदभाव को बढ़ावा देकर अँग्रेजों ने 'फूट डालो और राज्य करो ' की नीति का अनुसरण किया । क्योंकि सन् १८५७ के गदर के बाद सरकार को यह विदित हो गया था कि उसका हित हिन्दू और मुसलमान इन दोनों जातियों को लड़ाये रखने ही में है । इसीलिए समय-समय पर जातीय पक्षपात करके सरकार इन दोनों जातियों में द्वेषाग्नि भड़काती रही । सरकार की इस नीति की आलोचना करते हुए हिन्दी गद्य-लेखकों ने हिन्दू और मुसलमान दोनों ही को एकता का संदेश दिया[2] । किन्तु साम्प्रदायिकता की भावना का अन्त न हो सका और दिन-प्रति-दिन पारस्परिक वैमनस्य बढ़ता ही गया ।

साम्राज्य विस्तार और विदेश नीति

अँग्रेजों ने एक व्यापारी के रूप में भारत में प्रवेश किया था । किन्तु साम्राज्य-विस्तार की नीति का अनुसरण करके अपनी

---

१ 'हमारे देश की भाषा और अक्षर' -- प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग, पृ० ५७ ।

२ "हिन्दू मुसलमान दोनों भारत माता के हाथ हैं । न उनका इनके बिना निबाह है न इनका उनके बिना । अतः सामाजिक नियमों में एक दूसरे के सहायक हों । इसमें दोनों का कल्याण है । कोई दाहिने हाथ से बायां हाथ व अथवा बायें हाथ से दाहिना हाथ काट के सुखी नहीं रह सकता ।"

--प्रतापनारायण ग्रन्थावलि, पृ० ३५७ ।

कूटनीतिक चालों के माध्यम से उन्होंने समग्र भारत पर अपना आधिपत्य जमा लिया और व्यापार शाही साम्राज्यशाही में बदल गई । साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् इस विशाल देश की सुरक्षा के प्रश्न को लेकर समय-समय पर सब सीमावर्ती विवाद भी हुए और साम्राज्यवादी शासकों ने अवसर देखकर पड़ोसी देशों को हस्तगत करने का प्रयास किया और उसमें सफल भी हुए[1] । जब निरपराध ब्रह्मा देश को सरकार अंग्रेज़ों ने हस्तगत किया तब भट्ट जी ने सरकार की स्वार्थ नीति को प्रकाशित करते हुए कहा कि "क्या ४० वर्ष के उपरान्त डलहौजी का समय फिर आ गया है[2] ।" डलहौज़ी ने भारतीय नरेशों के राज्य हड़पने की नीति अपनाई थी और लार्ड डफरिन ने पड़ोसी देशों पर अपनी वक्र दृष्टि डाली । उसने निरपराध ब्रह्मा को हस्तगत कर लिया[3] । डलहौजी की नीति की पुनरावृत्ति उनके शासन के चालीस वर्ष बाद पुनः हुई और इस पुनरुक्ति ने शासकों के लक्ष्य को स्पष्टता से स्पष्ट कर दिया। लार्ड डफरिन के शासन-काल में जब ब्रह्मा को अंग्रेज़ी शासन में मिलाये जाने की घोषणा की गई तो उससे न तो भारत को कोई लाभ हुआ और न तो यह न्याय की दृष्टि से उचित था, अतः भट्ट जी ने इस नीति का विरोध किया[4] । लार्ड डफरिन की साम्राज्य विस्तार की नीति का उल्लेख करते हुए एवं देशी नरेशों को चेतावनी देते हुए भट्ट जी ने कहा है कि "हमारे देशी राजाओं को सचेत रहना उचित चाहिए, क्योंकि डलहौजी का अन्यक्षेत्रन फिर सरकार काम में लाया चाहती है[5] ।"

---

१ द्रष्टव्य -- अध्याय चार, पृ० १६०-६८,

२ 'लार्ड रिपन से लार्ड डफरिन के समय में बड़ा अन्तर है' --हिन्दी प्रदीप-दिसम्बर, सन् १८८५ई०, जिल्द ६, संख्या४, पृ०३।

३ ऐतिहासिक संदर्भ की पुष्टि के लिए अध्याय चार, पृ० १६४ देखें ।

४ "अहमी बेचारे की कमज़ोर पाय धर दाबा .... बहादुरी और मर्दानगी तब थी कि काबुल और रशियापर ऐसी तेज़ी के साथ फुकते तो यहां सो भेड़ भेड़ और यहां शेर की झपट ।" 'लार्ड रिपन से लार्ड डफरिन के शासन में बड़ा अन्तर है', हिन्दी प्रदीप-दिसम्बर, सन् १८८५ई०, पृ०५ ।

५ 'लार्ड रिपन से लार्ड डफरिन के समय में बड़ा अन्तर है'-हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर, सन् १८८५ई०, पृ०५ ।

'भारत में दुर्दिन पूर्ण रीति से आ गये' लेख में भट्ट जी ने लार्ड डफरिन की साम्राज्य विस्तार की नीति की आलोचना की है[1]।

सन् १८८५ई० का तृतीय बर्मा युद्ध शासकों की साम्राज्य लिप्सा का ज्वलन्त उदाहरण है। इस युद्ध की विकरालता और विध्वंस का वर्णन करते हुए भट्ट जी ने कहा है कि 'यह ब्रुहा का युद्ध क्या हुआ कि द्रौपदी का चीर हुई या सृष्टि का सर्वग्रास करने वाले अन्तक महाकाल रुद्र के तृतीय नेत्र की धूमायमान अग्निशिखा है जिसमें प्रतिदिन सहस्त्रावधि प्राणी शलभायित होते जाते हैं[2]।'

बर्मा का राजा थीबा एक बर्बर और अत्याचारी नरेश था। उपरांत बर्मा को भारत में मिलाने की नीति का अनुसरण करते हुए ब्रुहा के स्वतन्त्र राज्य में ब्रिटिश हस्तक्षेप का उल्लेख भट्ट जी ने किया है[3]। पड़ोसी राज्य बर्मा के कार्यों में हस्तक्षेप की आलोचना करते हुए भट्ट जी ने कहा है कि 'आपको क्या पड़ी थी जो 'थाल भात में मूसलचन्द' हो जा कूदे क्या आप ब्रह्माण्ड के अन्याय मिटाने और शान्ति स्थापन करने का ठीका ले उतरे हैं[3]।' लार्ड डफरिन की नीति के प्रति आक्रोश व्यक्त करते हुए भट्ट जी ने उन्हें शनि की उपाधि दी है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार शनि का ग्रह कष्ट और पीड़ा का द्योतक है। लार्ड

---

१ 'लार्ड डफरिन साहब बर्मा को ऐसा निगल बैठे कि डकार तक न आई।' हिन्दी प्रदीप, जनवरी, सन् १८८६ई०, जिल्द९, संख्या५, पृ०७।

२ 'गये थे वहां प्रजा को थीबा के अत्याचार से छुड़ाने और शान्ति स्थापन करने से वहां अब एक इंच पृथ्वी भी ऐसी न बच रही जहाँ अराजकता न छाई हो तब तो एक ही थीबा अत्याचार करने वाले थे अब हमेशा के घोर उपद्रव में एक २ डाकू सरगना २ थीबा का अंश धारण किये महा प्रलय की लीला का अभिनय कर रहे हैं।' 'बेकाम का काम', हिन्दी प्रदीप, सितम्बर, सन् १८८६ई०, जिल्द १०, संख्या १, पृ०१०।

३ वही, पृ० ११

डफरिन को शनि कहकर भट्ट जी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि देशी नरेशों के लिए डफरिन साहब की दृष्टि भी शनि के समान ही पीड़ाकारक है[1]। अन्यत्र भट्ट जी ने लिखा है कि "हमारे उत्तर-दक्खिन की कई एक रियासत पर भी टकटकी लगी हुई है ईश्वर ही रक्षक है।" "चतुर्थ वेदान्त" लेख में भी भट्ट जी ने शासकों की साम्राज्य लिप्सा की ओर संकेत किया है[2]। एक स्थल पर उन्होंने कहा है कि "सरकार को अपने राज्य की सीमा बढ़ाने की लौ लगी है[3]।"

सैन्य नीति

अंग्रेजों ने अपने साम्राज्य-विस्तार के सहायक तत्व के रूप में भारत में सुदृढ़ सैन्य संगठन किया था। किन्तु सेना के संगठन का प्रत्येक प्रयत्न और सेना को विस्तार करने की नीति ने सरकारी व्यय में वृद्धि कर दी। उल्लेखनीय यह है कि अंगरेज हमारे ही धन से विशाल सेनाएं रखकर हम लोगों का दमन कर रहे थे। अत: शान्ति काल में रखी गई इन विशाल सेनाओं को बाहुल्य सफेद-मदुक का भट्ट जी ने विरोध किया[4]। प्रत्येक प्रान्त की सेना अलग-अलग समभा कर हर हाथी के पदाधिकारी अलग अलग रखने से एवं अँग्रेज़ पदाधिकारियों की नियुक्ति करने से सेना

---

१ "क्या मालूम शनि की दृष्टि किधर आ पड़े" 'लार्ड रिपन से लार्ड डफरिन के शासन में बड़ा अन्तर है' -हिन्दी प्रदीप- दिसम्बर सन १८८५ई०,पृ०५।

२ "राज्य प्रांत को बढ़ाते जाना इस जाति का स्वभाव ही है।" -हिन्दी प्रदीप- १ सितम्बर सन् १८८७ई०,जिल्द ११, संख्या १, पृ०४।

३ 'लौ लगी रहे' - भट्ट निबन्धावलि, पृ०७५ (१ सितम्बर सन १८०३ई०)

४ 'जब देश में सब और शान्ति और रक्षा है तब केवल बाहरी मदुम के लिए इतनी फौज रखने की आवश्यकता क्या है -- जो रुपया इतनी फौज रखकर बाहरी मदुक के लिए खर्च किया जाता है वही अन्दरूनी तरक्की में लगाया जाय तो कितना उपकार होता--'नये स्वर में पुरानी गीत' -हिन्दी प्रदीप,जनवरी, फरवरी,मार्च सन् १८९८ई०,पृ०६।

का व्यय बढ़ गया था । भट्ट जी ने सरकार की इस नीति का उल्लेख करते हुए सरकार से भारतीयों को सेना में उच्च पद देने का अनुरोध किया है, जिससे सेना के बढ़े हुए व्यय में कमी की जा सके[1] । इसके साथ ही उन्होंने भारतीयों की सैनिक शिक्षा की व्यवस्था के लिए सरकार को हिन्दुस्तान में भी मिलिटरी कालेज स्थापित करने का परामर्श दिया[2] । सेना में उच्च पदों पर अंग्रेज़ों की ही नियुक्ति सरकार की विषम दृष्टि और देशवासियों के प्रति अविश्वास का द्योतक है । इसलिए भट्ट जी ने सरकार की इस नीति का विरोध किया[3] । अंग्रेज़ों के शासन-काल में भारत में रखी गई विशाल सेनाओं का उपयोग साम्राज्य-विस्तार के लिए किया जाता था, किन्तु इन सेनाओं को रखने का आर्थिक भार भारत के ऊपर पड़ता था । सेना और पुलिस देश की सुरक्षा (आन्तरिक और बाह्य) के साधन हैं, किन्तु अंग्रेज़ों के शासन-काल में जब उन्हीं सेनाओं का उपयोग अंग्रेज़ी राज्य की सीमाओं का विस्तार करने के लिए होने लगा तब भट्ट जी ने सरकार की इस नीति का विरोध किया और सरकार से अनुरोध किया कि विशाल पैमाने पर रखी गई इन सेनाओं का कुल भार इंगलैण्ड वहन करे, क्योंकि हमें अपने देश की रक्षा के लिए विशाल सेनाओं की आवश्यकता नहीं है[4] । भट्ट जी ने वाइसराय की कौंसिल

---

1. इंगलैण्ड हिन्दुस्तान से ५० गुना अधिक धनी है वहाँ भी सेना का इतना खर्च नहीं होता-- "यों नहीं देशी लोगों मत्र को सेना की अफसरी दी जाती ? यहाँ के लोगों को यदि अफसरी दी जाती तो क्यों विलायत से बड़ी २ तलब देकर साहब लोगों को बुलाने का सबब होता ?" हिन्दी प्रदीप- मार्च, सन १८८६ई०, जिल्द९ संख्या ७, 'इनकमटैक्स', पृ०९ ।
2. "फ़ौज के बड़े २ ओहदे कर्नेल जनरैल इत्यादि हमें भी क्यों न मिलें हिन्दुस्तान में भी मिलिटरी कालेज क्यों न हम लोगों के लिए स्थापित किया जाय ।" अकाल और महामारी का तेरहवां कांग्रेस -हिन्दी प्रदीप, जनवरी, फरवरी, सन् १८९८, जिल्द२१, संख्या ५,६, पृ०१० ।
3. "फौज के बड़े बड़े ओहदे भी उन्हीं गोरों को दिए जाते हैं तो क्यों समझा जाय कि हमको कदर उनसे बढ़कर न सही तो उनके बराबर की तो की जाती...." भीमा युद्ध की तैयारी - हिन्दी प्रदीप- सन् १८९७ई०, सित०, अक्टू०, जिल्द२१, संख्या१-२, पृ०२१ ।
4. "..... हमारे ही खर्च से इतनी फौज क्यों रखी जाती है जिससे कि हमको जरूरत नहीं है- जब कि लड़ाइयां अंग्रेज़ी हुकूमत हिन्दुस्तान में कायम रखने को लड़ी जाती हैं तो उसका कुल खर्चा इंगलैण्ड

(अगले पृष्ठ पर देखें)

के हिन्दुस्तानी सदस्यों को भी यह परामर्श दिया कि लड़ाई के खर्च का जब बजट पास हुआ करे तब वे अपने और अपने देश के लाभ की दृष्टि से उसका विरोध करें।[1]

शिक्षा-नीति

अंग्रेज देश में आर्थिक साम्राज्यवाद की स्थापना करके ही सन्तुष्ट नहीं हुए। अभी तो शासन सूत्र चलाने का एक साधन था। सत्य तो यह है कि वे अपनी कूटनीति से भारतीयों के मन और मस्तिष्क को गुलाम बनाना चाहते थे। अत: उन्होंने भारत की शिक्षा-नीति को अपने अनुसार निर्धारित किया और शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी घोषित कर दिया गया। अंग्रेजी भाषा और साहित्य के अध्ययन से लोगों की रुचि अंग्रेज़ी साहित्य और संस्कृति की ओर आकृष्ट हुई। किन्तु शासकों की शासन-व्यवस्था के लिए लिपिक तैयार करने थे न कि स्वदेश-प्रेमी, स्वदेशाभिमानी आदर्श नागरिक तैयार कर अपनी सत्ता की जड़ें हिलानी थीं। इसीलिए प्रारम्भ में स्त्री शिक्षा पर विशेष बल नहीं दिया गया। नारी जाति को शिक्षित कर वह भारत की भावी सन्तानों में क्रान्तिकारी भावों को उद्दीप्त नहीं करना चाहते थे और भारतीयों की रूढ़िवादिता के कारण स्त्रियां लिपिक कार्य के लिए उपयुक्त न थीं। सरकार ने शिक्षा के माध्यम से नौकरशाही की प्रवृत्ति को बढ़ाने का यत्न

(पूर्व पृष्ठ की अवशिष्ट टिप्पणी संख्या ४)

को देना चाहिए हिन्दुस्तान से क्यों लिया जाता है -- नये स्वर में पुरानी गीत- अकाल और महामारी का तेरहवां कांग्रेस, हिन्दी प्रदीप- जनवरी, फरवरी, सन् १८६८, जिल्द २१, संख्या ५,६, पृ० ६।

---

१ "लड़ाई में खर्च का जब बजट पास हुआ करे तब वाइसराय की कौंसिल के हिन्दुस्तानी मेम्बरों को अपने फायदे के ख्याल से उसका विरोध करना आवश्यक है।" नये स्वर में पुरानी गीत- अकाल, और महामारी का तेरहवां कांग्रेस, हिन्दी प्रदीप, जनवरी, फरवरी, सन् १८६८ई०, जिल्द २१, संख्या ५,६, पृ० ६।

किया । जन-सामान्य की शिक्षा की ओर सरकार की कोई रुचि न थी । अत: वे समय-समय पर शिक्षा के क्षेत्र में कुछ ऐसे नियम बनाते थे जिससे शिक्षा का प्रचार कुछ रुक-रुक कर हो[1] । समय-समय पर शिक्षण शुल्क बढ़ाया जाना, पुस्तकों के मूल्य में वृद्धि, शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी घोषित करना, पाठ्यक्रम को कठिन बनाना आदि कुछ ऐसे साधन थे जिससे सम्पन्न परिवार के लोग ही शिक्षा से लाभान्वित हो सकते थे । दीन-दलित जनता अधीनाव में शिक्षा से वंचित थी । उसकी मानसिक भूख को शान्त करने का कोई प्रयत्न नहीं किया जा रहा था । सरकार की इस नीति पर जब हिन्दी गद्य-लेखकों की दृष्टि पड़ी तब उन्होंने सरकार की शिक्षा-नीति का तीव्र स्वर में विरोध किया और देश के धनी मानी लोगों से धर्म के क्षेत्र में धन के अपव्यय को कम करके ,उस धन का उपयोग जनसाधारण की शिक्षा के लिए करने का परामर्श दिया है[2] ।क्योंकि स्त्री और पुरुष दोनों में ही नैतिक दृढ़ता उत्पन्न करने के लिए शिक्षा परमावश्यक है । 'धर्म का महत्व' लेख में भट्ट जी ने कहा है कि 'उच्च शिक्षा का फल नीति तत्व के सिद्धान्तों में दृढ़ता "मारेल करेज" है[3] । शिक्षण-शुल्क में वृद्धि के दुष्परिणामों को शिक्षा विभाग और जनता के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए भट्ट जी ने कहा है कि 'सरकार साधारण शिक्षा कम किया चाहता है इसलिए फीस हद से जियादह बढ़ा दी गई । अब गरीबों के बालकों को उच्च शिक्षा तो एक ओर रही साधारण शिक्षा भी दुर्घट हो गई[4] ।" अन्यत्र भट्ट जी ने

---

१ द्रष्टव्य-- अध्याय चार,पृ० २०६ - २०७,

२ 'यदि हमारे धनी जन अपने बहुत से धर्म सम्बन्धी अपव्यय छोड़कर या उस अपनी बेवकूफी को कुछ कम कर उस धन को साधारण शिक्षा में लगा दें तो कितना उपकार हो और धर्म तो इतना हो कि सात स्वर्ग और अपवर्ग की प्राप्ति भी इस धर्म के आगे भरत मारती रहै । ... " भट्ट निबन्ध माला-दूसरा भाग,- 'हमारे धर्म सम्बन्धी खर्च', पृ० १२३,१२४ ।

३ 'भट्ट निबन्ध माला'-भाग २,पृ० ११० ।

४ 'हमारे धर्म सम्बन्धी खर्च '--'भट्ट निबन्ध माला', भाग २,पृ० १२३ ।

लिखा है कि जिन लड़कों की तालीम चार आने में होती था, उनके लिए दो रुपया महीना खर्च करना पड़ता है।[1] 'धर्म राज्य का क्या लक्षण है' लेख में भी भट्ट जी ने शिक्षण-शुल्क में वृद्धि की आलोचना की है । शिक्षा कमीशन ने शिक्षा का व्यय बढ़ा दिया था, इसलिए भट्ट जी ने शिक्षा कमीशन को 'कराल कमीशन' की संज्ञा दी[2] । उनके विचार से विभाग के अधिकारियों ने शिक्षण-शुल्क में वृद्धि करके मानसिक हत्या का प्रयत्न किया था ।

अंग्रेजों के शासन-काल में जन-सामान्य की शिक्षा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया, क्योंकि सरकार की नीति शिक्षा को विशेष वर्ग तक सीमित रखने की थी । शिक्षा का प्रसार प्रशासनिक सुविधाओं को ध्यान में रखकर किया गया था और सरकार की नमकधारा में केवल धनिक वर्ग ही आ सकता था । अत: शिक्षा को अत्यधिक खर्चीला बनाकर उसे वर्ग-विशेष तक सीमित कर दिया गया । राष्ट्रीय भावनाओं के विकास को अवरुद्ध करने की दृष्टि से सरकार ने जन-सामान्य की शिक्षा का विरोध किया था । किन्तु अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त विशेष वर्ग के नवयुवकों के विचारों पर जब पाश्चात्य इतिहास, साहित्य और संस्कृति की छाप पड़ी तब वे भी सरकार के विरोधी हो गए हैं और दास्यवृत्ति त्याग कर स्वामित्व प्राप्त करने का प्रयास करने लगे । भट्ट जी का विचार था कि जन सामान्य में शिक्षा का प्रचार ही शान्ति रक्षा का साधन है । अत: सरकार को भारतवासियों को शिक्षित करने में संकोच नहीं

---

१ 'पर्दे के आड़ से हमारी बेपरदगी' -- हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर, सन् १८८७ ई०, जिल्द ११, संख्या २,३,४, पृ० ५ ।

२ 'तालीम का घाटा' -- हिन्दी प्रदीप-- सितम्बर, १८८६ ई०, जिल्द १३, संख्या १, पृ० ११-१२ ।

करना चाहिए । शिक्षा के प्रसार से ही अंग्रेजी राज्य स्थायित्व प्राप्त कर सकता है[1] । सरकार की शिक्षा-नीति के विषय में भट्ट जी ने 'भाषण'[2], 'शिक्षा विभाग में आघात पर आघात'[3], 'म्यूरी सेण्ट्रल कालेज' और हमारी तालीम को और गवर्नमेण्ट कर्मचारियों की अनुपेक्षा[4], 'ऐसे शिक्षा विभाग कहीं या प्रजा के धन निचोड़ने की कल'[5], 'शिक्षा विभाग क्या है, मानो इस महकमे के अधिकारियों की कामधेनु है,'[6] 'नये नये लोगों के नये नये सिद्धान्त'[7], 'इलाहाबाद में हल्काबन्दी मदरसों की बदकिस्मती'[8], 'कालेजों में फीस बढ़ाने का नतीजा'[9] आदि लेख लिखे । इन लेखों में भट्ट जी ने शिक्षा शुल्क में वृद्धि और शिक्षा के सुप्रबन्ध की और लक्ष्य किया है । अपने 'भाषण' लेख में वह कहते हैं कि 'शिक्षा विभाग के अधिकारियों ने पहले की अपेक्षा चौगुनी फीस बढ़ाकर एक ऐसी ऊंची भीत खड़ी कर दी है जिसपर बिना विपुल धन की सीढ़ी के चढ़ना किसी तरह हो ही नहीं सकता'[10] ।

---

१ "सरकार की जी सौल के हम लोगों के पढ़ाये और फीस का अधिक कर देना तथा किताब का दाम बढ़ा देना इत्यादि अड़चन दूर कर दें तो गरीब अमीर सब के लिए तालीम का खर्च एक सा हो जाय -- जो थोड़ी बहुत फसाद जहां तहां अपढ़ लोग कर शान्ति रक्षा में बाधा डाला करते हैं-- वह कभी न हो और देश में सदा के लिए शान्ति स्थिर रह अंगरेजी राज्य की स्थिरता की बढ़ाती जाय -" --'शान्ति रक्षा'-हिन्दी प्रदीप-सनु १८८४ई०, जनवरी, फरवरी, मार्च, जिल्द १७, संख्या ५,६,७,पृ०४५ ।

२ हिन्दी प्रदीप-जनवरी, फरवरी, मार्च, सनु १८९०ई०, जिल्द१३, संख्या ५,६,७ ।

३ 'हिन्दी प्रदीप' - मई, जुन, सनु १८९०ई०, जिल्द १३ संख्या ९,१० ।

४ 'हिन्दी प्रदीप' - अगस्त सन १८९१, जिल्द१४ संख्या १२ ।

५ 'हिन्दी प्रदीप' - सितम्बर, अक्टूबर, सनु १८९३ई०, जिल्द १७, संख्या १,२ ।

६ 'हिन्दी प्रदीप' - जुलाई, अगस्त, सनु१८९४ई०जिल्द १७, संख्या ११-१२ ।

७ 'हिन्दी प्रदीप' - अप्रैल, मई, जुन, सनु१८९५ई०, जिल्द १८, संख्या ८,९,१० ।

८ 'हिन्दी प्रदीप' - जनवरी, सनु १८८५ई०, जिल्द ८, संख्या ५ ।

९ 'हिन्दी प्रदीप' - जुलाई, अगस्त, सनु १८९६ई०, जिल्द १९, संख्या ११-१२ ।

१० 'हिन्दी प्रदीप' - जनवरी, फरवरी, मार्च, सनु १८९०ई०, जिल्द १३, संख्या ५,६,७ पृ० ४० ।

इसी लेख में भट्ट जी ने पाठ्यक्रम, परीक्षा-पद्धति आदि की आलोचना भी की है[1]। इसी प्रकार जब सरकार ने ग्रीष्मावकाश का शुल्क लेने के लिए नियम बनाया तो भट्ट जी ने इस नियम की आलोचना करते हुए कहा कि "इलाहाबाद का ज़िला स्कूल नहीं है "मनी स्क्वीज़िंग मेशीन" रुपया निचोड़ने की कल है[2]।" शिक्षा विभाग ने बुभुक्षित प्रजा के धन का जो अपहरण किया उसे देखकर भट्ट जी ने "शिक्षा विभाग की महकमे के अधिकारियों के लिए कामधेनु" कहा है। शिक्षा विभाग के अधिकारियों पर व्यंग्य करते हुए भट्ट जी ने उन्हें महामहन्त की संज्ञा दी है और उनकी नीति का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि 'शिक्षा-विभाग के महामहन्तों का सिद्धान्त है कि मुल्क से तालीम को जैसे हो सके घटाते जायं, इसीलिए किताबों का दाम चार गुना छगुना करते जाते हैं इमतिहान कड़ा करते जाते हैं जिसमें किसी तरह लोग पढ़ना लिखना छोड़ बैठें और हिन्दुस्तान फिर अपनी पहली हालत में आ जाय ...[3]'

भट्ट जी ने यत्र-तत्र जन-साधारण की शिक्षा के प्रति सरकार की उपेक्षा, शिक्षण-शुल्क में वृद्धि, पाठ्यक्रम और परीक्षा के कठोर नियम, कक्षा में विद्यार्थियों की एक सीमित संख्या का होना आदि विषयों पर आलोचनात्मक लेख लिखने के साथ ही सरकार से अनिवार्य शिक्षा सम्बन्धी नियम बनाने का अनुरोध किया है। वह तत्कालीन अधिकारियों से अनुरोध करते हैं कि सर विलियम म्यूर के समय का शिक्षा क्रम धारण करें और भाषा की उज्ज्वलता बढ़ावें, जिससे प्रजा का यथोचित कल्याण हो।

---

१ "मिडिल आदि की परीक्षा में भी वही पण्डित मानी दया शून्य परीक्षक नियत होते हैं जिनके कूट प्रश्न और पेंच के हिसाबी सवाल में यदि भास्कराचार्य मिडिल की परीक्षा दें तो वह भी घबरा जायं ऐसे ऐसे कपट भावधारी पुरुषों की प्रधानता से पूर्वोक्त भाषा (नागरी) की उन्नति की कौन कहे वरन् उसकी जड़ कट जाने की सम्भावना है।"
  --'भाषा'--हिन्दी प्रदीप--, जनवरी, फरवरी, मार्च, सन् १८६०ई०, जिल्द १३, संख्या ५,६,७, पृ० ४०।

२ 'हिन्दी प्रदीप'-सन् १८६३ई०, सितम्बर, अक्टूबर, जिल्द १७, संख्या १-२, पृ०३८।

३ 'हिन्दी प्रदीप'- सन् १८६५ई०, अप्रैल, मई, जून, जिल्द १८, संख्या ८,६,१० पृ०४५

भाषा नीति

भाषा एकता की जननी है । रुधिर की विभिन्नता रहते हुए भी यह राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन देती है । आयरलैण्ड के प्रसिद्ध कवि टॉमस डेविस ने कहा है कि 'मातृ भाषा हीन जाति, जाति नहीं कही जा सकती, मातृभाषा की रक्षा देश की सीमा की रक्षा से भी अधिक आवश्यक है;क्योंकि शत्रु के आक्रमण से बचाने के लिए यह खाई,पर्वत और नदी से भी अधिक उपयोगी एवं बलवती है ।'[1] इसीलिए जब किसी देश को पूर्णतया गुलाम बनाना होता है तब विजेता सर्वप्रथम विजित की भाषा एवं साहित्य पर ही आघात करते हैं और विजित उसका प्रतिरोध करते हैं । भाषा की महत्ता को आंककर ही किसी समय रोमन विजेताओं ने फ्रांस पर अपनी भाषा लादनी चाही थी और अंग्रेजों ने भारत पर अपनी भाषा लादी । इसके विपरीत जब किसी देश को अपनी उन्नति करनी होती है तो सर्वप्रथम वह अपनी भाषा की उन्नति की ओर ध्यान देता है ।जर्मनी जैसे भिन्न-भिन्न देश ने भी भाषा की एकता के सूत्र में गठित होकर राष्ट्र को दृढ़ता प्रदान की। स्वयं इंगलैण्ड ने लैटिन भाषा का विरोध किया । आयरलैण्ड पर भी जब अंग्रेज़ी भाषा लादी जाने लगी तब उसने भी अपनी राष्ट्रीयता को स्थायित्व प्रदान करने के हेतु 'गैलिक' भाषा का जीर्णोद्धार किया । दक्षिण अफ्रीका तक में बोअर लोगों ने यद्यपि अंग्रेजों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया, तथापि संधि के पूर्व अपनी भाषा को बराबरी का स्थान देने की शर्त रखी । भारतवर्ष में भी अंग्रेज-शासकों ने अंग्रेज़ी को लादकर भारतीय संस्कृति और भारतीयता की चेतना को नष्ट करने की नीति अपनाई ।

अंग्रेजों के शासन-काल में भारत की दीन-हीन दशा से दुःखी होकर भारतेन्दु ने सर्वप्रथम देशवासियों को यह समझाने का प्रयास किया कि

---

१ 'हिन्दी प्रचार और हमारा अधिकार '-- श्री रामनारायण जी चतुर्वेदी,बी०ए०, 'चांद',जून,सन् १९२८ वर्ष ६,खण्ड २ संख्या २,पृ० २२४ ।

मातृभाषा की उन्नति के द्वारा ही राष्ट्र का सर्वांगीण विकास सम्भव है[1]।

भाषा के विकास और समृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि उसे राजाश्रय से तात्पर्य राज-भाषा से लिया जा सकता है । जिस भाषा में राजस्व सम्बन्धी समस्त कार्य किए जाएं वही राजभाषा है और परोक्षरूप से उसे ही राज्य का संरक्षण प्राप्त होता है । इतिहास के अवलोकन से यह सिद्ध हो जाता है कि सत्ता में परिवर्तन के साथ ही साथ राज-भाषा भी बदलती रही है । प्राचीनकाल में भारत की राज-भाषा संस्कृत थी । संस्कृत में ही समस्त कार्य किये जाते थे । मध्ययुग में मुसलमानी शासन में संस्कृत का स्थान फारसी ने ले लिया और आधुनिक युग में विदेशी शासकों के आगमन के साथ ही अंग्रेजी राज-भाषा घोषित हुई । अंग्रेजों के आने से पूर्व भारत में मुसलमानों का राज्य था । अंग्रेजों ने अंग्रेजी के साथ कचहरियों में मुसलमानों की भाषा उर्दू को ही प्राथमिकता दी । इस प्रकार भाषा को भेदनीति का एक साधन बनाया गया । उर्दू जो खड़ी बोली का ही एक रूप है, अदालतों की भाषा स्वीकार कर ली गई और हिन्दी जो सम्पूर्ण देश की सम्पर्क भाषा रही है, उसकी पूर्णरूप से अवहेलना होती गई । केवल थोड़े से मुसलमानों के हितों की रक्षा के लिए उर्दू को अदालत की भाषा स्वीकार करना भट्ट जी सहन न कर सके और उसका प्रतिवाद करते हुए उन्होंने `संस्कृत का पढ़ना-पढ़ाना क्यों घटता जाता है`, `हिन्दी के दिन भी कभी बहुरेंगे`, `हिन्दी अक्षरों की दरख्वास्त पर क्या किया गया`, `म्युनिसिपैलिटी का दफ्तर हिन्दी में क्यों न हो`, `अब विलम्ब केहि काज`--आदि लेख लिखे ।

अदालतों में हिन्दी का कोई स्थान न होने से संस्कृत का प्रचार केवल ब्राह्मण वर्ग में रह गया था और इस वर्ग ने अपने स्वार्थों से

---

१ `निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल ।
   बिन निज भाषा ज्ञान के, रहत मूढ़ को मूढ़ ।।`
   -- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

प्रेरित होकर संस्कृत को कर्मकाण्ड तक सीमित करने के उद्देश्य से संस्कृत भाषा के प्रसार का कोई प्रयत्न नहीं किया । संस्कृत जो केवल ब्राह्मण वर्ग द्वारा पूजा-अर्चन के उपयोग की वस्तु बना दी गई थी, सरकार से अनादर प्राप्त कर दिन-प्रति-दिन शिथिल होती गई । संस्कृत भाषा की स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए भट्ट जी ने कहा है कि "संस्कृत का प्रचार केवल ब्राह्मणों ही में बच रहा, जिन्होंने इसे बढ़िया पूजापन का विधा कर डाला।"[1]

मुसलमानों के सम्पर्क से हमारे दैनिक व्यवहार की भाषा में अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग बढ़ गया था । हिन्दी का अनन्य भक्त लेखक उर्दू के सामने हिन्दी का अपमान होता देख क्षुब्ध होता है और सीमा तक पहुंच कर अरबी फारसी शब्दों के प्रयोग का भी विरोध करने लगता है । दैनिक जीवन में अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग होते देख भट्ट जी ने कहा कि " अरबी फारसी कहीं-कहीं पर हंस के दल में कौआ के समान आ मिली है ।"[2] अदालतों में हिन्दी शब्दों के उपयोग के लिए अपील करते हुए भट्ट जी ने पुन: कहा है कि "सर्कार जो उचित न्याय समझ हिन्दी अक्षर भी अदालतों में जारी कर दे तो यह संस्कृत जिसे घटका लगा है मर रही है दस बीस वर्ष में फिर चमक उठे ।"[3]

सर ऐंटोनी मेगडानेल की निष्पक्षता में उन्हें विश्वास था । अत: भट्ट जी ने मेगडानेल साहब से अनुरोध किया कि "वह हिन्दी की हीन दशा पर ध्यान दे इसके उद्धार में जहां तक जल्द हो सके दत्तचित्त हों ।"[4]

---

१ संस्कृत का पढ़ना पढ़ाना क्यों घटता जाता है-- हिन्दी प्रदीप, जिल्द २१, संख्या १-२, माह सितम्बर, अक्टूबर, वर्ष १८६७६०, पृ० २३ ।

२ वही, पृ० २३ ।

३ संस्कृत का पढ़ना पढ़ाना क्यों घटता जाता है -- हिन्दी प्रदीप, जिल्द २८, संख्या १-२, माह सितम्बर, अक्टूबर, वर्ष १८६७६०, पृ० २४-२५ ।

४ "हिन्दी के दिन भी कभी बहुरेंगे" --हिन्दी प्रदीप, वर्ष १८६६, जिल्द २१, संख्या ३-४, माह नवम्बर-दिसम्बर, पृ० ८-९ ।

हिन्दी अक्षरों की उपयोगिता और सरकार के न्याय की दुहाई देते हुए वह कहते हैं कि " हिन्दी अक्षर अदालतों में जारी होने से बड़ा कल्याण तो यह देख पड़ता है कि ललाट लिपि से घिघिना के अक्षर क्रम समान शिकस्ता उर्दू अदालतों से उठा दी जाय तो अमलों के चंगुल से प्रजा की जा छूटे और गवर्नमेंट के शुद्ध न्याय में बट्टा न लगे।"[१]

भाषा के क्षेत्र में सरकार की स्वार्थ नीति चल रही थी। मुसलमानों की भाषा को प्राधान्य देकर वह उन्हें अपना पिट्ठू बना रहे थे। किन्तु इस स्वार्थ के परिणामस्वरूप सामान्य जनता को अमलों के चंगुल में फंसना पड़ता था। शिक्षित जनसमुदाय चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान यदि सरकारी नौकरी से जीविकोपार्जन करना चाहते थे तो वह राजभाषा सीख ही लेते थे। उर्दू का अदालतों में प्रचार होने से हानि यदि किसी की होती थी तो वह साधारण जनता की। इसीलिए प्रतापनारायण मिश्र ने सरकार से उर्दू अक्षरों को कचहरियों से उठा लेने का अनुरोध किया है[२]। जनता के वकील भट्ट जी भी इस अन्याय को सहन न कर सके, अतः उन्होंने अदालतों में उर्दू भाषा के प्रयोग का विरोध किया[३]।

---

१ `हिन्दी के दिन भी कभी बहुरेंगे`-- हिन्दी प्रदीप, वर्ष १८८७ई०, मास नवम्बर, दिसम्बर, जिल्द ११, संख्या ३-४, पृ० १-२।

२ यह अरबी अक्षर कचहरी से उठ जायं तो प्रजा का अरिष्ट दूर हो।" `पढ़े पत्थर समझ पर आपकी समझे तो क्या समझे।` -- प्रतापनारायण ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ०११७(ब्राह्मण खण्ड३, संख्या ११, जनवरी ह०सं०२)।

३ `सरकार यदि अदालतों में उर्दू फारसी की जगह लाटिन, फ्रेंच, ग्रीक, जर्मन जारी कर दे तो जिन्हें नौकरी से औकात बसरी करना है उन भाषाओं को भी पढ़ेंगे -- हानि तो इसमें साधारण प्रजा की है जो सर्कारी नौकर हैं और न सर्कारी नौकरी से जीविका करना चाहते हैं-- जिस भाषा को रियाया नहीं समझती उसमें अदालत की कारवाई उन गरीब किसान या देहात के रहने वालों के माथे बिसाती है।" -- `हिन्दी अक्षरों को दरखास्त पर क्या किया गया` -हिन्दी प्रदीप, जिल्द ११, संख्या९-१०, वर्ष १८८८ मास मई-जून, पृ०२।

स्थानीय शासन में भी उर्दू का ही प्रयोग किया जाता था । म्युनिसिपैलिटी जिन महाजनों, दुकानदारों और सौदागरों से चुंगी वसूल करती है, उनके बीजक, चिट्ठी-पत्री, बही-खाते आदि महाजनी और हिन्दी में रहने पर भी म्युनिसिपैलिटी के कार्यालयों में उर्दू अक्षरों के प्रयोग की अनुपयुक्तता सिद्ध करते हुए भट्ट जी ने अपने लेख 'म्युनिसिपल्टी का दफ्तर हिन्दी में क्यों न हो' में कहा है कि 'उर्दू म्युनिसिपलिटी के दफ्तरों को क्यों सब ओर से आक्रमण किये है'[1]। राधाचरण गोस्वामी ने भी स्थानीय शासन में हिन्दी के प्रयोग पर बल देते हुए कहा है कि 'पश्चिमोत्तर देश और अवध में अधिकांश प्रजा नागरी अक्षर, और हिन्दी भाषा का व्यवहार करती है, तो फिर क्यों नहीं इस प्रजा मूलक डिपार्टमेंट में प्रजा के अक्षर और भाषा जारी की जाती?'[2] गोस्वामी जी के विचार से इस विभाग के उन्नति न करने का मूल कारण उर्दू का प्रयोग ही है । इस तथ्य का उद्घाटन करते हुए उन्होंने कहा है कि 'यदि हिन्दी में म्युनीसिपल्टी का बजट होता, यदि हिंदी में म्युनीसिपल्टी के अहकाम जारी होते, यदि हिन्दी में राय लिखना कानूनन जायज होता, तो निस्संदेह हमारे म्युनीसिपल्टियों की अच्छी दशा होती, पर उर्दू जारी रहने से ही यह महकमा दिन प्रतिदिन पाताल को चला जाता है'[3]।

शासन की मशीन को चलाने के लिए जनता से कर लिया जाता है । अतः जब स्थानीय शासन प्रजामूलक हो गया अर्थात् स्थानीय स्वायत्त शासन (सन् १८८४ई०) की स्थापना हो गई तब जनसामान्य अपनी इच्छानुकूल म्युनिसिपल्टी के हिसाब को देख सके, अपने आवेदन-पत्र हिन्दी में दे सके और दिए गए कर की रसीद हिन्दी में प्राप्त कर सके-- इसलिए इस विभाग में हिन्दी भाषा का होना आवश्यक है । अदालतों में उर्दू अक्षरों का प्रचार है, इसलिए स्थानीय शासन में

---

१ 'हिन्दी प्रदीप'-मई, जून, सन् १८६८, जिल्द २१, संख्या ६, १०, पृ०२ ।

२ 'म्युनिसिपल डिपार्टमेंट में हिन्दी क्यों नहीं जारी की जाती'--भारतेन्दु - २२ जुलाई, सन् १८८३ई०, पुस्तक १, अंक ४, पृ०५४ ।

३ वहीं, पृ० ५४

भी उर्दू अक्षर ही प्रयुक्त हों-- इस विचार से वह सहमत न थे। किन्तु मेम्बर शिक्षित समुदाय के होने के कारण अधिकारी वर्ग की चाटुकारिता में व्यस्त थे, म्युनिसिपल कमिश्नर जो अपने स्वार्थ में लीन थे, भट्ट जी की अपील से निष्पक्ष दृष्टि अपनाकर उर्दू अक्षरों का प्रयोग कैसे करते। शासन में भाषा सम्बन्धी भेद नीति का उपहास करते हुए भट्ट जी ने कहा है कि "यावत् दफ्तर मात्र ऊँट की नकेल की भांति सब एक ही डोरी में बंधे रहना चाहिए ..... अदालत गवर्नमेंट का दफ्तर है गवर्नमेंट चाहो दो सींग अपने माथे पर जमा ले हमें क्या पड़ी जो मना करें हमारा कुछ दावा है -- हमारे निज का हक्क हमें क्यों न दिया जाय ..."[1]

भट्ट जी के उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजस्व सम्बन्धी कार्यों में वह हिन्दी अक्षरों के प्रयोग पर इसलिए बल दे रहे थे कि वह उनका और समस्त हिन्दू जाति का अधिकार है। उर्दू भाषा या साहित्य से उन्हें कोई विरोध न था किन्तु अल्पसंख्यकों की भाषा को बहुसंख्यकों के ऊपर बलपूर्वक लादने की नीति सिर पर सींग धारण करने के समान ही थी। अदालतों में हिन्दी अक्षरों के प्रयोग की सब ओर से मांग होने पर भी सरकार द्वारा उनके प्रचलित करने में विलम्ब करने पर भट्ट जी कहते हैं कि "थोड़े से लोगों के व्यर्थ का गाल बजाने के ख्याल से बहुत बड़े समूह का आराम और प्रसन्नता पर कुछ ध्यान न देना यह नीति-पालक उदार प्रकृति वाले प्रभुवरों को नहीं सोहाता ..."[2]।

उर्दू अक्षरों का प्रयोग थोड़े से पढ़े-लिखे मुसलमानों की खातिर के लिए अदालतों में किया जा रहा था, जिससे तमाम हिन्दू समाज हानि उठा रहा था। हिन्दी अक्षरों के प्रयोग से इन मुसलमानों की कोई हानि नहीं है इस तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए भट्ट जी ने कहा है कि "निरे फारसीदां मुसलमान और थोड़े से अमलाओं का ज़िद ही ज़िद है हानि इसमें उनकी भी कोई नहीं है

---

1 "म्युनिसिपलटी का दफ्तर हिन्दी में क्यों न हो"-हिन्दी प्रदीप, मई, जून, सन् 1898, जिल्द 21, संख्या 9, 10, पृ03।

2 "अब विलम्ब केहि काज" -- हिन्दी प्रदीप, जिल्द 14, संख्या 5, जनवरी, सन् 1899, पृ04।

क्योंकि यह फ़ारसी उरदू तो हई नहीं कि बरसों तक पढ़ो तब भी शुद्ध न लिख सकोगे-- सरल भाषा देवनागरी में तो आज ककहरा सीखा कल हो उसे लिखने पढ़ने लगे-- उरदू के समान बनावट का यहां काम क्या है जो लिखो वही पढ़ लो ...[1]

राधाचरण गोस्वामी ने भी अदालतों में उर्दू भाषा के प्रयोग का विरोध करते हुए कहा है कि .... जिसके समझने भर के लिए पांच सात वर्ष कठिन परिश्रम करना पड़े, जिसकी लिपि पढ़ते पढ़ते अक्ल चकरा जाय, वह काक भाषा कचहरी में अधिकार करने वाली कौन ?[2]

भट्ट जी ने अपनी लेखन-चातुरी से उदार सभ्य प्रजा-हितैषी सर ऐंटोनी मेगडानेल पर देवनागरी लिपि के सारल्य का प्रभाव डालने का प्रयास करके हिन्दी को अदालतों में स्थान दिलाने की सुन्दर पृष्ठभूमि तैयार की ।

पं० प्रतापनारायण मिश्र ने भी 'अष्टकष्टम-पंडिता विधेः' लेख में राष्ट्रभाषा की दुरवस्था ० पर क्षोभ व्यक्त किया है । क्योंकि उनका भी यह विचार था कि हिन्दी का पूर्ण प्रचार हुए बिना हिन्दुओं का उद्धार असम्भव है और हिन्दुओं के भली भांति सुधरे बिना हिन्दुस्तान का सुधार असम्भव है । इसी भावना से प्रेरित होकर पं० प्रतापनारायण मिश्र ने 'हिन्दी, हिन्दू हिन्दुस्तान' का नारा दिया था । मिश्र जी के उक्त दृष्टिकोण के मूल में यह तथ्य निहित है कि राष्ट्रोन्नति के लिए राष्ट्रभाषा की उन्नति आवश्यक है । इसीलिए जब शिक्षा कमीशन(सन् १८८४ई०) ने देवनागरी का तिरस्कार किया तो उन्होंने देशवासियों को राष्ट्रभाषा की उन्नति का उद्योग करने की प्रेरणा दी[3] । 'भारतोद्धार' में इसी प्रकार के भाव व्यक्त करते हुए देशवासियों को

---

१ 'अब विलम्ब केहि काज' -हिन्दी प्रदीप, जिल्द २२, संख्या १, जनवरी, सन् १८९९ ई०, पृ० ४

२ 'भारतेन्दु'-पौष शुक्ला १५ सं० १९४०, वि० पुस्तक १ अंक १०, शिक्षा कमीशन की शिक्षा, पृ० १४६ ।

३ ".... दे मेमोरियल पर मेमोरियल, दे लेख पर लेख, चंदा पर चंदा । देखें तो सरकार कहां तक न सुनेगी ? और सरकार न भी सुने, जब देश-हितैषी महाशय हौआ बांध के पीछे पड़ जायगे, नगर २ ग्राम २ जन २ में नागरी देवी का जस फैला देंगे, आप ही स्वदेश भाषा की उन्नति हो रहेगी । आप ही उरदू बीबी के नखरे सबको तुच्छ जंचने लगेंगे ।" प्रतापनारायण ग्रन्थावली-'बेकाम न बैठ कुछ किया कर', पृ० ४४ ।

राष्ट्रभाषा हिन्दी की उन्नति के लिए आत्म-बलिदान करने के लिए प्रोत्साहित किया गया है[1] एवं कमीशन की हिन्दी विरोधी नीति का भी उल्लेख किया गया है[2]। राधाचरण गोस्वामी ने 'शिक्षा कमीशन की शिक्षा' लेख में कमीशन की हिन्दी विरोधी नीति का उल्लेख किया है और उसे हिन्दी के लिए कोर्ट मार्शल ला बताया है[3]। मेमोरियल देने की नीति की ओर लक्ष्य करके गोस्वामी जी ने कहा है कि 'हम लोग डाक्टर हन्टर और हिन्दी दोनों को एक राशि मिलाकर उन्हें उदारता का दार मदार समझ कर बराबर मेमोरियल पर मेमोरियल भेजते रहे, एड्रेस पर एड्रेस देते गए, उधर वह भी आंखों के शील से मनोहर वाक्यों से हमें दम ब देते रहे, पर हा। अन्त में उर्दू चण्डालिनी के सिफारिशियों ने सब पर पानी फेर दिया[4]।' मेमोरियल और एड्रेस दोनों की अवहेलना करके डाक्टर हन्टर ने कमीशन की रिपोर्ट में हिन्दी को कोई महत्व नहीं दिया। कमीशन की इस नीति पर प्रकाश डालते हुए गोस्वामी जी ने कहा है कि 'कई सौ मेमोरियलों के ढेर के ढेर वृथा हम्माम में जला दिए गये। 'हिन्दी बनाम उर्दू', 'उर्दू अक्षरों से हानि', 'भाषा दीपिका', 'देवनागरी की पुकार' आदि पुस्तकें वृथा चोड़ चोड़ कर राम नाम की गोलियां बना कर मच्छियों को डाल दी गईं? न मालूम हिन्दी की कल्पलता पर यह अनभ्र वज्रपात कहां से हुआ? न जानें हिन्दी अबला पर दुष्ट दैव क्यों इतना प्रतिकूल है[5]?'

---

१ 'जहां हिन्दी का स्वेद बिन्दु पड़े हम अपना रक्त देने को उपस्थित हैं।' 'भारतोद्धारक' भाग१, संख्या१, आषाढ़, कृष्ण १, सं० १९४१, पृ०५।

२ क्या यह ब्रिटिश गवर्नमेंट के राज्य में एक बड़े भारी अन्याय का धब्बा (स्पाट आफ अनजस्टिस) लगाना नहीं है? कि शिक्षा कमीशन ने देश भाषा हिन्दी को छुड़ा बिना विचार किये उर्दू ही का प्रचार रक्खा जिससे हम लोगों के प्रतिदिन गलों पर छुरी फिरती है।' 'भारतोद्धारक', भाग१, संख्या१, आषाढ़, कृष्ण १ सं० १९४१, पृ०५-६।

३ 'शिक्षा कमीशन ने हिन्दी की गर्दन उड़ाई। यह शिक्षा कमीशन नहीं था, हिन्दी के लिए कोर्ट मार्शल ला था।' --भारतेन्दु-१२ जनवरी, सन् १८८४ई०, 'शिक्षा कमीशन की शिक्षा', पृ०१४७।

४ भारतेन्दु-१२ जनवरी, सन्१८८४ई०, 'शिक्षा कमीशन की शिक्षा', पृ०१४८, भारतेन्दु १२ जनवरी, सन् १८८४ई०, पृ० १४८।

५ 'शिक्षा कमीशन की शिक्षा'-भारतेन्दु, १२, जनवरी, सन् १८८४ई०, पृ०१४९।

शिक्षा-कमीशन ने भाषा के सम्बन्ध में जिस पक्षपात-नीति का अनुसरण किया, उसका उल्लेख करते हुए राधाचरण गोस्वामी ने कहा है कि 'हम नहीं समझते थे कि शिक्षा कमीशन हिन्दी से इतना विरोध रखता है ? हम कभी नहीं जानते थे कि शिक्षा-कमीशन को न्याय आंख से घुराना भी आता है ? हम नहीं मानते कि शिक्षा कमीशन ने इस विषय में गवर्नमेण्ट की पुरानी अन्याय पालिसी का पक्षपात नहीं किया।'[1] शिक्षा कमीशन की भाषा के क्षेत्र में पक्षपात नीति देखकर गोस्वामी जी ने जनता से हिन्दी का प्रचार करने का अनुरोध किया[2] एवं बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने सर ए०पी० मेकडानेल के गवर्नर होने पर उनके न्याय की दुहाई देते हुए पश्चिमोत्तर देश के निवासियों से नागरी के प्रचारार्थ मेमोरियल देने और अदालतों में हिन्दी का प्रचार करने की प्रार्थना करने का परामर्श दिया है[3]। प्रतापनारायण मिश्र जी को उर्दू का अवांछनीय प्रयोग सह्य नहीं था, अतः उन्होंने उर्दू का विरोध किया[4]। उर्दू के विरोधी होने पर भी मिश्र जी यह जानते थे कि हिन्दी को उर्दू के शिकंजे से निकालने का कार्य

---

१ 'शिक्षा कमीशन की शिक्षा'-भारतेन्दु-१२, जनवरी, सन् १८८४ई०, पृ०१४६।

२ 'शिक्षा कमीशन को तो जो कुछ करना था, वह कर चुका। अब देश के निज के मातृभाषा के हितैषी, शुभ चिन्तक, परोपकारी, शुभकारी लोगों का कर्तव्य है कि पश्चिमोत्तर वा पंजाब के हर शहर कसबा ग्राम आदि में जाय जाय कर सभायें करें, और उन सभाओं के द्वारा शिक्षा कमीशन के हिन्दी विषयक उपचार की गवर्नमेण्ट को सूचना करें, जिससे गवर्नमेण्ट के ऊपर इस देशवासियों की हिन्दी विषयक सर्वसाधारण की अनुमति का बोझ पड़े।' -भारतेन्दु-१२ नवम्बर+जनवरी सन् १८८४, 'शिक्षा कमीशन की शिक्षा', पृ०१४६।

३ 'पश्चिमोत्तर देश के निवासियों को चाहिए कि जिस नगर में श्रीमान् लेफ्टिनेंट गवर्नर बहादुर जायं वहीं उनको नागरी के प्रचारार्थ मेमोरियल दिये जायं और उनसे प्रार्थना की जाय कि अदालतों में हिन्दी का प्रचार करें, परन्तु पश्चिमोत्तर देश के हिन्दी हितैषियों ने इसमें आलस्य किया और अब तक भी आलस्य कर रहे हैं।' 'हमारे देश की भाषा और अक्षर' 'प्रेमघनसर्वस्व', द्वितीय भाग, पृ०५७।

४ '... आज अन्य भाषा वरंच अन्य भाषाओं का कर्कट(उर्दू) इतनी की पावक हो रही है, अब यह चिन्ता लग रही है कि कैसे इससे पीछा छूटे।' प्रताप समीक्षा, प्रेमनारायण टण्डन, पृ०२८।

उर्दू का बायकाट कर देने से ही नहीं हो सकता,वरन् उर्दू को थोड़ा-बहुत अपना कर ही हम अपने प्रयत्न में सफल हो सकते हैं ।

सरकार जनमत की अवहेलना करके उर्दू को निरन्तर प्राथमिकता दे रही थी और हिन्दी के सम्बन्ध में पूर्ण उपेक्षा की नीति का अनुसरण किया जा रहा था । सरकार की हिन्दी के प्रति यह उदासीनता देखकर राधाचरण गोस्वामी ने लिखा है कि "सर्कार की गति हिन्दी के विषय में चिउंटी की सी हो रही है,देखें कब तक बद्रीनाथ की चढ़ाई सुलभ हो और कब हम चार करोड़ पश्चिमोत्तर वासियों सगरपुत्रों के उद्धार के लिए हिन्दी की भागीरथी आती है[1]।" भाषा नीति के साथ एक पौराणिक आख्यान जोड़कर गोस्वामी जी ने इस तथ्य की पुष्टि की है कि जिस प्रकार सगर के पुत्रों के उद्धार के लिए भागीरथी को इस पृथ्वी तल पर आना पड़ा था, उसी प्रकार पश्चिमोत्तर देशवासियों के उद्धार के लिए हिन्दी का प्रयोग आवश्यक है ।

ऐक्ट और कमीशन

कर के समान ही ऐक्ट और कमीशन भी अंग्रेज़ी शासन-तन्त्र की अपनी विशेषता थे । भट्ट जी ने ऐक्टों के दुष्परिणाम और कमीशनों की व्यर्थता सिद्ध करने के लिए `पर्दे के आड़ से हमारी बेपरवाही` लेख लिखा । इस व्यंग लेख में उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि सरकार द्वारा बनाये गये समस्त ऐक्ट अंग्रेज़ी पालिसी के सर्वांश में व्याप्त हैं । कानून के परदे के पीछे भारतीय जनता क्षीण बल, क्षीण सत्व और क्षीण धन हो रही थी । ऐसे समय में जब `डायवोर्स ऐक्ट` पारित किया गया तो स्वदेश प्रेमी भट्ट जी को इस परदे के पीछे युग-युग से संगठित पारिवारिक व्यवस्था क्षीण होती प्रतीत हुई । भारतीय संस्कृति में आस्था रखने के कारण उनकी दृष्टि में यह अनुचित था कि

---

१ `हिन्दी । हिन्दी । हिन्दी `--भारतेन्दु,१८ अगस्त, सन् १८८३ई०,पृ०७४ ।

पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्णय अदालत की चहारदीवारी में अंग्रेज न्यायाधीशों के द्वारा किया जाय । 'मेडिकल रजिस्ट्रेशन ऐक्ट' के प्रचार का भी उन्होंने विरोध किया, क्योंकि इसका उद्देश्य प्रजा को स्वस्थ और नीरोग करना न होकर वैद्यक शास्त्र को हीन प्रमाणित करना था[1] । भट्ट जी की दृष्टि में 'मेडिकल रजिस्ट्रेशन ऐक्ट' भी हमारी निर्बलता को दूर करने का एक परदामात्र है । यदि सरकार वास्तव में प्रजा को नीरोग और बलवान बनाना चाहती है तो उसे बाल्य विवाह के सम्बन्ध में ऐक्ट बनाना चाहिए । किन्तु सरकार ने बाल विवाह सम्बन्धी ऐक्ट के लिए बम्बई के मालाबारी में हुए आन्दोलन को धर्म निरपेक्षता के नाम पर टाल दिया । इसी प्रकार 'स्लाटर हौस' का नियम न बनना भी उनकी दृष्टि से अनुचित था । ऐक्टों की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा है कि "इस परदे का एक ही रंग रूप हो सो भी नहीं बरसाती कीड़ों की भांति यह समय-समय अनेक रूप बदला करता है....[2]" भट्ट जी का उक्त कथन सरकारी नियमों की परिवर्तनशील प्रकृति का बोध कराता है । ऐक्टों के समान ही विभिन्न कमीशनों को भी भट्ट जी ने अंग्रेजों की शासन-नीति का ही एक परदा माना है[3] । शिक्षा कमीशन (सन् १८८२), सिविल सर्विस कमीशन, फाइनेन्स कमेटी आदि की भी उन्होंने आलोचना की है । क्योंकि इन कमीशनों

---

१ "मेडिकल रजिस्ट्रेशन ऐक्ट" के प्रचार से हमारे वैद्यक शास्त्र पर छुरा चल जायगा ।
... देश के वैद्य और हकीम दो कौड़ी के कर दिए जायेंगे डाक्टरों की बन पड़ेगी ।
हिन्दी प्रदीप, सन १८८७ई०, अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर, जिल्द ११, संख्या २, ३, ४ पृ० ४-५।

२ हिन्दी प्रदीप, सन् १८८७ई०, अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर, जिल्द ११ संख्या २, ३, ४, पृ० ५।

३ "यह केवल परदा ही परदा है जिसमें भीतर कुछ और ही तिलिस्म अनूठा है ज्यों ज्यों यह परदा उठता जाता है इसके पात्र निकलते हैं ।" हिन्दी प्रदीप-सन् १८८७ई० अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर, जिल्द ११, संख्या २, ३, ४, पृ० ५।

की आड़ में उत्पन्न समस्याओं को कुछ समय के लिए टालकर उत्तेजित जन-समूह के आवेश को मन्दकर दिया जाता है। भट्ट जी कमीशनों की ढपोरशंखी प्रवृत्ति से भली भाँति परिचित थे, अतः उन्होंने अपने 'कमीशन' शीर्षक लेख में इस तथ्य का उल्लेख करते हुए कहा है कि 'कमीशन निरे धोखे की टट्टी, राजनीति का मर्म, तदबीर की चाल, गबुब्बर हिन्दुस्तानियों को फुसला रखने की हिकमत अमली और गुड़ दिखाकर ढेला मारना है'[1]। अपने कथन की पुष्टि के लिए उन्होंने 'बरोदाकमीशन' 'हंटर कमीशन' और 'सिविल सर्विस कमीशन' का उल्लेख किया है। बरोदा कमीशन के परिणामस्वरूप मल्हार राव की दुर्गति हुई और गायकवाड़ एक गुड़िया बनाकर बरोदा की गद्दी पर स्थापित कर दिए गए। भट्ट जी ने अपने लेख 'कमीशन' में यह स्पष्ट कर दिया है कि यदि लार्ड नार्थब्रुक के स्थान पर लार्ड लिटन या रिपन होते तो कुसा राज्य के समान ही बरोदा भी सरकारी राज्य में मिला लिया जाता। हंटर कमीशन ने शिक्षा शुल्क में वृद्धि कर दी थी और देशी भाषाओं के पढ़ने-पढ़ाने में लोगों को फँसाकर अंग्रेजी शिक्षा की जड़ काटने का प्रयास किया था। भट्ट जी हिन्दी के समर्थक होने पर भी अंग्रेजी भाषा और साहित्य के अध्ययन की उपयोगिता से पूर्णतः अवगत थे, अतः उन्होंने कमीशन की इस नीति की आलोचना की[2]। सिविल सर्विस कमीशन के विषय में भी उन्होंने कहा है कि "बिना कुछ बुराई किये यह कमीशन पिशाच कभी शान्त होगा नहीं अवश्य यह कमिशन इलबर्ट बिल का छोटा भाई है"[3]। इलबर्ट बिल से सिविल सर्विस कमीशन की तुलना करके कुशल पत्रकार और निबंध लेखक भट्ट जी ने यह शंका व्यक्त की है कि इस कमीशन का उद्देश्य हिन्दुस्तानी और ब्रिटिश बार्न सब्जेक्ट में अन्तर बनाये रखना है जिससे अंग्रेज सिविलियनों के बराबर

---

१ हिन्दी प्रदीप, नवम्बर, सन् १८८६ई०, जिल्द १०, संख्या ३, पृ०७ ।

२ ,, ,, सन् १८८६ई०

३ 'कमीशन' - हिन्दी प्रदीप, नवम्बर, सन् १८८६ई०, जिल्द १०, संख्या ३, पृ०८ ।

नेटिव निर्विरोध न समझे जायं । कमीशन की असफलता और व्यर्थता को सिद्ध करते हुए भट्ट जी ने 'निविल सर्विस कमीशन' लेख में कहा है कि 'कमिशन पर कमिशन बैठते जायं और अंत में टांय टांय फिस हो जाय ....'[१] ।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विरचित राजनीति विषयक गम्भीर गद्य साहित्य के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शताब्दी के लेखक देश की आन्तरिक राजनीतिक परिस्थितियों से अवगत होने के साथ ही सम-सामयिक अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से भी पूर्णतः अवगत थे तथा उनके प्रति जागरूक थे । स्थानीय और प्रान्तीय शासन एवं सम्पूर्ण राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सामयिक राजनीतिक समस्याओं का विश्लेषण लेखक वर्ग की राजनीतिक चेतना, बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता और राजनीति के व्यावहारिक ज्ञान का परिचायक है । इस समय राजनीतिक परिस्थितियां अपेक्षाकृत कम जटिल थीं, अतः साहित्य में उनकी अभिव्यक्ति का सरल किन्तु उग्र स्वरूप दृष्टिगत होता है । शासनतंत्र की आलोचना के लिए इस समय के लेखकों ने हास्य मिश्रित व्यंग का प्रयोग किया है । गद्यकारों ने राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति के लिए शासन की प्रशंसा और आलोचना की नीति अपनाई । प्रजावत्सल शासकों के व्यक्तिगत गुणों की एवं समग्र शासक जाति के जातीय गुणों की प्रशंसा एवं ब्रिटिश शासन में अव्यवस्था, कुप्रबन्ध और पक्षपात की आलोचना करके इस शताब्दी के गद्यकारों ने अपनी राजभक्ति, और देशभक्ति का एक साथ ही अच्छा परिचय दिया है । एक ओर यदि शासकों के छोटे से छोटे गुण की प्रशंसा की गई है तो दूसरी ओर शासन के दोषों की कटु से कटु आलोचना करने में भी गद्य लेखक पीछे नहीं रहे । शासन की प्रशंसा और आलोचना के माध्यम से एवं विदेशों के संवैधानिक विकास, शासनतंत्र और शासन नीति एवं वैदेशिक सम्बन्ध और परतन्त्र राष्ट्रों के राष्ट्रीय आन्दोलन का विस्तृत विवरण देकर गद्यकारों ने जन-सामान्य के राजनीतिक ज्ञान की अभिवृद्धि करने के साथ ही उन्हें नवीन राजनीतिक दृष्टि

---

१ हिन्दी प्रदीप, २ दिसम्बर सन् १८८६ई०, जिल्द १०, संख्या ४, पृ० ११-१७ ।

भी प्रदान की । इस युग के लेखक ने शासनतंत्र के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष की विषमता को प्रकाश में लाकर जन-सामान्य को राजन्य वर्ग की कूटनीतिक चालों से परिचित कराया और शासन की विभिन्न समस्याओं को सामने रखकर अंग्रेजी शासन के प्रति जिस असन्तोष की भावना को जन्म दिया उसने भविष्य में भारतीय राजनीति की गति ही बदल दी । उल्लेखनीय यह है कि इस शताब्दी के लेखक की दृष्टि विशेष रूप से अर्थ पर केन्द्रित रही । इसलिए करों में वृद्धि, मुक्त वाणिज्य नीति, अन्न निर्यात, धन के अपहरण आदि का विवरण इस शताब्दी के गद्य में विशेष रूप से द्रष्टव्य है । शासन वर्ग की दमन नीति का नग्न रूप उस समय तक सामने नहीं आया था । इसलिए दमनव नीति का उल्लेख उन्नीसवीं शताब्दी के गद्य लेखकों ने सामान्यतः नहीं किया है, किन्तु आर्थिक शोषण अबाध गति से हो रहा था, इसलिए लेखक वर्ग का ध्यान उस ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ और हिन्दी गद्य लेखकों ने सरकार की अर्थ शोषण की नीति का यथार्थ चित्रण करके देशवासियों को चेतावनी दी और आत्मरक्षा और देश रक्षा के लिए प्रेरित किया । उन्नीसवीं शताब्दी के राजनीति विषयक हिन्दी गद्य की पृष्ठभूमि में बीसवीं शताब्दी के हिन्दी गद्य का सृजन हुआ है, इसलिए बीसवीं शताब्दी के गद्य में भी आर्थिक शोषण की कटु आलोचना गद्यकारों के ने की है । किन्तु इसके साथ ही दमन नीति का उल्लेख भी बीसवीं शताब्दी के हिन्दी गद्य-साहित्य में द्रष्टव्य है ।

-0-

अध्याय -- आठ

-0-

आधुनिक हिन्दी गद्य में राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति का व्यावहारिक पक्ष

आलोचनात्मक स्वरूप (सन् १९००-१९५०)

अध्याय -- आठ

-०-

आधुनिक हिन्दी गद्य में राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति का व्यावहारिक पक्ष

आलोचनात्मक स्वरूप (सन् १९००-१९५०)

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत के राजनीतिक रंगमंच पर विप्लवकारी परिवर्तन हुए और अँग्रेजी राज्य के सुखों के पर्दे के पीछे शासकों की दमन नीति का नग्न नृत्य स्पष्ट होने लगा। न्याय, सुरक्षा, परिवहन के साधन, स्वास्थ्य शिक्षा सब कुछ पूर्ववत् था। यहाँ तक कि सरकारी मशीनरी भी वही थी, किन्तु पर्दा हट गया था, इसलिए देशव्यापी जन-जागृति को सरकार जिस कठोर विधान से कुचलने का प्रयास कर रही थी, वह कुचली न जा सकी। हाँ, राष्ट्रीय आन्दोलन के दमन में ब्रिटिश शासन-नीति का नग्न रूप सामने आ गया। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही शासन में शोषण, दमन और आतंक की जिस नीति का अनुसरण किया गया, उसका स्पष्ट उल्लेख युगीन साहित्य में दृष्टिगत होता है। इस युग के गद्य-साहित्य का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक वर्ग की दृष्टि अपने पूर्ववर्ती साहित्यकारों के समान ही अर्थ पर विशेष रूप से केन्द्रित रही है, क्योंकि विदेशी शासक धन के अपहरण की नीति का अनुसरण करके भारत को आर्थिक दृष्टि से युग-युग तक पराधीन बनाने की नीति का कुचक्र चला रहे थे।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजनीतिक गतिविधियों का विस्तार हो जाने के परिणामस्वरूप साहित्य के वर्ण्य विषय भी एक निश्चित सीमा तक विस्तार को प्राप्त हुए। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वर्णित समस्त विषयों के साथ ही स्वातन्त्र्य आन्दोलन की गतिविधियाँ भी साहित्य में जुड़ गईं। कांग्रेस और क्रान्तिकारी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए उनके प्रयास, आजाद हिन्द फौज, गांधी का असहयोग आन्दोलन, स्वदेशी वस्तु प्रचार और विदेशी

का बहिष्कार, सविनय अवज्ञा आन्दोलन की प्रतिक्रियास्वरूप नौकरशाही की दमन नीति आदि विषयों का साहित्य में समावेश हुआ। शिक्षा और भाषा-नीति पर भी इस समय विशेष बल दिया जाने लगा। अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने का विरोध किया गया, क्योंकि नव-शिक्षित युवक वर्ग में नौकरशाही की प्रवृत्ति बलवती होती जा रही थी और जन-सामान्य में एवं विशेष वर्गों में भी जिस मानसिक गुलामी की भावनाओं का प्रादुर्भाव हो रहा था, वह राष्ट्रीय एकता के लिए घातक थी। प्रतिक्रियावादी शासन के परिणामस्वरूप नौकरशाही के छोटे-से छोटे कृत्य आलोचना के विषय बन चुके थे। जन-सामान्य की राजनीतिक चेतना में अभिवृद्धि होने के साथ-ही-साथ शासक और शासन-नीति की आलोचना भी उग्र से उग्रतर होती गई। उल्लेखनीय यह है कि जिस गति से युगीन राजनीति की अभिव्यक्ति के विषय विस्तृत हुए, उस गति से गद्यकारों ने राजनीतिक समस्याओं की अभिव्यक्ति को अपने साहित्य में स्थान नहीं दिया। गम्भीर गद्य-साहित्य (निबन्ध) में राजनीतिक समस्याओं को एक निश्चित सीमा तक ही अपनाया गया, क्योंकि लेखक का दृष्टिकोण बदल गया था। काव्य, नाटक, उपन्यास आदि में तो युगीन राजनीति की अभिव्यक्ति पर्याप्त मात्रा में की गई, किन्तु गम्भीर गद्य-लेखक रामचन्द्र शुक्ल समालोचना-पद्धति से प्रभावित होने के कारण साहित्य-समालोचना और काव्य-शास्त्र की ओर अधिक आकृष्ट हुए और उन्होंने सामयिक साहित्य की रचना करने की अपेक्षा साहित्य के शाश्वत मूल्यों की ओर विशेष ध्यान दिया। परिणामस्वरूप हिन्दी की लगभग सभी पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों ने पुस्तकों की आलोचनाएं लिखीं। इसके साथ ही साहित्य के उद्देश्य के विषय में भी विवाद उत्पन्न हो गया था। ऐसा विचार किया जाने लगा था कि राजनीति आदि विषयों को साहित्य में समाविष्ट करने से साहित्य नीरस और शुष्क हो जायगा एवं साहित्य की उपयोगिता में वृद्धि के साथ ही कला का ह्रास होगा। अतः इस समय के गद्य-साहित्य में राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति कुछ रुक-रुक कर की गई। इसके साथ ही व्यावहारिक राजनीति की अभिव्यक्ति का क्षेत्र विशेषरूप से युगीन पत्र-पत्रिकाओं में सीमित हो गया और सामयिक साहित्य के रूप में उसका विकास होता रहा।

हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अग्रलेख,

लेख, सम्पादकीय आदि के रूप में रचित सामयिक साहित्य के सामान्य होने पर भी उसका साहित्यिक-अभिव्यक्ति विवादास्पद नहीं है, क्योंकि भाषा और साहित्य की अभिव्यक्ति में उनका अपना योगदान है । उनके साथ ही `सरस्वती`, `विशाल-भारत`, `त्यागभूमि`, `सुधा`, `मर्यादा`, `हंस`, `जागरण`, `चांद`, `प्रभा`, `प्रताप`, `विप्लव` आदि पत्रिकाओं के सम्पादक लब्ध प्रतिष्ठ साहित्य-प्रेमी अथवा साहित्यकार थे । उनके लेख एवं सम्पादकीय साहित्यिक-कृति के तत्त्वों से अनुप्राणित हैं, ऐसी ही स्थिति में मैंने उन्हें अपने शोध की विश्लेषण-सामग्री बनाया है । जहाँ इस तथ्य में सन्देह हुआ है कि रचना प्रचार है अथवा उपयोगी साहित्य अथवा ज्ञानवर्द्धन सामग्री में जाता है, उसे नहीं लिया है ।

अर्थनीति

अंग्रेज़ों ने आर्थिक स्वार्थों से प्रेरित होकर भारत में अपने साम्राज्य की स्थापना और उसका विस्तार किया था । अत: वे अपने शासन के अन्तिम वर्षों तक आर्थिक शोषण की नीति का अनुसरण करते रहे । अध्यापक पूर्ण सिंह ने शासकों की इस शोषण-नीति की ओर लक्ष्य करते हुए उन्हें किसानों की दौलत पर जीने वाले `सिंधीपजावी` कहा है[1] । अमृतराय ने भी अंग्रेज़ों की शोषण वृत्ति का उल्लेख करते हुए लिखा है कि `हमारे देश का प्रधान संघर्ष (और प्रत्येक गुलाम देश का) देश के पूंजीपतियों और मज़दूरों का नहीं, बल्कि देश की समस्त पीड़ित जनता और ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का है, जो हमारे देश की छाती पर सवार होकर उसका खून चूस रहे हैं[2] ।सरकार की इस धन-अपहरण की नीति के मुख्य उपकरण स्वच्छन्द वाणिज्य, शासन में अपव्यय, कर, लगान आदि थे । अत: हिन्दी गद्य-लेखकों ने स्वच्छन्द वाणिज्य नीति शासन में अपव्यय करों के आधिक्य और लगान में वृद्धि की कटु आलोचना करके शासकों की अर्थनीति के प्रति अपना विरोध प्रदर्शित किया, जो वास्तव में जनता के भावों की ही अभिव्यक्ति है ।

---

१ अध्यापक पूर्ण सिंह, पूर्ण सिंह के श्रेष्ठ निबन्ध : `सच्ची वीरता`, पृ०२

२ अमृतराय : `आलोचना का मार्क्सवादी आधार`, पृ०५६ ।

स्वच्छन्द वाणिज्य नीति

अंग्रेज व्यवसायी से शासक बने थे । अत: उनकी दृष्टि भारतीय व्यवसाय पर विशेषरूप से केन्द्रित था । शासन तो आर्थिक शोषण का एक साधनमात्र था । वह अपने व्यवसाय की हानि कदापि सहन नहीं कर सकते थे । क्योंकि साम्राज्यशाही की शान भी तो भारत ऐसे विशाल उपनिवेश के अर्थ-शोषण में ही निहित था । अत: भारतीय उद्योगों को विनष्ट करके इंगलैण्ड को मालामाल करने की धुन में अंग्रेजों ने जिस स्वच्छन्द व्यवसाय की नीति का अनुसरण किया, वह इंगलैण्ड के लिए तो लाभप्रद था, किन्तु भारत के लिए हानिकर ।भारत से कच्चे माल का, विशेषरूप से कपास का निर्यात किया जाता था और उसके बदले में लंकाशायर के बने कपड़े तथा अन्य वस्तुएं आयात की जाती था । फलत: आयात-निर्यात का सन्तुलन न होने के कारण व्यापार के माध्यम से भारत का धन निरन्तर बाहर जा रहा था और भारतीय जनता दिन-प्रति-दिन क्षीण और दुर्बल होती जा रही थी। सरकार की इस दुर्नीति की अभिव्यक्ति बीसवीं शताब्दी के हिन्दी गद्य में यत्र-तत्र दृष्टिगत होती है । सन् १९२८-२९ के बजट की आलोचना करते हुए 'त्यागभूमि' के सम्पादक श्री हरिभाऊ उपाध्याय और क्षेमानन्द राहत ने कहा है कि "यदि सरकार इंगलैण्ड से मंहगा सामान न खरीद कर भारत अथवा अन्य देशों से जहां सामान सस्ता मिले, खरीदे तो भी बहुत बचत हो जाय । परन्तु भारतसरकार को तो इंगलैण्ड को मालामाल करने की धुन है, वह ऐसा क्यों करने लगा ?"[१]

एलोपैथी

देश में निरन्तर एलोपैथी का प्रचार और प्रसार करके देशवासियों को देशी चिकित्सा के लाभों से वंचित करने का प्रयास किया गया । विदेशी दवाओं के माध्यम से धन का विदेशों में जाना देखकर गणेशंकर विद्यार्थी ने

---

१ 'त्यागभूमि', फाल्गुन, सं० १९८४, खण्ड १, अंक ५, विविध -- रेलवे बजट, पृ० ६०० ।

अपने लेख 'वैधक की फांसी' में लिखा है कि 'सरकार लोगों का पक्ष लेकर बड़ा भारी अन्याय कर रही है । उसका अन्याय रुपये का उस ढेर का कल्पना करने से लग सकता है जो प्रति वर्ष विदेशी दवाओं के नाम पर हमारे घर से उड़ जाता है[1]।

रेलवे

सरकार की रेलवे नीति भारत के व्यापार और व्यवसाय के लिए घातक थी । अनाज का किराया कम करने का मुख्य लक्ष्य इंगलैण्ड को सस्ता माल पहुंचाना था । इसीलिए जो माल करांची, बम्बई और कलकत्ता के बन्दरगाहों में ले जाया जाता था, उसपर किराया कम लिया जाता था । तीसरे दर्जे के यात्रियों की सुविधा पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था, जब कि उन्हीं से सबसे अधिक आय होती है । बाबूल जोशी ने भारत के रेलवे बजट पर भाषण देते हुए कहा था कि " हिन्दुस्तान की रेलें इस देश के लोगों के लाभ के लिए नहीं बनाई जातीं, इनका मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश माल के लिए बाज़ार तैयार करना और यूरोपियनों के लिए नई नौकरियां खड़ी करना है[2]।" 'देश में क्रान्ति क्यों होगी ' शीर्षक के अन्तर्गत श्री सुरेन्द्र शर्मा ने रेल और तार के प्रचलन को अर्थ-शोषण का माध्यम बतलाया है[3]। पार्लियामेण्ट के एक सदस्य स्विफ्ट मैकनील ने १४ अगस्त सन् १८९०ई० में कहा था कि 'यह हिसाब लगाया जा चुका है कि जितना धन भारत में रेलों पर खर्च किया जाता है, उसमें से हर शिलिंग पीछे आठ आने पेंस (यानी दो तिहाई) इंगलिस्तान चला जाता है[4]।' संक्षेप में यह कहा

---

१ सं० राधाकृष्णन : 'गणेशशंकर विद्यार्थी के श्रेष्ठ निबन्ध', पृ०५६ ।

२ 'त्यागभूमि', फाल्गुन, सं०१९८४, खंड१, अंश२, विविध-रेलवे का बजट , पृ०६०० ।

३ "रेल तार का प्रचलन भी इस देश के धन-धान्य का शोषण कर इंगलैण्ड को समृद्धिशाली बना देने के लिए ही किया गया है ।" 'त्यागभूमि', कार्तिक, सं० १९८५, वर्ष २, खंड१, अंश२, पूर्ण अंश १४, पृ०१६७।

४ " It has been computed that out of every shilling spent in railway enterprise, 8d makes its way to England."- Macneill in the House of Commons 14th August,1890-

जा सकता है कि सरकार की रेलों का विस्तार करने की नीति भी सम्पूर्ण अंग्रेजी साम्राज्यवाद की दृढ़ किलेबन्दी का ही एक भाग थी । इसलिए तो सन् १८५४ई० में भारत में रेलों का चलना प्रारम्भ हो जाने पर भी सन् १९२८-१९३० तक रेलों का सामान विलायत से ही आता रहा । मालगाड़ी के डब्बों के भारत में बनने पर भी वे विदेश से मंगाये जाते थे और टैरिफ बोर्ड के सलाह देने पर भी सरकार ने भारतीय व्यवसाय की रक्षा नहीं की । फलत: भारत का वाणिज्य व्यवसाय दिन-प्रति-दिन अवनति के गर्त में गिरता गया । जो भारत किसी समय अपने वाणिज्य की वस्तुओं से दूसरे देशों की आवश्यकताओं की पूर्ति करता था, वही भारत सुई और दियासलाई ऐसी छोटी-छोटी वस्तुओं के लिए विदेशों पर आश्रित रहने लगा[1] । वाणिज्य और व्यवसाय के माध्यम से देश की जो विशाल धन-राशि इंगलैण्ड जा रही थी, उससे क्षुब्ध होकर प्रेमचन्द ने कहा है कि " जिस गाढ़ी कमाई को देशी व्यवसाय और धन्धे में खर्च होना चाहिए, वह यूरोप चली जा रही है और हम आदतों के गुलाम होकर अपना भविष्य खाक में मिला रहे हैं[2] ।"

खर्चीली शासन-व्यवस्था और शासन में अपव्यय

भारत में अंग्रेज़ी शासन-तन्त्र अत्यधिक खर्चीला था । खर्चीली शासन-पद्धति पर व्यंग्य करते हुए प्रेमचन्द ने कहा है कि "ग़रीब से ग़रीब मुल्क का खर्च अमीर से अमीर मुल्क से बढ़ न जाय, तो बात ही क्या रही ।

---

१ " जिस भारत के जहाज़ महासागरों को पार करके अपने वाणिज्य की वस्तुओं से दूसरे देशों को पालते थे, वहाँ भारत आज सुई और दियासलाई तक के लिए विदेशों का मुहताज हो रहा है ।"

-- भारतीयता का भाव - द्विवेदी मीमांसा, पृ०२६६(सरस्वती-सितम्बर१९३०)

२ " सरल जीवन स्वाधीनता संग्राम की तैयारी हो" -- प्रेमचन्द साहित्य का उद्देश्य, पृ०२०७ ।

आखिर भारत को मालूम कैसे होगा कि हम पराधीन हैं । इंगलैण्ड का बादशाह अपने खर्च में कमी कर दे, आनन-फानन बज़ार से लेकर नीचे तक पन्द्रह फीसदी वेतनों में कमी हो जाय, पर भारत में ओहदेदारों का वेतन कैसे घटाया जा सकता है ? उसका नाम लेना भी जुर्म है । भला फौज के खर्च में इससे ज्यादा कमी क्या हो सकती है । स्टेशनरी का खर्च कम कर दिया, बिजली का खर्च कम कर दिया, अब और क्या चाहिए ।[1]" शासन के इस दोष की ओर इंगित करते हुए 'अधिक व्यय का मंहगा शासन' शीर्षक के अन्तर्गत भी कहा गया है कि 'अंग्रेज़ी अधिकारी तन्त्र द्वारा शासन का यह एक बड़ा भारी दोष है कि आवश्यकता से अधिक रुपया खर्च करके हमें सिविल सरविस की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखना पड़ता है ।[2]' शासन के जिन कार्यों को भारतीय कर सकते थे, उन्हीं कार्यों को करने के लिए युरोपियन-अधिकारियों की नियुक्ति करके सरकार उनके वेतन और पेन्शन के रूप में पर्याप्त धनराशि इंगलैण्ड को भेज देती थी । बड़े-बड़े वेतनों पर अंग्रेज़ पदाधिकारी नियुक्त किए जाते थे और शासन में किए गए इस अपव्यय को पूरा किया जाता था, भारतीयों को चूसकर । शासन के इन बढ़ते हुए खर्चों की ओर लक्ष्य करके 'सुधा' के सम्पादक ने कहा है कि 'सरकार के खर्चों को देखिए, तो वह शैतान की आंत की तरह या सुरसा के मुंह की तरह दिन-ब-दिन बढ़ता ही जाता है । फौजी खर्च में हमारे इतना चीखने-चिल्लाने पर भी कोई कमी नहीं की गई, न सरकार ने अपने प्रबन्ध विभाग में किफायत-सारी करने का ही इरादा किया है ।[3]"

सेना तथा अन्य विभागों में उच्च पदों पर अंग्रेज़ों की नियुक्ति के लिए सरकार का यह तर्क था कि भारतीय इस योग्य नहीं

---

१ विविध प्रसंग, भाग २, पृ० ८३-८४ (अक्टूबर, १९३१)

२ 'मर्यादा' -- अक्तूबर, सन् १९२७, पृ० २७४ ।

३ 'सुधा', अप्रैल १९३१, वर्ष ३, खण्ड २, संख्या ३, सम्पादकीय-इम्पीरियल बजट, पृ० ३७० ।

हैं, किन्तु उन्हें योग्य बनाने का कोई प्रबन्ध सरकार नहीं करती था । कालेजों के में भारतीयों को सैन्य शिक्षा देने का विरोध सरकार की इस नीति की ओर संकेत करता है । सैनिक-व्यय में वृद्धि करने का मूल उद्देश्य भी अंग्रेज़ी साम्राज्य की रक्षा करना था । भारतीयों को सैन्य-शिक्षा देना नहीं । जे०टी० सण्डरलैंड ने कहा है कि 'भारतीय तो शिक्षित होना चाहते हैं, पर अंग्रेज़ सरकार का तो ध्यान सेना बढ़ाने और अंग्रेज़ों की लम्बी-लम्बी तनख़्वाहों और पेंशनों पर है वह शिक्षा के लिए क्यों व्यय करे ? ....[1] ।'

अंग्रेज़ी शासन-व्यवस्था खर्चीली होने के साथ ही शासन में अपव्यय भी पर्याप्त मात्रा में किया जाता था । शासन-व्यवस्था में अपव्यय की ओर संकेत करते हुए प्रेमचन्द ने कहा है कि 'एक ओर यह दुर्दशा है, दूसरी ओर हमारे शासक शिमला, नैनीताल और उससे भी काम न चला तो लन्दन की हवा खा रहे हैं । हमारे प्रतिनिधि और मेम्बर जब तक बड़ी या छोटी कौंसिल की मेम्बरी नहीं करते, कड़कड़ाती धूप में भी सड़कों पर पैदल भटकते हैं-- पर कौंसिल के मेम्बर होते ही तुरन्त पहाड़ पर चल देते हैं और वहाँ पर दस रुपया रोज़ का भत्ता पीट लेते हैं[2] ।'

कर

खर्चीली शासन-व्यवस्था को चलाने के लिए विदेशी शासक करों में निरन्तर वृद्धि करते जा रहे थे । सरकार की इस नीति के प्रति आक्रोश व्यक्त करते हुए प्रेमचन्द ने कहा है कि 'राष्ट्र आखिर इसीलिए तो है कि वह मरे और सरकारी कर्मचारी चैन करें । अगर आमदनी में कमी हो रही है तो कोई चिन्ता की बात नहीं । मनमाने कर बढ़ाये जा सकते हैं । रेल का

---

१ 'निरक्षरता और स्वराज्य', 'त्यागभूमि' पत्र, सं० १९८५, खण्ड १, अंश ५, पृ० ६०१ ।
२ 'जबर्दस्ती' -- प्रेमचन्द, विविध प्रसंग, भाग २, पृ० ४६० (मई सन् १९३१) ।

किराया चौगुना कर दो, जिसे हज़ार बार ग़रज़ होगी, सफ़र करेगा । डाक के महसूल चौगुने कर दो, जिसे हज़ार बार ग़रज़ होगी, डाकखाने में जायगा । आख़िर डाक का काम तो रुक नहीं सकता । अभी कर-वृद्धि के लिए बहुत बड़ी गुंजाइश है। ५०० रुपये साल की आमदनी पर भी कर लगाया जा सकता है । प्रजा रोयेगी, रोये,सरकार का खर्च तो पूरा हो जायगा ।"[1] रेल और डाक-तार विभाग में करों की वृद्धि करने के साथ ही सरकार ने दैनिक जीवन की आवश्यक वस्तुओं,जैसे नमक पर भी कर लगा दिया था । नमक एक अनिवार्य खाद्य पदार्थ है ।इसलिए समस्त देशवासियों को बिना किसी भेद-भाव के सरकार की तिजोरी में इसका कर पहुंचाना पड़ता था । बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में बालमुकुन्द गुप्त ने नमक कर की तुलना जज़िया से की ।[2] 'मर्यादा' में भी नमक के कर के विरोध में कई लेख प्रकाशित हुए । 'असली नस की खोज' शीर्षक के अन्तर्गत लेखक ने नमक-कर को प्रजा की सबसे अधिक छिपी हुई नस मानता है । क्योंकि "दूध पीते बालक और अलोना व्रत रखने वाली कन्या के अतिरिक्त प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति पर इस कर का पंजा पड़ता है । गरीब को उसकी गरीबी नहीं बचा सकती और न धनवान को उसका धन ही । इसी प्रकार न बालक को बाल्यावस्था बचा सकता है न बूढ़े को उसका बुढ़ापा ।"[3] दीन हीन भारतवासियों के निमक में भी हिस्सा बंटा कर अपना नींव पुष्ट करने की सरकारी नीति की आलोचना करते हुए 'कर सिद्धान्त' शीर्षक के अन्तर्गत कहा गया है कि "जिस सरकार को निमक जैसी वस्तु पर 'कर' लेने की सूझती है, वह यदि हवा और पानी पर भी कर लगाने लगे तो इसमें आश्चर्य जैसी बात ही क्या ?"[4] लेखक की भविष्यवाणी।

---

१ विविध प्रसंग भा,ग१, अमृतराय,पृ०८३-८४(अक्टूबर १९३१)

२ "नमक का महसूल जिजिये से किस बात में कम है...... शाइस्ताखां का खत (१) फुलर साहब के नाम, (भारतमित्र,२५ नवम्बर सन् १९०५), गुप्त निबन्धावलि, प्रथम भाग, पृ०२४१ ।

३ 'मर्यादा' - फाल्गुन सम्वत् १९७६,पृ०३४६ ।

४ ,, ,, ,, पृ०३७६ ।

सत्य सिद्ध हुई । भविष्य में पानी पर कर लगा दिया गया, किन्तु हवा पर कर लगाने का स्मरण सम्भवत: इसलिए नहीं हुआ कि इस कर को वसूल कर सकने की योजना तैयार करने वाला हो अब तक कोई व्यक्ति न निकला । हवा का स्मरण न होना बुद्धि का नहीं, किन्तु शक्ति का दोष है[1]।

लगान

भारत के उद्योग-धंधों को नष्ट करके भारत को एक कृषि प्रधान देश घोषित करने के साथ ही सरकार ने भारत की भूमि पर आधिपत्य कर लिया । क्योंकि कृषि प्रधान देश में भूमि ही धनोपार्जन का साधन होती है । भूमि पर सरकारी आधिपत्य होते ही लगान वसूली का कार्य सरकार और उसके एजेण्टों द्वारा किया जाने लगा । किसानों की स्थिति पर विचार किए बिना लगान में निरन्तर वृद्धि होने के परिणामस्वरूप जन-सामान्य की स्थिति शोचनीय हो गई । प्रेमचन्द जी ने लगान-वृद्धि के दुष्परिणामों की ओर लक्ष्य करते हुए कहा है कि "प्रजा भूखों मर रही है, न खाने को अन्न है, न तन ढांकने को वस्त्र । जो कुछ उपज हुई थी, वह लगान में गई । कितने ही घरों में तो लोटा थाली और गहने जेवर भी लगान की भेंट हो गये[2]।" बंगाल के गवर्नर सर फेड्रिक जान शोर ने भी कहा है कि "जो जो सूबे हमारे मातहत आते गये उनपर हमने अधिक से अधिक टैक्सों का बोझ लादा । हम इस बात में फक्र अनुभव करते थे कि हमने देशी राजाओं के मुकाबले में किसानों का दसियों गुना लगान बढ़ा दिया[3]।" सरकार की इस अर्थ-शोषण की नीति का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य कृपलानी ने कहा है कि " हिन्दुस्तान को चूस-चूस कर सफेद

---

१ "मर्यादा" -- फाल्गुन संवत् १९७६, पृ० ३४६ ।

२ "विविध प्रसंग", भाग २, अमृतराय, पृ० ८३-८४ (अक्टूबर १९३१)।

३ "विश्ववाणी" - जनवरी-सन् १९४५, पृ० ३०५ ।

पूरा जैसा बना देने का सरकार की आर्थिक नीति तथा कानून और अमन के नाम पर लोगों को डराने-धमकाने और उन्हें सताने की अन्धेरपूर्ण राजनीति से लोगों में उसके खिलाफ असन्तोष और घृणा के भाव तेजी से फैल रहे हैं[1]।" डा०जोसेफ डरविन ने भी अमेरिकन सेनेट में एक प्रस्ताव पर भाषण देते हुए कहा था कि "हिन्दुस्तान के करोड़ों बेजबान अपनी झोपड़ियों में मक्खियों की तरह मरते हैं। हिन्दुस्तान के प्लेग के असली वजह गरीबी है और जो मक्खी इस प्लेग को फैलाती है, वह ब्रिटिश सरकार है ..... वह एक जोंक की तरह है जो मजबूत मुल्क की हैसियत से कमजोर मुल्क का खून चूस रहा है[2]।"

देश-दारिद्र्य

मंहगी शासन-व्यवस्था, अन्न निर्यात और उससे उत्पन्न अकाल एवं करों की अधिकता ने देश के देश को दरिद्रता के पाश में बद्ध कर निर्जीव और निःसहाय कर दिया था। बालमुकुन्द गुप्त ने शासकों को भारतवासियों के दारिद्र्य का बोध कराने का लक्ष्य सम्मुख रखकर बंगाल की जनता की दलितावस्था का जो चित्र अंकित किया है, वह वास्तव में समग्र भारत की दारुण स्थिति का यथार्थ स्वरूप उपस्थित करता है[3]।

१ "विशालभारत"-जून,सन् १९३०,सं० विचार--आचार्य कृपलानी जी का बयान, पृ०८४६।

२ "विश्ववाणी" - जनवरी सन् १९४५ "इन्सान जहां मक्खियों की तरह मरते हैं।" डा० जोजेफ डरविन फ्रान्स, पृ०३९।

३ "इस महानगर की लाखों प्रजा भेड़ों और सुअरों के सड़े गन्दे झोपड़ों में पड़ी लोटती है। उनके आस-पास सड़ा बदबू और मैले सड़े पानी के नाले बहते हैं। कीचड़ और कूड़े के ढेर चारों ओर लगे हुए हैं। उनके शरीरों पर मैले कुचैले फटे चिथड़े लिपटे हुए हैं। उनमें से बहुतों को आजीवन पेट भर अन्न और शरीर ढकने को कपड़ा नहीं मिलता। जाड़ों में सर्दी में अकड़ कर रह जाते हैं और गर्मी में सड़कों पर घूमते तथा जहां तहां पड़े फिरते हैं। बरसात में सड़े सीले घरों में भीगे पड़े रहते हैं।" "शिवशम्भु के चिट्ठे",छठा चिट्ठा,पृ०३८ (भारत मित्र १८ मार्च सन् १९०४)

[illegible]लेखकों ने भारत की दरिद्रता के प्रमुख कारण भारत के उद्योग-धन्धों का नाश और यहां के धन का विदेशों में जाना आदि[1] । प्रोफेसर पी० ए० वाडिया ने अपने लेख 'संयुक्त भारत की गरीबी की बुनियाद' में यह स्पष्ट कर दिया है कि भारत की गरीबी का मूल कारण भारतीयों का पराधीन होना है[2]। गणेशशंकर विद्यार्थी ने नमक, कपड़ा आदि प्राथमिक आवश्यकता की वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि का कारण प्रथम विश्व युद्ध को माना है। अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'चीजों की मंहगी का बड़ा भारी कारण युद्ध है। युद्ध के कारण चीजों की खींच युद्ध-क्षेत्र में हो रही है, पर साथ ही उनको देश के एक भाग से उस भाग में ले जाने के लिए रेल-गाड़ियाँ और विदेशों से भारत में लाने के लिए जहाज नहीं मिलते.... जब तक युद्ध है तब तक भारत में अधिकांश लोग युद्ध के सामान बनाने और जुटाने ही में लगे रहेंगे और रेल और जहाज भी उन्हीं कामों में लगे रहेंगे। और युद्ध के पश्चात् भी, उस समय तक, जब तक सेनाएं और उनके लवाज़मे अपने अपने स्थान पर नहीं पहुंचा दिए जाते, तब तक रेल और जहाज देश में सामग्रियों को उचित रूप से पहुंचाने में सहायक नहीं हो सकेंगे[3]।' वस्तुओं की मंहगाई के साथ ही मकान के किराये भी अकारण ही बढ़ा दिए गए थे। पूंजीपतियों की इस नीति पर आक्षेप करते हुए विद्यार्थी जी ने लिखा है कि 'यह बात समझ में नहीं आती कि घरों के किराए क्यों बढ़ाए जा रहे हैं? क्या मकान भी युद्ध क्षेत्र में भेजे जा रहे हैं या वे बाहर से रेल या जहाज पर लद कर आया करते थे, जो नहीं आते[4]?'

---

१ "Because among other things we have destroyed native industries, and besides have taken from India since 1834-35 (according to calculation made by that sane and moderate Journal, the economist, in 1890) more than ten thousand millions of rupees. India on the other hand, has entirely lost her much more than ten thousand millions this with interest and if circulated in the ordinary way among her people at 5 P.C. interest value only, would by this time have been of the value at least of fifty thousand millions of rupees."

इंगलैण्ड और भारत -- [illegible], पृ० ११ ([illegible] आफ इंगलैण्ड -- [illegible] वाले, अनु०-माता सेवक पाठक)

२ "जो कौम सोने के महल खड़ा करने की क्षमता रखती है, वहां के लोग झुग्गों के किलों में रहकर अपनी जिन्दगी काटते हैं। भारत गरीब है, किन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि उसकी बुनियादी वजह हमारी गुलामी है।"

-- 'विश्ववाणी' -- मई सन् १९४५ वर्ष ५, भाग ६, संख्या ५, पृ० ३०३।

३ "गरीबों का कष्ट" -- गणेशशंकर विद्यार्थी के श्रेष्ठ निबन्ध' संपा० राधाकृष्ण, पृ० ७१

४ ,, ,, ,, ,, ,,

द्वितीय विश्व युद्ध के निकटवर्ती वर्षों में भारतीयों को जिस भीषण दारिद्र्य का सामना करना पड़ा, उसका उल्लेख करते हुए शिवपूजन-सहाय ने कहा है कि 'जहां कुत्ते का मसालेदार मुलायम मांस उड़ाया करते थे, वहां अब बच्चे बेचारे नीरस सतुआ चूसा करते हैं[1]?' अन्यत्र एक स्थल पर उन्होंने देश-दशा का उल्लेख करते हुए कहा है कि 'जहां घी में बाटी डुबोई जाती थी, वहां अब दाल में घी छोड़ते समय 'बिन्दु' की परिभाषा खोजी जाती है? जहां दोनों जून दूधिया भांग छनती थी, वहां अब बार बार बम्बई अरारोट शक्कर का घोल बच्चों को फुसलाता है।[2]'

अकाल

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रायः प्रतिवर्ष ही सार्वभौम नहीं तो प्रान्तिक या स्थानीय दुर्भिक्ष भारत में बना रहा है। रमेशचन्द्र दत्त ने किसानों से वसूल किए जाने वाले भूमि-कर का अधिक होना ही अकालों की अधिकता का कारण बताया है[3] और मिस्टर डिग्बी और दादाभाई नौरोजी ने आर्थिक शोषण को अकालों की अधिकता का कारण माना है, किन्तु यदि सूक्ष्म देखा जाय तो अकालों की अधिकता का कारण पराधीनता से उत्पन्न दारिद्र्य है। न्यू इंगलैण्ड मैगज़ीन ने भी सन् १९०० के सितम्बर अंक में लिखा था कि भारत

---

१ शिवपूजनसहाय, शिवपूजनसहाय रचनावली --'मेरी राम कहानी' भाग४, पृ०१९९।

२ शिवपूजन रचनावली, भाग२, पृ०१३०

३ "... The intensity and the frequency of recent famines are greatly due to the resourceless condition and the chronic poverty of the cultivators ..... the poorest and most miserable peasantry on earth."

--'भारत में दुर्भिक्ष' -- श्री गणेशदत्त शर्मा, पृ०२२६

में दुर्भिक्ष का मुख्य कारण भारतीयों का अत्यन्त नीचे दर्जे की दरिद्रता है[१]।" प्रोफेसर वी०जी० काले ने अपने लेख 'समृद्ध भारत की गरीबी का बुनियादी वजह' में लिखा है कि प्रकृति की उदारता हमारी गुलामी की मौहर से बन्द जकड़ी पड़ी है। .... गुलामी का एक इशारा ऐसे ऐसे अकाल और महामारियां पैदा करता है, जिसमें पचासों लाख आदमी स्वाहा हो जाते हैं[२]।

यों तो बीसवीं शताब्दी के प्रथम पचास वर्षों में भारतीय कई देश व्यापी अकालों से पीड़ित हुए, किन्तु बंगाल के अकाल का वीभत्स दृश्य अविस्मरणीय है। सन् १९४३ ई० के अकाल में बंगाल की जो दुरवस्था हुई, उसका कारण अधिकारियों की कर्तव्य-विमुखता और अनुत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार ही था। जिस समय बंगाल अकाल की भीषणता से त्राहि-त्राहि कर रहा था, छोटे-छोटे बालक भूख से आकुल व्याकुल होकर अपने जीवन की अन्तिम सांसें ले रहे थे, निःसहाय पुरुष वर्ग अपनी पत्नियों को तलाक देने के लिए तत्पर थे, उस समय भी सरकार अन्न निर्यात करने में संलग्न थी। प्रकाशचन्द्र गुप्त ने सरकार की इन दुर्नीति की ओर संकेत करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि बंगाल के अकाल की विभीषिका का कारण प्रकृति का प्रकोप न होकर मानवीय स्वार्थ है[३]।

द्वितीय विश्व-युद्ध की विभीषिका से उत्पन्न अर्थ संकट की स्थिति में खाद्यान्नों का मूल्य व नियंत्रण करके एवं देश के पूंजीपतियों और मुनाफाखोरों को अन्न जमा करने का सुअवसर प्रदान करके सरकार ने भारतीय

---

१ "The real cause of Indian famine is the extreme, the abject, the aweful powerty, of the Indian people."

-- 'भारत में दुर्भिक्ष' -- गणेशदत्त शर्मा, पृ०१९१

२ 'विश्ववाणी' मई, सन १९४५, पृ०३०३।

३ "इस बार न सूखा न बाढ़। आदमी का बनाया यह अकाल है। नफाखोरों के स्वार्थ का गढ़ा यह अकाल है। बलाका के सिपाहियों की तरह चावल का मांड पीकर आदमी जीते हैं। मक्खियों अथवा टीड़ी दल की भांति वह मरते हैं। किन्तु नरमेध करके अन्न के व्यापारी दुनिया में अपना सिक्का चलाते हैं।"

-- नए स्केच-- बंगाल का अकाल -'रेखाचित्र' प्रकाशचन्द्र, पृ०२२८।

पूंजीपतियों से एक प्रकार का समझौता कर लिया था । छः माह पूर्व से ही खाद्यान्नों की कमी में निरन्तर वृद्धि होने पर भी सरकार उसकी ओर से आँखें मूंदे थी और खाद्य-सामग्री के प्रश्न को प्रान्तीय बनाकर टाल रही थी । किन्तु ब्रिटिश सरकार को कांग्रेस से भी भयंकर शत्रु अकाल का सामना करना पड़ा । सरकार ने अपनी नादिरशाही आज्ञाओं से कांग्रेस और स्वातन्त्र्य-आन्दोलन पर कुठाराघात किया । किन्तु अपने प्रबल शत्रु अकाल के सामने नौकरशाही को भी नत-मस्तक होना पड़ा । कलकत्ते जैसे नगर की सड़कों पर असहाय दीन-हीन स्त्रियें और बच्चे झुंड के झुंड में रोटी की तलाश में घूमते थे । कई-कई दिन लगातार भूखे रहने के कारण अस्थि-पंजर अवशेष कंकाल, अर्द्ध नग्न और पूर्ण नग्न अवस्था में कूड़े के ढेरों में से सड़ी जूठन के दाने चुनते नज़र आते थे । बंगाल के गृहस्थ-किसान सड़कों पर और गली-रास्तों में भटकते थे । भूख से बेहोश और मर कर ढेर हो जाने वाले स्त्री, पुरुष और बच्चों के कंकाल बंगाल को प्रत्यक्ष नर्क बना रहे थे । बंगाल के अकाल की उस हृदय-विदारक स्थिति का मार्मिक वर्णन करते हुए श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने कहा है कि बंगाल आज डूब रहा है । हर हफ्ते बंगाल में एक लाख आदमी मरते हैं । आदमी और कुत्ते कूड़े के ढेर पर खाने की तलाश में एक साथ टूटते हैं, कुत्ता जीतता है, आदमी हारता है, क्योंकि उसके बदन में नाम को भी जान नहीं । गीदड़ आदमियों को स्यार गांवों में घसीट ले जाते हैं और जीते जी खा डालते हैं । माँ बच्चों को मुट्ठी भर अन्न के लिए बेच डालती है और पुरुष-स्त्रियों को । बंगाल का अस्तित्व आज मिट रहा है, लेकिन आदमखोर व्यवसायी देश को मरघट बनाकर मोटे हो रहे हैं । नौकरशाही के मन पर जूं नहीं रेंगती, राष्ट्रीय नेता अब भी जेलों में बन्द हैं और बंगाल की दलबन्दियों में कोई शिकन नहीं पड़ती ।[१] 'विशाल-भारत' के सम्पादक ने भी बंगाल के अकाल का उल्लेख करते हुए लिखा है कि " ... भारत की गरीबी और भूख दानवीरों और लखपतियों की इस विशाल नगरी में

---

१ रेखा चित्र -- प्रकाशचन्द्र गुप्त, 'नए स्केच बंगाल का अकाल', पृ० २२८ ।

हो उमड़ पड़ी है? और भुखमरों की यह सेना जैसे दिन प्रति दिन बढ़ता ही जा रही है।[1] पण्डित नेहरू ने भी जेल से मुक्त होने के पश्चात् बंगाल के अकाल का हृदय-विदारक वर्णन किया था[2]।

पन्द्रह जुलाई सन् १६४३ई० को बंगाल असेंबली में नागरिक रसद विभाग के मन्त्री श्री एच०एस० सुहरावर्दी ने कहा था कि "प्रान्त के एक बड़े इलाके में अकाल पड़ रहा है और खाद्य पदार्थों के अभाव में लोगों के मरने के समाचार आ रहे हैं। तेईस जुलाई को श्री गोष्ठबिहारी सेठ ने कलकत्ता कारपोरेशन की विशेष बैठक में बतलाया कि "आजकल भूख के कारण मरने वालों की लाशें सड़क पर पड़ी सड़ता हैं[3]।" "हिन्दुस्तान टाइम्स" के प्रतिनिधि को बंगला दैनिक "बसुमती" के सम्पादक श्री हेमेन्द्रप्रसाद घोष ने बताया कि बंगाल के गवर्नर के भवन से थोड़ी ही दूरी पर एक दिन में भूख से मरे हुए २७ व्यक्तियों की लाशों को एक जातीय संस्था ने ठिकाने लगाया[4]। सरकारी और गैरसरकारी सहायता की धूम के बावजूद भी अकालजनित स्थिति भीषण से भीषणतर होती जा रही थी। भूखों की मृत्यु संख्या में निरन्तर वृद्धि होने के फलस्वरूप श्मशान घाटों और कब्रिस्तानों में स्थानाभाव हो चला। लाशों को गाड़ने के लिए आदमियों और जलाने के लिए ईंधन की भी कमी होने लगी। मुर्दा ढोने वाले अनेक सरकारी और गैरसरकारी दलों के लगातार काम

---

१ विशाल भारत-सितम्बर, सन् १६४३, सम्पादकीय विचार, पृ० २२४।

२ "बंगाल का यह हृदय विदारक अकाल भारत में ब्रिटिशशासन का सबसे बड़ा कलंक है। जब कलकत्ते की सड़कों पर मुर्दे सड़ रहे थे, कुछ सुविधा प्राप्त लोग नाच रंग का जीवन बिता रहे थे। जब बंगाल में अन्न पहुंचाने के लिए डिब्बों की जरूरत था, उनमें कलकत्ते की रेसों के लिए घोड़े ले जाए जा रहे थे। बंगाल का अकाल ब्रिटिश शासन की सबसे बड़ी निन्दा है।" --विशाल भारत - जुलाई, सन् १६४५, सम्पादकीय विचार- "ब्रिटिश शासन का सबसे बड़ा कलंक", पृ० ६६।

३ "बंगाल में दुर्भिक्ष से हाहाकार", पृ० १४२ -- विशाल भारत-अगस्त, सन् १६४३, सम्पादकीय विचार।

४ "विशालभारत", अगस्त सन् १६४३, सम्पादकीय विचार- "बंगाल में दुर्भिक्ष से हाहाकार", पृ० १४२।

रही उमड़ पड़ी है? और भुखमरों की यह सेना जैसे दिन प्रति दिन बढ़ती ही जा रही है[1]। पण्डित नेहरू ने भी जेल से मुक्त होने के पश्चात् बंगाल के अकाल का हृदय-विदारक वर्णन किया था[2]।

पन्द्रह जुलाई सन् १९४३ई० को बंगाल असेंबली में नागरिक रसद विभाग के मन्त्री श्री एच०एस० सुहरावर्दी ने कहा था कि "प्रान्त के एक बड़े इलाके में अकाल पड़ रहा है और खाद्य पदार्थों के अभाव में लोगों के मरने के समाचार आ रहे हैं। तेईस जुलाई को श्री गोष्ठविहारी सेठ ने कलकत्ता कारपोरेशन की विशेष बैठक में बतलाया[3] कि "आजकल भूख के कारण मरने वालों की लाशें सड़क पर पड़ी सड़ती हैं।" "हिन्दुस्तान टाइम्स" के प्रतिनिधि को बंगला दैनिक "बसुमती" के सम्पादक श्री हेमेन्द्रप्रसाद घोष ने बताया कि बंगाल के गवर्नर के भवन से थोड़ी ही दूरी पर एक दिन में भूख से मरे हुए २७ व्यक्तियों की लाशों को एक जातीय संस्था ने ठिकाने लगाया[4]। सरकारी और गैरसरकारी सहायता की धूम के बावजूद भी अकालजनित स्थिति भीषण से भीषणतर होती जा रही थी। भूखों की मृत्यु संख्या में निरन्तर वृद्धि होने के फलस्वरूप श्मशान घाटों और कब्रिस्तानों में स्थानाभाव हो चला। लाशों को गाड़ने के लिए आदमियों और जलाने के लिए ईंधन की भी कमी होने लगी। मुर्दा ढोने वाले अनेक सरकारी और गैरसरकारी दलों के लगातार काम

---

१ विशाल भारत-सितम्बर,सन्१९४३,सम्पादकीय विचार,पृ०२१२।

२ "बंगाल का यह हृदय विदारक अकाल भारत में ब्रिटिशशासन का सबसे बड़ा कलंक है। जब कलकत्ते की सड़कों पर मुर्दे सड़ रहे थे, कुछ सुविधा प्राप्त लोग नाच रंग का जीवन बिता रहे थे। जब बंगाल में अन्न पहुंचाने के लिए डिब्बों की जरूरत थी,उनमें कलकत्ते की रेसों के लिए घोड़े ले जाए जा रहे थे। बंगाल का अकाल ब्रिटिश शासन की सबसे बड़ी निन्दा है।" --विशाल भारत - जुलाई,सन्१९४५,सम्पादकीय विचार-"ब्रिटिश शासन का सबसे बड़ा कलंक",पृ०६१।

३ "बंगाल में दुर्भिक्ष से हाहाकार",पृ०१४२ -- विशाल भारत-अगस्त,सन्१९४३, सम्पादकीय विचार।

४ "विशालभारत",अगस्त सन् १९४३,सम्पादकीय विचार-"बंगाल में दुर्भिक्ष से हाहाकार",पृ० १४२।

करने पर भी कई लाशें घण्टों आम रास्तों पर पड़ी रहा करती थीं । बंगाल का स्थिति को देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि 'गुलामों का यह देश भिखमंगों और मुर्दों का देश बनता जा रहा है ।'

एक और बंगाल की यह दुरवस्था थी, दूसरी ओर राज्य परिषद् में श्री कोनैन ने अपना वक्तव्य देते हुए कहा कि यह सब 'स्थिति का अतिरंजित अभिनय' (ओवर ड्रेमेटाइजेशन आफ द सिचुएशन) है । नौकरशाही अपनी सेंसर की ढाल से विदेशियों को अंधेरे में रखने का यत्न करती थी और इसीलिए बंगाल के अकाल की खबरों का 'ब्लैक आउट' हुआ । किन्तु अधिकारी वर्ग के संकीर्ण दृष्टिकोण के बावजूद भी बंगाल के अकाल की खबरें विदेशों में पहुंची । अमरीका ने इसे 'ब्रिटेन का मामला' बतलाकर पल्ला झाड़ लिया, किन्तु आस्ट्रेलिया ने सहृदयतापूर्ण रुख अपनाया । वाणिज्य और कृषि मन्त्री विलियम जेम्स स्कली ने कहा कि 'यदि ब्रिटेन जहाज दे, तो आस्ट्रेलिया भारत के भुखमरों की सहायता के लिए गेहूं भेज सकता है । सरकार ने इसका प्रबन्ध करने के स्थान पर खाद्य संकट का कलंक मढ़ा उन भारतीय मंत्रियों पर जो प्रान्तीय धारा सभा के प्रति जवाब देह हैं, किन्तु कलकत्ते में राशनिंग न होना, बाजारों में माल पहुंचाने की सुविधा के बिना ही मूल्य नियंत्रण करना, मुनाफाखोरों और अनाज जमा करने वालों से अनाज न निकलवा सकना आदि ऐसी बातें हैं, जिनके उत्तरदायित्व से सरकार अपना हाथ नहीं खींच सकती । बंगाल के इस भीषण अकाल में प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डल का दोष और शिथिलता होने के साथ ही केन्द्रीय सरकार का दोष भी है । भारतसरकार बंगाल की वास्तविक स्थिति से आंख मूंदने का ढोंग रचती रही । सरकार ने जो सहायता दी भी वह बंगाल की जनता में शासन के प्रति पुन: विश्वास उत्पन्न करने के उद्देश्य से प्रेरित होकर। प्रधान सेनापति जनरल सर क्लाड आकिनलेन ने अपने एक वक्तव्य (आज) में कहा है कि 'सेना अन्न पहुंचाने और बांटने का प्रयत्न कर रही है । चोरी वगैरह रोकने के लिए पहरेदार नियुक्त किए गए हैं । जिन लारियों पर वितरणार्थ अन्न जाता है, उन लारियों पर अंग्रेजी और बंगाली में 'जनता के लिए अन्न' लिखे हुए पोस्टर

लगे रहते हैं । मैं समझता हूं कि इससे विश्वास का भाव पुन: उत्पन्न करने में सहायता मिलेगी ।[1]" प्रधान सेनापति के उक्त वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि सरकार के प्रयत्न सद्भावनापूर्ण न होकर स्वार्थपूर्ण थे ।

स्वदेशी

सरकार की विनाशकारिणी अर्थ-नीति एवं प्रतिवर्ष घाटा दिखलाने वाले बजट के कारण जनता में असन्तोष बढ़ा । टैक्सों में वृद्धि के कारण जन-सामान्य में क्षोभ और अशान्ति के लक्षण दृष्टिगत होने लगे । आर्थिक शोषण की प्रतिक्रिया स्वरूप शासन-तंत्र में परिवर्तन करने के भाव उद्दीप्त हुए और जन-सामान्य की युग-युग से सुप्त चेतना जागृत हो गई । दान-वृत्तियों के साथी गांधी ने जन-नेतृत्व का बोझ वहन किया । उनके राजनीति में प्रवेश करने के साथ ही पराधीन भारत की दृष्टि स्वावलम्बी हो गई । महात्मा-गांधी ने विदेशी शासन की जड़ों पर आघात किया । व्यापारी शासकों के व्यापार को आघात पहुंचा कर आर्थिक शोषण को रोकने के हेतु युग-निर्माता गांधी ने देश-वासियों को स्वदेशी का मंत्र दिया । विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के लिए जन-सामान्य को प्रेरित करने के उद्देश्य से स्वदेशी आन्दोलन चलाया गया और देश के मामे-जाने लोगों ने विदेशी वस्तुओं की होली जलाई । राष्ट्र-नायकों ने स्वदेशी के यज्ञ में अपनी अमूल्य वस्तुओं की आहुति दे दी और गांधी की एक पुकार पर करोड़ों भारतवासी मिलों के सुन्दर,सस्ते वस्त्रों का परित्याग कर खादी के वस्त्र पहनने के लिए तत्पर हो गये । खादी और चर्खा-राष्ट्रीय आन्दोलन के अजेय अस्त्र बन गये । खादी की अर्थनीति को समझ-समझाकर राष्ट्रपिता बापू ने ब्रिटिश साम्राज्यशाही को एक चुनौती दी और देशवासियों को अपनी दलितावस्था से ऊपर उठने का मार्ग प्रदर्शित किया । गांधी की विदेशी बहिष्कार की नीति का महत्त्व बतलाते हुए 'सुधा' के सम्पादक ने कहा है कि "महात्मा जी ने अंग्रेज

---

१ 'सरस्वती' --दिसम्बर,सन् १९४३,भाग ४४,खण्ड २,पूर्ण संख्या ५२८ सचित्र सामयिक साहित्य, --'बंगाल का अन्न संकट दूर करने का प्रयत्न' ,पृ० ५०७-८।

सरकार के मर्मस्थल पर प्रहार किया है। यह अंग्रेज़ सरकार की कुमने की नीति के विरोध में खुली हुई ऐसी मार है, जिसके सामने किसी प्रकार का भी बुद्धि अपना इन्द्रजाल नहीं फैला सकती[1]।"

उन्नीसवीं शताब्दी के गद्य-लेखकों ने जिस स्वदेशी का संदेश दिया था, गांधी ने राजनीति में उसका सक्रिय स्वरूप उपस्थित किया और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विरचित गद्य-साहित्य में इस विषय की पुनरुक्ति हुई। गद्य-लेखकों और पत्र-सम्पादकों ने अपने लेखों के माध्यम से स्वतन्त्रता के इस अमोघ अस्त्र का प्रचार और प्रसार कर ब्रिटिश साम्राज्यवाद को आतंकित करने के साथ ही राजनीति में अपने योगदान को व्यक्त किया है। विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार को प्रोत्साहित करने का उद्देश्य सामने रखकर ही प्रेमचंद जी ने कहा है कि --"हमने विलायती कपड़ों की नींव पर अपना जो व्यापार भवन खड़ा किया है, वह वास्तव में हमारे लिए गुलामी का जेलखाना बन गया और उस भवन को गिराये बिना हमारा कल्याण नहीं हो सकता[2]।"

ज्यों-ज्यों खादी का प्रचार बढ़ता गया, त्यों-त्यों ब्रिटिश साम्राज्य आतंकित होता गया, क्योंकि खादी के प्रचार के कारण अंग्रेज़ी कपड़े की मांग कम होती जा रही थी। श्री हर कोर्ट राबर्टसन ने 'डेली-मिरर्स' में लिखा है कि "विदेशीवस्त्र को भारत से भगाने के लिए गांधी ने इसका आविष्कार किया है और वह उसका उपयोग भी कर रहे हैं[3]।" राबर्टसन ने खादी-प्रचार से इंगलैण्ड पर जो विपत्ति आयेगी, उसका उल्लेख करते हुए कहा है कि "एक बार गांधी जी के दूतों द्वारा देश की जनता के सुसंगठित हो जाने भर की

---

१ 'सुधा', सितम्बर, सन् १९३०ई०, सम्पादकीय --'जनता और सरकार', पृ० २६८।
२ 'पिकेटिंग आर्डिनेन्स' --'हंस', नवम्बर, सन् १९३०, 'विविध प्रसंग' भाग २, पृ० ६६।
३ 'त्यागभूमि', चैत्र संवत्, १९८५, खण्ड १, अंक ५, --'आसन दहल उठा', पृ० ५०४।

पैर है, फिर भारत में आपके (इंगलैण्ड) कपड़े की यह बिक्री भी बन्द हो जायगी ।" अब भी केवल कपड़े पर नहीं, तमाम इंगलैण्ड की बनी चीजों पर प्रहार है ।[1] "भारतीयों द्वारा विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार किए जाने से इंगलैण्ड के सूती वस्त्र-उद्योग को क्षति पहुंची । क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्य की खपत का सबसे बड़ा बाजार भारत ही था। इस राष्ट्रीय आपत्ति से बचने के लिए श्री राबर्टसन ने कहा कि जनता में शासकों के प्रति पुन: विश्वास के भाव उत्पन्न किए जाएं और उन्हें बताया जाय कि वे इंगलैण्ड के कितने ऋणी हैं । अत: लंकाशायर के बने कपड़ों को भारतीय जनता में लोकप्रिय बनाने के लिए निम्नलिखित भावों का प्रचार करने के लिए प्रेरित किया गया ।

"भारतीय कपास से लंकाशायर में बने कपड़े खरीदो। भारत का सबसे बढ़िया ग्राहक लंकाशायर है । इसलिए लंकाशायर का कपड़ा पहनना भारत के किसानों के घरों को भरना है ।[2]" राबर्टसन का विचार था कि यदि प्रचार के लिए इस प्रकार के साधनों का उपयोग नहीं किया जायेगा तो इंगलैण्ड का व्यापार डूब जायेगा ।

एक और गांधी का स्वदेशी आन्दोलन चल रहा था और दूसरी ओर इंगलैण्ड में इंगलैण्ड की बनी वस्तुओं का भारत में प्रयोग करने के लिए प्रोपोगैण्डा । इस विषम परिस्थिति में सर प्रफुल्लचन्द्र राय ने बम्बई में अपने एक भाषण के द्वारा देशवासियों को यह समझाया कि "विदेशी बहिष्कार के द्वारा विशेष फल नहीं मिल सकता, यदि स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार तथा निर्माण न हो ।[3]" अपने इसी भाषण में उन्होंने कहा था कि "यदि केवल विदेशी

---

1 'त्यागभूमि' -- चैत्र, संवत् १९८५, खण्ड १, अंश ६, 'आसन डोल उठा', पृ० ६०४ ।

2 ,, ,, ,, ,, ,, पृ० ६०५ ।

3 'सुधा' -- जून सन् १९३०, वर्ष ३, खण्ड २, संख्या ५, सम्पादकीय, आचार्य प्रफुल्लचन्द्रराय का भाषण, पृ० ५४५ ।

कपड़ों का बहिष्कार जारी रहा और देश ने उस अभाव की पूर्ति न की, तो एक दिन देश को इसके लिए विशेषरूप से नीचा देखना होगा।[1] यह था उनका व्यावहारिक और राजनीतिक दृष्टिकोण। गांधी ने भी ऐसी व्यावहारिक दृष्टिकोण के कारण हाथ करघा उद्योग एवं अन्य कुटीर उद्योग धंधों के विकास को रचनात्मक कार्यक्रम में स्थान दिया और उसे राष्ट्रीय आन्दोलन का एक अंग माना। क्योंकि केवल स्वदेशी के गीत गाने से ही विदेशी का बहिष्कार सम्भव न था। उसके लिए जिस रचनात्मक कार्य-क्रम की आवश्यकता थी, उसे महात्मा-गांधी और सर प्रफुल्लचन्द्र राय ने ही जनता को समझाया और औद्योगिक उन्नति के लिए प्रेरित किया।

असहयोग

करों में वृद्धि की नीति का विरोध करने के लिए राष्ट्र-नेताओं ने असहयोग के अस्त्र का प्रयोग किया। कर बन्द कर देना असहयोग का सबसे तीव्र और रामबाण अस्त्र है। लगान में वृद्धि की प्रतिक्रिया स्वरूप बारडोली और खेड़ा(सन् १९१८ई०) का सत्याग्रह आन्दोलन हुआ। नमक कर के विरोध में गांधी जी ने १२ मार्च सन् १९३०ई० को अपनी प्रसिद्ध डांडी यात्रा की।[2] इस देशव्यापी असहयोग आन्दोलन में अन्तर्निहित भावना अधिकार के लिए संघर्ष या क्रान्ति करना था। असहयोग के इस भाव की अभिव्यक्ति हिन्दी गद्य-साहित्य में बराबर की गई है।

सन् १७७६ में अमेरिकन कांग्रेस ने जार्ज वाशिंगटन को जिस कार्य का दायित्व दिया था, उसी कोटि के कार्य का

---

१ 'सुधा'-जून, सन् १९३०, वर्ष ३, खण्ड २, संख्या ५, सम्पादकीय-- आचार्य सर प्रफुल्लचन्द्र राय का भाषण, पृ० ३४५।

२ अध्याय चार, पृ०१८०-१८१।

साबित सन् १६३० में भारतीय कांग्रेस ने गांधी जी किया । यदि जार्ज वाशिंगटन को अपनी तोप और बन्दूकों का भरोसा था तो गांधी को अपनी आत्म-शक्ति का। आत्मशक्ति ने सैन्य-शक्ति को पराजित कर दिया । नमक-कानून टूट गया । सरकार की मशीनगनें उसको न बचा सकीं । संसार की सर्वशक्तिसम्पन्न सत्ता लोकमत के आगे नतमस्तक हो गई और सम्पूर्ण देश में नमक बनने लगा[1] । गांधी के व्यक्तित्व के कारण अमेरिका में भारत के स्वाधीनता-संग्राम के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हुई और समाचार-पत्र नमक कानून तोड़ने की घटना की तुलना 'बोस्टन की टी पार्टी' से करने लगे । बड़े-बड़े प्रभावशाली पत्रों ने यहां तक लिख दिया कि 'चाय' की वजह से ब्रिटेन ने अमेरिका खो दिया और अब नमक के कारण वे भारत से हाथ धो बैठेंगे[2] ।"

अर्थ शोषण की यह नीति ब्रिटिश भारत के समान ही देशी राज्यों में भी अपनाई जा रही थी । देशी नरेशों की शोषण-नीति को और लक्ष्य करते हुए श्री रामनारायण चौधरी ने 'हमारे देशी राज्य' शीर्षक लेख में कहा है कि 'प्रजा बिना किसी प्रकार का विरोध किये उनकी अनियंत्रित सत्ता को सहन किये जाय और उनके तथा उनके कर्मचारियों के लिए धन कमाने की मशीन बनी रहे[3] ।"

---

१ "संसार की सबसे शक्तिशाली सरकारी सत्ता चुटकियां बजाते शिथिल हो गई कानून का भूत व उतर गया, सज़ा का हौआ गायब हो गया । नौकरशाही मुंह ताकती रह गई । समस्त देश में नमक बनने लगा ।"
--'विशालभारत'--सन् १६३०, अप्रैल, वर्ष ३, खण्ड१, संख्या४, पृ०४५० ।

२ ,, ,, अगस्त, भाग ६, अंक २, सम्पादकीय विचार-ब्रिटिश प्रचार कार्य , पृ०२६८ ।

३ ,, सन् १६२६, जुलाई , वर्ष २, खण्ड२, संख्या १, पृ०८४ ।

दमन नीति

लेखन और भाषण की स्वतन्त्रता पर आघात

अंग्रेज समृद्ध भारत के आर्थिक शोषण से ही सन्तुष्ट नहीं हुए। उनकी स्वार्थान्धता ने जीवन के प्रत्येक पक्ष पर आघात किया। बुद्धिजीवी भारतीयों की बौद्धिकता का दमन करने के हेतु लेखन और भाषण की स्वतन्त्रता पर आघात किया गया एवं जन-सामान्य की उग्र राजनीतिक चेतना का दमन करने के लिए नौकरशाही ने शान्ति और सुव्यवस्था के नाम पर पुलिस के अत्याचारों को प्रोत्साहित किया।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में 'न्यूज पेपर इन्साइटमेंट ऐक्ट' (सन् १९०८) की कठोर धाराओं की पृष्ठभूमि में 'युगान्तर', 'संध्या' तथा 'वन्देमातरम्' ने अपना प्रकाशन बन्द कर दिया। साथ ही गणेश सावरकर को 'अभिनव भारत मेला' (सन् १९०८) नाम से मराठी में देशभक्ति पूर्ण भड़काने वाली कविताएं प्रकाशित करने के कारण आजीवन कालेपानी की सजा हुई। सन् १९१०ई० के प्रेस ऐक्ट की कठोर धाराओं के कारण 'अमृत बाजार पत्रिका', 'बाम्बे क्रानिकल', 'दि हिन्दू', 'दि ट्रिब्यून', 'दि पंजाबी' आदि पत्रों को दण्डित होना पड़ा। अमृत बाजार पत्रिका के संस्थापक मोतीलाल घोष ने सन् १९१९ई० में दस और बारह अप्रैल को क्रमशः "To whom does India belong" और "Arrest of Mr. Gandhi more outrageous" दो लेख लिखे। फलतः प्रेस को पांच सौ रुपये की जमानत जब्त हो गई और समस्त प्रतियां अधिनियम की चौथी धारा के अनुसार ले ली गईं। लाला लाजपतराय के संरक्षण में चलने वाले 'पंजाबी' पत्र पर भी राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया।

लखनऊ कांग्रेस के सभापति अम्बिकाचरण मजूमदार ने इस विधान की आलोचना करते हुए कहा कि 'सन् १९१० के विधान

ने छापाखानों की अवस्था एकदम बदल दी है । अब वे सरकार के चंगुल में इस तरह फंस गये हैं कि सरकारी कार्यवाहियों की वे समालोचना नहीं कर सकते । सरकार के विरुद्ध साधारण शब्द भी नहीं प्रयोग कर सकते । ... प्रेस की स्वतन्त्रता छीन ली गई है और इस देश के सबसे बड़े न्यायपति भी उसकी रक्षा करने में असमर्थ हैं ।[1] इस ऐक्ट की आलोचना करते हुए 'भारत में दमन नीति' शीर्षक के अन्तर्गत कहा गया है कि 'समाचारपत्रों पर प्रेस ऐक्ट की तलवार जोरों से चल रही है । .... यों तो प्रेस ऐक्ट गला घोटूं और ऐसा विस्तृत बना ही है कि हर दिशा में यदि इच्छा हो तो वह किसी भी पत्र को धर दबा सकता है, किन्तु इस समय वह बड़ी लम्बी छलांगें मारता दिखाई दे रहा है.....'[2] ।

सन् १९२२ के संशोधनों ने मुद्रक के दायित्व के स्थान पर प्रकाशक और सम्पादक के दायित्व बढ़ा दिये थे । सन् १९३०ई० में असहयोग आन्दोलन के समय लार्ड इर्विन ने प्रेस ऐक्ट पारित करके समाचार-पत्रों पर कठोर नियन्त्रण लगाया, जिससे वे क्रान्तिकारियों तथा सत्याग्रह आंदोलन की पृष्ठपोषकता न कर सकें । २६ अप्रैल सन् १९३०ई० के प्रेस ऐक्ट पर व्यंग्य करते हुए सुधा के सम्पादक ने कहा है कि "...... इस प्रेस आर्डिनेन्स द्वारा अंग्रेजी स्वार्थ ने अपनी बाढ़ी में दो फाटके पहले लगाए, तो यह कोई बेतुकी नहीं रही । यह तो शासकों का सनातन धर्म है ।"[3]

असहयोग आन्दोलन की तीव्रता के साथ-साथ सरकार की दमन नीति भी बढ़ती जा रही थी । अतः महात्मा गांधी ने सन् १९३०ई० के प्रेस ऐक्ट का विरोध करते हुए लिखा कि "अब चुपचाप इस कानून

---

१ 'सरस्वती' - जनवरी सन् १९४९, भाग४९, खंड १, संख्या५, पूर्ण संख्या४६३, प्रेसों की स्वतन्त्रता-- गोकुल उमाशंकर, पृ०३३ ।

२ 'मर्यादा' - अप्रैल सन १९२१ई०, भाग २१, संख्या ४, सम्पादकीय टिप्पणियां, पृ० २८५।

३ 'सुधा', मई सन् १९३०ई०, वर्ष ३, खंड२, पूर्ण संख्या ३४ सम्पादकीय-- संवादपत्र और छापेखानों पर प्रहार', पृ०४८३ ।

को मान लेने के दिन नहीं रहे और संवाद-पत्र यदि जनता के सच्चे प्रतिनिधि हैं तो वे इस कानून से नहीं डरेंगे । जब हम अपनी जान देने के लिए तैयार हैं तब हमें अपना माल भी दे देना चाहिए ।[1] फलत: राजधानी दिल्ली और कलकत्ता ऐसे विशाल शहर भी पत्र-विहीन हो गए । सरकार को दमन की सुविधा हुई और जनता के संगठन में बाधा पड़ी । प्रेस ऐक्ट ने सरकार के फौलादी शिकंजे में सैकड़ों पत्र लगा दिए थे । सरकार ने अनगिनती समाचार पत्रों को अत्यन्त निर्दयतापूर्वक पीस डाला, बहुतों का खून चूस-चूसकर उन्हें बेकाम कर दिया और बहुतेरों को सदा के लिए निगल लिया । सरकार की इस दमन नीति का विरोध करने के हेतु अधिकांश पत्रों ने अपना प्रकाशन बन्द कर दिया । सरकार की यह निरंकुश नीति अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुई, क्योंकि उत्तरदायी समाचारपत्रों के कार्यक्षेत्र से हटते ही हाथ के लिखे न्यूज शीट और बुलेटिन हजारों की संख्या में जनता के पास पहुंचने लगे । सरकार के इस कानून की असफलता का उल्लेख करते हुए 'सुधा' के सम्पादकीय स्तम्भ में कहा गया है कि "इनके कारण सरकार की सारी दूरदर्शिता ताक में ही रखी रह गई थी । उसे इनके दमन के लिए भी लाखों असफल प्रयत्न करने पड़े थे । किन्तु इसपर भी इनके प्रकाशन को वह बन्द न कर सकी थी ।"[2]

सन् १९३२ई० में लार्ड विलिंगडन ने समाचार-पत्रों पर प्रचण्ड प्रहार किया । एक ओर प्रेस आर्डिनेन्स ने उनका गला दबाया तो दूसरी ओर पब्लिक सेफ्टी ऐक्ट दानव की तरह उनकी छाती पर सवार हो गया । सन् १९३७ई० में प्रान्तों में दायित्वपूर्ण शासन स्थापित होने पर भी समाचार-पत्रों के दमन का क्रम चलता ही रहा । एक ओर उनपर इण्डियन पेनल कोड की राजद्रोहात्मक धाराओं का आक्रमण होता था तो दूसरी ओर क्रिमिनल प्रोसिजर कोड का

---

१ 'सुधा', मई सन् १९३०ई०, वर्ष ३, खंड २, संख्या ४, पूर्ण संख्या ३४, सम्पादकीय --- 'संवाद-पत्र और आर्डिनेन्सों पर प्रहार', पृ० ४८३ ।

२ ,, सन् १९३०ई०, नवम्बर, वर्ष ४, खण्ड १, संख्या ४ सम्पादकीय--- 'काले कानून का काला मुंह', पृ० ५७० ।

ड

९९ वीं धारा का वार होता । सम्प्रति प्रिंसेज प्रोटेक्शन ऐक्ट और डिफेंस ऐक्ट से समाचार-पत्र और भी त्रस्त थे । उन्हें सांस लेने का अवसर नहीं था। जो कुछ थोड़ा बहुत सुविधा थी भी उसका भारत रक्षा कानून के नियम चवालीस से अपहरण हो गया । केन्द्रीय सरकार ने ब्रिटिश भारत के प्रत्येक मुद्रक,प्रकाशक और सम्पादक को कोई भी ऐसा लेख या समाचार प्रकाशित करने की मनाही कर दी,जिससे प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप में सफलतापूर्वक युद्ध संचालन के प्रति विरोधी भावना उत्पन्न होने की सम्भावना हो ।

पुलिस विभाग की क्रूरता और अनैतिकता

देश की आन्तरिक शान्ति और सुव्यवस्था का हेतु सामने रखकर अंग्रेजों के शासन-काल में पुलिस विभाग को अत्यधिक महत्व दिया गया । शासन में पुलिस के इस महत्व को देखकर 'विशाल भारत' के सम्पादक ने पुलिस को नौकरशाही का एक इन्द्रिय की संज्ञा दी[१] और जनसामान्य को इस तथ्य से अवगत कराया कि शासनरूपी शरीर के लिए पुलिस की अत्यन्त आवश्यकता है । पुलिस के अभाव में शासन का ढांचा शिथिल होने लगता है और उसकी शक्ति परिमित हो जाती है । सन् १९२८ की 'सरस्वती' में भी 'पुलिस माहात्म्य' शीर्षक के अन्तर्गत पुलिस के महत्व पर प्रकाश डाला गया है । पुलिस की महत्ता को व्यक्त करने के साथ ही इस विभाग की घूसखोरी की ओर इंगित करके लेखक ने इस विभाग की अनैतिकता का परिचय दिया है और यह स्पष्ट करने का यत्न किया है कि देश-रक्षा के लिए जिस पुलिस विभाग की व्यवस्था की जाती है वही जब

---

१ "नौकरशाही जीव के एक विशेष इन्द्रिय होती है और वह बड़ी प्रबल होती है । उसका नाम है पुलिस । कभी-कभी वह इसी इन्द्रिय द्वारा सुनती और देखती है ।"

विशाल भारत- जून सन् १९३२, भाग ९,अंक ६,सम्पादकीय विचार,पृ०७८१।

प्रजापीड़क बन जाता है, तब जन-सामान्य का उससे घृणा करना स्वाभाविक है। नवम्बर सन् १६३०ई० में 'सुधा' के सम्पादकीय स्तम्भ में 'जनता और पुलिस' शीर्षक के अन्तर्गत पुलिस विभाग की अनैतिकता पर प्रकाश डाला गया है[1]। अपनी अनैतिकता के कारण ~~भतेल-क~~ भारत की पुलिस जन-साधारण के सुख और समृद्धि में सहायक होने के स्थान पर बाधक ही सिद्ध हुई। यद्यपि यह सत्य है कि सम्पूर्ण विभाग ही निकम्मा न था, किन्तु जनता के हितैषी, धर्मभीरु, सच्चरित्र लोगों की संख्या कम ही थी। जो सरकारी पदाधिकारी जनता से सहानुभूति रखते थे, वे सरकारी नीति के कारण अपनी आत्मा के विरुद्ध कार्य करने के लिए विवश हो जाते थे। फलत: शासन द्वारा पुलिस-माहात्म्य के गीत गाने पर भी यह विभाग जनता की सद्भावनाओं को नहीं प्राप्त कर सका और सम्पूर्ण पुलिस-फोर्स जनता की घोर घृणा का पात्र रहा। सरकार भी इस विभाग के माध्यम से अपना लक्ष्य सिद्ध करती रही।

सन् १६३० के असहयोग आन्दोलन में पुलिस विभाग ने अपनी जिस अमानुषिकता का परिचय दिया था। उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप लार्ड इरविन ने भारत से विदा होते समय पुलिस के पदों में वृद्धि की और उनकी सराहना भी की। क्योंकि असहयोग के उस युग में सरकार अपनी दमन नीति के माध्यम से विशाल जनसमूह को कुचल कर नौकरशाही का आतंक जमाना चाहती था। पुलिस भी विभाग के माध्यम से सरकार ने जिस दमन नीति का अनुसरण किया वह रोमांचक सत्य कथा है। सरकार की शक्ति की अवहेलना करके नेताओं की आज्ञानुसार जब देश-भक्त जेल जाने लगे तब सरकार ने कुछ लोगों को गैर राजनीतिक कैदी बनाकर उनके साथ मनमाने, अत्याचार किये। उनपर डंडे पड़े, जूतों की मार पड़ी, लात घूसे लगे, सख्त से सख्त काम कराया गया। उनसे नाक तक रगड़वाई और तब खाना दिया[2]।

---

१ 'सुधा', नवम्बर १६३०ई०, सम्पादकीय--'जनता और पुलिस', पृ०५७१।

२ 'विशालभारत', फरवरी १६२८ई०, सम्पादकीय-टिप्पणी--'हमारे नेता और कार्यकर्ता' -- श्री शिवचरणलाल शर्मा, पृ०२२८।

पुलिस विभाग के अत्याचारों का वर्णन करते हुए श्री शिवचरण लाल शर्मा ने यह स्पष्ट किया है कि जेलों में गाली-गलौच तो साधारण बात है । राजनीतिक कैदियों के साथ जिस जिस क्रूरता का व्यवहार किया गया, उसका वर्णन करते हुए वह कहते हैं कि `राजनीतिक कैदियों की तो मारते-मारते हड्डियां तक तोड़ दी गईं और वह भी उस दशा में जब कि उनके बेड़ी और डंडा पड़ा हुआ था । एक विशेष जेल का वर्णन करते हुए श्री शर्मा ने लिखा है कि जेलर के गाली देने पर एक राजनीतिक कैदी ने उसके चांटा मार दिया । जेलर ने सिपाही बुलाकर कई एक राजनीतिक कैदियों की नस-नस दुखवा दी ।[1] अंग्रेजों के शासन-काल में पुलिस राजनीतिक कैदियों के साथ भी प्राय: वैसा ही अभद्र, कठोर और असभ्यतापूर्ण व्यवहार करती थी, जैसा मामूली चोर डाकुओं के साथ ।

`दमन` और `डंडा` शीर्षक लेखों में प्रेमचन्द ने सरकार की दमन नीति का यथार्थ चित्रण किया है । `दमन` लेख में लेखक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि ला एण्ड आर्डर के नाम पर सरकार भारतीय जागृति को दबाना चाहती है । किन्तु यह दमन से दबने वाली नहीं । दमन से वह और भी ज़ोर पकड़ेगी ।[2] `डंडा` शीर्षक लेख में भी प्रेमचन्द ने पुलिस की क्रूरता का वर्णन किया है । उल्लेखनीय यह है कि प्रेमचन्द के समय अंग्रेजी साम्राज्यशाही की जड़ें हिल चुकी थीं और वह डंडे के ज़ोर से ही शासन कर रही थी । प्रजावत्सलता को तिलांजलि दे दी गई थी और सुव्यवस्था का एकमात्र आधार सरकार का कठोर

---

१ `विविध प्रसंग`, भाग २, पृ० ५६-५७ (`हंस`, मई सन् १९३०) ।

२ `इस डंडे के सामने कानून व्यवस्था, कौंसिलें और महकमे सब बेकार हैं ? .. .. जहां कहीं राष्ट्रीयता की, जागृति की, आत्मगौरव की झलक देखी बस तुरन्त डण्डे से काम लो । इस मरज़ की यही अचूक दवा है और इसका आविष्कार किया है भारत सरकार और अंग्रेजी सरकार ने मिलकर ।`
`विविध प्रसंग`, भाग २, (हंस, जून सन १९३०)
पृ० ५७ ।

दण्डविधान ही रह गया था । मजदूर, किसान, राष्ट्रीय कार्यकर्ता-- सभी सरकार के इस डंडे का प्रसाद पा रहे थे । अतः प्रेमचन्द ने डंडे को अजेय और सर्वशक्तिमान् मानकर सरकार की दमन नीति पर कटु व्यंग्य किया है[1] । क्रान्तिकारियों और असहयोग आन्दोलन के कार्यकर्ताओं को पुलिस विभाग ने जो जो यातनायें पहुंचाईं वह ब्रिटिश साम्राज्यशाही का कलुषित पक्ष है । कितने ही क्रान्तिकारियों ने पुलिस विभाग के अधिकारियों के नृशंस व्यवहार के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए अनशन किये और अन्त में मेडिकल ग्राउण्ड पर समान व्यवहार का धोखा देकर उनके अनशन का धोखा देकर उनके अनशन भंग करवा दिये गये । केवल यतीन्द्रनाथ सरकार के इस भुलावे में न आये और उन्होंने राष्ट्रीय नेताओं के अनुरोध पर भी अपना अनशन भंग नहीं किया । मन्मथनाथ गुप्त ने अपनी पुस्तक 'भारत में सशस्त्र क्रान्ति चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास' में सावरकर की जबानी और जेल के दुखड़े' शीर्षक के अन्तर्गत सरकार की दमन नीति का उल्लेख करते हुए कहा है कि "राजनैतिक कैदियों के साथ कठोर व्यवहार किया जाता था, क्योंकि वे डेंजरस थे ।" जेल के डाक्टर कोल्हू पेरना जैसे कठिन शारीरिक परिश्रम के कार्य बहुत अच्छे स्वास्थ्य वालों को ही देते थे, किन्तु राजनैतिक कैदियों के स्वास्थ्य का विचार किये बिना ही उन्हें कोल्हू पेरने का कार्य दिया गया क्योंकि सरकार को उनसे बदला लेना था । इतना ही नहीं यदि वे परस्पर बात करते तो उन्हें सात-सात दिन हथकड़ी भी डाल दी जाती थी ।

---

१ "डंडा क्या नहीं कर सकता -- वह अजेय सर्वशक्तिमान है ।.... मजदूरों का सभा मजदूरी बढ़ाने का आन्दोलन करती है तो डण्डा ? किसानों का फसल मारी गई वह लगान देने में असमर्थ है, कोई मुलाहजा नहीं-- तो डंडा तान-तानकर कस कसकर । डंडा सर्वशक्तिमान है-- रुपये निकलवा लेगा । कोई जरा भी सिर उठावे, जरा भी चूं करे तो डंडा ? वह युवक कपड़े की दुकान पर खड़ा है, खरीददारों से कह रहा है-- विलायती कपड़े न खरीदो-- तो डंडा ? उसकी इतनी हिम्मत कि इंगलैण्ड की शान में ऐसी अनर्गल बात मुंह से निकाले, ऐसा मारो कि जबान ही बन्द हो जाय । वह देखना, एक स्वयंसेवक शराब ताड़ी की दुकान पर जा पहुंचा । नशेबाजों को समझा रहा है--तो डंडा ? देर न करो, ताबड़तोड़ लगाओ, खूब कस कर लगाओ । इन सिर फिरों की यही दवा है ।...."

'विविध प्रसंग, भाग २, पृ० ५८-५९ (हंस, जून सन १९३०ई०) ।

सरकार का यह व्यवहार प्रदर्शित करता है कि वह इन क्रान्तिकारियों को अपराधियों की श्रेणी का मानती थी । जेल की यातनाओं का वर्णन करते हुए मन्मथनाथ गुप्त ने व्यंग्य की भाषा में लिखा है कि "चिकित्साशास्त्र भी साम्राज्यवाद के हाथ का कठ-पुतला ही गया ।[1]" डाक्टर स्वास्थ्य का मुख्य अधिकारी होता है, किन्तु जेलर की अनु-मति के बिना वह राज-कैदियों को अस्वस्थ अवस्था में भी जेल के अस्पताल नहीं भेज सकता था । अण्डमन भेजे गये इन क्रान्तिकारियों की यातनाओं का वारापार नहीं था ।

पेशावर से चटगांव तक और हैदराबाद से मद्रास तक शक्तिशालिनी ब्रिटिश कूटनीति और सिविल सर्विस के फौलादी पंजों का आतंक छाया हुआ था । चुन-चुन कर देश के नेता और कार्यकर्ता कारागारों के अतिथि बना दिए थे । सरकार की इस दमन नीति पर व्यंग्य करते हुए `सुधा` के सम्पादक ने लिखा है कि "जगह जगह देश में पुलिस के डंडों और फौजी बन्दूकों का राज्य है ।... ज़रा ज़रा सी बात पर बन्दूक दागकर पुलिस इस परिस्थिति को और भी भयानक बना रही है ।[2]" सन् १९३०ई० के असहयोग आन्दोलन के समय सरकार ने जिस दमन नीति का अनुसरण किया, उसका उल्लेख भी `सुधा` में किया गया है[3]।

पुलिस विभाग की इस स्वेच्छाचारी दमन -नीति के समाचार देश के कोने-कोने से मिलते थे । आश्चर्य तो यह है कि भारतीय पुलिस भी अपने सजातियों के साथ नौकरशाही की भावना से प्रेरित होकर अपनी नादिरशाही

---

१ `भारत में सशस्त्र क्रान्ति-चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास`--मन्मथनाथ गुप्त,पृ०२८३

२ `सुधा`-- मई,१९३०ई०,सम्पादकीय --`घटनाचक्र`,पृ०४८८ ।

३ "नेताओं के लिए जेल के दरवाजे खूब चौड़े कर दिये गये हैं और स्वयंसेवकों तथा
 जनता के लिए पुलिस के डंडे खूब मजबूत ।"
 --`सुधा`--मई १९३०,सम्पादकीय--`मई मास की डायरी`,पृ०४९० ।

का परिचय देता था । सरकार की ओर बाहिर हो गया था । जिन अप्रिय कार्यों को सम्पादित कर वे स्वयं लांछित नहीं होना चाहते थे, वही कार्य वह अपने खुशामदी भारतीयों से करवा कर साँप मरे न लाठी टूटे की उक्ति को चरितार्थ करते थे। उच्च सरकारी अधिकारियों से पुलिस के कर्मचारियों के दुर्व्यवहार की शिकायत करने पर उनकी उपेक्षा का मुख्य कारण यह था कि यदि पुलिस के कर्मचारियों को दण्ड दिया जायगा तो सरकार का आतंक और शान नष्ट हो जायगी । केवल एक वर्ग विशेष का मान-सम्मान बनाये रखने के लिए पुलिस कर्मचारियों के अपराधों और अत्याचारों की उपेक्षा के परिणामस्वरूप सरकार के इस विभाग में तानाशाही की प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती गई । श्री दत्तात्रेय बापूराव पाटील ने अपने लेख `भारतीय-पुलिस` में यह स्पष्ट कर दिया है कि पुलिस का एक साधारण चपरासी भी वर्दी पहन लेने पर स्वयं सम्राट का प्रतिनिधि नहीं, शायद साक्षात् सम्राट ही बन जाता है । उसके विरुद्ध कुछ कहना राज-द्रोह और षड्यन्त्र है[१] । ...... जब तक वह लाल पगड़ी और खाकी पोशाक पहने है, तब तक किसकी मजाल है, जो उससे चूं तक कर जाय । उसकी शान में सबकी शान किरकिरी है । क्योंकि वह सम्राट का प्रतिनिधि है । वह गवर्नमेण्ट खड़ है और है वह स्वयं लाट साहब[२] ।

यदि पुलिस का अपराध सिद्ध हो जायगा तो नौकरशाही की शान मिट्टी में मिल जायगी । इसलिए जब तक वह लाल पगड़ी पहने है, उससे अन्याय और अशिष्टता हो ही कैसे सकती है । भारतीय पुलिस के आतंक का वर्णन करते हुए श्री दत्तात्रेय ने कहा है कि `भारत की पुलिस क्या हो गई, आफत हो गई । अन्य देशों में भी पुलिस है वहाँ भी शासन-सत्ता के प्रतिनिधि हैं, वहाँ भी उनका आदर-सम्मान करना प्रत्येक नागरिक अपना कर्तव्य समझता है, किन्तु उनमें और हमारी अत्याचार की प्रतिमूर्ति पुलिस में कितना अन्तर है[३] ।`

---

१ `विशाल भारत`, दिसम्बर, १९२६०, वर्ष २, खण्ड२, संख्या ६, पृ०४७२ ।
२ ,, ,, ,, ,, ,, ,, पृ० ७४४ ।
३ ,, ,, ,, ,, ,, ,, पृ० ७४२ ।

प्रत्येक शान्तिप्रिय व्यक्ति पुलिस के सामान्य से सामान्य कर्मचारी को देखते ही भयभीत हो जाता है,क्योंकि भारतीय पुलिस एक बार पुलिस की वर्दी धारण कर लेने पर अभिमानी और धृष्ट हो जाता है । अधिकार की इस उद्दण्डता का नशा स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भी न उतरा ।कर्तव्य-परायणता की वर्दी पहन कर आज भी पुलिस विभाग शान्ति और सुव्यवस्था के पर्दे के पीछे पाशविक आतंकवाद की नीति का अनुसरण करता है । तलाशी आदि के समय जिस उद्दण्डता से काम लिया जाता है, उसे भुक्त भोगी ही जानते हैं । गाली-गलौज मारपीट तो मानो पुलिस की नादिरशाही के अस्त्र हैं । ब्रिटिश शासन -काल में विदेशी शासकों के प्रति व अपनी राज-भक्ति के प्रदर्शन के लिए और अपनी निष्पक्षता का प्रभाव डालने के लिए इस विभाग ने जिस दमन-नीति का अनुसरण किया उसे वह अपनी मध्य-युगीन एकतंत्री प्रवृत्तियों के कारण राष्ट्रीय सरकार की स्थापना होने पर भी त्याग न सका । अन्तर केवल इतना ही हुआ कि जिस रुखाई और कठोरता का व्यवहार अंग्रेज़ अफसरों की उपस्थिति में किया जाता था वही व्यवहार आज सजातीय अधिकारियों की उपस्थिति में करके पुलिस के कर्मचारी अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने लगे । फलत: पुलिस के प्रति घृणा के भाव आज भी वैसे ही हैं ।

दरबार

साम्राज्यवादी प्रवृत्ति के अवशिष्ट रूप में बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में तीन बृहद्दरबारों का आयोजन किया गया ।पहला दरबार सन् १९०३ई० में एडवर्ड सप्तम के राज्याभिषेक का उत्सव मनाने के हेतु आयोजित किया गया, दूसरे दरबार का आयोजन सन् १९०५ई० में लार्ड मिण्टो ने जोधपुर में किया और तीसरा दरबार पुन: दिल्ली में सन् १९११ ई० में सम्राट जार्ज पंचम के भारत-आगमन के शुभ अवसर पर आयोजित किया गया । भारतीयों में सक्रिय राजनीतिक चेतना के अभ्युदय और विकास के साथ ही दूरदर्शी,कूटनीतिज्ञ अंग्रेज़ शासकों ने शाही दरबारों की प्रथा का अन्त करके जनता के समक्ष शासन के जनतन्त्रात्मक स्वरूप को उपस्थित करने का प्रयास किया । क्योंकि जनता दरबारों को साम्राज्यवादी

प्रवृत्ति से अवगत हो गई थी और जन-प्रतिनिधि के रूप में हिन्दी-गद्य-लेखक जनता के भावों की अभिव्यक्ति करते हुए दरबारों का तीव्र विरोध कर रहे थे । बालमुकुन्द गुप्त ने लार्ड कर्जन द्वारा आयोजित दिल्ली दरबार (सन् १६०३) के प्रदर्शन और सरकार की जनता के प्रति कर्तव्य विमुखता की ओर संकेत करते हुए कहा है कि " यह शो है ड्यूटी नहीं, क्योंकि इससे न ही दरिद्रों का दुःख घटेगा और न ही भारतीय प्रजा की दशा में उन्नति होगी । उनके विचार से दरबार केवल 'बुलबुलों का स्वप्न है ।"

स्टेट

देश व्यापी असहयोग आन्दोलन को दबाने के लिए सरकार ने शासन की कठोर नीति का अनुसरण किया । एक ओर राष्ट्र-नेता सरकारी आदेशों का उल्लंघन और नियमों की अवहेलना कर रहे थे तो दूसरी ओर स्वयं सरकार अपने कानूनों और नियमों की मर्यादा नष्ट करने में संलग्न था । केवल छः मास के अन्दर नौ असाधारण कानून या आर्डिनेन्स[१] जारी करके सरकार ने अपनी अनुदार स्वेच्छाचारी, दमनपूर्ण शासन नीति को स्पष्ट कर दिया । नवम्बर सन् १६३० ई० में 'चाँद' के सम्पादकीय विचार-स्तम्भ में सरकारी कानूनों की इस अधिकता पर व्यंग्य किया गया है[२] । महाराष्ट्र चेम्बर आफ कामर्स की कमेटी ने भी इन आर्डिनेन्सों की समालोचना करते हुए लिखा है कि "छः महीने के अन्दर ही धड़ाधड़ नौ आर्डिनेन्स क

---

१ बंगाल क्रिमिनल ला एमेण्डमेण्ट आर्डिनेन्स, १६अप्रैल, १६३०, प्रेस आर्डिनेन्स, २७अप्रैल १६३०, लाहौर कान्सपिरेसी केस, १मई १६३०ई०, शोलापुर मार्शल लॉ (१५मई सन् १६३०), अनलाफुल इन्स्टिगेशन आर्डिनेन्स, ३०मई १६३०ई०, प्रिवेन्शन आफ इण्टिमिडेशन आर्डिनेन्स, ३०मई१६३०ई०, मार्शल ला आर्डिनेन्स १४अगस्त १६३०ई०, अन ला फुल एसोसिएशन १०अक्टूबर १६३०ई० ।

२ गवर्नमेण्ट ने देश के साधारण कानूनों को ताक में रखकर छः महीनों के भीतर ही भीतर नौ असाधारण कानून या आर्डिनेन्स जारी कर दिए हैं । .... ऐसा मालूम होता है मानो भारत से साधारण कानून की सत्ता उठ गई है और हम लोग निरंकुश आर्डिनेन्सों के युग में रह रहे हैं ।--'चाँद', नवम्बर, १६३०ई०, सम्पादकीय विचार आर्डिनेन्सयुग, पृ० २ ।

जारी किए जा चुके हैं । इसका मतलब तो यह है कि शासन-पद्धति बिल्कुल उलट दी गई है । इन आर्डिनेन्सों द्वारा पुलिस तथा मजिस्ट्रेटों के हाथ में अनियमित शक्ति दे दी गई है और इसमें भी सन्देह नहीं कि कई बार उस शक्ति का भयंकर दुरुपयोग किया गया है । जैसे एक ओर इस आन्दोलन के आदमी कानून तोड़ने वाले हैं, उसी तरह गवर्नमेण्ट की ओर से भी कानून तोड़ने वाले सरकारी आदमी तैयार कर दिए गए हैं । इससे यह स्पष्ट होता है कि कानून का तो नाश हो ही चुका है । .....[1]

आर्डिनेन्सों के इस आधिक्य पर व्यंग्य करते हुए 'सुधा' सम्पादक ने लिखा है कि 'मई सन् १९३०ई० में भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन का अन्त हो गया । अनब्रिटिश ब्रिटिश शासन का दौर दौरा ही इस मास की विशेषता है । देश का शासन सरकार की कानूनी किताबों से नहीं, बल्कि वायसराय के आर्डिनेन्सों जिला मजिस्ट्रेटों की तानाशाही और पुलिस के डण्डों से चलाया जा रहा है । प्रेस के मुंह पर आर्डिनेन्स का नम्बरी ताला लटक रहा है और जनता के मुंह पर १४४ का ।'[2]

नौकरशाही ने नित्य नवीन कानूनों का विधान बनाकर ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय आन्दोलन का दमन करने की चेष्टा की त्यों-त्यों आन्दोलन उग्र रूप धारण करता गया । एक ओर भीषण से भीषण आर्डिनेन्स जारी थे, और दूसरी ओर सत्याग्रह आन्दोलन बिना किसी नेता और कोष अथवा साधन के निर्बाध गति बढ़ता जा रहा था । सरकार अपने कठोर आर्डिनेन्स रूपी अस्त्र का प्रयोग करके हार गई, किन्तु आन्दोलन न रुका । आर्डिनेन्सों के प्रहार की ओर इंगित करते हुए 'लार्ड आर्डिनेन्स की चिन्ता' शीर्षक में कहा गया है कि 'बेचारे लार्ड इर्विन शिमला शिखर से आर्डिनेन्स रूपी चट्टानों की वर्षा करके हार गए, पर वर्तमान आन्दोलन टस से मस नहीं हुआ ।'[3] प्रेमचन्द ने भी इन आर्डिनेन्सों का उपहास

---

१ 'चांद' नवम्बर, १९३०ई०, सम्पादकीय विचार--आर्डिनेन्स युग, पृ०३ ।

२ 'सुधा', मई, सन् १९३०, सम्पादकीय, पृ०४८६ ।

३ 'चांद', जनवरी, १९३१ई०, पृ० ३२२ ।

करते हुए लिखा है कि "इन अब गैर कानूनी कानूनों का क्या परिणाम हुआ ? वही, जो होना स्वाभाविक था, पिकेटिंग को सरकार ने बन्द करना चाहा था। पिकेटिंग का दिन-दिन जोर बढ़ता जा रहा है। समाचार पत्रों के बंद करने में बेशक सरकार को सफलता हुई, लेकिन कानून तोड़कर साइक्लोस्टाइल पर छपने वाले पर्चों ने तो शासकों की नाक ही तराश ली। आन्दोलन का जोर सौ गुना बढ़ गया। इसमें भी सरकार को सफलता न मिली। कहीं खादी पहनना अपराध है, कहीं टोपी लगाना अपराध है, कहीं तकली का व्यवहार करना अपराध है। लार्ड अर्विन अगर मातहतों की इन हिमाकतों को पसन्द करते हैं तो वह कठपुतली हैं, अगर नापसन्द करते हैं और कुछ बोल नहीं सकते तो कमजोर। मगर हमें न उनसे कोई शिकायत है न उनके मातहतों से। आपको डण्डे चलाना मुबारक, हमें डंडे खाना मुबारक।"[1]

मेडिकल रजिस्ट्रेशन ऐक्ट के विरोध में गणेशशंकर विद्यार्थी ने 'वैद्यक की फांसी' लेख लिखा। क्योंकि विद्यार्थी जी का विचार था कि इस ऐक्ट से देश के वैद्यों और हकीमों को हानि पहुँचेगी। इस तथ्य का उद्घाटन करते हुए उन्होंने लिखा है कि "यद्यपि वैद्यक और यूनानी उपयोगी सस्ता और इस देश के निवासियों के अनुकूल हैं, यद्यपि अब भी उनमें ऐसे रहस्य हैं, जिन्हें उनके निवासियों को उनके चरणों में बैठकर सीखने की आवश्यकता है, परन्तु तो भी उन्हें सहायता देने की आवश्यकता नहीं। इतना ही नहीं, जब वह अपने पैरों पर खड़े होकर चलने का यत्न करें, जब वे उनसे सहायता लें जो उनका और नई प्रणालियों का अच्छा ज्ञान रखते हैं जो उनसे प्रेम करते हैं, और जो उन्हें नये-नये विद्यार्थियों के मुकाबले योग्य बना सकते हैं, तो मीठी-मीठी बातों के कहते हुए भी विष उगलने से न चूका जाय, लड़खड़ाने वाले पैरों को धक्का देकर गिरा दिया और सहायक हाथ को पकड़ कर तोड़ दिया जाय।"[2] विद्यार्थी जी का उक्त कथन सरकार की नीति को

---

१ 'विविध प्रसंग', भाग२, पृ०६६-६७।

२ 'प्रताप', ८ दिसम्बर, १९१५०, पृ०३।

स्पष्ट करता है । मेडिकल रजिस्ट्रेशन ऐक्ट पास करके देशी चिकित्सा-प्रणालियों के विकास को अवरुद्ध कर दिया गया । सरकारी सहायता के अभाव में सस्ती किन्तु उपयोगी चिकित्सा प्रणाली के लाभों से देशवासी वंचित होते गए । सरकार की इस नीति पर प्रकाश डालते हुए विद्यार्थी जी ने कहा है कि " इस नीति से संसार का अत्यन्त प्राचीन और परम उपयोगी चिकित्सा प्रणाली का गला घुटरहा है, उसकी उन्नति नहीं होने पाती, वह ज्यों-की-त्यों भी नहीं बनी रहने पाती और देशवासी उसकी उपयोगिता, सस्तेपन और अनुकूलता से लाभ उठाने से वंचित होकर अधिक खर्च और रोग के शिकार बनते जा रहे हैं ।"[1]

कमीशन

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही सरकार सुधार और और दमन नीति का साथ-साथ अनुसरण कर रही थी । फलतः ऐक्ट और कमीशनों से भारतीय इतिहास भरा पड़ा है । अंग्रेजी शासन में कमीशनों की अधिकता पर व्यंग्य करते हुए 'त्यागभूमि' के सम्पादक ने कहा है कि "जहाँ भारत प्लेग, मलेरिया, दरिद्रता आदि का मुख्य स्थान है, वहाँ यह 'कमीशनों के लिए भी खासी नरम धारा है । भारत के इतिहास में कमीशनों का पौधा भरा पड़ा है ।"[2]

कमीशन बैठाने में धन का अपव्यय होता था, किन्तु कमीशन की सिफारिशें जनोपयोगी न होने के कारण वे जन-हित का ढोंग बनकर रह जाते थे । सरकार उसकी सिफारिशों पर भी कोई ध्यान नहीं देती थी । इन तथ्यों का स्पष्टीकरण करते हुए 'त्यागभूमि' में कहा गया है कि "....उनमें जितना व्यय हुआ, उनके लिए जितना कागज़ रंगा गया, उसका सहस्त्रांश फल भी

---

१ 'वैद्यक की फांसी' - प्रताप, ६ दिसम्बर १९१५ई०, पृ०२ ।

२ 'त्यागभूमि' फरवरी, १९२७ई०, भाग १३, संख्या २, सम्पादकीय टिप्पणियाँ-- एक और कमीशन, पृ०६२ ।

यदि होता तो शायद हमारी आज यह दशा न होती[१]।" नौकरशाही इन कमीशनों को बैठाने के लिए जनता की इच्छा को बैठाने के लिए जनता की इच्छा -अनिच्छा का ध्यान नहीं रखती थी । न वे जनता की इच्छा से जन्मते थे और न जनता की अप्रसन्नता से उनका अन्त ही हो सकता था । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण साइमन कमीशन है । देश-व्यापी विरोध और बहिष्कार के बावजूद भी कमीशन भारत आया और उसने अपना कार्य किया ।

सैडलर कमीशन(१९१७ई०)

कलकत्ता विश्वविद्यालय की समस्याओं की सुविस्तृत जांच करने के लिए सैडलर आयोग की नियुक्ति की गई थी । इस कमीशन की ओर संकेत करते हुए 'एक और कमीशन' शीर्षक में कहा गया है कि " अब एक नया कमीशन बैठने वाला है । अभी नहीं, फिर से जाड़ा आयेगा तब । लार्ड चेम्सफोर्ड का यह लाड़ला है और कलकत्ता विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में यह जांच-पड़ताल करेगा । शिक्षा सम्बन्धी धड़ाधड़ कमीशन बैठ रहे हैं....[२] ।" 'बाबू रिडन युनिवर्सिटी' शीर्षक में उक्त कमीशन का विरोध भी किया गया है[३] ।

स्कीन कमीशन :

सन् १९२४-२५ में भारतीय सेना की तत्कालीन दशा की जांच करने के उद्देश्य से स्कीन कमीशन की नियुक्ति की गई । किन्तु उसकी सिफारिशों पर अमल न किया जाने के कारण कमीशन का उपहास करते हुए 'सुधा' के संपादक

---

१ 'त्यागभूमि', फरवरी, सन् १९४७, भाग१३, संख्या४, संपादकीय टिप्पणियां--एकऔर कमीशन, पृ०९२ ।

२ 'त्यागभूमि', फरवरी, सन् १९१७, पृ०९४ ।

३ "..... कमीशन की कोई आवश्यकता नहीं । अच्छा है तो बुरा है तो, विश्वविद्यालय से हम लोग सन्तुष्ट हैं और कमीशन में जो कुछ व्यय होना है वह वह कहीं अच्छे कामों में व्यय किया जा सकता है ।" --'त्यागभूमि', फरवरी, १९१७ई०, पृ०९२।

ने लिखा है कि "साइमन कमीशन की ये सिफारिशें सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इण्डिया के इण्डिया आफिस में कबूतरखाने की शोभा बढ़ा रही थीं। वे ताक-ताक उठाकर रख दी गई थीं और उनको कार्य रूप में परिणत करने का किसी का भी इरादा न था।"[1]

कृषि कमीशन (१९२८ई०)

लार्ड लिनलिथगो की अध्यक्षता में एक शाही कमीशन की नियुक्ति की गई। इस कमीशन में यह स्पष्ट कर दिया था कि भारतवर्ष में कृषि की उन्नति के लिए सरकार की जिम्मेदारी बहुत बड़ी है। किन्तु सरकार इस विषय में सदा से ही उदासीन और काष्ठवत रही। क्योंकि व्यापारिक स्वार्थ और आत्म-प्रतिष्ठा की रक्षा के आगे किसानों की भलाई और उनका सुख गौण था। इसलिए कमीशन को देश के कृषकों की यथार्थ और दुःखद परिस्थिति से अछूता ही रखा गया। कृषि कमीशन के इस ढोंग पर व्यंग्य करते हुए श्री त्रिवेदी ने कहा है कि 'देश की सरकार को तो संसार के सम्मुख अपनी प्रजाप्रियता का एक प्रदर्शन भर करके दिखाना था। यही कारण था जिससे आरंभ ही में कमीशन के अधिकारों और कार्यक्षेत्र को एक निश्चित सीमा की जंजीर में जकड़ दिया गया था।'[2] कृषि कमीशन को 'प्रहसन' की संज्ञा देकर श्री त्रिवेदी ने कमीशन की पोल खोलने के साथ ही सरकार की सुधारवादी नीति के अभिनय का पर्दा भी हटा दिया। कमीशन की असफलता पर व्यंग्य करते हुए कहा गया है

---

१ साइमन कमीशन -- सुधा, मई, १९३१ई०, वर्ष ४, खण्ड २, संख्या ४, पृ०५६४।

२ 'त्यागभूमि' -- अधिक श्रावण, सम्वत् १९८५, देशदर्शन, पृ०५८७।

कि "कृषि-कमीशन ने तो पहाड़ खोदकर चुहिया निकाली है ,....[१]।"

साइमन कमीशन[२]

शासन में सुधार का ढोंग रचकर जब निरंकुश नौकरशाही ने साइमन कमीशन की योजना की तो उसका देशव्यापी बहिष्कार किया गया । राजनीति के क्षेत्र में बहिष्कार नीति के कार्यान्वित होने के पूर्व ही साहित्य के क्षेत्र में बहिष्कार का बिगुल बज गया । पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से देशवासियों को मानसिक दृष्टि से बहिष्कार के लिए तैयार किया जाने लगा । सन् १९१९-२० में मिश्र में मिलनर कमीशन की नियुक्ति की गई थी । मिश्रवासियों द्वारा उसका घोर विरोध और बहिष्कार करने के फलस्वरूप तीन माह के अन्दर सदस्यों को अपना सा मुंह लेकर लौट जाना पड़ा था । 'त्यागभूमि' के सम्पादक श्री हरिभाऊ उपाध्याय और श्री क्षेमानन्द ने उक्त कमीशन के संदर्भ में देशवासियों को साइमन कमीशन का बहिष्कार करने के लिए प्रोत्साहित किया[३] । कमीशन के बहिष्कार का उल्लेख करते हुए 'त्यागभूमि' के सम्पादक ने कहा है कि 'साइमन कमीशन के बहिष्कार के मंगलाचरण में जो देशव्यापी हड़ताल हुई तथा बड़ी धारा सभा और कुछ प्रान्तीय धारा-सभाओं में जो कमीशन के बहिष्कार के प्रस्ताव पास हुए उन्होंने कमीशन के सदस्यों तथा भारत और इंगलैण्ड के अधिकारियों की आंखों में खासा अंजन का काम कर दिया[४] ।" नौकरशाही कमीशन को किसी भी

---

१. 'त्यागभूमि' - अधिक श्रावण, सम्वत् १९८५, 'देशदर्शन', पृ०५८८ ।

२. द्रष्टव्य -- अध्याय चार, पृ० १६६-८०;

३. "भारत में आने वाले इस कमीशन की भी वही गत हो जो मिश्र में मिलनर कमीशन की हुई थी । यदि हमारी शर्तों को स्वीकार किए बिना वह भारत में आने की धृष्टता करे ।"

-- 'त्यागभूमि' - पौष, सं० १९८४, खण्ड १, अंश २, पृ० २४५ ।

४. 'त्यागभूमि' चैत्र, सम्वत् १९८५, पृ०५११ ।

[illegible]

मुल्य पर सफल करना चाह रही थी, अत: कमीशन से असहयोग करने के लिए देशव्यापी सहयोग और संगठन की आवश्यकता था । इस तथ्य की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करते हुए 'त्यागभूमि' में कहा गया है कि " हम आपस में जितना ही सहयोग कर सकेंगे उतना ही अधिक और दृढ़ असहयोग कमीशन के साथ होगा ।"[2] कुछ स्वार्थान्ध व्यक्तियों को छोड़कर अन्यसभी ने कमीशन का बहिष्कार किया । देशव्यापी विरोध के बावजूद उशवल नौकरशाही की छत्र-छाया में युद्ध सप्तर्षि मंडल भारत के भाग्य का निर्णय करने का 'अपना काम' करने के लिए आ गया । 'देश में क्रान्ति क्यों होगी' शीर्षक में श्री सुरेन्द्र शर्मा ने कमीशन की व्यर्थता को सिद्ध किया है[2] ।

कमीशन की सफलता के लिए सरकार ने अपनी चिरसहचरी भेद नीति का अनुसरण करके देशवासियों को परस्पर लड़ाने का प्रयास किया । हिन्दू विरोधिता के कारण कतिपय मुस्लिम नेता और मुसलमानों के कुछ उत्तरदायित्व-हीन दलों ने कमीशन का स्वागत करने का उद्योग भी किया । क्योंकि इस श्रेणी के लोगों का विचार था कि वे 'साइमन नायक' का स्वागत करके हिन्दुओं को जड़ उखाड़ने में समर्थ होंगे । इसीलिए तो कट्टर असहयोगी[3] नेता हसरत मोहानी भी कमीशन के फरेबे में फंसकर मुहम्मद शफी का पाठ टौंकने लगे ।" शासन में सुधारके नाम पर साइमन कमीशन का जो जाल सरकार ने रचा उसका उल्लेख भी 'सुधा' के सम्पादकीय स्तम्भ में किया गया है[4] । गणेशशंकर विद्यार्थी ने भी फतेहाबाद में

---

१ 'त्यागभूमि' - चैत्र संवत्, १६८५, सम्पादकीय,पृ०६११ ।

२ "साइमन कमीशन का चक्र एक ढकोसला है ।" यह कुछ करेगा धरेगा नहीं । सुधारों के रूप में दो-चार टुकड़े डालकर देश के लोगों को बन्दरों की तरह लड़ा देना कमीशन के लिए बहुत मामूली बात है ।"

--'त्यागभूमि',कार्तिक,संवत् १६८५,वर्ष २,खण्ड१,अंश२,पूर्ण अंश१४,पृ०१६६।

३ 'सुधा'- फरवरी सन् १६२८, सम्पादकीय सम्पत्ति मुस्लिम लाग में फूट ,पृ०७१४

४ "कमीशन का इतना बड़ा जाल रचकर ब्रिटिश सरकार दिन दहाड़े हमें उल्लू बनाने में लगी है...." 'सुधा' जनवरी ,सन् १६२८,वर्ष १, खण्ड१, संख्या ६,पूर्ण संख्या ६--'भारत की वर्तमान स्थिति और शिक्षा'.पृ० ७०६ ।

होने वाले संयुक्तप्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन में अध्यक्ष पद से कहा था कि 'साइमन कमीशन अनावश्यक एवं अपमानजनक है'।[1]

ह्विटले कमीशन

भारतीय श्रमिकों के दुःख और दुरवस्था से विचलित होकर ह्विटले कमीशन बैठाया गया था। किन्तु शासक और शासित के पारस्परिक सम्बन्ध में अविश्वास होने के कारण 'सुधा' के सम्पादक ने इस कमीशन की आलोचना की और उसे साइमन कमीशन का जोड़वां भाई बताया[2]।

प्रजापक्ष से श्रमिक आन्दोलन का आरम्भ होने पर कमीशन की नियुक्ति करके सरकार श्रमिकों को यह विश्वास दिलाना चाहती थी कि वह उनकी ओर से उदासीन नहीं है। किन्तु मेरठ के श्रमिक नेताओं पर मुकदमा चलाये जाने पर सन्देह व्यक्त करते हुए कहा गया है कि '...... इस कमीशन का असली उद्देश्य है कि यहां के मजदूरों और श्रमिकों में कहीं बोल्शेविज़्म अथवा कम्युनिज़्म के भाव न फैल जायं। उस प्रवाह को रोकने तथा श्रमिक-हितैषी बनने का दावा दिखाने के लिए ही इस कमीशन की नियुक्ति हुई हो तो कुछ आश्चर्य नहीं।'[3]

उपर्युक्त तथ्यों के सन्दर्भ में सरकार की नीति पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपार धनराशि का अपव्यय कर कमीशन बैठा देना और उसपर अमल न करना विदेशी शासन की विशेषता थी। कमीशन के माध्यम से सुधार का भुलावा देकर सामयिक उत्तेजना को दबाने का

---

१ 'सुधा', अप्रैल, सन् १९२९ई०, वर्ष २, खण्ड१, संख्या ३, पूर्ण संख्या २१, संपादकीय 'संयुक्तप्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन', पृ०३३०-३१।

२ '..... अन्यान्य कमीशनों की तरह साइमन कमीशन का जोड़वां भाई ह्विटले कमीशन भी एक टालबाज़ी है।.....' 'सुधा', सितम्बर १९२९ई०, वर्ष ३, खण्ड१, संख्या २, पृ०२४२।

३ 'सुधा'-सितम्बर, सन् १९२९, वर्ष ३, खण्ड१, संख्या २, सम्पादकीय - ह्विटले कमीशन, पृ०२४३।

सुअवसर सभा को प्राप्त हो जाता है । इसलिए विदेशी शासक समय-समय पर कमीशन बैठा देते थे । किन्तु पराधीन भारत के दुर्भाग्य से उसे इन कमीशनों से कोई लाभ नहीं होता था । उदाहरणार्थ शिक्षा संस्कार के लिए नियुक्त सैडलर कमीशन, सन् १९१९ई० में नियुक्त शिल्प वाणिज्य विषयक रॉयल कमीशन सन् १९२३ में नियुक्त इंचकेप कमेटी (भारत को ६६½ करोड़ खर्च घटाने की सलाह दी थी), सन् १९२६ई० में नियुक्त कृषि-कमीशन, सन् १९२७ई० की स्कीन कमेटी आदि की सिफारिशों पर पूर्णतः अमल नहीं किया गया ।[१]

गोलमेज़ सभा[२]

गांधी के स्वदेशी-आन्दोलन ने ब्रिटेन की अर्थ-व्यवस्था पर परोक्ष रूप से आघात करके सरकार को समझौते के लिए विवश किया था । फलतः गोलमेज़ सभाओं का आयोजन कर सरकार आन्दोलन को टालने का प्रयत्न करने लगी । अतः गोलमेज सभाओं के झूठे आडम्बर पर व्यंग्य करते हुए कहा

---

१ ऐतिहासिक सन्दर्भों की पुष्टि के लिए अध्याय चार, पृ०१८१-८२देखें ।

२ 'कमेटियों और तहकीकातों से असली बातों को टालते रहना राजनीति का पुराना चाल है और वह इस वक्त भी चली जा रही है । जहां किसी बात की शिकायत पैदा हुई और उस शिकायत ने ज़ोर पकड़ा कि फौरन तहकीकातों में, जिनकी आवाज़ सबसे ऊंची थी, उन्हें उस तहकीकाती कमेटी में शरीक कर लिया गया। साल दो साल तहकीकात में लगे, तब तक वह शिकायत कुछ ठंडी पड़ गयी । अगर कमेटी ने ज़ोरदार सिफारिशें कीं तो उनपर विचार करने के लिए एक कमेटी और बना दी गई । जब नौकरशाही कुछ करना नहीं चाहती, केवल बहानों से काम लेना चाहती है तो फौरन तहकीकात शुरू कर देती है । ऐसी ऐसी मोटी बातों की तहकीकात होने लगती है, जिन्हें एक-एक बच्चा जानता है और कमेटी के कायम होने से उसकी रिपोर्ट छपने और उसपर विचार होने तक या तो वह बात ही पुरानी हो जाती है या पब्लिक का ध्यान दूसरी बातों की ओर चला जाता है । गोलमेज़ में भी यही अभिनय हुआ। मांगा तो जा रहा था स्वराज्य-अंग्रेजी राज्य की जनता की ही यह मांग थी, मगर फेडरेशन का स्वांग खड़ा करके उसमें राजाओं को शरीक करके ख्वामख्वाह एक उलझन डाल दी गई । स्वराज्य का मुआमला पीछे दब गया । अब फेडरेशन का शोर सुनाई देने लगा ।' -- गोलमेज़ सभा का विसर्जन-प्रेमचन्द-विविध प्रसंग, भाग२, पृ०८६ (दिसम्बर १९३२ई०) ।

गया है कि 'गोल सभा में जो कुछ हो रहा है, वह बिल्कुल गोल है । चारों तरफ देख आने पर भी उसका सिरा नहीं मिलता ।'[1]

सरकार ने भारतवासियों को गोलमेज़ सभा का प्रतिनिधि चुनने का अवसर नहीं दिया । अन्य मुस्लिम नेताओं को भी वहां बुलाकर साम्प्रदायिक प्रश्न का एक ऐसा मसला खड़ा कर दिया जिसका कोई अन्त न था । मुस्लिम प्रतिनिधि और सरकार दोनों ही स्वराज्य के मुख्य प्रश्न को टाल रहे थे । सरकार की इस कूटनीति पर व्यंग्य करते हुए 'ग्रेट ब्रिटेन का सदा' शीर्षक के अन्तर्गत लिखा है कि 'सरकार तो सदा से अपनी नीति पर चलने वाली है । उसने गोलसभा का वह जाल फैलाया है कि उसमें से निकलना लाभप्रद भी नहीं, और आसान भी नहीं ।'[2] कांग्रेस भी गोलमेज़ सभा की निरर्थकता को समझती था, फिर भी उसने अपने प्रतिनिधि भेजे, जिससे सरकार को यह कहने का अवसर न मिले कि कांग्रेस बुलाने पर भी नहीं आई तो हम क्या करें ।

शासन में अव्यवस्था और कुप्रबन्ध

स्थानीय शासन

अंग्रेज़ी शासन ने मध्ययुगीन अव्यवस्था को दूर कर दिया था । न्याय और सुरक्षा ने ही इस शासन में जनता का विश्वास उत्पन्न किया था, किन्तु शासन के क्षेत्र में प्रारम्भ से ही जो अव्यवस्था और कुप्रबन्ध प्रचलित था वह अंग्रेज़ी शासन के डेढ़ सौ वर्षों में भी पूर्णतः दूर न हो सका । उन्नीसवीं शताब्दी के लेखकों की दृष्टि इस कुप्रबन्ध की ओर गई और वे उसकी कटु आलोचना

---

१ 'सुधा'-दिसम्बर, सन् १९३१, वर्ष ५, खण्ड२, संख्या ५, पूर्ण संख्या ५३--विचार--ग्रेट ब्रिटेन की सदा', पृ०६८७ ।

२ ,, ,, ,, पृ० ६८८ ।

करके शासन में सुधार के लिए निरन्तर प्रयत्नशील भी रहे। बीसवीं शताब्दी का सजग लेखक-वर्ग भी शासन की इस कुव्यवस्था की ओर से विमुख न रह सका। इलाहाबाद के स्थानीय शासन में जो कुप्रबन्ध था, नगर की जो दुरवस्था थी, उसका चित्रण करते हुए श्रीयुत अमरनाथ झा ने 'मनमौजी मजमून' में इलाहाबाद की म्युनिसिपैलिटी और इलेक्ट्रिक सप्लाई कम्पनी आदि पर आक्षेप किया है। ग्रीष्म-काल में सड़कों पर पानी के छिड़काव की कोई व्यवस्था नहीं थी। यद्यपि नलों का जाल बिछा दिया गया था, किन्तु नगर में पानी केवल निश्चित घण्टों में ही दिया जाता था। स्थानीय शासन के इस कुप्रबन्ध पर व्यंग्य करते हुए लेखक ने व्याज स्तुति के द्वारा उसे सुप्रबन्ध की संज्ञा दी है और प्रत्येक दृष्टि से उस सुप्रबन्ध को नगर-निवासियों के लिए हितकर बतलाया है। वह कहते हैं कि "सड़कों को यह गरमी में कीचड़ से बचाती है। पानी अगर सड़कों पर पड़े तो कीचड़ में पथ-गामियों को कष्ट होगा, इसलिए इसकी आज्ञा यही है कि अगर कहीं पानी सड़क पर मिले तो उसे वहाँ से हटा लेना चाहिए।"[१] इसी लेख में झा जी म्युनिसिपैलिटी को करुणापूर्ण बताते हुए कहते हैं कि "वह दरिद्रों को बिना मूल्य के अन्न वितरण करती है। सड़क पर पानी के छिड़काव के अभाव में जो धूल उड़ती है, उसकी तुलना अन्न से करके और उस धूलि के कारण जन-सामान्य को जो कष्ट होता है, उसके स्वास्थ्य पर उसका जो कुप्रभाव पड़ता है, उसपर व्यंग्य करते हुए स्थानीय म्युनिसि-पैलिटी की जो आलोचना की गई है वह निश्चय ही लेखक की दूरदर्शिता को प्रकट करती है[२]।"

झा जी का उक्त लेख एक ओर यदि भारत की दीन-दलित जनता का सजीव चित्र अंकित करता है तो दूसरी ओर स्थानीय

---

१ 'सरस्वती'-जून, १९१९ ई०, भाग २०, खण्ड१, संख्या ६, पृ०३२३।

२ "म्युनिसिपैलिटी दरिद्रों को अन्न वितरण बिना मूल्य करती है। जो चाहे सड़क पर दो मिनट खड़ा रहे और उसका उदर धूलिरूपी अन्न से पूर्ण हो जायगा, उसकी बुभुक्षा शान्त हो जायगी।"

'सरस्वती'-जून, सन् १९१९, पृ०३२४।

शासन की नागरिकों के प्रति उपेक्षा को भी लक्षित करता है । भूखी नागरिक जनता भूख से इतनी आकुल-व्याकुल है कि वह निःसहाय होकर सड़कों की धूलि फांकती है । सरकार की कुव्यवस्था का कितना सजीव, रोचक और हृदयग्राही चित्रण है । भीषण ग्रीष्मकाल में भी म्युनिसिपैलिटी की ओर से नगर में प्रातः ६ बजे से शाम पांच बजे तक पानी न पहुंचने से नगर-निवासियों को जो कष्ट होता था, उसे भी झा जी ने स्वास्थ्य के लिए हितकर बताते हुए लिखा है कि 'डाक्टरों का यह कहना है कि अधिक पानी नहीं पीना चाहिए ।..... अगर कुछ प्यास लोगों को लगती भी है तो भी अधिक पानी पीने से जो लोगों को रोग होता है उनसे सब मुक्त हैं ।'[1]

झा जी का ध्यान सड़कों की रोशनी की व्यवस्था की ओर भी आकृष्ट हुआ है । लैम्पों का समय पर न जलना और उनके मन्द प्रकाश का कारण स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं कि 'बिजली की रोशनी में पढ़ने लिखने से आंखें खराब हो जाती हैं । म्युनिसिपैलिटी को आपकी आंखों का भी बड़ा ख्याल है । उसने जो सड़कों पर लैम्पें रक्खी हैं, वे अव्वल तो आठ बजे के पहले शायद ही जलाई जाती हैं और फिर उनकी ज्योति ऐसी मन्द है कि आपकी आंखों पर जरा-सा भी आघात नहीं पहुंचता ।'[2]

झा जी ने अपने एक ही लेख में म्युनिसिपैलिटी के समस्त कर्तव्यों पर दृष्टिपात करते हुए उसकी कर्तव्य-विमुखता का स्पष्ट निदर्शन कर दिया है । इतना ही नहीं, उन्होंने इलाहाबाद की म्युनिसिपैलिटी को इलाहाबाद के निवासियों का डाक्टर मानकर यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि जिस प्रकार एक डाक्टर अपने रोगी के रोग के विवरण में सतत्

---

१ 'सरस्वती', जून १६१६ई०, पृ०३१४ ।

२ ,, ,, ,, ।

प्रयत्नशील रहता है, उसी प्रकार म्युनिसिपैलिटी रूपी डाक्टर नगर रूपी रोगी के स्वास्थ्य के लिए सदैव क्रियाशील रहता है । इस प्रकार लेखक ने अपनी विदग्ध शैली में स्थानीय शासन की कटु आलोचना की है ।

इलैक्ट्रिक सप्लाई कम्पनी के कुप्रबन्ध की ओर लक्ष्य करते हुए वह कहते हैं कि "बिजली की रोशनी और पंखे की आदत भी अच्छी नहीं । इलैक्ट्रिक सप्लाई कम्पनी भी इसी कारण बहुधा दोपहर को बिजली बन्द कर देती है ।[1] बिजली की रोशनी के अभाव में प्रकाश का एकमात्र साधन मिट्टी का तेल है । किन्तु तेल आठ आने बोतल मिलता है, जिसका कारण स्पष्ट करते हुए भगा जा कहते हैं कि "गर्मी में रात को काम करना चाहिए, इसलिए मिट्टी का तेल आठ आने बोतल मिलता है ।[2] अपने लेख के अन्त में लेखक ने इलाहाबाद के नागरिकों की असुविधाओं को व्यंग्य के माध्यम से व्यक्त करते हुए कहा है कि "सब तरह का आराम इलाहाबाद ही में है- लू यहीं है, सड़क पर पानी का अभाव यहीं है, यहां बिना मूल्य अन्न वितरण होता है, अत्यधिक जलपान जन्य रोग से यहीं लोग मुक्त रहते हैं ।[3]

सन् १९२३ की 'सरस्वती' में 'विविध विषय' स्तम्भ में 'म्युनिसिपैलिटी के कारनामे' शीर्षक के अन्तर्गत म्युनिसिपैलिटी की दुरवस्था की ओर संकेत किया गया है । कर्ज लेकर नल बनवाने, सड़कों के निर्माण और मरम्मत करवाने के कारण उसे गवर्नमेण्ट की बेड़ी कहा गया है । क्योंकि सरकार जातीय स्वार्थ से प्रेरित होकर भारत जैसे निर्धन देश को ऋण के बोझ से दबाती जा रही थी । स्थानीय शासन का संचालन करने वाले म्युनिसिपैलिटी के सदस्य भी नगर-व्यवस्था के नाम पर कर्ज लेकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने में प्रयत्नशील थे । सन् १९२४ की 'सरस्वती' में श्रीयुत सहदेवसिंह वर्मा ने 'म्युनिसिपैलिटी का

---

१ 'सरस्वती', जून १९१९ई०, पृ०३२४

२ ,, ,, ,,

३ ,, ,, ,,

कर्तव्य-पालन' लेख के में म्युनिसिपैलिटियों के सदस्यों की अयोग्यता, म्युनिसिपैलिटी की दुरवस्था, आय से अधिक व्यय, ऋण लेकर जल-कल विभाग का खोला जाना आदि बातों का वर्णन किया है ।

स्थानीय स्वशासन की नींव डालकर लार्ड रिपन ने देशवासियों को स्वराज्य की शिक्षा देने के उद्देश्य से शहर के बाहर सड़कों देहाती मदरसों, उतार के घाटों और मवेशीखानों आदि की निगरानी और प्रबंध के लिए डिस्ट्रिक्ट बोर्डों की रचना की थी । जनवरी १९२३ई० तक यह बोर्ड जिले के अफसरों के हाथ की कठपुतली थे । पुराने बोर्डों के अधिकार अत्यन्त सीमित थे। टैक्स लगाकर अपनी आय बढ़ाने का अधिकार उन्हें कानूनन प्राप्त नहीं था । किन्तु १९२३ ई० से नये कानून बनने पर गैर सरकारी सदस्यों की महत्ता और अधिकार बढ़ गए और जिले के अधिकारियों की बोर्डों के कार्यों में हस्तक्षेप करने की एक प्रकार से मनाही हो गई । जिन बोर्डों की स्थापना स्व-शासन की शिक्षा देने के लिए की गई थी, उनके कार्यदोष, दुरवस्था, दलबन्दी और आय से अधिक व्यय का वर्णन सितम्बर सन १९२४ को 'सरस्वती' में 'देशकथा' स्तम्भ के 'डिस्ट्रिक्टबोर्डों का कर्तव्य-पालन' शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है । म्युनिसिपैलिटियों के समान ही डिस्ट्रिक्ट बोर्ड भी आय से अधिक व्यय करते थे । अतः उन्हें सरकार का बच्चा कच्चा कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि स्थानीय शासन ने अपनी जन्मदात्री सरकार से इस गुण को पैतृक सम्पत्ति के रूप में अर्जित किया है ।

मई १९२८ई० की 'सरस्वती' में 'देश की बातें' स्तम्भ के रचयिता श्रीयुत ग्रामीण (कल्पित नाम है) ने स्वराज्यसेवियों के बहीखाते की जांच का फल शीर्षक के अन्तर्गत म्युनिसिपैलिटी और डिस्ट्रिक्टबोर्डों की आर्थिक दुरवस्था का वर्णन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि मेम्बरों के कर्तव्य-पालन न करने से लखनऊ, आजमगढ़ आदि कुछ म्युनिसिपैलिटियां किस प्रकार दिवालिया हो गई हैं । म्युनिसिपैलिटियों के अर्थाभाव का मूल कारण यह था कि

कुछ स्थानों पर सरकारी कार्यकर्ताओं और कुछ स्थानों पर स्वयं म्युनिसिपैलिटी के सदस्यों ने ही अपने करों का भुगतान नहीं किया था । सीतापुर, बलिया, मैनपुरी में सरकारी मुलाजिमों पर लगाये गये टैक्स अदा नहीं किए गए और म्युनिसिपैलिटी ने भी उन्हें वसूल करने की नियमित रूप से कार्यवाही नहीं की । आगरे की म्युनिसिपैलिटी के टैक्स वसूल करने वाले इन्सपेक्टर साहब ने १५३रुपये उड़ा दिये और कासगंज में टौल टैक्स से होने वाली आमदनी में १७३८ रुपये एवं उन्नाव में २४००) की कमी हो गई । इलाहाबाद की म्युनिसिपैलिटी में भी लगभग एक लाख रुपया बाकी रहा । साथ ही मथुरा, वृन्दावन, फैजाबाद और शाहजहांपुर में आय की अपेक्षा व्यय अधिक हुआ ।

उपरोक्त विवरण से प्रान्त की म्युनिसिपैलिटियों की आर्थिक दुरवस्था का अच्छा परिचय मिलता है । लेखक ने म्युनिसिपैलिटियों के इन कृत्यों को उसकी नादिरशाही कहकर सम्बोधित किया है ।

प्रान्तीय शासन

सन् १९०९ई० के अधिनियम द्वारा व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों की संख्या में वृद्धि करके सरकार ने जन-प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त की पुष्टि की थी । वाइसराय की शासन-परिषद् का भारतीयकरण तो हो गया, किन्तु सदस्य वाइसराय द्वारा ही मनोनीत किये जाते थे । अत: वे वाइसराय की इच्छा के विरुद्ध जाने का साहस नहीं करते थे । जिस प्रकार कठपुतलियों का तमाशा करने वाले सब डोरों को अपने हाथ में रखकर कठपुतलियों को नचाया करते हैं उसी प्रकार वाइसराय भी अपनी कौंसिल के सदस्यों को मनमाना नाच नचाते थे । सदस्यों की शक्तिहीनता और वाइसराय की स्वच्छन्दता का विश्लेषण करते हुए 'नई कठपुतलियां' शीर्षक में व्यंग्य की भाषा में कहा गया है कि 'वाइसराय की शासन-परिषद् में ये कठपुतलियां बटोर कर रख दी गई हैं'[१]। चित्रमित्र में भी

---

१ 'विशालभारत', अगस्त सन् १९४२, सम्पादकीय विचार, पृ० १७५ ।

वाइसराय और उनकी कौंसिल के भारतीय सदस्यों की स्थिति का उल्लेख करते हुए लिखा गया है कि "भारत के शासन सम्बन्धी मामलों में वाइसराय ही सर्वेसर्वा हैं, उनकी शासन परिषद् के सदस्यों को कुछ भी आत्म-स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है और न उनमें जनमत का अनुसरण करने की क्षमता है[1]।" शासन परिषद् में भारत की शासन-नीति के कर्णधार भारतीय सदस्यों को कोई भी उत्तरदायित्व के पद नहीं दिये जाते थे । युद्ध, शासन, अर्थ तथा रेलवे जैसे महत्त्वपूर्ण विभागों को गोरों के आधीन रखा जाता था । शासन-परिषद् के विस्तार की इस नीति से नौकरशाही विदेशों में अपने निष्पक्ष शासन की धाक जमा सकती थी, किन्तु इस प्रकार के विस्तार से भारत के नरमदलीय लोग भी सन्तुष्ट नहीं थे । वाइसराय की शासन-परिषद् वास्तव में कठपुतलियों के तमाशे के सदृश था । परिषद् सदस्य रूपी कठपुतलियाँ अपने मालिक के प्रति पूर्ण भक्ति रखती थीं । उनकी भक्ति पर व्यंग्य करते हुए `विश्वमित्र` के सम्पादक ने लिखा है कि "वाइसराय की शासन परिषद् के ये कठपुतली भारतीय सदस्य एवं साम्राज्यवादी दृष्टिकोण के अनुसार `देशभक्त` हो सकते हैं । पर देशवासियों का उनमें तनिक भी विश्वास नहीं है । वे अच्छी तरह जानते हैं कि वे देशभक्त नहीं, आत्म भक्त हैं[2]।"

राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस के कुछ सदस्यों को भी एक बार कौंसिल प्रवेश का मोह उत्पन्न हुआ और वे यह सोचने लगे कि वे कौंसिलों के गढ़ में प्रवेश कर उन्हें तोड़ेंगे और संसार को उनकी निस्सारता बतलायेंगे । किन्तु असहयोग का कार्यक्रम त्याग का था और कौंसिल प्रवेश भोग की चीज़ थी । अतः कौंसिल के चुनाव में कांग्रेस के सदस्यों को भी उन्हीं चालाकियों से काम लेना पड़ा, जिनसे दूसरे आदर्शहीन आदमियों ने काम लिया था । मोर्चाबन्दियों को तोड़ने में भी इन कांग्रेसी सदस्यों को काफी चालाकी से कार्य करना पड़ा । कौंसिल प्रवेश से

---

१ `विश्वमित्र`, अप्रैल १९४८०, सम्पादकीय -- `ये देशभक्त`, पृ० ६३ ।
२ ,, ,, वर्ष २, संख्या ६, सम्पादकीय -`ये देशभक्त`, पृ० ६३ ।

कांग्रेस के सदस्यों और भारतीय जनता का जो नैतिक पतन हुआ,उसपर व्यंग्य करते हुए पंजाब के एक राष्ट्रीय कार्यकर्ता और प्रमुख व्याख्याता ने व्यंग्य की भाषा में कहा था कि "हमारे पंजाब में गाने रोने तथा ब्याह -बरात में गाली देने के लिए रुपये आठ आने रोज पर स्त्रियां मिला करती हैं । बस,कौंसिलों का मेम्बरी भी ऐसी तरह का है[1] ।" कांग्रेस की कौंसिल-प्रवेश की नि:सारता को व्यक्त करते हुए विशाल भारत के सम्पादक ने कहा है कि कौंसिलों का प्रोग्राम बालू में से तेल निकालने के समान निरर्थक सिद्ध हो चुका है[2] । कौंसिलें स्वतन्त्रता दिलाने में किसी प्रकार भी सहायक नहीं हैं-- इस तथ्य से अवगत होने पर भी कुछ कांग्रेसी कौंसिलों का मोह नहीं त्याग पा रहे थे । उनकी इस आसक्ति पर व्यंग्य करते हुए "विशाल भारत" के सम्पादक ने लिखा कि " कौंसिलों ने हमारे मेम्बरों को पकड़ रखा है, और वे उन्हें छोड़ना नहीं चाहतीं । देश-क्रान्ति की ओर पग बढ़ाना चाहता है और कौंसिलों की माया उसे वैध आन्दोलन की ओर खींच रही है[3] ।"

भारत की शासन-नीति निर्धारित करने में सिविलियन कर्मचारियों का विशेष स्थान था । वे विधान को कार्य में परिणत करने और शासन-नीति का अनुगमन करने के साथ ही शासन के स्वरूप को भी स्थिर करते थे । शासन में सिविल कर्मचारियों के इस महत्त्व का उल्लेख करते हुए "भावी शासन-विधान और सिविल सर्विस" शीर्षक में कहा गया है कि "यहां सिविलियन कर्मचारी शासन नीति स्थिर करते हैं, और वे ही उस नीति को कार्यरूप में परिणत करते हैं[4] ।" भारत की शासन-नीति निर्धारित करने में इन सिविलियन कर्मचारियों के स्वार्थों का सरकार विशेष ध्यान रखती थी । सरकार की इस नीति पर आक्षेप करते हुए कहा

---

१ "विशालभारत" -जुलाई १९२९ई०,वर्ष २,खण्ड२,संख्या १,सम्पादकीय विचार- "कौंसिलों का मोह",पृ०१३२ ।

२ ,, ,, ,, ,, ।

३ ,, ,, ,, पृ०१३३ ।

४ ,, जुलाई१९३३ई०,भाग१२,अंक१,सम्पादकीय विचार,पृ०११७ ।

गया है कि `सिविलियन कर्मचारी भारत के लिए नहीं हैं,बल्कि भारत ही इन सिविलियन कर्मचारियों के लिए है[1]।"

भारतीय शासन में सिविल सर्विस के कर्मचारियों की महत्ता का उपहास करते हुए श्री अरविन्द घोष ने लिखा है कि "…. देश का समूचा शासन बस इन्हीं थोड़े से आई०सी०एस० लोगों के एक गुट के हाथ में है। वाइसराय तथा कुछ गवर्नर इस सर्विस के नहीं होते, परन्तु आई०सी०एस० वालों ने चारों ओर से अपना जाल इस तरह जकड़ रखा है कि स्वतन्त्र से स्वतन्त्र वायसराय या गवर्नर कुछ स्वतन्त्रता दिखलाना चाहता है तो आई०सी०एस० वाले उसका जान अजाब में डाल देते हैं। आई०सी०एस० वाले दुनिया में कोई काम ऐसा नहीं है--अच्छा ही नहीं, बल्कि बुरा भी -- जिसे न कर सकते हों[2]।" अमेरिकन पत्रकार मिस्टर एडवर्ड होल्टन जेम्स ने आई०सी०एस० के सम्बन्ध में लिखा है कि `व्यावहारिक रूप में भारत के शासन का सूत्र इन्हीं आई०सी०एस० लोगों के हाथ में है। भारत में जो अंग्रेज़ हैं, उनमें इनका एक अलग नौकरशाही गुट है।….. इनके जासूस प्रत्येक स्थान में बताये जाते हैं। वायसराय इस सर्विस के नहीं होते, परन्तु कमिश्नर कहलाने वाले और प्रान्तीय गवर्नर प्रायः इसी सर्विस के होते हैं--साम्राज्य के राजदंड का परिचालन इन `बाहिरत में उत्पन्न` आई०सी०एस० लोगों के द्वारा इस सीमा तक होता है कि कहते हैं ये लोग वायसराय को भी उनकी वायसरायगल लाज में एक प्रकार से बन्दी रखते हैं[3]।"

सन् १६३५ई० में प्रान्तीय स्वायत्त शासन की स्थापना होने के साथ ही देश की प्रधान राजनीतिक संस्था कांग्रेस के हाथों में सात प्रान्तों के शासन की लगाम आ गई। कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों का कर्तव्य था कि वे जनता के कष्टों

---

१ `विशालभारत`-जुलाई,सन् १६३३,भाग १२,अंक १,सम्पादकीय विचार,पृ० ११४।

२ ,, -अक्टूबर,१६३१ई०,भाग ८,अंक ४,सम्पादकीय विचार-आई०सी०एस० के भूत`,पृ० ५०६।

३ ,, ,, ,, ,, ,, पृ० ५१०।

की ओर दृष्टिपात करते । किन्तु इसके विपरीत उनका रहन-सहन,तर्ज-तरीका सब कुछ बदल गया । न जनता उन्हें अपना समझ सकी और न वे जनता को अपना सके,क्योंकि केवल अधिकारी बदले थे, शासन-तन्त्र वही था । इसलिए शासन-नीति में भी कोई परिवर्तन दृष्टिगत नहीं हुआ । स्वदेशी सरकार में भी कुछ ऐसे मन्त्री थे, जो 'मजदूरों पर गोलियां चलाने को जायज ठहरा सकते थे'।[1]

सुरा के मद में मदोन्मत्त होकर कांग्रेसी कार्यकर्ता अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो गए । कांग्रेसी कार्यकर्ताओं और नेताओं की पदलोलुपता की आलोचना करते हुए फरवरी सन१६४६६० में 'विश्ववाणी' के सम्पादक ने लिखा है कि 'कांग्रेस जन असेम्बलियों की मेम्बरी पर गिद्ध की तरह टूटे पड़ रहे हैं । लगता है मानो माले गनीम लूट का माल बट रहा है कि जिसका हिस्सा प्रान्तीय पार्लमेण्टरी बोर्ड के मेम्बरों की कृपा-कटाक्ष पर निर्भर है'।[2] व्यक्तिगत आकांक्षा और पदलोलुपता की स्वाभाविक मनोवृत्ति का स्पष्ट दिग्दर्शन उक्त उद्धरण से हो जाता है ।

कांग्रेस अपने जिस मेनिफेस्टो को लेकर आम चुनाव में विजयी हुई थी, वह केवल चुनाव की नारे-बाजी तक ही सीमित रहा । जनता को आकृष्ट करने के लिए प्रदर्शन के कार्य पर्याप्त मात्रा में हुए,किन्तु देश-वासियों की स्थिति में कोई परिवर्तन न आया । कांग्रेसी सरकारें अपनी शासन-नीति के कारण जनता में दिन-प्रति-दिन बदनाम और अप्रिय होती गई । शोषित श्रमिक जनता शोषण की चक्की में पिसती रही । एक ओर जमींदार,ताल्लुकेदार, महाजन,नौकरशाही और ब्रिटिश सरकार का सुदृढ़ संयुक्त मोर्चा था और दूसरी ओर असन्तुष्ट किसान-मजदूर का । बीच में त्रिशंकु की तरह कांग्रेस सरकार लटक

---

१ 'विश्ववाणी',अप्रैल १६४६६०, अपनी बात - 'कांग्रेस मिनिस्ट्रियों के आगे काम'
पृ० ३२६ ।

२ ,, ,, ,, ,, पृ०१५६ ।

रहा था । एक प्रकार से सरकारी योजनाएं ही कांग्रेस की योजनाएं बन गयी थीं । कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की स्थापना होने के पूर्व जो कांग्रेसी सरकार की आलोचना करते थे और विधान की धज्जियां उड़ाना अपना-अपना कर्तव्य समझते थे, कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनने पर वही कांग्रेसी ऐसी बातें करना पाप समझने लगे । जो लोग सरकारी मशीन के कल-पुर्जे बन गए थे । वह बात-बात पर कांग्रेसी सरकारों की प्रशंसा किया करते थे । सरकार की किसानों और मजदूरों के प्रति उदासीनता और पूंजीपतियों और जमींदारों का अनुचित पक्षपात कांग्रेस सरकार में भी होता रहा । कांग्रेसी सरकार ने जनता के मनोभावों को देखने-समझने का प्रयास नहीं किया और न ही जमींदार, महाजन और नौकरशाही के अत्याचारों का विरोध किया । मंत्रियों के मन और कार्य में कोई सामन्जस्य नहीं रह गया था । कांग्रेसी मन्त्रियों के इस दोष से क्षुब्ध होकर "कांग्रेस तब और अब" शीर्षक में कहा गया है कि "अपनी बात है, अपनी कमजोरी है, अपना कलंक है, इसलिये लाल पर्दों में छिपाना पड़ता है, नहीं तो आज कांग्रेसी वजारतों की गतिविधि को देखते हुए कह देते कि यह "अन्याय का शासन है" और "जनता के साथ विश्वासघात" हो रहा है ।"[1]

प्रान्तों में स्वायत्त शासन के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए नवम्बर १९४५ई० में "विशाल भारत" के सम्पादक ने कहा है कि "इसके अनुसार "सरकार" गवर्नर तथा गवर्नर जनरल और उनके मन्त्रियों का नाम है, पर कार्यत: वे सलाहकार से अधिक कुछ नहीं ।"[2] प्रान्तीय स्वायत्त शासन के नाम पर नौकरशाही ने प्रान्तों में गवर्नरी शासन स्थापित करने के उद्देश्य से गवर्नर को विशेषाधिकार रूपी रक्षा कवच से सुसज्जित कर उसकी शक्ति को अपरिमित कर दिया था । गवर्नर के विशेषाधिकारों की ओर लक्ष्य करते हुए "विशाल भारत" में एक स्थान पर कहा गया है कि "सरकार कांग्रेस से कहती है कि गाड़ी तैयार है । घोड़े कसे हुए हैं । आप लोग इसपर बैठिए लगाम अपने हाथमें लीजिए और मज़े से हांके

---

१ "विप्लव"-अक्टूबर, १९३९ई०, संख्या १२, पृ० १९ ।

२ "केन्द्र और प्रान्तीय शासन", "विशालभारत", नवम्बर १९४५ई०, पृ० ३४७ ।

जाएगा। मगर कांग्रेस तो देख रहा है कि उन घोड़ों का टांगों में रस्सा बंधा हुई है और वह लाट साहब के हाथ में है।..... हम जब इन घोड़ों को ज़ोर से हांकते रहेंगे, तब वे चाहें तो एक मामुली झटके में हमें मुंह के बल गिरा देंगे।"[1] नवम्बर सन् १९४६ में पुन: 'विशाल भारत' के सम्पादक ने इस तथ्य की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा कि 'सारे अधिकार गवर्नर तथा गवर्नर जनरल के हाथों में ही है। ये अधिकार इनकी 'विशेष जिम्मेदारी' तथा 'मर्जी' के अनुसार ही व्यवहृत होते हैं। अगस्त ४२ में जहां गवर्नरों और गवर्नर जनरल ने इन अधिकारों के प्रयोग में अतिक्रमण करने में भी संकोच नहीं किया; आज जब हजारों निरीह मर लुट रहे हैं, वे काठ के उल्लू बने बैठे हैं।"[2] प्रेमचन्द ने वाइसराय के असीमित अधिकारों का विरोध करते हुए एवं उनकी तानाशाही प्रवृत्ति के प्रति आक्रोश व्यक्त करते हुए कहा है कि "यह काउंसिल और एसेम्बली सब व्यर्थ, व्यर्थ ही नहीं विनाशकारी है। देश उनपर करोड़ों रुपये साल खर्च करता है। हजारों आदमी वहां सब काम-धंधा छोड़कर चिल्लाते हैं। क्या फायदा। सब तोड़ दो, वाइसराय को डिक्टेटर बना दो। एक तब कम से कम रुपये तो बचेंगे, किसानों का बोझ तो हल्का होगा, टैक्स तो कम हो जायगा। कुछ न होगा इस हाय-हाय से तो छुट्टी मिलेगी। अभी जो मेम्बर और मिनिस्टर बने मुंछों पर ताव दे रहे हैं और दुनिया को दिखा रहे हैं कि मानो वह देश का उद्धार किये डाल रहे हैं, तब मज़े से नोन तेल बेचेंगे या लौंडे पढ़ायेंगे। कोतल घोड़ों को बांधकर खिलाने का खर्च तो जनता के सिर न पड़ेगा। मुफ्त की हाय-हाय और वाय-वाय। हम तो अपना डिक्टेटर वाइसराय चाहते हैं और उसी को जै मनाते हैं।"[3]

---

१ 'विशाल भारत'-जनवरी, १९४६०, भाग३७, अंक१, पूर्णांक २१७, 'राजा जा के रूपक' -- बृजनन्दन शर्मा, पृ०५७।

२ 'विशालभारत' - नवम्बर १९४६०, 'केन्द्र और प्रान्तीय शासन', पृ०३४४।

३ 'यह डिक्टेटरों का युग है' - 'विविध प्रसंग', भाग२, पृ० ३०१।

इसी प्रकार अथवा मन्त्रिमण्डल में कांग्रेस के एम०एल०ए० और दूसरे एम०एल०ए० की तुलना करते हुए राजा जी ने कोयम्बटूर की एक सभा में कहा कि 'सब एम०एल०ए० एक से हैं। मगर कांग्रेसी एम०एल०ए० उन घोड़ों की तरह हैं जिनके मुंह में लगाम लगी है। बागडोर होशियार सरकार के हाथ में है। उन घोड़ों को सड़क पर चलना है और कदम मिलाकर चलना है। इसमें गलती हुई तो ऊपर से हाई कमाण्ड का चाबुक बरसेगा। मगर दूसरे एम०एल०ए० ऐसे नहीं हैं। वे बेलगाम घोड़े हैं, उनके रास्ते अलग-अलग हैं। गलती न करने पर ऊपर से चाबुक लगाने या रास पकड़ कर सीधा चलाने वाला भी कोई नहीं है।'[1]

राष्ट्रीय सरकार के अस्तित्व में आने के पश्चात् जन-सामान्य के कष्टों पर दृष्टिपात न करके बड़े-बड़े व्यापारियों एवं मिल-मालिकों ने शोषक वर्ग को सहायता देकर बहती गंगा में हाथ धोने की नीति अपनाई। कांग्रेसी मन्त्रियों के इस नैतिक अधःपतन का वर्णन कोंडा वेंकटप्पैया के उस पत्र में मिलता है, जिसे महात्मागांधी ने अपना आमरण अनशन प्रारम्भ करते हुए नई दिल्ली में सुनाया था। इस पत्र का सन्दर्भ देते हुए फरवरी सन् १९४८ में सरस्वती में 'हम कांग्रेसी कहां जा रहे हैं।' शीर्षक में कहा गया है कि 'राजनीतिक सत्ता के स्वाद ने उन्हें पागल बना दिया है।.... वे अपने प्रभाव से पैसे बनाने में लगे हुए हैं। इस कार्य में वे मजिस्ट्रेटों की अदालत में चल रहे हैं।फौजदारी मामलों में न्याय के शासन को रोक देने की हद तक चले जाते हैं।'[2]

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् कांग्रेसी सरकार की स्थापना होने पर कभी के त्यागी और बलिदानी कांग्रेसी मंत्रिपद प्राप्त करने के लिए होड़ लगाने लगे। उनके इस पारस्परिक संघर्ष का उल्लेख 'सरस्वती' में 'नूतन परंपरा'

---

१ 'विशालभारत', जनवरी, सन् १९४९, राजा जी के रूपक--- श्री ब्रजनन्दन शर्मा, पृ०६७।
२ 'सरस्वती', फरवरी, सन् १९४८, 'सामयिक साहित्य', पृ०१५८।

शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है[1]।

न्याय व्यवस्था

अंग्रेजी शासन के प्रारम्भ में अंग्रेजों की जिस न्याय-व्यवस्था ने सम्पूर्ण देश में ब्रिटिश सत्ता के प्रति अगाध आस्था उत्पन्न की थी, वह क्षीण हो गई। क्योंकि मंहगी न्याय व्यवस्था ने देशवासियों के आर्थिक और नैतिक बल को क्षीण कर दिया था। मंहगी न्याय व्यवस्था होने के कारण सम्पत्तिवान ही न्याय प्राप्त कर सकते थे। साधारण जनता की पहुंच न्यायालय तक नहीं थी। साथ ही इन न्यायालयों में निष्पक्ष न्याय नहीं था। न्याय के नाम पर वकीलों के मस्तिष्क लड़ते थे और दोषी निर्दोष एवं निर्दोषी दोषी करार दिए जाते थे। वकीलों की संख्या रक्तबीज के समान निरन्तर बढ़ती जा रही थी और साथ ही मुकदमेबाजी का संक्रामक रोग भारत में तीव्र गति से बढ़ रहा था। मुकदमेबाजी के चक्कर में फंसकर निर्धन भारतवासी अपना सर्वस्व इन अदालतों को अर्पित कर देते थे। फलतः उनकी दरिद्रता निरन्तर बढ़ती जा रही थी। अंग्रेजों की न्याय-व्यवस्था ने ग्राम पंचायतों की उत्कृष्ट न्याय-पद्धति को भी ध्वस्त-विध्वस्त कर दिया था। इस न्याय पद्धति द्वारा देशवासियों का जो नैतिक ह्रास हुआ उसको और लक्ष्य करके 'मर्यादा' में कहा गया है कि 'अदालतों की वृद्धि के साथ कागज के टुकड़े पर विश्वास बढ़ गया है और मनुष्य के वचन पर कम हो गया है[2]।'

अदालतों में न्याय की दोषपूर्ण पद्धति का उल्लेख करते हुए अन्यत्र 'मर्यादा' में लिखा है कि 'अदालती अन्वेषण या खोज अखाड़े का

---

1 'कभी का त्यागी और बलिदानी कांग्रेसी पद को उसी दृष्टि से देखता है जिस दृष्टि से डाकू लूट में पाई हुई सम्पत्ति को देखता है। लूट के बंटवारे में डाकू एक-दूसरे के शत्रु बन जाते हैं। कांग्रेसी भी बहुत कुछ वैसा ही उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं...।' 'सरस्वती' १९४९ ई० सम्पादकीय, पृ०३०६।

2 'मर्यादा', अप्रैल, सन् १९१८, भाग १५ संख्या ४, पृ० २५८।

कुश्ती के बतौर है । वह ठीक उसी प्रकार का द्वन्द्व है जैसा पहले ज़माने में हुआ करता था । हां, स्थान बदल दिया गया है, वह मैदान अथवा अखाड़ा न होकर अदालत है । तलवार और भालों के बदले गवाह हथियार का काम देते हैं । सरपंच को न्यायाधीश का नाम दे दिया गया है । परन्तु बात यहां है[1]। "न्याय व्यवस्था इतनी मंहगी थी और आज भी है कि एक छोटे से दावे को प्रमाणित करने में दिवाला निकल जाता है । अंग्रेजों की इस दोषपूर्ण, मंहगी, समय-नाशक उलझन से भरी न्याय-व्यवस्था की आलोचना करते हुए हरबर्ट स्पेंसर ने कहा है कि "न्याय की जड़ भयपूर्ण है । अधिकारी चालाकी और लोभ के पुतले हैं[2]। "अदालतों में न्याय के नाम पर धोखा दिया जाता है । न्याय को खरीदने के लिए वादी-प्रतिवादी अपनी सम्पत्ति न्याय के देवता को समर्पित कर भारयुक्त जीवन व्यतीत करते हैं, किंतु जिस न्याय की मांग के लिए मुकदमेबाजी होती है, उसका निर्णय उनके जीवन-काल में नहीं हो पाता । हां, बड़े-बड़े वकीलों को कुछ धनवानों को मूर्ख बनाने का सुयोग अवश्य मिल जाता है ।

सैन्य नीति

सरकार की सेना नीति का मुख्य लक्ष्य भारतीयों के पौरुष को क्षीण करके अपने साम्राज्य की वृद्धि और संरक्षण करना था । भारतीयों के वीरत्व का ह्रास करने के उद्देश्य से ही सरकार ने शस्त्र कानून बनाकर सम्पूर्ण देश को शस्त्रविहीन करने की नीति का अवलम्बन किया । सेना के क्षेत्र में रंगभेद की नीति का अनुसरण करने के कारण भारतीयों को सेना में कमीशन और पद नहीं दिए गए और जातीय भेद-भाव को बढ़ावा देने के उद्देश्य से धर्म और सम्प्रदाय के आधार पर सेना-टुकड़ियों का निर्माण किया गया । साथ ही सरकार

---

१ `मर्यादा`, अप्रैल १९१८, भाग१५, संख्या ४, पृ० २५८ ।

२ ,, ,, ,, ,, पृ० २५७ ।

ने नागरिक जीवन में फौज में प्रवेश की प्रवृत्ति को बढ़ावा नहीं दिया, क्योंकि यह प्रवृत्ति साम्राज्य के लिए खतरे का सूचक था। सरकार की सेना नीति का मूल लक्ष्य अपने साम्राज्य का विस्तार और संरक्षण करना था। इसीलिए सेना पर अत्यधिक व्यय होने पर भी भारतीयों को सैनिक शिक्षा देने के लिए कोई सैनिक स्कूल नहीं खोला गया। सरकार की इस नीति की ओर लक्ष्य करके 'सुधा' के सम्पादक ने कहा है कि 'ब्रिटेन की सैन्य-नीति का उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य की वृद्धि तथा संरक्षण मात्र है। भारतीयों को अपनी रक्षा के लिए सम्बद्ध करना तो एक धोखे की टट्टी है, जिसके पीछे बैठकर ब्रिटेन दूसरे असहाय देशों की स्वतन्त्रता का शिकार किया करता है।'[1] स्टेट सेक्रेटरी ने भी सरकार की सेना-नीति का स्पष्टीकरण करते हुए यह बात कही थी कि 'भारत के खर्च से साम्राज्य जिस योरोपियन रेजिमेण्ट को रखता है, वह अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए है न कि भारत हित के लिए।'[2] 'त्यागभूमि' में भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है।[3]

ब्रिटेन अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए कुछ व्यय नहीं करता था। सेना का सम्पूर्ण व्यय गरीब भारतवासियों पर पड़ता था। सरकार के इस अन्याय को ध्यान में रखकर ही प्रधान मन्त्री मिस्टर मैकडानेल्ड ने अपनी पुस्तक 'गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया' (पृ०२५३-२५५) में लिखा है कि 'भारतीय सेना का एक बहुत बड़ा भाग-आधा तो अवश्य ही-- साम्राज्य सेना का भाग है। उसकी भारत को आवश्यकता ही नहीं। साम्राज्य के जिन जिन अन्य स्थानों पर हमारी सेनाएं रहती हैं, उन उन स्थानों की सरकारों से हम उन सेनाओं का व्यय कभी नहीं मांगते। किन्तु चूंकि भारतवर्ष में हमारा सामना करने की शक्ति नहीं है, अतएव वहां रहने वाली ब्रिटिश सेना का सारा खर्च हम उसी के मत्थे मढ़ देते हैं। जबकि भारतवर्ष को अपनी सैन्य नीति निर्धारित करने का हमने कोई अधिकार नहीं दिया है, तब साम्राज्य सेना

---

१ 'सुधा', मई १९३१, सम्पादकीय- 'ब्रिटिश सरकार की भारतीय सेना नीति', पृ०५४९।
२ 'सुधा', अक्टूबर, सन् १९३१, भारत पर फौजी भार, पृ०४३३।
३ "सैनिक व्यय का मुख्य उद्देश्य अंग्रेजी साम्राज्य की रक्षा करना है।" 'त्यागभूमि' चैत्र, संवत् १९८५, विविध- नये वर्ष का बजट(१९२८-२९), पृ०९९।

का भार उसके मत्थे मढ़ देना बहुत ही बुरा है ।"[1]

भारतीयों को अपनी सैन्य-नीति निर्धारित करने का कोई अधिकार नहीं दिया गया था । यहां तक कि शासन-सुधार के लिए भारत की परिस्थितियों की जांच करने वाले साइमन कमीशन ने भी प्रतिनिधि शासन-पद्धति में जनता के योगदान और लोकमत दोनों की उपेक्षा करते हुए कहा कि "भारतीयों को देश की सैन्य-नीति में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं देना चाहिए ।"[2]

जनमत की उपेक्षा के साथ-ही-साथ सेना-व्यय का ब्यौरा भी असन्तोषजनक है । क्योंकि सेना पर व्यय की गई अधिकांश धन-राशि अंगरेजी फौज और अंगरेज़ अफसरों की जेबों में चली जाती थी । शासक अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए सेना के आकार में तो वृद्धि करते थे, किन्तु देशवासियों का सैन्य-शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं था । भारतीयों को सेना-व्यय को घटाने या बढ़ाने का अधिकार भी नहीं दिया गया था । सरकार की इस नीति का उल्लेख "ब्रिटिश सरकार की भारतीय सेना नीति" शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है ।[3]

शिक्षा-नीति

ब्रिटिश साम्राज्यशाही ने भारत में शिक्षा के प्रचार और प्रसार में अपना पूर्ण योग दिया । किन्तु सरकार का उद्देश्य देशवासियों को

---

१ "सुधा", मई १९३१ई०, सम्पादकीय--"कमीशन की सिफारिशें", पृ०५४३ ।

२ "सुधा", मई सन् १९३१, सम्पादकीय-- कमीशन की सिफारिशें, पृ०५४३ ।

३ "ब्रिटिश सरकार की भारतीय सैन्य-नीति यही है कि किसी प्रकार भी हिन्दोस्तानियों को अपने देश की रक्षा के विषय में सम्मति देने का अधिकार न दिया जाय। उन्हें सैनिक शिक्षा तक से वंचित रखकर सदा के लिए स्त्रैण और नपुंसक बना दिया जाय तथा दूसरे देशों को गुलाम बनाने के लिए हिन्दोस्तानी सेना, हिन्दोस्तानी खजाने तथा हिन्दोस्तानी युद्धोपकरणों से भरपूर फायदा उठाया जाय । हिंदोस्तानियों को सेना-व्यय घटाने-बढ़ाने का अधिकार न देकर मनमाने तौर से उसका संचालन किया जाय ।" --"सुधा", मई सन १९३१, संपादकीय-कमीशन की सिफारिशें पृ०५४३ ।

शिक्षित कर आदर्श नागरिक बनाना नहीं था । शिक्षा का मूल लक्ष्य राजभक्त नागरिक और कार्यालयों में कार्य करने वाले क्लर्क तैयार करना था । प्रेमचन्द ने सरकार की शिक्षा-नीति के उद्देश्य की ओर इंगित करते हुए कहा है कि "... अंग्रेजी राज्य में नये नये विद्यालय खुले मगर उनका उद्देश्य कुछ और था । वह दफ्तरी शासन का एक विभाग मात्र था, जिसका उद्देश्य सत्य की खोज और संस्कृति का विकास नहीं, दफ्तरों के लिए कर्मचारियों का निर्माण था[1]।" हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी अंग्रेजी शिक्षा के इस उद्देश्य पर कटु व्यंग्य करते हुए कहा है कि "क्लार्क बनाने के लिए ही एक दिन हमारे देश में वणिक् राज्य द्वारा स्कूल खोले गए थे[2]।"

सुदृढ़ शासन-तन्त्र को चलाने के लिए जिस सरकारी मशीनरी की आवश्यकता थी, उसके कल-पुर्जे बने भारत के नव-शिक्षित अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त नवयुवक । सरकार ने जन-सामान्य से सम्पर्क स्थापित करने का लक्ष्य सम्मुख रखकर अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने की नीति अपनाई सरकार की इस नीति ने जन-सामान्य के मध्य एक विशेष वर्ग को जन्म दिया, जो सरकार का समर्थक था । नौकरशाही का सौ वर्ष का इतिहास इस तथ्य की पुष्टि करता है कि ब्रिटिश सरकार की, जनता में एक राज-भक्त वर्ग उत्पन्न करने की, नीति नई नहीं थी । अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से एक राजभक्त वर्ग तैयार करने के के साथ ही सरकार ने इस विशालदेश को मानसिक पराधीनता की शृंखलाओं में बद्ध किया और भाषा की जातीय एकता का अवरोध बना दिया ।

सरकार की शिक्षा-नीति ने कभी देशवासियों के मन में स्वतन्त्र विचारों को उत्पन्न करने की प्रेरणा नहीं दी । अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त नवयुवकों के विचार-साम्य को देखकर सम्पूर्णानन्द ने कहा है कि "जैसे

---

१ स्वामी श्रद्धानन्द और भारतीय शिक्षा प्रणाली, विविध प्रसंग, भाग३, पृ०२०२ (शुद्धि समाचार, श्रद्धानन्द-बलिदान अंक, जनवरी, फरवरी, १९३२) ।

२ हजारी प्रसाद द्विवेदी : "कल्पलता", पृ०१५१

टकसाल से एक ही साँचे में ढले सिक्के निकलते हैं, वैसे ही शिक्षालयों से एक ही प्रकार की बुद्धियाँ निकलती हैं[१]।" प्रेमचन्द ने भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त करते हुए कहा है कि "हमारे जितने विद्यालय हैं सभी गुलामी के कारखाने हैं जो लड़कों को स्वार्थ का, जरूरतों का, नुमाइश का, अकर्मण्यता का गुलाम बनाकर छोड़ देते हैं[२]।" डा० सम्पूर्णानंद और प्रेमचन्द ने विद्यार्थियों की उपमा 'टकसाल' और 'कारखाने' से देकर यह सिद्ध कर दिया है कि अंग्रेज़ी शिक्षा का उद्देश्य जन-सामान्य का सर्वांगीण विकास करना नहीं था। उन्हें तो अंग्रेज़ी भाषा के ग्रेजुएट तैयार करने थे[३]।

दैनन्दिन जीवन में अंग्रेज़ी के बढ़ते हुए प्रभुत्व को देखकर युवक वर्ग अपने जीवन को सुखी और सम्पन्न बनाने के हेतु अंग्रेज़ी शिक्षा ग्रहण करने की ओर प्रवृत्त हुआ। अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त करके उच्च सरकारी पदों को प्राप्त करने और शासक जाति के समकक्ष पहुंचने की आकांक्षा ने समाज के कुछ लोगों को अंग्रेज़ी में ही सोचने-विचारने और अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करने के लिए प्रेरित किया। पं० पद्मसिंह शर्मा ने समाज के इस बुद्धिजीवी वर्ग पर व्यंग्य करते हुए कहा है कि "अंग्रेज़ी भाषा के ग्रेजुएट बनने का यह महामोह शिक्षा के लिए सचमुच साढ़ेसाती का 'शनैश्चर' है। जब तक इससे पिण्ड न छूटेगा भारत शिक्षित न होगा[४]।" आधुनिक शिक्षा प्राप्त युवक-वर्ग के हृदय पर अंग्रेज़ी का सिक्का बैठ चुका था। ~~अंग्रेज़ी का सिक्का बैठ चुका था~~। अंग्रेज़ी के बिना वह अपने को अनाथ समझता था। प्रेमचन्द ने इस प्रवृत्ति की आलोचना की[५] एवं युवक वर्ग को मानसिक दासता से मुक्त कराने के उद्देश्य

---

१ सम्पूर्णानन्द : 'समाजवाद', पृ० २५

२ 'राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसकी समस्यायें' -- प्रेमचन्द; साहित्य का उद्देश्य, पृ० १६१

३ "युनिवर्सिटी तो भारत में कोई है नहीं, हां, ग्रेजुएट बनाने के कई कारखाने हैं। इस लिहाज़ से संयुक्त प्रान्त भारत का लंकाशायर या बम्बई है। यहां ऐसे ऐसे पांच बड़े-बड़े कारखाने हैं, जहां युवकों को दुर्व्यसन और फिजूल खर्ची और विलासिता और झूठे अभिमान की शिक्षा दी जाती है।"
प्रेमचन्द : विविध प्रसंग 'संयुक्तप्रान्त के दो कन्वोकेशन', भाग३, पृ० १६८।

४ पद्मपराग -- प्रथम भाग, सम्भाषण [२], पृ० ३७४।

५ "अंग्रेज़ी में आप अपने मस्तिष्क का गूदा निकाल कर रख दें लेकिन आपकी आवाज़ में राष्ट्र का बल न होने के कारण आपकी कोई उतनी भी परवाह न करेगा, जितनी बच्चों के रोने की करता है।"
-- 'साहित्य का उद्देश्य', पृ० १६१।

से अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने की नीति का विरोध किया । लोकमान्य तिलक और राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने भी अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने की नीति का विरोध किया था, क्योंकि यह शिक्षा दुरूह थी और इसमें समय का अपव्यय होता था । साथ ही यह छात्र वर्ग की रटने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करती थी[1] । अंग्रेज़ी शिक्षा के उक्त दोषों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा समय साध्य होने के साथ ही श्रमसाध्य भी थी । शिक्षण की लम्बी अवधि भाषा का अभ्यास करते-करते ही बीत जाती थी, विषय को आत्मसात् करने का समय ही नहीं रहता था । अंग्रेज़ी पढ़ा-लिखा यह शिक्षित समुदाय जब घोर परिश्रम कैसे-के करने के पश्चात् विश्वविद्यालय की उपाधियां प्राप्त करके व्यावहारिक जीवन में प्रविष्ट होता था, तो न तो शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ रह जाता था और न ही स्वतन्त्र चिन्तन में समर्थ होता था[2] । फलतः जीविकोपार्जन के लिए सरकारी कार्यालयों के द्वार खटखटाना और नौकरशाही का समर्थक बनकर अपनी मानसिक पराधीनता को प्रश्रय देना ही एकमात्र साधन रह जाता था । उच्च कानूनी शिक्षा प्राप्त करके स्वतन्त्र रूप से वकालत करने की क्षमता भी इस शिक्षा से अर्जित की जा सकती थी और की गई । उल्लेखनीय यह है कि जीविकोपार्जन के लिए दी

१(क) "वर्षों के परिश्रम के पश्चात् बहुतों को अंग्रेज़ी भाषा के तलछट के सिवाय कुछ हाथ नहीं लगता ।...... वर्तमान शिक्षा-प्रणाली भयानक रटना सिखलाती है ।" -- महात्मा गांधी : 'शिक्षा में स्वराज्य', पृ०२४-२५

(ख) "जिस शिक्षा को हम अपनी मातृभाषा के द्वारा केवल ७ या ८ वर्ष में प्राप्त कर सकते हैं उसी शिक्षा के लिए हमें व्यर्थ २५ या २६ वर्ष लगा देने पड़ते हैं ।" --लोकमान्य तिलक : 'शिक्षा में स्वराज्य' अनु० गौरीशंकर मिश्र, पृ० १० ।

२(क) "उच्च शिक्षा की समाप्ति तक वह अपने स्वास्थ्य से हाथ धो बैठते हैं । फिर भी उन विषयों में इतना निष्णात नहीं होते ।" --पद्मसिंह शर्मा : पद्मपराग, प्रथम भाग, पृ०३७३ ।

(ख) "... हम अपने मस्तिष्क का कोष तो भर लेते हैं लेकिन स्वास्थ्य की ओर से विवालिए हो जाते हैं । हमारे अधिकतर शिक्षित लोग चलते-फिरते रोगी हैं । किसी को अजीर्ण का रोग है, किसी को धड़कन का और डायबिटीज़ तो इतना व्यापक हो गया है कि कुछ न पूछिए ।..." प्रेमचन्द : विविध प्रसंग, भाग ३ (सन् १९३५), पृ० २४९ ।

गई यह शिक्षा इतना मंहगी थी कि जन-सामान्य उससे लाभान्वित नहीं हो सकता था, फिर भी उसकी ओर आकृष्ट होता था और भेड़ के समान उसके पीछे दौड़ता चला जाता था।[१]

परिवार एवं समाज में नित्य-प्रति के व्यवहार और शिक्षा-ग्रहण करने की दो विभिन्न भाषाएं प्रचलित थीं। इन दो भाषाओं की चक्की में नवयुवक विद्यार्थियों का मस्तिष्क इतना पिस जाता था कि ज्ञान-सम्पादन कर उसे धारण करने की शक्ति ही नहीं रह जाती थी। भाषा की इस तोतारटन्त की ओर पं० पद्मसिंह शर्मा, प्रेमचन्द और विपिनचन्द्रपाल ने लक्ष्य किया है।[२]

अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से शिक्षा देना देश के नवयुवकों के लिए उपयोगी नहीं था। फिर भी अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से ही शिक्षा दी जाती थी। क्योंकि शिक्षा का उद्देश्य राज-भक्त नागरिक और सरकारी मशीनरी चलाने के लिए योग्य कार्यकर्ता तैयार करना था। अपने स्वार्थों की पूर्ति

---

१ "यह तालीम भी मोतियों के मोल बिक रही है। इस शिक्षा की बाजारी कीमत शून्य के बराबर है, फिर भी हम क्यों भेड़ों की तरह उसके पीछे दौड़े चले जा रहे हैं।" -- प्रेमचन्द : 'साहित्य का उद्देश्य', पृ० १६१।

२(क) "भारत के सरकारी विद्यालयों में सब विषयों की उच्च शिक्षा अंग्रेज़ी ही में दी जाती है जिससे जिससे विद्यार्थियों का आधे से अधिक समय तोता रटन्त में बीत जाता है।" -- पद्मसिंह शर्मा : 'पद्मपराग प्रथम भाग', पृ० ३७३।

(ख) "हम आंखें फोड़ फोड़ कर और कमर तोड़ तोड़ कर और रक्त जला जलाकर अंग्रेज़ी भाषा का अभ्यास करते हैं, उसके मुहावरे रटते हैं, लेकिन बड़े से बड़े भारतीय साधन की रचना विद्यार्थियों की स्कूली ग्रेजुएट्स से ज्यादा महत्व नहीं रखती।" -- प्रेमचन्द : 'साहित्य का उद्देश्य' - राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसकी समस्याएं', पृ० १५२।

(ग) "इस शिक्षा से हमारी स्मरण-शक्ति बढ़ी है, परन्तु हमारी मनन शक्ति तथा बुद्धि कोरी-की-कोरी रह गई।"

-- विपिनचन्द्रपाल : 'शिक्षा में स्वराज्य', अनु० गौरीशंकर मिश्र

हेतु शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रभाषा को महत्ता देकर लोक-भाषाओं की अवहेलना करने की नीति सरकार की संकीर्ण मनोवृत्तियों का द्योतक है । प्रेमचन्द ने राज-भाषा अंग्रेज़ी के माध्यम से शिक्षा देने की नीति पर व्यंग्य करते हुए कहा है कि "जापान, चीन और ईरान में तो शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी नहीं है, फिर भी वे सभ्यता की हरेक बात में हमसे आगे हैं, लेकिन अंग्रेज़ी माध्यम के बगैर हमारी नाव डूब जायगी ।"[1]

अंग्रेज़ी भाषा के समान ही अंग्रेज़ी शिक्षा भी हमारे दासत्व की शृंखला थी । महात्मा गांधी ने तत्कालिक शिक्षा के इस दुर्गुण की ओर लक्ष्य करके कहा है कि "अंग्रेज़ी शिक्षा ग्रहण करके हम लोगों ने (भारत) राष्ट्र को दासत्व में जकड़ दिया है । जुल्म का पाखण्ड इत्यादि बढ़ चले हैं । अंग्रेज़ी जानने वाले भारतवासी धोखा देने वाले तथा लोगों को निष्प्रयोजन भयभीत करने में तनिक भी नहीं हिचकते । यदि यही दशा ज्यादा समय तक कायम रही तो मेरा पक्का विश्वास है, कि हमारी आगामी सन्तान हम लोगों को दूषित ठहरायेगी, निन्दा करेगी और हृदय से कोसेगी ।"[2]

अंग्रेज़ों के शासन-काल में भारत की शिक्षा-पद्धति का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी शिक्षा-नीति कोरी शिक्षा-नीति ही नहीं थी । वह साम्राज्य को सुदृढ़ करने की नीति थी । उस

---

१ `साहित्य का उद्देश्य`, पृ० १५३ ।

२ "..... By recieving English edu., we have enslaved the nation. Hypocrncy tyranny, etc., have increased, English knowing Indians have not hesitated to cheat and strike terror into the people .... if this state of things continues for a long time, postering will, its my firm opinion, condemn and curse us

-- `शिक्षा में स्वराज्य`, पृ० ९७

नीति का उद्देश्य भारत में एक ऐसा वर्ग तैयार करना था, जो जन्म से स्वदेशी हो मगर अन्य हर प्रकार से सोलहों आने अंग्रेजी हो । अठारहवीं शताब्दी के अन्त में चार्ल्स ग्रांट ने भारतीय जनता की शिक्षा के विषय में लिखा था कि "शिक्षा-नीति सफलता में हमारी सुरक्षा है, न कि खतरा ..... हम अत्यन्त युक्तिपूर्ण उपाय करेंगे कि वहाँ वहाँ अन्तर्निहित कुव्यवस्थाएं मिट जाएं कि हिन्दू जनता हमसे सम्बद्ध हो जाए कि हमारे अधिकारों की सुरक्षा का सुनिश्चय हो जाए, कि उनका मूल्य हमारे लिए निरन्तर बढ़ता जाए ।[१]

भाषा-नीति

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी-गद्य-लेखकों ने हिन्दी को अदालतों में स्थान दिलाने के लिए और शासन-कार्यों में उसके प्रयोग के लिए सतत् प्रयत्न किया था । अंग्रेजी से उन्हें कोई वैमनस्य नहीं था । किन्तु उर्दू और फारसी को अदालतों में स्थान देकर संस्कृत और हिन्दी की शासन द्वारा जो उपेक्षा की गई, उसका विरोध करते हुए हिन्दी को उचित स्थान दिलाने का इन लेखकों ने निरन्तर प्रयत्न किया । परिणामस्वरूप सन् १९००ई० में नागरी का अदालतों में प्रवेश हुआ । किन्तु बीसवीं शताब्दी की बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों में उर्दू के साथ-ही-साथ अंग्रेजी का विरोध भी नितान्त आवश्यक समझा गया, क्योंकि अंग्रेजी ही राजभाषा थी और अंग्रेजी में ही शासन के समस्त कार्य किये जाते थे । अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति का प्रचार हो जाने से देश में राजनीतिक परतन्त्रता के साथ ही मानसिक और सांस्कृतिक परतन्त्रता की भावनायें भी उत्तरोत्तर बलवती होती जा रही थीं । राष्ट्र जीवन के प्रत्येक पक्ष में अंग्रेजी भाषा और आचार-विचार के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर महावीरप्रसाद द्विवेदी और प्रेमचन्द

---

१ ओंकारनाथ श्रीवास्तव : "हिन्दी साहित्य : परिवर्तन के सौ वर्ष" (विषय-प्रवेश) पृ० ९८-९९ ।

दोनों ही क्षुब्ध हुए और अपनी अन्तर्वेदना को अपने साहित्य में साकार स्वरूप दिया।[१]

बीसवीं सदी की जन-जागृति के कारण भारतवासी यह अनुभव करने लगे थे कि यदि वे अंग्रेज़ी भाषा के प्रभुत्व को तोड़ दें तो पराधीनता का आधा बोझ उतर जायेगा। प्रेमचन्द ने भी इसी भावसे प्रेरित होकर कहा कि "हमारी पराधीनता का सबसे अपमानजनक, सबसे व्यापक, सबसे कठोर अंग अंग्रेज़ी भाषा का प्रभुत्व है.... अगर आज इस प्रभुत्व को हम तोड़ सकें तो पराधीनता का आधा बोझ हमारी गर्दन से उतर जायगा।"[२]

अंग्रेज़ी भाषा ने हमारे मन और बुद्धि को जकड़ कर मानसिक पराधीनता को इतना सशक्त बना दिया था कि हम राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र होने के लिए तो संघर्ष करते थे, किन्तु जिस शासन को नहीं चाहते थे, उसी शासन की भाषा की उपासना करते थे। समय ने पलटा खाया और भारतीय यह समझने लगे कि राष्ट्र की बुनियाद राष्ट्रभाषा है। प्रेमचन्द ने जन-सामान्य को चेतावनी देते हुए कहा कि "जिसदिन आप अंग्रेज़ी भाषा का प्रभुत्व तोड़ देंगे और अपनी एक कौमी भाषा बना लेंगे उसी दिन आपको स्वराज्य के दर्शन हो जायेंगे।"[३]

---

१ (क) "हाय री अंग्रेज़ी ? तूने हमारे खाद्य और पेय पदार्थों में परिवर्तन कर दिया, तूने हमारे वस्त्र-परिच्छेदों में अदल-बदल कर डाला, यहां तक कि तूने हमारी मातृ भाषा को भी तिरस्कृत कर दिया ???"--देशी भाषाओं में शिक्षा--महावीरप्रसाद द्विवेदी, 'सरस्वती', भाग १५, संख्या ४, पृ० २६६।

(ख) "सभ्य जीवन में हर एक विभाग में अंग्रेज़ी भाषा ही मानों हमारी छाती पर मूंग दल रही है।"-- प्रेमचन्द : "साहित्य का उद्देश्य"- राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसकी समस्याएं", पृ० ५५०।

२ प्रेमचन्द : 'साहित्य का उद्देश्य', पृ० ५५०।

३ ,, : ,, पृ० ५५२।

अंग्रेजी राजनीति व्यापार और साम्राज्य के आतंक से अधिक हमारे ऊपर अंग्रेजी भाषा का आतंक था[1]। किन्तु राष्ट्रीय भावनाओं के उद्दीप्त होने के साथ ही यह तथ्य सर्व विदित हो गया कि राष्ट्रभाषा का निर्माण हुए बिना राष्ट्र का निर्माण एक हवाई कल्पना है[2]। अतः किसी समय समाज के जिस उच्च धनी-मानी वर्ग ने अंग्रेजी भाषा का सिक्का जमाया था, वही वर्ग राष्ट्रभाषा के उत्थान के लिए सतत् प्रयत्न करने लगा।

राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन होने से अंग्रेजी का विरोध तीव्र गति से होने लगा। अंग्रेजी भाषा-भाषी जनता में राष्ट्रीय-भावनाओं का व अभाव होता जा रहा था। नौकरशाही के समर्थक इस वर्ग में राष्ट्रीय भावनाओं को उद्दीप्त करने के उद्देश्य से देशी भाषाओं को महत्त्व प्रदान किया गया। हिन्दी भाषा ही देशवासियों के पारस्परिक सम्पर्क का सर्वोत्तम भाषा थी, अतः देशभक्त हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए सतत् प्रयत्न करने लगे। अन्य प्रान्तीय भाषाएं हिन्दी का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती थीं, अतः विवश होकर हिन्दी को अन्तर्प्रान्तीय सम्पर्क की भाषा मानना ही पड़ा। किन्तु उर्दू जो हिन्दी का ही एक अंग है, उसको प्रतिद्वन्दी बन गई और हिन्दी-उर्दू का झगड़ा प्रारम्भ हो गया।

----

१ 'अंग्रेजी राजनीति का, व्यापार का, साम्राज्य का, हमारे ऊपर जैसा आतंक है, उससे कहीं ज्यादा अंग्रेजी भाषा का है। अंग्रेजी राजनीति से, व्यापार से, साम्राज्यवाद से तो आप बगावत करते हैं, लेकिन अंग्रेजी भाषा को आप गुलामी की तौक की तरह अपनी गर्दन में डाले हुए हैं।'
'-- प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य - कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार', पृ० १७२।

२ 'जब तक हमारी राष्ट्रभाषा का निर्माण न होगा, भारतीय राष्ट्र का निर्माण ख्वाब और ख्याल है।'
-- प्रेमचन्द : 'विविध प्रसंग' भाग३ - 'अंग्रेजी भाषा का रोग', पृ०९८५।

सरकार की घोषित नीति थी, भारत को एक राष्ट्र बनाकर स्वराज्य देना । एक राष्ट्र में एक राष्ट्रभाषा नितान्त आवश्यक है, अतः राजनीति की पृष्ठभूमि में हिन्दू- उर्दू का झगड़ा खड़ा करके सरकार स्वराज्य को दूर ढकेल देना चाहती थी, अतः सन् १६०० ई० में नागरी का अदालतों में प्रवेश होने के साथ ही हिन्दी-उर्दू का प्रश्न एक स्थायी राजनीतिक प्रश्न बन गया। यद्यपि यह सत्य है कि हिन्दी-उर्दू में उतना वैमनस्य नहीं है, जितना दोनों का अंग्रेजी से, किन्तु कूटनीतिक चालों द्वारा हिन्दी-उर्दू का झगड़ा खड़ा करके भाषा के क्षेत्र में पृथकता का प्रश्न अवश्य उत्पन्न कर दिया गया । दोनों ही भाषाओं को अंग्रेजी भाषा के प्रभाव से हानि उठानी पड़ रही थी, अतः दोनों के पारस्परिक सहयोग से हिन्दी-उर्दू मिश्रित एक नई भाषा का प्रादुर्भाव हुआ और वही हिन्दुस्तानी है । हिन्दी और उर्दू के संगम हिन्दुस्तानी को सम्पर्क भाषा के रूप में स्वीकार करने का प्रस्ताव पारित किया गया । स्वयं महात्मागांधी ने हिन्दुस्तानी के प्रचार पर बल दिया । क्योंकि विदेशी भाषा के बल पर कोई देश स्वराज्य नहीं प्राप्त कर सकता । राष्ट्रभाषा ही वह रज्जु है, जो चिरकाल तक राष्ट्र को एकसूत्र में बांधे रहती है । भारत जैसे विशाल देश में राष्ट्रीय एकता बनाये रखने के लिए कोई भाषा का होना अति आवश्यक था । अंग्रेजी उसका स्थान नहीं ले सकती थी । शुद्ध हिन्दी या उर्दू भी राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती थी । फलतः इस विशाल देश को संकीर्ण प्रान्तीयता की भावनाओं से मुक्त होने के लिए एक ऐसी जुबान की आवश्यकता थी, जिसे काश्मीर से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक सभी समझ और बोल सकें, यह काम किया हिन्दुस्तानी ने ।

सन् १६२५ई० में कांग्रेस ने अपने कानपुर अधिवेशन में हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया था । सरकार भी यदि अपनी भेद-नीति त्याग कर हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर लेती तो सम्भवतः राष्ट्र-निर्माण में नवीन गति आ जाती ।

अंग्रेजों ने अपनी कूटनीति से भारत की दो प्रमुख जातियों--हिन्दू और मुसलमान में पारस्परिक विद्वेष और घृणा का प्रचार करने के साथ ही हिन्दू जाति को भी सवर्ण और हरिजन के प्रति सचेत कर दिया था । किन्तु विभिन्न सम्प्रदायों की सृष्टि करके भी शासक जन-विद्रोह को शान्त न कर सके । देश-व्यापी दमन और शोषण के परिणामस्वरूप जिस संगठित जन-आंदोलन का प्रादुर्भाव हो चुका था, वह गांधी के नेतृत्व में शक्तिशाली होता गया । राष्ट्रीय आन्दोलन के कार्य-कर्ताओं को आपस में लड़ाने की कूटनीति भी इन शासकों द्वारा अपनाई गई । एक ही रण-क्षेत्र के सेनानी सरकार की कूटनीति के शिकार हुए । राष्ट्रीय-आन्दोलन में भाग लेने वाले कार्यकर्ता कानून की दृष्टि में राजद्रोही थे, अत: सरकार उन्हें अपने कानून के शिकंजे में फंसा कर जेलों में डाल देती था । इन कार्यकर्ताओं में फूट डालकर ही सरकार राष्ट्रीय आन्दोलन का दमन कर सकती थी । अत: जब नेताओं की आज्ञानुसार कार्यकर्ता सरकार की शक्ति की अवहेलना करके जेल जाने लगे तब नेताओं और कार्य-कर्ताओं में परस्पर फूट डालने के लिए नौकरशाही ने वह चाल चली कि उसके प्रतिद्वन्द्वियों को नाकों चने चबाने पड़े ।

गांधी के राजनीति में प्रवेश करने के साथ ही शासन के क्षेत्र में भी हिंसा और अहिंसा का प्रश्न उठा । चौधरी अफजल हक के अतिरिक्त पंजाब जेल कमेटी के सब सदस्यों ने कहा कि `राजनैतिक उद्देश्य से अहिंसात्मक अपराध करने वाले सभी व्यक्ति पहले दर्जे का विशेष व्यवहार पावें और हिंसात्मक अपराध के कैदियों में जिनकी हैसियत ऊंची हो, वे दूसरे दर्जे की विशेष श्रेणी में रखे जायं ।`[1] हैसियत के भेद के आधार पर व्यवहार भेद का प्रस्ताव रखकर सरकारी पक्ष ने यह स्पष्ट कर दिया कि जेल में भी जात पांत का और धन-दौलत का भेद किया जायगा । एक ही अपराध में वकील और सम्पादक के साथ और व्यवहार होगा और उनके मुन्शी

---

१ `विशालभारत` - `राजनैतिक कैदियों की समस्या', नवम्बर, सन् १९२९, वर्ष २, खण्ड २, संख्या ५, सम्पादकीय, पृ० ६६४ ।

या कम्पोज़ीटर के साथ और । हैसियत भेद के आधार पर नेताओं और कार्य-कर्ताओं में विरोध का विष बीज बोकर सदा ने अपनी कुटिल नीति का परिचय दिया ।

सरकार ने नेताओं और कार्यकर्ताओं के खान-पान और व्यवहार में भी भेद-नीति का अनुसरण किया । नेताओं के पांच-पांच, सात-सात रुपये तक रोज़ खाने को दिये और बेचारे स्वयं-सेवकों को घास का शाक और बेफर का कच्ची रोटी[1] । इतना ही नहीं, कुछ को राजनैतिक कैदी बनाकर उनके साथ मनमाने अत्याचार भी किए । अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रचार और प्रसार के साथ ही अंग्रेजी दां और ग़ैर अंग्रेजी दां का भेद उत्पन्न हो गया । अंग्रेजी पढ़ा-लिखा नव-शिक्षित वर्ग सरकार का पक्षपाती होने के कारण सरकार से विशेष सहानुभूति प्राप्त करने लगा ।

सरकार की भेदनीति का स्वरूप बदल गया । रंगभेद और जातिभेद के साथ ही शिक्षा, भाषा और आर्थिक सम्पन्नता को विशेष महत्व दिया जाने लगा । अंग्रेजी भाषा-भाषी समुदाय को सरकार जो महत्व दे रही थी, उनका सरकार द्वारा जो पक्षपात किया जा रहा था, उसका स्पष्टीकरण करते हुए प्रेमचन्द ने कहा है कि " पुराने समय में आर्य और अनार्य का भेद था, आज अंग्रेजीदां और ग़ैर अंग्रेजी दां का भेद है । अंग्रेजीदां आर्य हैं । उनके हाथ में, अपने स्वामियों की कृपादृष्टि की बदौलत कुछ अख्तियार है, रोब है, सम्मान है । ग़ैर-अंग्रेजीदां अनार्य हैं और उसका काम केवल आर्यों की सेवा-टहल करना हैऔर उनके भोग-विलास और भोजन के लिए सामग्री जुटाना है । यह आर्यवाद बड़ी तेजी से बढ़ रहा है दिन-दूना रात चौगुना[2] ।" भाषा के क्षेत्र में जातीय पक्षपात को प्राधान्य देने के उद्देश्य से प्रेरित होकर ही सरकार ने अंग्रेजी का पक्ष लिया और मुट्ठी भर अंग्रेजों के लिए हम पर हमारी राष्ट्रभाषा के रूप में अंग्रेजी लादी । देशी भाषाओं

---

१ हमारे नेता और कार्यकर्ता -- श्री शिवचरणलाल शर्मा, 'विशालभारत', फरवरी १९२८ई०, वर्ष १, खण्ड १, संख्या २, पृ० २२८ ।

२ 'कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार' - 'साहित्य का उद्देश्य', पृ० १७४ ।

े पाछी छूटती न देखकर केवल उनकी उपस्थिति सहन की जाती थी ।

अंग्रेजी के पश्चात् उर्दू को सरकारी कार्यालयों में महत्त्व देकर सरकार ने भाषा के माध्यम से अंग्रेजी, हिन्दी, और उर्दू भाषा-भाषी तीन वर्गों की सृष्टि की । भाषा के क्षेत्र में पक्षपात नीति का अनुसरण करके सरकार ने अपनी कूटनीति का परिचय देने के साथ ही प्रान्तीयता की भावनाओं को भी विकसित किया । उर्दू भाषा-भाषी समाज तो अपने लिए अलग राज्य की ही मांग करने लगा । निरन्तर बढ़ती हुई इस भेद नीति ने भारतीय जनता के मन में साम्प्रदायिक भावों को प्रश्रय देकर एक नई समस्या ही उत्पन्न कर दी ।

चिकित्सा

सरकार की पक्षपात नीति का विकास दिनानुदिन विस्तृत होता चला गया । यहां तक कि चिकित्सा, सेना और नोबल पीस प्राइज (NOBLE PEACE PRIZE) भी सरकार की इस नीति के शिकार हुए । मेडिकल रजिस्ट्रेशन ऐक्ट द्वारा देशी चिकित्सा प्रणाली पर आघात करके सरकार ने चिकित्सा के क्षेत्र में जिस भेद-नीति का अनुसरण किया, उसका उल्लेख करते हुए गणेशशंकर विद्यार्थी ने कहा है कि 'सरकार एक चिकित्साप्रणाली का पक्ष लेकर दूसरी प्रणाली पर अन्याय करने से नहीं बच सकती । सबको मुक्त क्षेत्र न देकर वह पक्षपात का कलंक-टीका अपने माथे पर ले रही है । न्याय की बात तो यही होगी कि वह किसी भी प्रणाली को अपना आश्रय न दे, जैसा कि अमरीका में होता है और यदि आश्रय दे तो देश की मुख्य-मुख्य सभी प्रणालियों को दे ।'[१] विद्यार्थी जी का उक्त वक्तव्य एलोपैथिक चिकित्सा प्रणाली के प्रति सरकार के विशेष पक्षपात को व्यक्त करता है ।

---

१ 'प्रताप' - 'वैद्यक की फांसी', ६ दिसम्बर, १९१५ई०, पृ०३ ।

सेना

सेना के क्षेत्र में विभिन्न जातियों का अलग-अलग रेजिमेण्टें तैयार करके सरकार ने जाति विद्वेष और वर्ण-विद्वेष का आग भड़का दी, जिससे संकट के समय भी सारी भारतीय सेना एकत्र होकर लड़ न सके। जाति-बिरादरियों के अनुसार फौजी टुकड़ियों के नाम रखे जाने लगे। उदाहरणार्थ राजपूत राइफल्स, सिक्ख रेजिमेण्ट, जाट बटालियन आदि। इस प्रकार जाति-भेद पर बल देकर एक जाति के लोगों को दूसरी जाति से लड़ने का खेल प्रारम्भ हुआ। रंगभेद की नीति का अनुसरण करने के कारण ही सेना में भारतीयों को उच्च पद से वंचित रखा जाता था। इस रंग-भेद की नीति का उल्लेख करते हुए 'भारत के लिए स्वराज्य' शीर्षक के अन्तर्गत गणेशशंकर विद्यार्थी ने कहा है कि 'जो भारतीय बेचारे सैनिक सेवा करने का अवसर पाते भी हैं, उनकी ऐसी दुर्दशा होती है कि उन्हें कभी ऊंचा पद मिलता ही नहीं। यहां रंग की बात जोरों पर है। गोरे छोटे बूढ़े अनुभवी सूबेदारों के कप्तान बनते हैं[1]।" मिस्टर मजहरुल हक ने भी अपने भाषण में कहा था कि 'सेना में मेजर से ऊंचा पद हमें नहीं मिलता[2]।" सरकार का शस्त्र कानून (आर्म्स ऐक्ट) भी उसकी रंग-भेद की नीति का द्योतक है।

जन-सामान्य में पारस्परिक विद्वेष उत्पन्न करने के उद्देश्य से सरकार ने देश में आन्तरिक शान्ति स्थापित करने के लिए हिन्दोस्तानी पुलिस का उपयोग किया। हिन्दोस्तानी पुलिस को हिन्दोस्तानी जनता पर बार-बार अमानुषिक अत्याचार करने के लिए विवश करने का एकमात्र लक्ष्य जनता में भेद उत्पन्न करना था। क्योंकि सरकार को यह भय था कि कहीं

---

१ 'प्रताप' - साप्ताहिक, २० दिसम्बर, १६२५ई०, पृ०४।
२ ,, ,, २७ जनवरी, १६१६ई०, पृ०८।

पुलिस और फौज भी सत्याग्रह आन्दोलन में जनता का साथ न देने लगे । सरकार की इस नीति का स्पष्टीकरण करते हुए `ब्रिटिश सरकार की भारतीय सेना नीति` शीर्षक में कहा गया है कि `अपनी सेना नीति से ब्रिटेन ने भारतवासी नागरिकों तथा भारतीय सैनिकों के बीच एक इतनी चौड़ी खाई खोद दी है कि उसके भरने के लिए सैकड़ों वर्षों की आवश्यकता होगी[1] ।`

नोबल पीस प्राइज़

सन् १९३७ई० में महात्मा गांधी का नाम नोबल पीस प्राइज़ (Noble Peace Prize) के लिए `नोबल कमेटी` में (Norwegian "Friends of India society") नार्वे की `फ्रेण्ड्स आफ इण्डिया सोसाइटी` द्वारा प्रस्तावित किया गया था । किन्तु नौकरशाही की कूटनीति के कारण महात्मा-गांधी जैसे शान्ति के पुजारी को नोबल पीस प्राइज़ से वंचित कर दिया गया जब कि सर विंस्टन चर्चिल और Ossietyzky को यह पुरस्कार दिया गया । उक्त दोनों ही सज्जन न्याय की दृष्टि से इस पुरस्कार को प्राप्त करने के लिए योग्य न थे । सर विंस्टन चर्चिल ख्यातिप्राप्त युद्ध के नेता थे और ossietyzky के विषय में "Volpischer Beobachter" ने लिखा है कि --`

" Englishmen who were unable at the time to understand the German attitude when the Noble Peace Prize was awarded to the traitor ossietyzky will now perhaps begin to understand it."

राजनीति के क्षेत्र में किए गए इस पक्षपात की पुष्टि के लिए औसली के British deligation का ६ अप्रैल १९३७ई० का पत्र मिस्टर एन्थोनी ईडन के नाम और आर०पील का पत्र भारत सरकार के गृह विभाग ब के नाम द्रष्टव्य है[2] ।

---

१ `सुधा` मई १९३९ई०, वर्ष ६, संख्या ४, खण्ड २, सम्पादकीय, पृ०५४१ ।

२ `नार्दर्न इण्डिया पत्रिका` --रविवासरीय परिशिष्ट , १४ फरवरी १९७१, पृ०८-२ (Gandhi and the NOBLE PEACE Award)

शासन के क्षेत्र में पक्षपात की नीति का अनुसरण करके अंग्रेजों ने देश की राष्ट्रीयता को विभाजित करने का प्रयास किया था। रेम्से मेकडानेल ने अपनी पुस्तक 'अवेकनिंग आफ इण्डिया' में लिखा है कि "शक के साथ कहा जाता है कि एक दुष्ट शक्ति ब्रिटिश सरकार की ओर से काम कर रही थी और कर रही है, जिसमें मुसलमान नेता ब्रिटिश आफिसरों द्वारा प्रेरणा पाते थे और पाते हैं। तथा वे आफिसर शिमला और लन्दन में बैठे तार खींचा करते थे और खींचते हैं। तथा इसी कारण पूर्व निर्धारित नीति के अनुसार हिन्दु-मुसलमानों में मुसलमानों का खास पक्षपात कर फूट डाली जा रही है।[1] रेम्से मेकडानेल के कार्य कालीन भारत सचिव लार्ड ओलिवर ने भी इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा है कि "कोई भी व्यक्ति जो हिन्दोस्तान के सवालों से परिचित है इससे भी इनकार नहीं करेगा कि ब्रिटिश अफिसरों का झुकाव पूरी तरह से और मुख्यतः मुसलमानों के पक्ष में है। इसमें हमदर्दी का तो महज नाम है। असल में इसका उद्देश्य है हिन्दु राष्ट्रीयता के खिलाफ एक मोरचा तयार करना।"[2]

वास्तव में भारत जैसे विशाल देश पर शासन करने के लिए शासकों को अल्पसंख्यक जाति का समर्थन प्राप्त करना अति आवश्यक था। अतः मुसलमानों को शासन की शतरंज चालों का मोहरा बनाया गया। मुसलमान कांग्रेस में सम्मिलित न हों और वह शासक जाति के समर्थक बने रहें, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'मुस्लिम आंग्ल प्राच्य कालेज' अलीगढ़ के प्रिंसिपल बैक ने मुसलमानों के नेता सर सैयद अहमद खां को यह विश्वास दिलाने का प्रयास किया कि राष्ट्रीय विचार धारा मुस्लिम जनता के लिए कष्ट, परिश्रम तथा आंसुओं का मार्ग खोल देगी। बैक के तार्किक विचारों ने सैयद साहब के भावों में परिवर्तन कर दिया और मुस्लिम जाति

---

1 'विश्ववाणी'-अक्टूबर, १९४९ई०-साम्प्रदायिक समस्या कारण और परिणाम' साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व, पृ०३१० ।

2 ,, ,, ,, ,,

के उत्थान का एकमात्र ठोस साधन ऐंग्लो-मोहम्डन मैत्री मानकर प्रचण्ड राष्ट्रीय भी सैयद ब्रिटिश मैत्री की मृग-मरीचिका के पीछे दौड़ पड़े । जिन सैयद साहब ने हिन्दू और मुसलमानों को भारत वधू की दो सुन्दर आंखें माना था, जिन्होंने सन् १८८४ई० में गुरुदासपुर में हिन्दू-मुसलमानों को एक हृदय एक आत्मा होकर, मिल-जुल कर कार्य करने का संदेश दिया था । उन्हीं सैयदसाहब ने कांग्रेस, आन्दोलन की समता गृह-युद्ध से की, मुसलमानों को कांग्रेस से अलग रखने का प्रयास किया और कांग्रेस की स्थापना के एक साल बाद ही सन् १८८६ई० में `एजुकेशनल मुस्लिम एजुकेशन कान्फ्रेन्स की स्थापना कर दी । सन् १८९३ई० में मुस्लिम सुरक्षा संस्था (मोहम्डन डिफेंस एसोसिएशन ) का संगठन किया गया । मि० बेक ने अपने पत्र `गजट` में एक स्थान पर लिखा है कि " मुसलमानों और अंग्रेजों के लिए यह आवश्यक है कि संगठित होकर राजनीतिक हल-चल और लोकतंत्रीय सिद्धान्तों पर निर्मित शासन-व्यवस्था के समावेश का प्रतिरोध करें क्योंकि यह मुल्क की आवश्यकता और बुद्धि दोनों के ही विपरीत हैं । अतः हम राज के प्रति भक्ति और अंग्रेज-मुस्लिम मिलाप का जोरों से समर्थन करते हैं ।"[1] मि० बेक को अपने लक्ष्य में पूर्ण सफलता मिली । मुस्लिम भाग हिन्दुस्तान में नौकरशाही के दमन व और शोषण को निरन्तर सरल बनाता रहा ।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में लार्ड कर्जन ने बंग भंग का प्रस्ताव पारित कर मुसलमानों का यह विश्वास दिलाना चाहा था कि पूर्वी बंगाल का एक पृथक् प्रान्त बनाकर सरकार मुसलमानों को उनकी राज-भक्ति का इनाम देना चाहती है । सर हेनरी काटन के अनुसार इस योजना का उद्देश्य एकता को छिन्न-भिन्न कर बढ़ती हुई उस भावना को भंग करना था जो प्रान्त में दृढ़ हो गयी था । इसके मूल में कोई शासन सम्बन्धी कारण नहीं था । लार्ड कर्जन की नीति का मुख्य उद्देश्य बढ़ती हुई शक्तियों को दमन कर देश-भक्ति के भाव से अनुप्राणित

---

१ `हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का ऐतिहासिक विश्लेषण`--केशवप्रसाद शर्मा- `भारतीय मुसलमानों और अंग्रेजों के बीच एकता का प्रयास`,पृ०२० ।

राजनीतिक प्रवृत्तियों को नष्ट करना था । स्टेटसमैन के अनुसार इसका उद्देश्य पूर्वी बंगाल में मुसलमानों की शक्ति बढ़ाना था, जिससे हिन्दुओं की शक्ति की वृद्धि की रोक होने की आशा की जाती है[1] । किन्तु बंगाल की जनता ने कर्जन की इस चुनौती को स्वीकार किया । राष्ट्रवादी भावनाएं बलवती हो गईं । बंगाल से लेकर पंजाब तक बंगभंग के प्रस्ताव को रद्द करने के लिए भयंकर आन्दोलन हुआ और हिन्दू-मुसलमान दोनों ने ही उसमें समानरूप से भाग लिया । देशव्यापी विरोध के बावजूद भी कर्जन ने बंग-विच्छेद करके अपने एक ख्याल को पूरा कर ही लिया । बालमुकुन्द गुप्त ने कर्जन के इस कृत्य की आलोचना की । गुप्त जी ने अपने पत्र 'भारतमित्र' में अक्टूबर सन् १९०५ई० में बंग विच्छेद शीर्षक लेख में व्यंग्य की भाषा में लिखा है कि 'इंगलैण्ड के महान राज्य प्रतिनिधि का तुगलकाबाद आबाद हो गया ।... हमारे इस देश के माई लार्ड ने बंगाल के कुछ जिले आसाम में मिलाकर एक नया प्रान्त बना दिया । कलकत्ते की प्रजा को कलकत्ता छोड़कर चटगांव में आबाद होने का हुक्म तो नहीं दिया ।[2] अन्यत्र इसी लेख में गुप्त जी ने लिखा है कि सब ज्यों का त्यों है । बंग देश की भूमि जहां थी वहीं है और उसका हरेक नगर और गांव जहां था वहीं है । गया और शिलांग उड़कर हुगली के पुल पर नहीं आ बैठा । पूर्व और पश्चिम बंगाल के बीच में कोई नहर नहीं खुद गई और दोनों को अलग-अलग करने के लिए बीच में कोई चीन की सी दीवार नहीं बन गई है । पूर्व बंगाल पश्चिम बंगाल से अलग हो जाने पर भी अंग्रेजी शासन ही में बना हुआ है और पश्चिम बंगाल भी पहले की भांति उसी शासन में है । किसी बात में कुछ फर्क नहीं पड़ा । खाली ख्याली लड़ाई है ।[3]... माई लार्ड के बंग-विच्छेद से ढाका शिलांग और चटगांव में से हरेक राजधानी का सेहरा बंधवाने के लिए सिर आगे बढ़ाता है[4] । गुप्त जी के विचार से बंग विच्छेद बंग का विच्छेद नहीं है।

---

१ डा० राजेन्द्रप्रसाद -- 'खण्डित भारत', पृ० १७९ ।

२ शिवशम्भु के चिट्ठे, पृ०४८-५० ।

३ ,, पृ०५९ ।

४ ,, पृ०५२ ।

बंग निवासी इससे विच्छिन्न नहीं हुए वरन और अधिक संयुक्त हो गये[1]। उनका विचार था कि लार्ड कर्जन के तरकश में एक तीर बचा था जिससे उन्होंने बंगभूमि के वक्षःस्थल को भेद किया।

देशव्यापी विरोध के फलस्वरूप सन् १९११ई० में बंग-भंग का प्रस्ताव रद्द कर दिया गया। बंगाल के जो टुकड़े हुए थे, वह तो जुड़ गए किन्तु ब्रिटिश नौका में जो दरार पड़ी वह न जुड़ सकी। कर्जन की नीति के असफल होने पर नौकरशाही ने कुछ स्वार्थी और क्षुब्ध नेताओं को मुसलमान जनता के प्रतिनिधित्व के लिए एक संस्था बनाने के लिए प्रोत्साहित किया और ३० दिसम्बर १९०६ई० में मुस्लिम लीग की स्थापना हो गई। देश की राष्ट्रीयता हिन्दू-मुस्लिम दो भागों में विभाजित कर दी गई। क्योंकि ब्रिटिश सरकार यह अच्छी तरह समझती थी कि यदि विशाल जनसंख्या वाले इस देश में फूट फैलाकर, किसी विशेष वर्ग को लालच देकर यदि वह नहीं अपनायेगी तो उसके लिए अधिक समय तक शासन करना संभव न होगा। इसीलिए राष्ट्रीय एकता को नष्ट करके विभिन्न विरोधी वर्गों को उत्पन्न किया गया और इन वर्गों को राष्ट्रीयहितों के विरुद्ध वर्ग या सम्प्रदाय विशेष के लाभों की ओर ध्यान देने के लिए प्रेरित किया गया एवं फूट द्वारा कई राष्ट्रीयताओं में बांटकर शासन की ओर से हमें कमजोर बनाने की चाल चली गई।

लीग के जन्म के साथ ही देश को साम्प्रदायिक दंगों और साम्प्रदायिक निर्वाचन की समस्या का सामना करना पड़ा। मुसलमानों ने अपने लिए अलग निर्वाचन क्षेत्रों की मांग की और सन् १९०९ई० में मार्ले-मिण्टो रिफार्म के नाम पर हमें जो साम्प्रदायिक चुनाव और साम्प्रदायिक वजन मिला उसने राष्ट्रीय एकता को छिन्न-भिन्न कर सम्पूर्ण देश को विरोधी वर्गों में विभाजित कर दिया। देशव्यापी हिन्दू-मुस्लिम दंगे फूट पड़े और सत्ताधारियों को यह कहने का सुअवसर

---

१ शिवशम्भु के चिट्ठे, पृ०५३।

प्राप्त हुआ कि पहले एक हो जाओ, तब स्वतन्त्रता की माँग करो । विरोध निरन्तर बढ़ता ही गया और इसकी चरम सीमा पाकिस्तान के रूप में दृष्टिगत हुई ।

बीसवीं सदी की इस बढ़ती हुई साम्प्रदायिक मनोवृत्ति की निन्दा हिन्दी गद्य-साहित्य में यथास्थान और यथावसर की गई । यह कहना अनुचित न होगा कि राष्ट्रवादी और दूरदर्शी मुसलमानों ने भी इस संकुचित साम्प्रदायिकता को देश के लिए हानिकारक समझकर उसकी निन्दा की । डा० मेंहदी हुसेन ने अपने लेख 'साम्प्रदायिक एकता' में साम्प्रदायिक विद्वेष के दुष्परिणामों को व्यक्त करते हुए कहा है कि साम्प्रदायिकता हिन्दुस्तान में घुन की तरह लगी हुई है, वह एक फोड़े की तरह है, जो हमारी सारी जिन्दगी बरबाद कर रहा है।[1]

डा० मेंहदी हुसेन से मिलते-जुलते भावों की अभिव्यक्ति स्व० गणेशशंकर विद्यार्थी की स्मृति में 'विश्ववाणी' के सम्पादक श्री विश्वम्भरनाथ ने सन् १९४५ई० में की । साम्प्रदायिक विद्वेष को उन्होंने भी एक फोड़े के सदृश माना है, जो राष्ट्रीय जीवन के लिए घातक है[2]। साम्प्रदायिकता रूपी कैन्सर ने निश्चय ही इस विशालभारत संघ को छिन्न-भिन्न कर दिया । प्रेमचन्द ने भी साम्प्रदायिकता को समाज का कोढ़ माना है । क्योंकि यह दलबन्दी की भावना को बढ़ाती है[3]। साम्प्रदायिक विद्वेष की अग्नि प्रज्वलित होने से जिस देशव्यापी

---

१ 'विश्ववाणी' -मई १९४१ई०, पृ०५१७ ।

२ "इन १४ बरसों के अन्दर आपसी फूट का यह फोड़ा पककर दाप बहा रहा है और उसकी सड़न और दुर्गन्ध से न सिर्फ इसी देश के लोग बल्कि सारी दुनिया के लोग हैरान और परेशान हैं । छोटे छोटे मुल्क तरक्की और तहजीब की दौड़ में हमारे पास से नाक बन्द करके निकल जाते हैं और हम अपने इस पके हुए फोड़े के घिनौने मवाद पर भिनभिनाती मक्खियों तक को उड़ाने में अपने को नाकाबिल पाते हैं ।"
--'विश्ववाणी', अप्रैल, १९४५ई०, वर्ष ५, भाग ९, संख्या ४, संपादकीय विचार-साम्प्रदायिकता, पृ०२४७ ।

३ "हम तो साम्प्रदायिकता को समाज का कोढ़ समझते हैं जो हर एक संस्था में दलबंदी कराती है और अपना छोटा सा दायरा बना सभी को उससे बाहर निकाल देता है
--'अच्छी और बुरी साम्प्रदायिकता' - विविध प्रसंग, भाग३, (जनवरी १९३४ई०), पृ०१५३ ।

विनाश का प्रादुर्भाव हुआ, हिन्दू-मुस्लिम के नाम पर जिन विस्फोटक तत्वों को प्रश्रय दिया गया, वह निश्चय ही राजनीतिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टि से विनाश का सूचक है। इसीलिए तो आज़ाद हिन्द फौज के प्रमुख अफसर कर्नल अहसान कादिर की पत्नी बेगम अहसान कादिर ने भी कुछ लीगी छात्रों के यह पूछने पर कि आप मुसलमान होकर लीग में क्यों नहीं शामिल हो रही हैं, कहा था कि 'साम्प्रदायिकता के दिन बीत गये हैं। मुझे आश्चर्य है कि आप पढ़े लिखे व्यक्ति पाकिस्तानियों के हाथों में कठपुतली बने हुए हैं'।[1] समस्या के मूल में जाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि देश के वास्तविक शत्रु न तो अंग्रेज़ थे और न ही मुसलमान। किन्तु विदेशी शासकों की कूटनीति ने जिस साम्प्रदायिक भावना को पोषित किया वही देश की सच्ची शत्रु थी और आज भी है। श्री जयप्रकाश नारायण ने कहा है कि '.... देश का वास्तविक व शत्रु साम्प्रदायिकता का भूत है। वह साक्षात् दैत्य भी है और उस दैत्य के भाई बन्द वे सब लोग हैं जो दल-बन्दी के दलदलों में फंसकर राष्ट्र की शक्ति को क्षति पहुंचा रहे हैं।....'[2]

साम्प्रदायिकता की इस भावना ने शनैः शनैः देशी राज्यों में भी प्रवेश किया। जूनागढ़ के शासन की स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा गया है कि 'रियासत भर में साम्प्रदायिकता का बोलबाला है। दिन दहाड़े हिन्दू नेता कत्ल किये जाते हैं। मुस्लिम अफसर जान बूझकर या तो इन अत्याचारों को देखी-अनदेखी कर देते हैं अथवा उन्हें उल्टे और उत्तेजित करते हैं। नित्यप्रति हिन्दू लोग दंगे, लूट और छुरों के शिकार हो रहे हैं। हजारों हिन्दू रियासत छोड़कर भाग रहे हैं'।[3]

काश्मीर और हैदराबाद मानों साम्प्रदायिकता के गढ़ बन गए थे। काश्मीर की प्रजा का प्रश्न यदि एक और साम्प्रदायिकता को

---

1 'विश्ववाणी', फरवरी, सन १९४६, सम्पादकीय विचार, 'क्या अपना माँ के टुकड़े करोगे।', पृ०१६१।

2 'विशालभारत'-फरवरी, १९४८ई०, भाग४१, अंक २, पूर्णांक २४२-संपादकीय विचार पृ०८८।

3 ,, सितम्बर १९४७ई०, भाग४०, अंक३, संपादकीय विचार-'काश्मीर के मुसलमान' पृ०२७६

अग्नि प्रज्वलित कर रखा था तो हैदराबाद ने उसमें घृत का कार्य किया । निजाम हैदराबाद के राज्य में राज्य की ऊंची नौकरियों का हिसाब लगाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रायः मुसलमान ही उनपर आधिपत्य किए थे । अलीगढ़ से निकले ग्रेजुएटों का वह आश्रय स्थान बना हुआ था ।

साम्प्रदायिकता की भावना ने भाषा, शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में भी अपना प्रभाव डालना प्रारम्भ किया । शिक्षा के क्षेत्र में ऐसी नीति अपनाई गई जो हिन्दुस्तानी नौजवानों के दृष्टिकोण को संकुचित कर साम्प्रदायिकता के भावों को भड़का सके । शिक्षा की समस्यायें न केवल शिक्षा की दृष्टि से वरन् साम्प्रदायिक दृष्टि से देखी जाने लगीं । भाषा के क्षेत्र में साम्प्रदायिकता ने ऐसा रंग दिखाया कि "शुद्ध उर्दू न लिख सकने वाले जनाब जिन्ना साहब भी उर्दू का डंका बजाने लगे ।"[१] भाषा के माध्यम से साहित्य में जिस सांप्रदायिक मनोवृत्ति को बल प्रदान करने का प्रयास किया गया, वह अत्यन्त अहितकर है । क्योंकि साहित्य का तो कोई धर्म ही नहीं है । वह तो सद् विचारों का संग्रह है । इसलिए प्रत्येक भाषा के साहित्य को साम्प्रदायिकता से दूर रखना चाहिए ।

सामाजिक दृष्टि से साम्प्रदायिकता की भावना को बलवती करने के ध्येय से सरकार ने धर्म का आश्रय लिया और मस्जिदों के सामने बाजा बजाना धर्म की दृष्टि से अनुचित माना गया । औरंगजेब ने संगीत का जनाज़ा निकाल कर अपनी जिस निष्ठुर मनोवृत्ति का परिचय दिया था, उसी भावना की पुनरावृत्ति का हिन्दू और मुसलमान दोनों के मध्य धर्म के नाम पर एक दीवार खड़ी कर दी गई । सांस्कृतिक और सामाजिक समारोहों को सबके मिल-जुल कर मनाने के स्थान पर दोनों जातियों के मन में एक दूसरे के प्रति घृणा के भाव प्रबल हो गये और धर्म के नाम पर रूढ़िवादी अज्ञानी हिन्दू और मुस्लिम जनता को उनके स्वार्थी नेताओं ने पथ-भ्रष्ट किया । फलतः २० वीं शताब्दी के इस वैज्ञानिक युग में जब

---

१ "वीणा" -- फरवरी, सन् १९४०, संपादकीय विचार -- एक महत्वपूर्ण भाषण" पृ० ३४५ ।

समस्त विश्व प्रगति की ओर तीव्र गति से बढ़ रहा था, तब भारत अपनी क्षुद्र साम्प्रदायिक समस्याओं को हल करने में व्यस्त था ।

भाषा, शिक्षा, साहित्य और समाज से आगे बढ़कर साम्प्रदायिकता की इस भावना ने राजनीति में प्रवेश किया । यू०पी० और बिहार में --बिहार में विशेषकर राजनीति प्रशस्त मार्ग से हटकर साम्प्रदायिकता की गन्दी नालियों में प्रवेश कर गई । देशव्यापी साम्प्रदायिक दंगे फूट पड़े[१] । कांग्रेस की सुधारवादी वैधानिक नीति को कार्यान्वित करने के प्रयत्न के परिणामस्वरूप साम्प्रदायिक कटुता निरन्तर बढ़ती रही और कांग्रेस मन्त्रिमण्डल की स्थापना होने के बाद वह अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई । हिन्दू-मुस्लिम दंगे सामाजिक जीवन में नित्यप्रति की दैनिक क्रियाओं का एक अंग हो गये । अन्तरिम सरकार की स्थापना होने पर कलकत्ता और बम्बई में साम्प्रदायिक दंगे हुए । बंगाल का हत्याकांड लीगी मन्त्रिमण्डल के सहयोग से बम्बई की अपेक्षा अधिक भयंकर रहा । छोटे-छोटे साम्प्रदायिक दंगे भारत के कई नगरों एवं कस्बों में भी हुए । इस प्रत्यक्ष आन्दोलन का लक्ष्य नेहरू सरकार को पंगु बनाना था ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् देश में जो भीषण नरमेध हुआ, उसके पीछे भी साम्प्रदायिक भावना ही थी । विश्व-साहित्य में इतने भीषण हत्याकाण्ड के साथ सत्ता हस्तान्तरित करने के उदाहरण मिलना दुर्लभ है । स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय लीग द्वारा मुसलमानों के पाकिस्तान के स्वप्न को पूर्ण करने के लिए 'हिन्दुस्तान में पाकिस्तान' का नया नारा प्रचलित किया गया और लीगी मनोवृत्ति दिन-प्रतिदिन बलवती होती गई ।

साम्प्रदायिक दंगों के मूल में जाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि विदेशी सरकार अपनी सत्ता के स्थायित्व के लिए इस विशाल देश की दो प्रमुख जातियों को परस्पर लड़ाने का प्रयत्न करती थी । क्योंकि इससे शासनतंत्र को चलाने और उसे स्थायी बनाये रखने में सहायता मिलती थी । साम्प्रदायिक दंगों

---

१ विस्तार के लिए अध्याय चार, पृ० १८६ द्रष्टव्य है ।

की जड़ की ओर संकेत करते हुए 'विश्ववाणी' में कहा गया है कि "जब तक लड़ाई चलती रही तब तक पूरे ढ़ै वर्षों तक सरकार बहादुर की लाडिली पुलिस गुण्डे बदमाशों को अपने काबू में किये रही । तत्काल दंगों से लड़ाई के प्रयत्न में धक्का जो लगता, किन्तु अब दंगों से देश के राष्ट्रीय आन्दोलन को धक्का लगेगा, हिन्दू सभा और मुस्लिम लीग की चांदी रहेगी और विदेशों में ब्रिटिश साम्राज्यशाही इन खबरों के प्रचार से अपनी नैतिक धाक कायम रखने का प्रयत्न करेगी । दिनों का विश्लेषण इतना नाफी है कि एक अंधा भी यह बता सकेगा कि इन दंगों की जड़ कहां है[1] । "साम्प्रदायिकता दंगों के उद्गम की ओर संकेत करते हुए 'सरस्वती' के सम्पादकीय स्तम्भ में 'दंगे विराट्' शीर्षक के अन्तर्गत कहा गया है कि "इन साम्प्रदायिक दंगों की जड़ न धार्मिक है न असहिष्णुता है और न मजहबी जोश । ये पृथक् निर्वाचन के फूल फल हैं और विधान प्रेम के फल[2] ।"

पृथक निर्वाचन

पृथक् निर्वाचन रूपी विषवृक्ष के बीज को मार्ले मिण्टो सुधार योजना ने बोया, और लखनऊ कांग्रेस ने साम्प्रदायिक अनुपात का निश्चय करके उस छोटे से बीज को उगाया । कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने सन् १९१६ ई० के 'लखनऊ पैक्ट' में जो समझौता किया उसका मूल्य देश को पाकिस्तान के रूप में अदा करना पड़ा । पृथक-निर्वाचन की प्रणाली को एक बार स्वीकार कर लेने का परिणाम देश का विभाजन हुआ । कौंसिलों के गढ़ में स्थानों का संरक्षण हो जाने से मुस्लिम नेता अपने हम वतन हिन्दुओं का साथ छोड़कर अंग्रेजों से मिल गये । परिणामस्वरूप राष्ट्रीय एकता नष्ट हो गई और पाकिस्तान की आवाज़ बुलन्द होने लगी ।

पृथक् निर्वाचन प्रणाली की आलोचना करते हुए श्री सत्यमूर्ति ने कहा है कि "मेरा व्यक्तिगत विश्वास है कि पृथक् निर्वाचन अंग्रेजी

---

१ विश्ववाणी -अक्टूबर, १९४१ई०, 'इससे हुकूमत को मदद मिलती है', पृ०३५२ ।
२ 'सरस्वती' -दिसम्बर, १९४१ई०, भाग४७, खण्ड२, संख्या६, पृ०४५० ।

साम्राज्यवाद से किसी भी रूप में अधिक कुटिल और संहारक है[१]। भारत के भूतपूर्व न्याय सदस्य सर इमाम अली ने २८ अप्रैल सन् १९३२ ई० को कहा था कि "पृथक् निर्वाचन का अर्थ राष्ट्रीयता का संहार है। यदि सम्प्रदायों के बीच में लोहे की दीवारें राजनैतिक क्षेत्र में खड़ी कर दी जायगी तो सामयिक जीवन का अन्त हो जायगा और रोजमर्रा की जिन्दगी असहनीय हो जायगी[२]।" देहली के 'हिन्दुस्तान-टाइम्स' ने भी इस निर्णय को बुद्धि और राष्ट्रीयता के विपरीत बतलाते हुए कहा कि "प्रधानमन्त्री का निर्णय समस्त देश को साम्प्रदायिक राजनीति के जंगल में और भी अधिक फंसाने वाला और राष्ट्रीय जीवन में गम्भीर कलह उत्पन्न करने वाला है। + + + +[३]"

पृथक् निर्वाचन को स्वीकार करने से राष्ट्रीय एकता को आघात पहुंच रहा था, अतः इस सिद्धान्त का त्वरित गति से विरोध किया गया। अल्पसंख्यक सलाहकार समिति की सिफारिशों में भी कहा गया है कि "साम्प्रदायिक चुनाव का अन्त किया जाना चाहिए, क्योंकि पृथक् चुनाव हमेशा से राष्ट्रीय उन्नति में बाधक रहे हैं। भूतकाल में इससे बड़े बड़े खतरे पैदा होते रहे हैं और भविष्य में भी यह प्रणाली घातक सिद्ध होगी।....[४]" सर पी०सी० राय

---

१ " I personally believe that these separate electorates are more insidious than British Imperialism in any other form"

--वीणा मार्च, १९४०ई०, सम्पादकीय विचार पृ० ६०५।

२ श्री मारकण्डेय वाजपेयी --'साम्प्रदायिक निर्णय'-'सरस्वती', सितम्बर, १९३४ई० पृ० २३१।

३ 'चांद' सितम्बर, १९३२, 'रंगभूमि साम्प्रदायिक निर्णय', पृ०५७२।

४ 'विशालभारत' -जुलाई १९४७ई०, भाग४०, अंक१, पूर्णांक २३५, सम्पादकीय विचार, पृ० पृ०६८।

ने साम्प्रदायिक निर्णय को राष्ट्रोन्नति में बाधक माना है[1]।

राष्ट्रवादी मुसलमानों ने भी पृथक् निर्वाचन की माँग को मुसलमानों के लिए अहितकर और राष्ट्रीयता के लिए अपमानजनक माना। मिस्टर जिन्ना की कुछ शर्तों का उत्तर देते हुए एक राष्ट्रवादी मुसलमान सज्जन ने कहा है कि 'डेढ़ करोड़ मुसलमानों का पृथक् निर्वाचन की माँग उनके आत्मविश्वास के अभाव, अकर्मण्यता और उच्छृंखलता पर अवलम्बित है[2]।' राष्ट्रवादी मुसलमानों का विचार था कि पृथक् निर्वाचन की माँग प्रस्तुत करके साम्प्रदायिक मुस्लिम नेता बाईस करोड़ देशवासियों से सम्बन्ध विच्छेद कर अपने पैरों में आप कुल्हाड़ी मार रहे हैं। क्योंकि शासन की बागडोर सदा के लिए हिन्दुओं के हाथ में चली जायगी और वे मनमाने ढंग से शासन चलायेंगे। डेढ़ करोड़ मुसलमानों का आधारहीन स्वार्थ के नाम पर पाँच करोड़ मुसलमानों की स्वतन्त्रता का अपहरण करने की नीति अपनाकर जिन्ना साहब ने अपनी राजनीतिक अदूरदर्शिता का परिचय दिया। राष्ट्रवादी मुसलमानों ने उसकी कटु आलोचना की है, क्योंकि साधारण कोटि के हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही यह चिन्ता न थी कि कौंसिल में किसके सदस्य अधिक हैं। वास्तव में ये सब झगड़े कुछ गिने-गिने नेताओं के थे, जिन्हें कौंसिल में जाना था और जिनकी मनोवृत्ति साम्प्रदायिकता से दूषित हो चुकी थी।

'विशालभारत' के सम्पादक ने फरवरी १९३१ ई० में सम्पादकीय विचार स्तम्भ के अन्तर्गत हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की भावना को बलवती करने के उद्देश्य से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि भारत के भावी राजनैतिक भवन की नींव सम्मिलित चुनाव के आधार पर ही रखनी चाहिए। यदि ऐसा न किया गया तो यह भवन दस वर्ष भी खड़ा नहीं रह सकता[3]।' रैम्जे मेकडानेल्ड

---

१ "यह एक जाति को दूसरी जाति के विरुद्ध खड़ा करने वाला है। इससे राष्ट्रीयता की वृद्धि सर्वथा रुक जायगी।"

--'चाँद' सितम्बर, १९३२ ई०, रंगभूमि - साम्प्रदायिक निर्णय, पृ० ५७३।

२ 'विशालभारत', नवम्बर, १९३० ई०, भाग ६, अंक ५, वर्ष ३ सम्पादकीय विचार--'एक राष्ट्रवादी मुसलमान सज्जन का कथन', पृ० ६७८।

३ 'विशालभारत' भाग ८, अंक ३, पृ० ३७९।

डा० बेनर्जी और राधा कुमुद मुकर्जी ने भी पृथक् निर्वाचन का विरोध और सम्मिलित चुनाव प्रथा का समर्थन किया है[१]।

साम्प्रदायिक निर्वाचन राष्ट्रीयता के मार्ग में बड़ा भारी रोड़ा साबित हुआ। भारतीय राष्ट्रीयता के विरोधियों ने साम्प्रदायिक निर्वाचन का एक भयंकर दूषित अस्त्र के रूप में प्रयोग किया। फलत: हिन्दू और मुसलमानों के मध्य एक अप्राकृतिक खाई खुद गई और निर्वाचन पद्धति के साथ हा फूट का निश्चित और संगठित तरीका भी राजनीतिक क्षेत्र में फैलाया गया। कुछ स्वार्थी साम्प्रदायिक नेताओं के साथ समझौता करके सरकार ने देशव्यापी विरोध के बावजूद भी पृथक् निर्वाचन को कानून की दृष्टि से उचित माना। क्योंकि सांप्रदायिक

१(क) "यदि हिन्दुस्तान के राजनैतिक जीवन को दृढ़ता से बढ़ने देना है तो ऐसे राष्ट्रीय दल को पनपने के लिए मौका देना चाहिए जो हिन्दुस्तान के संपूर्ण हितों का ख्याल करे। क्योंकि संसार के किसी भी राष्ट्र में जहां जनतंत्रात्मक शासन प्रणाली है-सम्पूर्ण राष्ट्र को कमजोर बनाने वाले संकुचित वर्गों को कोई स्थान नहीं है। किन्तु सन् १६३० के सुधारों में साम्प्रदायिक निर्वाचन के तरीके को और भी उत्तेजना दी गई।" -- रैमजे मैकडानेल्ड

(ख) "साम्प्रदायिक निर्वाचन का तरीका खत्म या कम करने के बजाय और पक्का कर दिया गया। उसे कई दिशाओं में फैलाया गया जो अभी तक इससे अप्रभावित थीं। ब्रिटिश हुकूमत द्वारा तो यह भी कोशिश की गई कि हिन्दू जाति में फूट पड़ जाये और उसके दो हिस्से हरिजन और सवर्ण हो जायें।"

-- डा० बेनर्जी

(ग) "यह कुचक्र हिन्दू और मुसलमानों में तफरका पैदा करके शान्त नहीं हुआ। इसने हरिजन, सवर्ण हिन्दू, जमींदार-किसान, मजदूर व्यापारी, सिख-पारसी आदि कई प्रकार के बंटवारे खड़े कर दिए।"

-- राधाकुमुद बेनर्जी, "विश्ववाणी", अप्रैल १६४६० -- पाकिस्तान की बुनियादी वजह (गौरीशंकर मिश्र), पृ० ३२५-३२६।

प्रतिनिधित्व हिन्दुस्तान में राष्ट्रीयता को नष्ट कर अंग्रेज़ हुकूमत और उसके शोषण को सरल और चिरस्थायी बनाने में सहायक था । प्रिवी कौंसिल के माननीय न्यायाधीश लार्ड शा ने एक मुकदमे का निर्णय देते हुए कहा था कि "साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व सिद्धान्त अंग्रेज़ी जनता की क़ानूनी किताबों में स्थान नहीं पा सकता ।"[1] अंग्रेज़ी जनता की कानूनी किताबों में जिस पृथक् निर्वाचन को स्थान नहीं दिया गया वही पृथक् निर्वाचन भारत में नौकरशाही ने अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए जायज़ माना । क्योंकि ब्रिटेन में राष्ट्रीय एकता बनाये रखना था और भारत में उसी राष्ट्रीय एकता को छिन्न-भिन्न कर सम्पूर्ण देश को टुकड़ों में विभाजित करना था ।

स्वराज्य और पृथक् निर्वाचन एक-दूसरे के विरोधी हैं । मिस्टर माण्टेग्यु ने कहा था कि " हम निस्संकोच यह नतीजा निकालते हैं कि उन राष्ट्रों का स्वायत्त शासन का इतिहास जिन्होंने संसार में उसे विकसित किया और फैलाया निश्चित तौर से विभाजन के विरुद्ध है । वह उन दलों के भी खिलाफ़ है जो अपने देश के लोगों को इस तरह से बढ़ावा दे देते हैं कि वे अपने को किसी विभाग या इकाई की प्रजा समझें न कि समूचे राष्ट्र की ।"[2] रामानन्द चैटर्जी और शंकरदयालु श्रीवास्तव ने पृथक् निर्वाचन को प्रजातंत्र के सिद्धान्तों के प्रतिकूल माना है ।[3] यदि भारत में इस साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को बढ़ावा न दिया गया होता तो कदाचित् नौकरशाही को यह कहने का अवसर न मिलता कि पहले एक हो जाओ

---

1 'विश्ववाणी', अप्रैल १९४१ई०, वर्ष ६, भाग ११, संख्या ४, पाकिस्तान की बुनियादी वजह --गौरीशंकर, पृ० ३२५ ।

2 ,, ,, ,,

3 "यह निर्णय प्रजातंत्र के सिद्धान्तों और उत्तरदायी शासन के सर्वथा प्रतिकूल है ।" --रामानन्द चैटर्जी--सम्पादक माडर्न रिव्यु (चांद-सितम्बर, १९३२, 'रंगभूमि' साम्प्रदायिक निर्णय, पृ० ५७२ ।

"पृथक निर्वाचन की व्यवस्था लोक सत्ता के सिद्धान्त के प्रतिकूल है, एकता और राष्ट्रीयता के लिए विघातक है, ... " 'भारतीय राजनीति का दुखद प्रकरण' --शंकरदयालु श्रीवास्तव --'सरस्वती', भाग ४२, खण्ड २, संख्या ५, पूर्ण संख्या ५१५, नवम्बर १९४१ई०, पृ० ४८० ।

तब स्वतन्त्रता की मांग करी । सम्भवत: भारत के लिए वह दिन सबसे दुर्भाग्यपूर्ण था, जब उसने पृथक्-निर्वाचन को स्वीकार किया । यदि पृथक् निर्वाचन का प्रथा ब्रिटिश सरकार ने चालू न का होता तो पंजाब, बंगाल और बिहार में खून का नदियां न बहतीं और न भारत का विभाजन हा होता ।

देश-विभाजन

समस्या के मूल में जाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश हुकूमत ही वास्तव में पाकिस्तान का प्रवर्तक था । शासन से बढ़ावा पाकर साम्प्रदायिकता की बढ़ती हुई भावना ने राष्ट्रीय आन्दोलन में व्यवधान उपस्थित करने के साथ ही भारत को विभाजित करने में भ अपूर्व योगदान दिया । साम्प्रदायिकता की उस समस्या को सुलझाने का जितना यत्न किया गया, वह उतनी ही उलझती गई । क्योंकि साम्प्रदायिक विष को फैलाकर भारतीय स्वतन्त्रता को पंगु बनाने के लिए अनेक सरकारी पदाधिकारी गुप्तरूप से सचेष्ट थे ।

सरकार की जाति-भेद का नीति ने देश-विभाजन के लिए सुदृढ़ पृष्ठभूमि तैयार करके विषम स्थिति उत्पन्न कर दी । देशवासियों के सामने देश का विभाजन अथवा पराधीनता दो ही विकल्प थे और दोनों में से एक को स्वीकार करना ही था । विभाजन का आवश्यकता पर बल देते हुए शरत्चन्द्र बसु ब ने कहा है कि "नोआखाली, बिहार और पंजाब को रक्त रंजित भूमि कराह रहा है ।..... सवाल तो आजादी और गुलामी का है । अंग-भंग के बिना गुलामी का पुतला मार डालेगी ।"[१] विभाजन के लिए उत्पन्न त्याग को तुलना महाभारत की यादव जाति से करते हुए 'विशालभारत' के सम्पादक ने लिखा है कि " जब शरीर का एक अंग इतना खराब हो गया हो कि बिना उसके काटे सारे शरीर में जहरबाद फैलने की आशंका हो तो समझदारी इसी में है कि शरीर

---

१ 'विशालभारत', मार्च १९४७ई०, भाग३९, अंक३, पूर्णांक २३१, सम्पादकीय विचार, श्री शरत्चन्द्र बसु की लचर दलील, पृ०२११ ।

के उस भाग को काट देना चाहिए । बंगाल के यदि इस प्रकार टुकड़े न हुए तो महाभारत की यादव नीति के अनुसार यादवों के नाश से पूर्व बंगाल से राष्ट्रीयता भारतीय संस्कृति और बंगाल की देन के ध्वंसावशेष ही रह जायेंगे।[1]

राजनीति की गति विचित्र है । सन् १९०५में लार्ड कर्जन ने जिस बंग-भंग को साम्प्रदायिक विद्वेष को भड़काने के लिए एक सशक्त अस्त्र के रूप में स्वीकार किया था, वही बंग-भंग स्वतन्त्रता प्राप्ति का एकमात्र साधन सिद्ध हुआ और जिस बंगाल-विभाजन ने किसी समय देश-व्यापी असहयोग आन्दोलन को ब जन्म दिया था, उसी विभाजन को भारतीयों ने भावी दुष्परिणामों पर विचार किए बिना स्वतन्त्रता प्राप्ति के हेतु स्वेच्छा से स्वीकार किया। भारत को स्वतन्त्रता मिली, किन्तु उसमें विभाजन का कलंक लगा हुआ था ।विभाजन का दायित्व किसी एक व्यक्ति पर नहीं डाला जा सकता । ब्रिटिश कूटनीति, मुस्लिम लीग और देशवासियों की अज्ञता समानरूप से विभाजन के लिए उत्तरदायी है ।

मुस्लिम लीग के सभापति जिन्ना साहब ने पाकिस्तान योजना प्रस्तुत करके अनेक जातियों को अपना-अपना अलग राज्य मांगने के लिए प्रेरित किया और बंगाल और पंजाब मुस्लिम लीग के पाकिस्तानी स्वर्ग को रौंद बन गये । बंटवारे की इस पद्धति पर व्यंग्य और उसके समर्थकों एवं जन्मदाताओं के शासन के भेद का उपहास करते हुए 'वीणा' में कहा गया है कि 'हिन्दुस्तान की भूमि का यह बटवारा जिन्ना साहब के आला दिमाग की उपज है ।'[2] जनवरी १९४८ई० का 'विशालभारत' का सम्पादकीय भी इस तथ्य की पुष्टि करता है कि विभाजन का दायित्व जिन्ना साहब पर है[3] ।

---

१ 'विशालभारत, मार्च१९४७ई०, सम्पादकीय विचार- पंजाब और बंगाल का विभाजन किस लिए', पृ०२११ ।

२ 'वीणा' मई, १९४०ई०, पृ०६०५ ।

३ 'विभाजन का दायित्व जिन्ना पर रहेगा । वह शक्ति और पद के लोभ में इतने उन्मत्त थे कि चाहे कितनी ही खून खराबी हो और चाहे किसी का कुछ बिगड़े पाकिस्तान के प्रवर्तक के रूप में उन्हें होना ही चाहिए ।'

--'विशालभारत', जनवरी, १९४८, पृ०४ ।

सम्पूर्ण मुस्लिम सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करने का दावा करने वाले जिन्ना साहब के विभाजन के प्रस्ताव का विरोध स्वयं मुस्लिम जनता ने भी किया। आजाद हिन्द फौज के कर्नल अहसान कादिर की पत्नी बेगम अहसान कादिर ने लोगों छात्रों को यह सन्देश दिया था कि "भारत तुम्हारी मातृ-भूमि है। खुदा और इस्लाम के नाम पर इसके टुकड़े न करो। क्या आप अपनी मां के साथ ऐसा करने की कल्पना भी कर सकते हैं? क्या यह मूर्खता पूर्ण के विचार नहीं है।"[1]

विचारणीय यह है कि हिन्दु और मुसलमान जनता के विरोध के बावजूद भी अंग्रेजों की कूटनीति और कुछ स्वार्थी व्यक्तियों के शासन के मद के परिणामस्वरूप देश का विभाजन हुआ, जिसके दुष्परिणाम आज भी भारत और पूर्वी बंगाल (बंगला देश) की जनता को भोगने पड़ रहे हैं। स्वतंत्र भारत को प्रारम्भ से ही साम्प्रदायिक विवादों का सामना करना पड़ा और पूर्वी बंगाल की जनता कभी भी स्वतन्त्रता का रसास्वादन न कर सकी। क्योंकि पाकिस्तान के केवल कुछ गिने-गिने परिवार ही साम्राज्य का सुख भोगते रहे और पूर्वी बंगाल को उन्होंने एक उपनिवेश के रूप में संरक्षण प्रदान करके उसका उसी प्रकार शोषण किया, जिस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने सम्पूर्ण भारत का दो सौ वर्षों तक शोषण किया था।

पन्द्रह अगस्त सन १९४७ ई० को भारत पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त हुआ। शासन की बागडोर साम्राज्यवादियों के हाथों से निकल कर जन-प्रतिनिधियों के हाथ में ~~निकल-कर-आ~~ आ गई। भारतीयों को स्वराज्य मिला और स्वराज्य के साथ ही वह सुराज्य के स्वप्न देखने लगे। किन्तु स्वतन्त्रता के उषाकाल में ही अहिंसात्मक आन्दोलन विफल हो गया और देश को सांप्रदायिकता के नाम पर भीषण नर-संहार का सामना करना पड़ा। अखण्डित भारत खण्डित हो गया और साथ ही हजारों वर्षों से साथ रहने वाले हिन्दू और मुसलमान दोनों

---

१ 'विश्ववाणी', फरवरी १९४६, सम्पादकीय विचार, पृ० १६९।

जातियां भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों के लिए धर्म और सम्प्रदाय की ओट में पाशविक प्रवृत्तियों का प्रदर्शन करने लगीं । क्षुद्र स्वार्थों के लिए मानव-धर्म का त्याग कर दिया गया । फलतः राजनीतिक तथा आर्थिक भारतीयों के हाथ में आने पर भी देश की समस्याएं निरन्तर उलझती ही गईं । ब्रिटिश शासन का अन्त होने पर राष्ट्रीय सरकार या उनकी अपनी पार्टियां देशवासियों के आर्थिक एवं सामाजिक भविष्य पुनर्निर्माण के विषय में सोचने के स्थान पर पाकिस्तान और अखण्ड भारत का हल, बंगाल, पंजाब और आसाम के विषय में निर्णय, या क्या बिहार का हत्याकाण्ड नोआखाली का बदला था इत्यादि के विषय में विचार करने में संलग्न हो गईं ।

राष्ट्रीय सरकार के अस्तित्व में आने के पश्चात् जन-सामान्य के कष्टों की अवहेलना करके नेतागण बड़े बड़े व्यापारियों और मिल-मालिकों को परोक्ष रूप से सहायता पहुंचाकर शोषक वर्ग के राष्ट्रीय साधन बने । स्वराज्य और समृद्धि की जिस आशा से जनता ने वांछित आत्म-त्याग किया था उसके फलस्वरूप उसे वह समस्याएं पुनः प्राप्त हुईं जिन्हें अंग्रेजों की सृष्टि बताकर बुरा कहा जाता था । राष्ट्रीय सरकारों के अस्तित्व में आने के पश्चात् साधारण जनता की स्थिति का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि साधारण मनुष्य को तो करफ्यू के लम्बे-लम्बे घण्टों, ~~शासन का कम भय~~, प्राणों का जोखिम एवं चिन्ता बेकारी या साम्प्रदायिक दंगों में धन-जन की हानि के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिला ।

जब तक देश का विभाजन नहीं हुआ था, हम साम्प्रदायिकता के दाहकारी रोग से ग्रसित हो रहे थे और जब धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर भारत का विभाजन कर दिया गया तब साम्प्रदायिकता का स्थान प्रान्तीयता ने ले लिया । कितने ही प्रान्तों ने प्रान्तीयता के इस विष को जान बूझकर फैलाया । फलतः एक ओर जहां विभिन्न प्रान्तों के बीच विरोध, वैमनस्य एवं विद्वेष की सृष्टि हुई वहां दूसरी ओर भाषा या बोलियों के आधार पर

एक हो। प्रान्त को कई भागों में विभक्त करके प्रान्त की संहति प्राप्त करने की कुचेष्टा होने लगी। जब तक अंग्रेज़ यहां के शासक थे, तब तक भाषा के आधार पर प्रान्तों के पुनर्विभाजन की हम भारतवासी कल्पना भी नहीं करते थे। किन्तु अंग्रेज़ों के जाने के बाद अखिल भारतीय राष्ट्र और उसके सामूहिक स्वार्थ के सम्बन्ध में न सोचकर हम भारतवासी अपने-अपने प्रान्त के स्वार्थ के सम्बन्ध में सोचने लगे। प्रत्येक प्रान्त अपने सीमान्त विस्तृत करने के लिए व्यग्र हो उठा। यद्यपि यह सत्य है कि कांग्रेस ने भाषा के आधार पर प्रान्तों के विभाजन का सिद्धान्त स्वीकार कर एक भारी भूल की, किन्तु इससे यह आशय नहीं कि विषम समस्याओं के समाधान के लिए राष्ट्र की संगठित शक्तियों का उपयोग न करके प्रान्तों के पुनर्विभाजन के प्रश्न को ही सर्वोपरि स्थान दिया जाय और इस प्रश्न को हल करने में ही राष्ट्र की शक्तियों का दुरुपयोग हो।

स्वतन्त्र्योत्तर भारत की समस्यायें

अंग्रेजों की कूटनीति और स्वार्थपरता ने स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय सरकार के सामने अनेकानेक विषम समस्याओं को उपस्थित कर दिया था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत की प्रमुख राजनीतिक समस्या भारतीय संघ में देशी रियासतों के विलयन की समस्या थी। क्योंकि स्वतन्त्रता के मार्ग में अधिकांश रियासतें प्रारम्भ से ही रोड़े का काम करती रही थीं। इनकी स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए 'विशालभारत' के सम्पादक ने कहा है कि '.....भारतीय जनता रूपी निरीह पक्षी के लिए ब्रिटिश सत्ता रूपी शिकारी की कलाई पर ये बाज का काम करती रहीं।[1] किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अनेक रियासतों ने भारतसंघ में सम्मिलित होने में जो तत्परता दिखाई वह उनके स्वदेश-प्रेम की प्रतीक है। उड़ीसा और छत्तीसगढ़ की रियासतों के विलयन से प्रान्तों का क्षेत्र विस्तृत हो गया

---

१ 'विशालभारत' नवम्बर, १९४७ई०, सम्पादकीय विचार- 'उड़ीसा और छत्तीसगढ़ की रियासतों को बधाई', पृ०३३६।

और बहुमूल्य खनिज-सम्पदा से देश की वार्षिक आय में लगभग दो करोड़ की वृद्धि हुई। अतः इन रियासतों की प्रशंसा करते हुए 'उड़ीसा और छत्तीसगढ़ की रियासतों को बधाई' शीर्षक के अन्तर्गत कहा गया है कि "यह कौन कम बात है कि देश के सामन्तों ने समय को पहचाना और अपनी रियासतों में उत्तरदायी शासन स्थापित करने की घोषणा की। पर इससे भी बढ़कर उड़ीसा और छत्तीसगढ़ के राजाओं की क्रियात्मक कल्पना-शक्ति है, जिन्होंने स्वेच्छा से भारतसरकार को अपनी रियासतों को भारतीय संघ में उसी प्रकार समर्पित कर दिया है, जिसप्रकार नदियां अपने आप महासागर को भेंट हो जाती हैं।"[1] सरदार वल्लभभाई पटेल की राजनीतिक बुद्धिमत्ता ने रियासतों का भारतीय संघ में विलयन कर ब्रिटिश कूटनीति को पनपने का अवसर नहीं दिया। ब्रिटिश सरकार की भारतीय रियासतों के प्रति घोषित नीति इस तथ्य की पुष्टि करती है कि वह इन रियासतों के माध्यम से भारत की राष्ट्रीय एकता में व्यवधान उपस्थित करना चाहते थे। रियासतों के माध्यम से भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप करने की इंग्लैण्ड के अनुदार दल की चाल असफल रही। हैदराबाद की सैनिक कार्यवाही ने निजाम को झुकने के लिए विवश किया और रज़ाकारों के नेता भाग गए। ब्रिटिश प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने हैदराबाद को अपनी कूटनीति का अखाड़ा बनाना चाहा था, किन्तु निजाम की सरकार के आत्म-समर्पण ने स्थिति को पलट दिया। साम्प्रदायिकता की आड़ में उपद्रव और भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप की सम्भावनाएं समाप्त हो गईं।

राष्ट्रीय सरकार के सम्मुख दूसरी प्रमुख समस्या अन्नाभाव की थी। अन्न के मूल्य में निरन्तर वृद्धि होने से सर्वत्र त्राहि-त्राहि मची थी। बंगाल आदि प्रान्तों में भुखमरी फैलने से शासन के कान खुले और अनाज पर कण्ट्रोल हो गया। किन्तु क्या यह समस्या का सही निदान था। देशव्यापी कण्ट्रोल व्यवस्था से जनता की अपेक्षा पूंजीपतियों और विभागीय कर्मचारियों को ही अधिक

---

1 'विशालभारत', नवम्बर, सन् 1947, सम्पादकीय विचार, पृ० 336।

लाभ हुआ । कण्ट्रोल के दुष्परिणामों की ओर इंगित करते हुए रामरत्न गुप्त ने कहा है कि "...... कण्ट्रोल ने भी अपना रंग दिखाया । देश भर में भुखमरी फैली । मनुष्य को कभी-कभी प्रतिदिन छटांक भर ही खाने को दिया गया । जनता फिर परेशान हो गई । देश भर में फिर चीत्कार सुनाई देने लगा[१]।" कण्ट्रोल के परिणाम-स्वरूप चोर बाजारी, रिश्वतखोरी और भ्रष्टाचार बढ़ता गया और सरकार को विदेशों से अन्न की भिक्षा मांगनी पड़ी । फिर भी समस्या का समाधान न हुआ। बापू ने कण्ट्रोल के विरुद्ध आवाज उठायी । कण्ट्रोल हटा दिया गया, वस्तुओं के भाव भी गिरे । किन्तु उसी समय महात्मा गांधी की हत्या हो जाने से मिल-मालिक और करोड़पति अपने आश्वासनों को भूल गए और भाव पुनः चढ़ने लगे । प्रभाकर माचवे ने मूल्यों की वृद्धि की ओर संकेत करते हुए कहा है कि "अभाव में भाव तो बढ़ता ही है । दोनों का उदाहरण सामने है ।"[2] मूल्यों में वृद्धि से मंहगाई ने भीषण रूप धारण किया । राष्ट्रीय सरकार को मंहगाई की समस्या का एकमात्र हल पुनः कण्ट्रोल ही मिला , किन्तु समस्या बनी रही । इस समस्या की ओर संकेत करते हुए रामरत्न गुप्त ने कहा है कि " कण्ट्रोल राशन फिर लगाया गया, लेकिन समस्या जैसी थी , वैसी अब भी है । आज समस्त जनता के समक्ष एक विकट प्रश्न है अनाज समस्या का हल.... ।"[3]।

कण्ट्रोल का अपने उद्देश्य में सफल न होने का मुख्य कारण राज-कर्मचारियों और सामान्य जनता की अनैतिकता थी । क्रान्तिकारी संस्था कांग्रेस के अनेक सदस्य तक चोर बाजारी और भ्रष्टाचार के दलदल में फंसे फंसे थे । किन्तु इस अनैतिकता ~~('कवि मिलना' -- खरगोश के सींग , पृ०१३४)~~ के प्रमाण मिलने पर भी अपराधी दण्डित न किए गए । सरकार की इस दुर्नीति का उल्लेख करते हुए 'ईमानदारी का पुरस्कार' शीर्षक के अन्तर्गत 'विशालभारत' के सम्पादक ने कहा है कि "क्या कठोर कर्तव्य इस बात की प्रेरणा नहीं देता कि चोर बाजारी करने

---

१ 'अनाज समस्या कैसे सुलझाई जा सकती है ?' -- 'विशालभारत' नवम्बर, १९४८, भाग४२, अंक५, पूर्णांक २५१, पृ०३००-३०१ ।

२ [illegible] 'कवि मिलना' — 'खरगोश के सींग' — प्रभाकर माचवे, पृ०134।

वाले बड़े से बड़े व्यक्ति को दण्ड मिलना चाहिए ।"[1] ५ दिसम्बर १९४७ई० को युक्त प्रान्तीय कौंसिल में चोर बाजारी को रोकने का बिल स्वीकार हो गया । जिसके द्वितीय वाचन पर भाषण देते हुए रसद विभाग के मंत्री सी०बी० गुप्ता ने कहा कि " जनता के मन से यह भावना दूर कर देना है कि बड़े बड़े व्यापारी कानून की पकड़ से बचते ही रहेंगे और अपने रुपये के बल पर वे समाजविरोधी कृत्य करते ही जायेंगे, जब तक कि वकीलों की मदद उन्हें मिलती रहेगी ।"[2]

कण्ट्रोल और चोरबाजारी ने रिश्वत को प्रोत्साहित किया । ब्रिटिश शासन में रिश्वत का अर्थ उत्पीड़न था किन्तु स्वराज्य सरकार में उसी रिश्वत का अर्थ सहयोग हो गया ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रनायकों ने राष्ट्रोन्नति की दृष्टि से योजनाएं बनाईं किन्तु जन सामान्य की स्थिति में जितना सुधार होना चाहिए था, उतना नहीं हुआ । क्योंकि उच्च पदाधिकारी जनहित के नाम पर अपने स्वार्थों को पूर्ण करने का प्रयत्न करने लगे । फलतः दारिद्र्य और बेकारी का निराकरण न हो सका । इस स्थिति से असन्तुष्ट होकर प्रकाशचन्द्र गुप्त ने नायकों की शोषण नीति पर व्यंग्य करते हुए यह स्पष्ट किया है कि गरीबी भूख और बेकारी के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए जनता को ही अपने प्राण और शरीर से कठोर बांधों का निर्माण करके शोषण का अन्त करना होगा । बड़ी-बड़ी योजनाएं और कागजी बांध उसकी स्थिति में सुधार नहीं कर सकेंगे ।[3]

---

१ 'विशालभारत' -- सम्पादकीय विचार,नवम्बर,१९४७,पृ०३३३ ।

२ 'यू०पी० सरकार की चोरबाजारी सम्बन्धी नीति' -- 'विशालभारत' नवम्बर, १९४८,पृ०३३८ ।

३ 'आज फिर देश में भयंकर बाढ़ आई है -- भूख,बेकारी,गरीबी और महामारी की । इसके विरुद्ध अपनी आधुनिकता की निरन्तर दुहाई देने वाले गर्वोन्नत शासककौन से बांध बना रहे हैं ? ऊंचे ऊंचे वेतनधारी पदों और लूटमार के बांध ? जनता की रक्षा इन कागजी बांधों से क्या होगी ? जनता के शोषक विलायती मुगल तो पत्थर के एकाध बांध अपनी स्मृति की रक्षा के लिए छोड़ भी गए हैं, किन्तु इन आधुनिक शोषकों के स्मारक क्या यही लूटमार और अभूतपूर्व शोषण के गढ़ रह जायेंगे ? इस तूफानी बाढ़में उनकी कागज की नावें भी कितने दिन चल सकेंगी ?

अन्त में इस गरीबी भूख और बेकारी के विरुद्ध जनता को ही अपने शरीर और

स्वातन्त्र्योत्तरकालीन भारत को एक स्वतन्त्र राष्ट्र की हैसियत से देश की आन्तरिक समस्याओं का समाधान करने के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी अनेकानेक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करके अपने राष्ट्रीय गौरव को बढ़ाना था, विश्व में अपना एक विशेष स्थान बनाना था और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वसुधैव कुटुम्बकम् और विश्वबन्धुत्व के भावों का प्रचार और प्रसार करके भारतीय राजदर्शन के प्राचीन आदर्शों को पश्चिम की भौतिकतावादी राजनीति के समकक्ष रखना था, अत: अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए भारत को अपनी विदेश नीति निर्धारित करने में बड़ी सतर्कता और सजगता की आवश्यकता थी। चार दिसम्बर सन् १९४७ई० को प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने अपनी राजनीतिक दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता का परिचय देते हुए पार्लियामेण्ट के अधिवेशन में देश की विदेश नीति की घोषणा की और यह स्पष्ट कर दिया कि भारत विश्व की प्रतिद्वन्द्वी गुटबन्दी से अलग रहेगा।

निष्कर्ष

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में देश की राजनीतिक परिस्थितियां जटिल हो गई थीं, अत: इस युग का साहित्य भी राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप ही गूढ़ और गम्भीर है। राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति सीधी, सरल और रोचक नहीं है। राजनीतिक परिस्थितियों की जटिलता ने अभिव्यक्ति के स्वरूप को एक सीमा तक जटिल बना दिया है। इस समय तक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही क्षेत्रों में घटनाक्रम का विकास त्वरित गति से होने के कारण विषय का क्षेत्र विस्तृत हो गया। अत: शासक और शासनतंत्र की प्रशंसा करने के स्थान पर साहित्यकार शासन की आलोचना करने की ओर विशेषरूप से उन्मुख हुआ और हिन्दी गद्य-साहित्य में राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति के स्वीकारात्मक स्वरूप की अपेक्षा आलोचनात्मक स्वरूप पर विशेष बल दिया गया। क्योंकि सरकार शोषण और दमन की कठोर नीति का अनुसरण करके और जनमत को दबाकर उनपर बलात् शासन करना चाहती थी। जन-सामान्य की राजनीतिक चेतना राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का ज्ञान एवं साहित्यकार के साथ

ही साथ राजनीतिज्ञों द्वारा दायित्व ग्रहण कर लिया जाने के कारण सरकार की आतंकवाद की नीति का उत्तर प्रति आतंकवाद की नीति द्वारा दिया गया। अतः हिन्दी गद्य-साहित्य में शासन की प्रशंसा और आलोचना के साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलन, साम्प्रदायिक समस्या, भारत विभाजन एवं समस्त राष्ट्रीय समस्याओं का विश्लेषण किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के प्रति साहित्यकार की जागरूक दृष्टि ने भी विश्व राजनीति की उलझी हुई परिस्थितियों को सुलझाने का सुअवसर प्रदान किया। हिन्दी के गद्यकारों ने इस परिस्थिति से लाभ उठाकर जन-सामान्य को युग की गूढ़तम राजनीतिक समस्याओं में प्रवेश कराके उनके सुलझाने का साधन बनाया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् देश के नव-निर्माण का उत्तरदायित्व वहन कर हिन्दी के गद्यकार राष्ट्रीय सरकार की गतिविधियों का विश्लेषण करने के साथ ही जन-सामान्य को जनतंत्र शासन-पद्धति में जनमत का महत्त्व समझाने में संलग्न हो गये। स्वतन्त्र भारत की समस्याओं का उल्लेख करके उन्होंने अपनी जागरूक राजनीतिक दृष्टि एवं स्वतन्त्र चिन्तन की प्रवृत्ति का परिचय दिया। राष्ट्रीय सरकार के कार्यों की निष्पक्ष आलोचना करके हिन्दी-गद्य-लेखकों ने जनतंत्र की सफलता में अप्रत्यक्ष रूप से अपना सहयोग देने के साथ ही अपने राजनीतिक दायित्व को भी पूर्ण किया।

-0-

अध्याय - नौ

आलोच्य काल के गद्य के कलात्मक स्वरूप को राजनीतिक तत्व की देन

(क) भाषा

(ख) मनोभाव

अध्याय -- नौ

-०-

आलोच्य काल के गद्य के कलात्मक स्वरूप को राजनीतिक तत्व की देन

भाषा

राजनीति का क्षेत्र विचार-वैभिन्न्य का, आलोचना-प्रत्यालोचना का क्षेत्र है । अतः राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में भाषा का रंग भी बदल जाता है । खड़ी बोली अपने शैशव काल में ही राजनीति जैसे गूढ़ और गम्भीर विषय की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गई थी । किन्तु उसे गतिशील, जीवन्त और प्रखर बनाने में लेखक की राजनीतिक चेतना का विशेष हाथ है ।

युग की नवीन चेतना और सर्वसाधारण में सम्बन्ध स्थापित करने का सम्भवतः सबसे सहज, सुगम और सशक्त माध्यम छोटी-छोटी रोचक गद्य-रचना के रूप में निबन्ध ही था, क्योंकि गद्य की इस विधा के माध्यम से साहित्यकार अपने पाठकों से सीधा सम्पर्क स्थापित करके पाठक के हृदय और मस्तिष्क दोनों को अनुरंजित और प्रभावित करता है । प्रस्तुत प्रबन्ध में समाहित शताब्दी के गद्यकारों को अपनी बात जन-सामान्य तक पहुंचाकर राजनीतिक चेतना उद्बुद्ध करनी थी, इसलिए विषय की प्रधानता दी गई, भाषा-विषय की अनुगामिनी ही रही । गद्यकारों ने सीधी और सुलझी हुई भाषा में प्रभावपूर्ण ढंग से छोटे छोटे निबन्धों और लेखों में अपने विचार एवं प्रतिक्रियाएं व्यक्त कीं, जो बहुत कुछ जनता की भावनाओं का ही प्रतिनिधित्व करती थीं, अतः जन-सामान्य की रुचि हिन्दी भाषा और साहित्य की ओर आकृष्ट हुई ।

गद्य के विकास के प्रारम्भिक काल में हिन्दी गद्य लेखकों ने प्राय: तत्सम् शब्दावली से बचकर देशज शब्दावली और मुहावरों का प्रयोग किया है । तद्भव, देशज और विदेशी शब्दों की पूंजी के सहारे निबन्धकारों ने अपनी भाषा को तीखी, चुटीली और जीवन्त बनाकर अपने भावों की सशक्त और प्रवाहपूर्ण अभिव्यक्ति की है । भाषा में चुटीलापन लाने के लिए मुहावरों और लोकोक्तियों का खुलकर प्रयोग किया है और व्यंग्य और विनोद का गहरा पुट देकर गद्य साहित्य को रोचक,चित्ताकर्षक और मनोरंजक बनाने का यथाशक्ति प्रयास किया है,जिससे जन-सामान्य सम-सामयिक घटना-चक्र से अवगत हो । उक्ति-वैचित्र्य के माध्यम से हिन्दी गद्य लेखकों ने राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति करते समय भाषा में जिस ज़िंदादिली का समावेश किया है, वह निश्चय ही युग की अपनी विशेषता है । ओज और प्रसाद गुण से युक्त होने पर भी उन्नीसवीं शताब्दी के राजनीति विषयक गद्य की भाषा अस्थिर,अपरिपक्व और अनिश्चित है[१] । व्याकरणिक दोष,वाक्य-रचना की त्रुटियाँ,लिंग,वर्तनी एवं विराम चिन्हों की अशुद्धियों का अभाव नहीं है किन्तु उनसे न तो लेखक की जागरूकता खण्डित होती है और न निबन्ध की राजनीतिक चेतना प्रभावहीन होती है । इसके विपरीत बीसवीं शताब्दी के गद्यकारों ने गंभीर गद्य का सृजन किया । फलत: साहित्य में जिन्दादिली का स्थान गाम्भीर्य ने ले

---

१ चमड़ी की सुई, अंग ढांकने को कपड़ा,कहां तक कहिए शरीर रक्षा के लिए औषधि तक विदेश से आवे,एक२ के ठौर पर चार २ उठवावे और जो कुछ पास की पूंजी ले जावे वह सीधे सात समुद्र पार हो पहुंचावे और वहां से सौ जन्म तक फिर भारत का मुंह न देखने पावे ।"

-- प्रतापनारायण मिश्र : 'न जाने क्या होना है'- प्रतापनारायण ग्रन्थावलि, पृ०४०८ ।

लिया । गद्य साहित्य में गम्भीरता की उद्भावना होने के साथ ही विवरण का अनावश्यक आडम्बर छट गया और भाषा सूक्ष्म एवं अन्तर्मुखी हो गई । भाषा का गठन और उसका आभिजात्य परिष्कृत स्वरूप बीसवीं शताब्दी के गद्य साहित्य की विशेषता है[1] । अब हिन्दी गद्य-लेखक तद्भव, देशज और विदेशी शब्दों को उनके मूल रूप में न अपनाकर हिन्दी भाषा के स्वरूप के अनुसार ढालने का प्रयत्न करने लगे थे । गद्य-लेखकों की भावाभिव्यक्ति का उपकरण लोकोक्ति मुहावरे, व्यंग्य और विनोद ही नहीं रह गए, वरन् भाषा का विकास हो जाने से नई शब्दावली की भी उद्भावना हुई जो निश्चय ही उन्नीसवीं शताब्दी की शब्दावली से कहीं अधिक परिमार्जित और परिष्कृत था । व्याकरण, वर्तनी, विरामचिन्ह आदि के विषय में इस शताब्दी का लेखक विशेष रूप से सतर्क और सावधान रहा है । अतः वाक्यों के गठन के साथ ही शब्दों का प्रयोग भी सजग हुआ है ।

राजनीति विषयक हिन्दी गद्य की भाषा का सामान्य विश्लेषण करने के उपरान्त गद्य के कलात्मक स्वरूप की अभिव्यक्ति में राजनीतिक तत्व के योगदान का मूल्यांकन करने की दृष्टि से हमें इस साहित्य के शब्द-भण्डार, मुहावरे, प्रतीक और उपमान वक्रोक्ति एवं लक्षणा, व्यंजना आदि शब्द-शक्तियों का समुचित विश्लेषण करना पड़ता है, क्योंकि भाषा के यही उपकरण ही भाषा में जिन्दादिली, ओजस्विता, प्रखरता और सजीवता लाकर उसे प्रभावपूर्ण बनाते हैं एवं व्यंग्य-विनोद, हास-परिहास आदि की उद्भावना करके साहित्य की शैली को सशक्त, व्यापक और रोचक बनाते हैं ।

---

१ 'राष्ट्र विभिन्न स्थूल और सूक्ष्म रूपों और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष शक्तियों का एक जीवित गतिशील विग्रह है ।'

--महादेवी वर्मा : 'क्षणदा'-- 'हमारा देश और राष्ट्रभाषा' पृ० १०० ।

शब्द-भण्डार

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी भाषा का शब्द-भण्डार इतना समृद्ध और सशक्त नहीं था कि आधुनिक युग के समस्त नये संदर्भों को सम्यक् रीति से व्यक्त कर सके । अतः इस समय के गद्यकारों ने अपने गद्य में राजनीतिक तत्त्व की अभिव्यक्ति करते समय तद्भव, देशज और विदेशी शब्दों का खुलकर प्रयोग किया है । उर्दू और अंग्रेज़ी के शब्दों का प्रयोग होने से हिन्दी की शब्दावली और शब्द-शक्ति दोनों की अभिवृद्धि हुई । उर्दू और अंग्रेज़ी के शब्द अपने शुद्ध रूप(तत्सम्) में भी अपनाए गए[1] और उनके तद्भव रूप का भी प्रयोग किया गया[2]। गद्यकारों ने स्थान-स्थान पर स्थानीय शब्दावली का प्रयोग भी किया है[3]।

१ अरबी फारसी के तत्सम शब्द
(क)

मालहल, दीवानी, हाकिम, अदालत, हुक्काम, हाज़िरी, शाहज़ादा, वज़ीरज़ादा, तालीम, हुक्म, दौलत, रोज़गार, नौबत, तमाशा, यार, क़ानून, क़दर, मुक़र्रर, क़ीमत, मुलाज़िम, दिलचस्पी, ज़ुल्म, इल्ज़ाम, सरहद, हुकूमत, बग़ावत, वतन, मुल्क, दरबार, रियासत, अमलदारी, रौब, बादशाह, हुज़ूर, आज़ादी आदि।

(ख) अंग्रेज़ी के तत्सम शब्द

नेटिव, सिविलाइज़्ड, मेमोरियल, स्ट्रेस, पॉलिसी, बायकॉट, अपील, प्रापेगण्डा, सिविलियन, मेंबर, ब्लैक आउट, ब्लैक मार्केट, एजेण्ट, डोमीनियन, पंप, रिफार्म, बैलेन्स, इंपीचमेण्ट, ब्यूरोक्रेसी, फेमिन्स, नेशन, ब्रिटिश आर्म सब्जेक्ट, फ्रांचाइज़, फ्रीडम, मनीस्क्वीज़िंग मशीन, लोन, अमेंडमेण्ट, सेल्फ सैक्रिफाइज़, लिटिगेशन, आलमाइटी आदि।

२(क) अरबी फारसी के तद्भव शब्द --

फ़ैसला(फ़ैसल:), इजलास(इज्लास), बेइज़्ज़त(बेइज़्ज़त), शाहज़ादा(शाहज़ाद:), फर्ज़ (फ़र्ज़), हुकुम(हुक्म), खज़ाना (ख़ज़ान:), जहाद (जिहाद), लियाकत (लियाक़त), खुशामद(ख़ुशामद), फर्याद(फ़र्याद), फिक(फ़िक्र), मुकर्रर (मुक़र्रर:), दरअसल(दरअस्ल), ज़माना(ज़मान:), तनख्वाह (तनख़्वाह), अवाम(अवाम), नुमाइन्दे (नुमाइंद:), फौज(फ़ौज अ , फ़ौजें (फ़ौ०),

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

व्यंग्य की एक भाषा होती है और प्रायः व्यंग्य की भाषा में देशज या बोलचाल के या बिगड़े हुए शब्दों का प्रयोग प्रत्येक देश में पाया जाता है। हिन्दी गद्य लेखकों ने भी तद्भव, देशज और विदेशी शब्दों का प्रयोग करके शासक जाति को व्यंग्य और उपहास का लक्ष्य ही नहीं बनाया, वरन् हिन्दी भाषा की अभिव्यंजना शक्ति को भी समृद्ध सबल और पैना किया। इसलिए यह कहा जा सकता है कि तद्भव, देशज और विदेशी शब्दों का प्रयोग लेखक की अल्पज्ञता का प्रतीक न होकर उसकी वाक्-चातुरी का प्रमाण भी है, क्योंकि जिस बात को वह सीधे शब्दों में नहीं कह सकता था उसी को विदेशी भाषा की आड़ में निःसंकोच कह देता था। ज्यों-ज्यों हिन्दी भाषा समृद्ध होती हुई अधिक सरलता की ओर झुकती गई, त्यों-त्यों तद्भव, देशज और विदेशी शब्दों का प्रयोग कम होता गया और इसे सुसंस्कृत रुचि का प्रमाण माना गया। किन्तु साथ ही यह भी

(पूर्व पृष्ठ की अवशिष्ट टिप्पणियां)

वज़ीर(वज़ीर), सल्तनत (सल्तनत), फ़ासह (फ़ासह), ओहदेदार (ओहद:दार), बगावत (बग़ावत), महकमा (महकम:), कुरबानी (कुर्बानी), बख्शीश(बख़्शिश), दस्तावेज (दस्तावेज़), ख़ज़ाना (ख़ज़ान:), प्यादा (प्याद:), फ़ुरसत (फ़ुर्सत), तर्फ़ (तर्फ़(अ), तरफ़ फा०) आदि।

२(ख) अंग्रेजी के तद्भव शब्द--

कमिश्नरों, कमेटियां, गवर्नमेण्टें, एजेण्टों, ग्रेजुएटों, अफसर, डाक्टरों, बारिस्टरों, कमसरियट, मेम्बरी, जिउबल(जुबिली)।

३ स्थानीय शब्द(देशज प्रयोग) --

ठौर, बौया, नगरी माधुवाराम, कमायबेई, तनक, जहां वहां, पिसौनी कुटौनी, पढ़ाय लिखाय, यहां लौं कि, लड़ाय, कमाय, हटाय, मिटाय, पेटागिन, घेलौने, चौक, रगड़ा, टुटपुंदे, टाल-मटूल आदि।

उल्लेखनीय है कि तीखे और चुटीले व्यंग्य का जो आभास उन्नीसवीं शताब्दी के गद्य में मिलता है वह बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के गद्य में नहीं मिलता । बीसवीं शताब्दी के गद्यकारों ने संस्कृत की तत्सम् और तद्भव शब्दावली को अपनाकर भाषा के संस्कृतनिष्ठ स्वरूप को प्रश्रय दिया । फिर भी हम देखते हैं कि लेखक जब राजनीतिक मुद्दों पर उतर आता है तो इस काल का लेखक भी बोलचाल की शब्दावली और मुहावरों का प्रयोग करने की ओर झुकाव दिखाता है[१]। हिन्दी उर्दू सम्बन्धी द्वन्द्व के कारण उर्दू शब्दों का प्रयोग कम हो गया, किन्तु अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग भाषा के व्यावहारिक स्वरूप का विकास करने की दृष्टि से निरन्तर होता रहा । अंग्रेज़ी शब्दों के साथ उनके समानार्थक हिन्दी शब्द भी लिए जाने लगे । राजनीति के बदले हुए सन्दर्भों में अंग्रेज़ी शब्द अपनी एक विशेष व्यंजना लेकर अवतरित हुए हैं । क्योंकि इन विदेशी शब्दों का प्रयोग करके ही हिन्दी गद्य-लेखकों ने शासक जाति और शासन नीति पर व्यंग्य किया है । अत: अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग हिन्दी गद्य-लेखकों की सामयिक जागरूकता का प्रतीक है और उनकी रचनाओं को सम-सामयिक रंग देकर प्रबुद्ध जनता को परितृप्त करता है । पंप,बम,रिज़ल्यूशन,मनी स्कोरिंग मेशीन, आदि सामान्य अर्थ बोधक शब्द भी विभिन्न राजनीतिक सन्दर्भों में अपने गूढ़ार्थ में प्रयुक्त होने के कारण विशेष अर्थ लेकर अवतरित हुए हैं । यह शब्द अपने लाक्षणिक प्रयोग के कारण सरकार की रीति-नीति एवं व्यवहार एवं हिन्दी गद्य लेखकों के मनोभाव और सरकारी

---

१ व्यापार नीति राजनीति का प्रधान अंग हो गई है । बड़े-बड़े राज्य माल की बिक्री के लिए लड़ने वाले सौदागर हो गए । जिस समय क्षात्र धर्म की प्रतिष्ठा थी, एक राज्य दूसरे राज्य पर कभी कभी विजय कीर्ति की कामना से डंके की चोट चढ़ाई करता था । अब सदा एक देश दूसरे देशों का चुपचाप बेखटके धन हरण करने की ताक में लगा रहता है ।"

--चिन्तामणि,भाग१ - लोभ और प्रीति ,पृ०७०

नीति के प्रति जनता प्रतिक्रिया को व्यंग्य और व्यंजना के माध्यम से व्यक्त करके भाषा का व्यंग्य-सामर्थ्य का बोध कराते हैं ।

लोकोक्ति और मुहावरे

मुहावरों का रचना-विधान पर आधारित होता है और मुहावरा किसी प्रवृत्ति या मनःस्थिति को प्रतीकात्मक शैली में बड़े नाटक ढंग से कहने की सामर्थ्य रखता है । उन्नीसवीं शताब्दी के उस गद्य-लेखक को, जो अंग्रेजी सरकार की रीति-नीति, वाइसराय या म्युनिसिपलिटी के सम्बन्ध में अपना असंतोष व्यक्त करना चाहता था, ऐसी ही भाषा की आवश्यकता थी जो सहज और तीखे व्यंग्य के साथ उसके मनोभाव को व्यक्त कर दे और जन-मन को गुदगुदा दे । अतः उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी-गद्य-लेखकों ने प्राचीन जन-प्रचलित लोकोक्तियों और मुहावरों का नूतन सन्दर्भों में प्रयोग किया है । राजनीतिक सत्य की अभिव्यक्ति में यह लोकोक्तियां और मुहावरे विशेष सार्थकता और प्रभाव लेकर अवतरित हुए हैं । सरकार की धन-अपहरण की नीति से हुई आर्थिक क्षति को स्पष्ट करने के लिए 'पोला बांस या छूंछा[1] गवर्नर की सर्वोपरि सत्ता और स्वेच्छाचारी मनोवृत्ति के लिए 'स्याह सफेद का मालिक'[2], निष्पक्ष न्याय हेतु प्रेरित इलबर्ट बिल की असफलता पर व्यंग्य करने के लिए 'गुड़ दिखाकर ढेला मारना'[3] और 'लकवा मार गया'[4], कमीशनों की व्यर्थता सिद्ध करने के 'धोबी का टट्टू'[5] सुधार के बाह्य प्रदर्शन को व्यक्त करने के लिए

---

१ नकटा जिया बुरा हवाल --बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, नव० १८८०, पृ० १०।

२ यह संसार सब झोंकट है ,, ,, ,,

३ कमिशन - बालकृष्ण भट्ट, हि०प्र० -बेकाम न बैठ कुछ किया कर प्रताप-
नारायण मिश्र(प्र०प्र०), पृ०७७)

४ राधाचरण गोस्वामी, भारतेन्दु सं०१९४०, पृ०१५० ।

५ कमिशन - बालकृष्ण भट्ट, हि०प्र०, नव०१८८८, पृ०७

'ढोल के भीतर पोल'[1] निर्बल के ऊपर सबल के अत्याचार को व्यक्त करने के लिए 'मरे को व मारे शाह मदार'[2] आदि मुहावरों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार गलियों की सफाई के प्रति म्युनिसिपैलिटी के उपेक्षा भाव को व्यक्त करने के लिए जन-प्रचलित मुहावरे का प्रयोग करते हुए भट्ट जी ने कहा है कि 'मेढ़की को भी जुकाम हिन्दुस्तानी भी वही ऐश आराम चाहें जैसा उनके स्वामी....'[3] म्युनिसिपैलिटी के हिन्दुस्तानी सदस्यों की राजनीति से अनभिज्ञता और हाँ में हाँ मिलाने की खुशामदी मनोवृत्ति के कारण 'गोबर गनेस'[4] सरकारी कार्यालयों में अंग्रेजी के पश्चात् उर्दू को महत्व देने की नीति के प्रति आक्रोश व्यक्त करने के लिए 'खाला का घोंसला'[5] बर्मा में सरकार की अवांछित हस्तक्षेप की नीति के स्पष्टीकरण के लिए 'मान न मान मैं तेरा मेहमान'[6] 'बाल भात में मूसलचन्द'[7] आदि मुहावरों का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार

---

१ 'ढोल के भीतर पोल' -- बालकृष्ण भट्ट,भभभभभभभभभभ०पृ०७

२ भट्ट ~~निबन्ध प्रकाश~~ - प्रतापनारायण ग्रन्थावलि ,पृ०१७५

३ 'एक अनोखे पुत्र का भावी जन्म'--बालकृष्ण भट्ट,हि०प्र०,जनवरी१८७६,पृ०१८।

४ कालान्तर मीमांसा ' - बालकृष्ण भट्ट भट्ट(हि०प्र०,जन०,१८८०ई०,पृ०११)

५ 'प्रताप समाचार',पृ०११

६ 'बेकाम का काम'(हि०प्र०,सितम्बर१८८५,पृ०११)

७ ,, ,, ,, ,, ,, ,,

के कितने ही जन प्रचलित मुहावरों का प्रयोग उन्नीसवीं शताब्दी के गद्य-लेखकों ने किया है[1] जिनके पीछे राजनीतिक सन्दर्भ जुड़े हुए हैं और लेखक की विविध मन:स्थितियां जैसे आक्रोश, क्षोभ, निराशा, उत्साह जनता को उत्तेजित करने की मनोवृत्ति आदि जुड़ी हुई है। विचारणीय यह है कि जब-जब हिन्दी गद्य-लेखकों ने सरकार की किसी रीति-नीति को उक्ति-वैचित्र्य के माध्यम से व्यक्त करना चाहा है तभी मुहावरों और लोकोक्तियों का खुलकर प्रयोग किया है। इसीलिए इस शताब्दी के गद्य चुलबुला, ताजा, चुटीला, रोचक, ओजस्वी और उत्तेजक है एवं जनता में जागरण की लहर फैलाने की सहज सामर्थ्य रखने वाला है।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के गद्य में मुहावरों के प्रयोग में कमी होने के साथ ही भाषा के चुटीलेपन और जिंदादिली, उक्तिवैचित्र्य एवं हास्य और व्यंग्य की शक्ति में भी कमी हो गई है। उल्लेखनीय यह है कि इस शताब्दी का लेखक भी जब शासक वर्ग और शासन नीति से असंतुष्ट होकर शासन की आलोचना करके अपना आक्रोश व्यक्त करने के लिए उद्यत होता है

---

१ `आंख के अंधे गांठ के पूरे` (ईश्वरेच्छा-- बालकृष्ण भट्ट), `दूर के ढोल सोहावने` (नए लाट साहब बालकृष्ण भट्ट), आप ही मियां दर दरबार आप ही मियां खेत खलिहान (नए लाट साहब-- बालकृष्ण भट्ट), धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का (फिजूल खर्च--बालकृष्ण भट्ट), अपनी गौं बैठाना (क्या होगा-- बालकृष्ण भट्ट), `चार दिन की चांदनी फिर अंधियारा पाख` भारत के दुर्दिन पूर्ण रीति से आ गए--बालकृष्ण भट्ट), आंख चुराना (शिक्षा कमीशन की शिक्षा-- राधाचरण गोस्वामी), भौं चढ़ाना (भौं-- प्रतापनारायण मिश्र), राजा करे सो न्याव है पासा परे सो दांव` ( `घर का परसैया अंधेरी रात (बेकाम न बैठ कुछ किया कर --प्रतापनारायण मिश्र), तेली जोड़े पली पली देहमान लुढ़काये कुप्पा करम ठोंकना (दुर्भिक्ष-- कब और किसे कहेंगे- बालकृष्ण भट्ट), चिउटा ढीवन चमगा देन (तुम डाल डाल हम पात पात-बालकृष्ण भट्ट), ढोल के भीतर पोल--बालकृष्ण भट्ट आदि।

तब वह व्यावहारिक भाषा, लोकोक्ति और मुहावरों का भी आश्रय लेने लगता है । इसीलिए तो महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र आदि गम्भीर गद्य साहित्य के प्रणेताओं ने भी अपनी रचनाओं में मुक्त राजनीतिक सन्दर्भों की अभिव्यक्ति करते समय 'नदी नाव संयोग', 'दूज का चांद', टकटकी लगाना (शिवशम्भु के चिट्ठे-- बालमुकुन्द गुप्त), डंके की चोट, दबे पांव (लोभ और प्रीति- रामचन्द्र शुक्ल), खून चूसना (भय - रामचन्द्र शुक्ल, आलोचना का मार्क्सवादी आधार-- अमृतराय), आंख बचाना, आंख का कांटा (गांधी नीति-- जैनेन्द्र), गला घोंटना, पैरों में बेड़ियां पड़ना (स्वामी श्रद्धानन्द और भारतीय शिक्षा प्रणाली-- प्रेमचन्द) बगलें झांकना पाठ ठोंकना (जमींदारों की दुर्दशा-- प्रेमचन्द), काल का डंका बजाना (मजदूरी और प्रेम--अध्यापक पूर्ण सिंह), दिवालिया होना (प्रभा दिस० १९२४, 'पाखण्ड का पाप, पृ०४६७), शैतान की आंख (प्रभा दिसम्बर १९२४, पृ०४६६) मुंह ताकना (सत्याग्रह संग्राम--विशाल भारत अप्रैल, १९३०, पृ०४५०), तूती बोलना (सरस्वती सन् १९२४), पांचों घी में (वि०भा०दिस० १९३४, पृ०३६२), जान अजाब (विशाल भारत अक्टूबर, १९३८, पृ०५०६), आंख में धूल झोंकना (वि०भा०अगस्त, १९४२), पल्ला झाड़ना (विशाल भारत, अक्टूबर १९४३, पृ०२८३), जांघ को धुन लगाना (विशाल भारत अगस्त १९४९ पृ०३६२), नाक चने चिनवाना (विशाल भारत सन् १९४८०) पानी में भी मीन पियासी (सरस्वती, मई, १९३४६०) आदि मुहावरों का प्रयोग विभिन्न राजनीतिक सन्दर्भों में किया है उनसे लेखक की भावाभिव्यक्ति की सशक्तता का बोध होता है और गद्य अपनी शुष्कता और नीरसता का परित्याग कर स्वभावत: सरस और रोचक हो उठता है । अत: यह कहना अनुचित न होगा कि भाषा की जिंदादिली, ओजस्विता, तीखा और चुटीलापन राजनीतिक सन्दर्भों के साथ प्रकृतित: जुड़ा हुआ है । यदि हिन्दी गद्य साहित्य को राजनीति की परिधि से दूर रखा जाता और सामयिक राजनीतिक गतिविधियों का चित्रण साहित्य का वर्ण्य विषय न बनता तो आधुनिक हिन्दी गद्य लेखक भी सम्भवत: मध्ययुगीन परम्पराओं का अनुसरण करते हुए नायक-नायिकाओं के हाव-विलास,

सौंदर्य और आकर्षण का चित्रण ही करते रह जाते। न साहित्य श्रृंगारिकता की कोच से बाहर निकलता न भाषा की अभिव्यंजना शक्ति सशक्त होती और न ही भाषा का परिष्कार होता । यह भी सम्भव है कि गद्य की विधा निबंध का ही जन्म न हुआ होता । क्योंकि उलझी हुई राजनीतिक परिस्थितियों की अभिव्यक्ति और उनका समाधान खोजने की उत्कण्ठा ने ही गद्य को जन्म दिया और भाषा को सशक्त बनाकर सामयिक राजनीतिक सन्दर्भों के प्रचारार्थ शक्ति और सामर्थ्य प्रदान की ।

प्रतीक और उपमान

प्रतीक और उपमान रचना के अर्थ पक्ष को समृद्ध करने के लिए कलात्मक साधन के रूप में सदा से प्रयुक्त होते रहे हैं । चतुर लेखक नये सन्दर्भों में उन्हें नये अर्थ और नया वातावरण भी देता है । रीति युगीन कवि के नखशिख वर्णन के लिए प्रयुक्त प्रतीक और उपमान उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी की बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों में निरर्थक सिद्ध हुए । अतः भारतेन्दु और द्विवेदी युगीन लेखकों ने अपने विषय और परिस्थितियों के अनुरूप नए प्रतीक और नये उपमानों का प्रयोग कर हिन्दी गद्य साहित्य के अर्थ तत्व को वैशिष्ट्य प्रदान किया । साहित्य में राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति के लिए प्रयोग में लाये गए प्रतीक और उपमान बड़े ही अद्भुत और विलक्षण हैं । गद्यकारों ने पौराणिक और नूतन दोनों ही प्रकार के प्रतीकों और उपमानों का प्रयोग किया है । उल्लेखनीय यह है कि पौराणिक प्रतीक उपमेय की श्रेष्ठता नहीं वरन् निकृष्टता का संकेत करते हैं और व्यंग्य का एक सशक्त उपकरण है ।

शासक जाति की अप्रस्तुत प्रशंसा करने का लक्ष्य सम्मुख रखकर उन्हें देवदूत, प्रभुवर, दयासागर, करुणाकर, सच्चिदानन्द, गौरांग प्रभु, लीलामय आदि पौराणिक उपमानों से विभूषित किया गया है । इस अप्रस्तुत

प्रशंसा के पीछे छिपा हुआ कटु व्यंग्य लेखक के आक्रोश को व्यक्त करता है । इसी प्रकार अंग्रेजों को सिंह और हिन्दुस्तानियों को गीदड़ एवं रूस को जंगली भालू कहकर हिन्दी गद्य-लेखकों ने भारतीयों की दुर्बलता और अज्ञान पर क्षोभ प्रकट किया है । विलायत के लिए व स्वर्ग, नन्दन कानन, श्वेत द्वीप आदि उपमानों का प्रयोग भी लेखक की व्याज स्तुति के द्वारा व्यंग्य करने की प्रवृत्ति का ही द्योतक है । इसी प्रकार कृष्ण के युद्ध को द्रौपदी का चीर और महाकाल रुद्र के तृतीय नेत्र की धुधायमान अग्निशिखा, सदर बाजार की सड़कों को श्मशान और कालरात्रि, दुर्भिक्ष को ताड़का राक्षसी, कानून को कामधेनु, चंदा और टैक्स को दैत्य, कमीशन को पिशाच, शिक्षा कमीशन को कराल कमीशन, साइमन कमीशन को सप्त ऋषि मण्डल, स्वदेशी को महामंत्र, दरिद्रता को राक्षस खुशामद को भुतनी, साम्प्रदायिकता को भूत, साम्प्रदायिक आन्दोलन को सुरसा, गुलामी को पूतना स्वराज्य की लालसा को मृगमरीचिका, दिल्ली दरबार को अश्व मेध और राजसूय सरकार की दृष्टि को शनि, वकील और मुख्तार को रक्तबीज की सन्तान, फ्री ट्रेड को पिशाच, संग्राम को महायज्ञ, चुंगी वसूल करने वालों को चुंगी का राक्षस और जमदूत कहा है । अंग्रेजों को दी गई पेंशन को दक्षिणा, नवयुवकों के ग्रेजुएट बनने के मोह को साढ़साती का शनैश्चर, शिक्षा विभाग को कामधेनु, मशीन को काली और कांग्रेस को दुर्गा कहा गया है । इसी प्रकार उर्दू को चाण्डालिनी और राक्षसी कहकर हिन्दी गद्य लेखक ने उर्दू भाषा के प्रति अपना विद्रोह व्यक्त किया है ।

स्पष्ट है कि लेखक उपर्युक्त प्राचीन व्यक्तियों, घटनाओं एवं उपकरणों का प्रयोग उनके परम्परागत अर्थों के साथ ही करता है, किन्तु नए सन्दर्भ के साथ उसे जोड़कर अपने प्रयोग को नूतन अर्थवत्ता प्रदान करता है । उपर्युक्त प्रतीक भारतीय जनता के लिए चिरपरिचित हैं (जैसे रक्तबीज, सुरसा, काली, दुर्गा आदि) और जनता को उनकी प्रकृति पकड़ने में देर नहीं लगती । लेखक इसी बात का लाभ उठाता है और इन परम्परागत व्यक्तियों और तथ्यों

को उपमान के रूप में प्रस्तुत करके अपनी बात के प्रभाव को सिद्ध करता है।

पौराणिक प्रतीक और उपमानों का प्रयोग करने के साथ ही साथ हिन्दी गद्य लेखकों ने नूतन सन्दर्भों में नूतन उपमानों और प्रतीकों की भी रचना की है। अंग्रेजों की अर्थनीति के कारण भारत पर अबाध गति से ऋण की वृद्धि के लिए सावन भादों की नदी, देशी नरेशों की शक्तिहीनता के कारण गायकवाड़ की गुड़िया कर्जन की महत्वाकांक्षा के लिए बुलबुलों का स्वप्न विभिन्न रेकटों को परदा और न्याय का चौखण्ड कहा है। फाइनेन्स कमेटी को नई दुलही, इलाहाबाद को दरिद्रपुर, म्युनिसिपैलिटी को मनुष्य-लपेटी और मरघटी घसघस, शिक्षा विभाग को मनोरंजक्शोजिंग मशीन, आर्डिनेन्स को समुद्र और चट्टान से उपमा दी है। कौंसिलों में जन-प्रतिनिधियों की निरन्तर अवहेलना करने की नीति के कारण कौंसिलों को खिलवाड़ कहा है। इसी प्रकार विद्यालयों को कारखाना, बनारस में मेयो के शासन-काल में आयोजित लेवी दरबार को कठपुतली का तमाशा और बन्दरों का नाच, साम्प्रदायिकता को घुन, फोड़ा, और क्षयकारी रोग, साम्प्रदायिक दंगों को कोढ़ और स्वराज को प्रकाश का प्रतीक माना है। सरकार की अर्थ शोषण की मनोवृत्ति के स्पष्टीकरण के लिए जोंक, वाइसराय की शासन-परिषद् के सदस्यों की पराङ्मुखता के लिए कठपुतली और पुलिस की क्रूरता को नादिरशाही की संज्ञा दी है। जनता को निरीह पक्षी और सरकार को शिकारी, सरकारी अधिकारियों की नैनीताल और मसूरी जाकर ऐश आराम करने की वृत्ति के स्पष्टीकरण के लिए वर्फिस्तान की चिड़ियें, परामर्शदायिनी समितियों को बिजूका (स्केयर क्रो), सेंसर को ढाल, उर्दू को रंडी और भ्रष्टाचार को कोढ़ मानकर गद्य लेखकों ने हिन्दी के रचनात्मक सौन्दर्य की अभिवृद्धि की है। इन प्रतीकों और उपमानों के कारण ही इस युग का गद्य जीवन से स्पन्दित तो है ही, साथ ही अनेक स्थानों पर काव्यात्मक सा भी उठा है। व्याजस्तुति और वक्रोक्ति से संश्लिष्ट यह उपमान-योजना अपने में विशिष्ट है।

हास्य और व्यंग्य

राजनीतिक प्रबुद्धता से अनुप्राणित लेखक का गद्य तीखा, चुटीला, और पैना है । हास्य और व्यंग्य उसके सहज गुण हैं । व्यंग्य की भाषा की चोट सीधे कथन के प्रकार से कहीं अधिक तीखी होती है । वह जहाँ समर्थक पक्ष को गुदगुदाता है और अनुरंजित करता है वहाँ विपक्ष को तिलमिलाने के लिए छोड़ देता है । उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के गद्यकारों ने राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति करने के लिए हास्य और व्यंग्य का आश्रय विशेष रूप से लिया है । शासन की आलोचना सीधे शब्दों में करके वह शासन की क्रूर दृष्टि से सम्भवतः अपनी रक्षा नहीं कर सकता था । अतः अपनी वाणी रूपी अस्त्र-संचालन के कौशल से जनता के भावों की अभिव्यक्ति करके गद्यकारों ने अपने प्रतिद्वन्द्वी को लेखनी के अस्त्र से परास्त किया । उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के गद्य लेखकों के साहित्य में व्यंग्य और विनोद का गहरा पुट है । शासन की छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी नीति पर इन लेखकों की पैनी दृष्टि पड़ी और उन्होंने उस पर कटु व्यंग्य करके सरकार को संकेत किया एवं जनता में राजनीतिक चेतना उद्बुद्ध की । धन-अपहरण से लेकर स्थानीय शासन तक कोई विषय ऐसा नहीं है जिसपर इस शताब्दी के लेखक ने व्यंग्य न किया हो अथवा उसे विनोद और उपहास का उपकरण न बनाया हो । उल्लेखनीय यह है कि शासक जाति की भाषा के शब्दों के माध्यम से ही प्रायः शासक जाति और शासन नीति पर व्यंग्य किया गया है । जैसे सरकार की धन-अपहरण की नीति के लिए 'विदेशी कारीगरी का पंप'[1] हिन्दुस्तानियों को सरकारी नौकरियों में सेना विभाग में संख्या घटाने की नीति के लिए 'रिडक्शन का कलेवा'[2] शिकार

---

१ 'कभी हमारे भी दिन फिरेंगे' - बालकृष्ण भट्ट, -हिन्दी प्रदीप, दिस०१८८६ई०, पृ०२९

२ 'सर विलियम म्यूर और वर्तमान समय'--बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप-मई, सन् १८८०ई०, पृ०१२ ।

विभाग द्वारा ग्रीष्मावकाश का शुल्क लेने के कारण शिक्षा विभाग को 'मनी रक्वायरिंग मेशीन'[१] कहा है । इसी प्रकार देशज और विदेशी शब्द लोकोक्ति और मुहावरे एवं लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा सरकार की रीति-नीति और व्यवहार पर हिन्दी गद्य-लेखकों ने कटु व्यंग्य किया है । सरकार अपनी वणिक-वृत्ति के कारण देश की विशाल धन-राशि का अप्रत्यक्ष रूप से शोषण कर रही थी । शासन तो व्यापार का एक साधन मात्र था । अतः सरकार को कारखाने का मालिक, विदेशी बनिया, जमींदार आदि उपमानों से विभूषित करके उसकी शोषण वृत्ति पर कटु व्यंग्य किया है । सरकार की पक्षपात नीति पर व्यंग्य करते हुए उसे न्यायशीला तथा उसकी नीति को निर्मल नीति की संज्ञा देकर उन्नीसवीं शताब्दी के लेखक ने व्याज ढ स्तुति के माध्यम से सरकार को शासन में सुधार करने के लिए प्रेरित किया है । स्वयं भारतेन्दु ने सरकार की रंगभेद की नीति का उपहास करते हुए कहा है कि "अब तो तपस्या करके गोरी गोरी कोख में जन्म लें तब संसार में सुख मिले।"[२] इसी प्रकार डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के अधिकारियों के अवांछित प्रभाव और सदस्यों की असमर्थता के कारण उन्हें कठपुतली की संज्ञा दी है । पुलिस की पेशाचिकता पर उसे 'कानून और शांति की रक्षक' और सरकार की लाडली' कहकर अप्रत्यक्ष रूप से सरकार की पुलिस विभाग को अनुचित संरक्षण देने की नीति को स्पष्ट कर दिया है । अंग्रेजी शासन में पुलिस की महत्ता पर व्यंग्य करते हुए 'भारतीय पुलिस' शीर्षक के अन्तर्गत कहा गया है कि "किसी सिपाही का अपराध सिद्ध हो जाय तो बाबा नौकरशाही की सारी शान मिट्टी में मिल जायगी, क्योंकि जब तक 'जलादीन' और 'फलोटी' सिर पर लाल पगड़ी पहने हैं तब तक उनसे अशिष्टता और अन्याय होना संभव है।

---

१ 'इसे शिक्षा विभाग कहें या प्रजा के धन निचोड़ने की कल' - हिन्दी प्रदीप-सित०, अक्टूबर, सन् १८८३ई०, पृ०३८ ।

२ भारतेन्दु के निबन्ध, पृ०५२

३

नहीं है ।[1] शासन में पुलिस विभाग की महत्ता और स्वेच्छाचारिता पर हास्य मिश्रित व्यंग्य करते हुए उसे 'नौकरशाही जाति का इन्द्रिय' 'सम्राट' अथवा 'सम्राट का प्रतिनिधि' कहा गया है । आई०सी०एस० के कर्मचारियों की शासन में प्रधानता पर व्यंग्य करते हुए उन्हें 'जेल के ताले' कहा है और ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की 'फिक्स योजना' पर डटे रहने की नीति का उपहास करते हुए उसे 'बन्दरिया का मोह' बतलाकर ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की आत्मश्लाघा पर करारा व्यंग्य किया है । कर्जन की स्वेच्छाचारिता पर व्यंग्य करते हुए बालमुकुन्द गुप्त ने भी अपने 'शिवशम्भु के चिट्ठे' में लिखा है कि 'भारत के राजा आपके हुक्म के बन्दे हैं । उनको लेकर चाहे जुलूस निकालिये, चाहे दरबार बनाकर सलाम कराइये, उन्हें चाहे विलायत भिजवाइये, चाहे कलकत्ते बुलवाइये जो चाहे सो कीजिए ।'[2]

बंग भंग की योजना अंग्रेजों की एक कूटनीतिक चाल थी । उसके पीछे न तो शासन सुधार की कोई योजना थी, न ही साम्राज्य विस्तार की नीति । अतः बालमुकुन्द गुप्त ने उसे 'खयाली लड़ाई' कहकर सरकार की बंग भंग की नीति का उपहास किया है[3] और तुगलक के दौलताबाद बसाने के ऐतिहासिक प्रसंग के सन्दर्भ में बंगभंग की योजना पर हास्य मिश्रित व्यंग्य करते हुए कहा है कि 'हमारे इस समय के माई लार्ड ने केवल इतना

---

१ 'भारतीय पुलिस' -- विशालभारत, दिसम्बर, १९४०, पृ०७४२ ।

२ 'शिवशम्भु के चिट्ठे', पृ०५०

३ 'पूर्व बंगाल पश्चिम से अलग हो जाने पर भी अंग्रेजी शासन में ही बना हुआ है और पश्चिम बंगाल भी पहले की भांति उसी शासन में है । किसी बात में कुछ फर्क नहीं पड़ा । खाली खयाली लड़ाई है ।'

--'शिवशम्भु के चिट्ठे', पृ०५१

ही किया है कि बंगाल के कुछ ज़िले आसाम में मिलाकर एक नया प्रान्त बना दिया है । कलकत्ते की प्रजा को कलकत्ता छोड़ कर चटगांव में आबाद होने का हुक्म तो नहीं दिया ।"[1]

महाप्रतापी ब्रिटिश साम्राज्य का प्रताप सूर्य चतुर्दिक दिशाओं को अपने प्रताप से आलोकित कर रहा था । पूर्व से पश्चिम तक उनकी विजय पताका फहरा रही थी । पर्वत और समुद्र भी मानो महाप्रतापी ब्रिटिश साम्राज्यशाखा के सम्मुख नतमस्तक हो गये थे । बालमुकुन्द गुप्त ने अंग्रेजों के इस 'महाप्रताप' पर व्यंग्य करने के लिए अपने 'शिवशम्भु के चिट्ठे' में अतिशयोक्ति का आश्रय लेकर लिखा है कि "आपके हुक्म का तेजा तिब्बत के पहाड़ों की बरफ को पिघलाता है, फारिस की खाड़ी का जल सुखाता है, काबुल के पहाड़ों को नर्म करता है । जल, थल, वायु और आकाशमण्डल में सर्वत्र आपकी विजय है । इस धराधाम पर अब अंग्रेजी प्रताप के आगे कोई उंगली उठाने वाला नहीं है ।.... समुद्र अंग्रेजी राज्य का मल्लाह है । पहाड़ों की उपत्यकाएं बैठने के लिए कुर्सी मूढ़े । बिजली कलें चलाने वाली दासी और हजारों मील खबर लेकर उड़ने वाली दूती ।"[2]

हिन्दी गद्य लेखकों ने सरकार और सरकारी नीति पर व्यंग्य करने के साथ ही स्वतन्त्रता-संग्राम के सेनानियों के क्रिया-कलापों पर भी व्यंग्य किया है । स्वराज्यवादी कौंसिलों में प्रवेश करने की नीति के समर्थक थे, किन्तु कौंसिल प्रवेश भोग की वस्तु है और असहयोग का कार्यक्रम त्याग का था । कौंसिलों में प्रवेश करके मंत्रिमण्डलों को तोड़ने के लिए तिकड़म असहयोग की पवित्रता में विष सदृश थी, अतः स्वराज्य-वादियों को 'तपस्वी' कहकर 'विशाल भारत' के सम्पादक ने स्वराज्यवादियों

---

१ 'शिवशम्भु के चिट्ठे', पृ० ५०

२ ,, पृ० २४

की भोगवृत्ति पर कटु व्यंग्य किया है । कौंसिलों को उन्होंने `भूत` की संज्ञा दी है, क्योंकि कौंसिलों के मोह ने ही स्वराज्यवादियों को कौंसिलों का विरोध करने के लिए प्रेरित किया है । असहयोग आन्दोलन के समय गांधी की डांडी यात्रा में सुदृढ़ साम्राज्यशाही के दमन और विरोध के बावजूद भी जनता ने नमक बनाकर नमक-कर का विरोध किया था और साम्राज्यशाही को एक चुनौती दी थी । जनमत के सामने इस सरकार को नत-मस्तक होना पड़ा । अत: सत्ता का उपहास करते हुए `सत्याग्रह संग्राम` शीर्षक के अन्तर्गत कहा गया है कि `संसार की सबसे शक्तिशाली सरकारी सत्ता चुटकियां बजाते शिथिल हो गई । कानून का भूत उतर गया सज़ा का हौआ ग़ायब हो गया नौकरशाही मुंह ताकती रह गई[1]।`

इसी प्रकार कांग्रेस की वैधानिक आन्दोलन करने की नीति पर व्यंग्य करते हुए `विप्लव` के सम्पादकीय स्तम्भ में कहा गया है कि `वे स्वराज्य ज़रूर चाहते हैं, परन्तु व दूसरे ढंग से । वे चाहते हैं कि इस देश में स्वराज्य शनै: शनै: दबे पांव पैरों में वैधानिक सुधार की गद्दियां बांधकर आये[2]।` कांग्रेस मंत्रिमण्डलों की स्थापना के पश्चात् कांग्रेस सदस्यों की स्वार्थी, पदलोलुप मनोवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए एक स्थान पर कहा गया है कि `कांग्रेस जन असेम्बलियों की मेम्बरी पर गिद्धों की तरह टूटे पड़ रहे हैं[3]।`

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यंग्य और उपहास के प्रसंगों में गद्य-लेखकों ने वक्रोक्ति, व्याज स्तुति, गूढोक्ति आदि अलंकृत कथन शैलियों का प्रयोग किया है ।

---

१ `विशालभारत` -अप्रैल, सन् १९३०, पृ०४५०

२ `विप्लव` -अक्टूबर, सन् १९४०, पृ०१३

३ `विश्ववाणी` -फ़रवरी, सन् १९४६, पृ०१५९

मनोभाव

कवि अपने व्यक्तित्व को अनेक बाह्य आवरणों में छिपा सकता है, किन्तु निबन्ध में व्यक्ति तत्व की प्रधानता होने के कारण निबन्धकार का व्यक्तित्व उसकी कृति में साकार हो जाता है । राजनीतिक परिस्थितियों से सम्बद्ध होने पर लेखक के विविध मनोभाव सामने आते हैं । उन्नीसवीं शताब्दी में प्रमुख रूप से राजनीतिक चेतना ही लेखक की निबन्ध रचना का उत्स है । परतन्त्रता की अवस्था में इस चेतना के फलस्वरूप लेखक अनेक मनोभावों से रह-रहकर आन्दोलित हुआ है और जन-साधारण को उन मनोभावों से परिचित कराकर साधारणीकरण करने का भी यत्न किया है । राजनीतिक विषयक गद्य की रचना करते समय गद्यकारों ने घृणा, ग्लानि, क्षोभ, करुणा, आक्रोश, आदि भावों को विशेष रूप से व्यक्त किया है । पराधीन होने के कारण लेखक के मन में आत्मग्लानि और क्षोभ एवं विदेशी सत्ता के प्रति आक्रोश समय-समय पर घटित होने वाली घटनाओं के उद्रेक से उमड़ पड़ता है । अतः दो वर्गों के मनोभाव विशेष रूप से मिलते हैं--

(१) हास्यात्मक मनोभाव,

(२) विक्षोभात्मक मनोभाव ।

रस विवेचन में क्रोध रौद्र रस का स्थायी भाव है, उत्साह वीर रस का और जुगुप्सा बीभत्स रस का । इन सभी भावों का शुद्ध या अमिश्र रूप इस युग के साहित्य में नहीं मिलता, वरन् मिला जुला, क्षण-क्षण बदलती रंग छायाओं का स्वरूप मिलता है । जैसे क्षोभ के साथ हास्य, विनोद या हास्य ग्लानि में बदल जाता है । करुण रस का परिपाक भी स्थान-स्थान पर हुआ है । देश-दशा उसका मुख्य आलम्बन है ।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विरचित राजनीति विषयक हिन्दी गद्य मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हास्य और विक्षोभ

आश्रित है । भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त आदि के निबन्धों और लेखों में हास्य रस के छोटे यत्र-तत्र दृष्टिगत होते हैं, जो जीवन की गम्भीर परिस्थितियों में मनोविनोद का हल्का-सा नशा चढ़ाकर उसे सजीवता से अनुप्राणित कर देते हैं । हिन्दी गद्य साहित्य में हास्य के मुख्यत: दो रूप उपलब्ध होते हैं-- एक विशुद्ध हास्य जिसमें सहजता है और दूसरा उपहास जिसमें व्यंग्य की प्रधानता है । उपहास का लक्ष्य आलम्बन को नीचा दिखाना और उसकी खिल्ली उड़ाना होता है । एकबंर राजनीति विषयक हिन्दी गद्य में प्राय: दूसरी कोटि के हास्य के उदाहरण मिलते हैं । उपहास का आलम्बन अंग्रेजी सरकार उसकी रीति-नीति और व्यवहार, विदेशीयता के रंग में रंगे भारतवासी और अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त नौकरशाही कीप्रवृत्ति वाले नवयुवक भारतीय रहे हैं । अंग्रेजों की भोगवृत्ति का उपहास करते हुए राधाचरण गोस्वामी ने एक स्थल पर लिखा है कि `ग्रीष्म ऋतु में सब बड़े बड़े हुक्काम अपने अपने बंधना बोरिया लेकर अफगानिस्तान की टिड्डियों की भांति पहाड़ों पर चढ़ जाते हैं`[1] । भारतेन्दु ने `लेवी दरबार` की साज-सज्जा और प्रबन्ध का बड़ा ही हास्योद्रेक वर्णन करते हुए लिखा है कि " नाम लिखने वाले मुंशी बद्रीनाथ फूले फाले अबा पहिने पगड़ी सजे पुराने दद्दुर की भांति इधर उधर उछलते और शब्द करते फिरते थे और बाबू भी वैसे ही छोटे मेंढुए बने गरज रहे थे ।`[2] भारतेन्दु और राधाचरण गोस्वामी दोनों ने अंग्रेज पदाधिकारियों का उपहास करने के लिए पक्षियों को प्रतीक के रूप में चुनकर शासक जाति के प्रति निकृष्टता के भाव को व्यक्त किया है । देशी नरेशों की साज-सज्जा का वर्णन करते हुए भारतेन्दु ने अपने लेख `लेवी प्राण लेवी` में लिखा है कि "लार्ड साहिब को `लेवी` समझकर कपड़े भी सब

---

१ `अंग्रेजों की देश असरत`--भारतेन्दु, ११ फरवरी, १८८४ई०, पृ० १६३

२ `भारतेन्दु के निबन्ध`, पृ० ११४

लोग गच्छे पाथिन आद थे पर वे भी इस गर्मी में बड़े दुखदायी हो गए । जाने वाले गरमी के मारे जामे से बाहर हुए जाते थे पगड़ी वालों का पगड़ा सिर का बोझ भी हो रहा थी और दुशाले और कमख्वाब का चपकन वालों को गर्मी ने अच्छी भांति जाल रक्खा था ।"[1]

अंग्रेजी राज्य में न्याय और सुरक्षा का उपहास करते हुए बालकृष्ण भट्ट ने व्याज स्तुति के माध्यम से अपने भाव व्यक्त किए हैं[१अ] और सरकार की संरक्षण प्रदान करने की नीति का उपहास करते हुए लिखा है कि ईश्वर न करे ऐसा हो अंग्रेज महाशय यदि आज हिन्दुस्तान को छोड़ के चले जायं तो देखिए कल्हा हम लोगों की क्या दुर्दशा होती है ।[2] इसी प्रकार किचनर के झगड़े की हंसी उड़ाते हुए बालमुकुन्द गुप्त ने 'शिवशम्भु के चिट्ठे' में लिखा है कि इस देश के हाकिम आपकी ताल पर नाचते थे । राजा महाराजा डोरी हिलाने से सामने हाथ बांधे हाजिर होते थे । आपके इशारे में प्रलय होती थी । बंग देश के सिर पर आरा रखा गया । ओह इतने बड़े माद लार्ड का यह दर्प हुआ कि एक फौजी अफसर उनके इच्छित पद पर नियत न हो सका और उनको इसी गुस्से के मारे इस्तीफा दाखिल करना पड़ा वह भी मंजूर हो गया ।"[3]

हिन्दी गद्य लेखकों के उपहास का आलम्बन विदेशीयता के रंग में रंगे भारतीय भी रहे हैं । देशवासियों की मनोवृत्तियों

---

१ भारतेन्दु के निबन्ध, पृ० २०,

२अ "वाह! वाह! क्या आराम, और चैन है । सब ओर से शान्ति पाठ का। रक्षा हो रही है । बाघ और बकरी एक घाट पानी पीते हैं ।"

--हिन्दी प्रदीप-बालकृष्ण जुलाई, सन् १८८७ई०, पृ०४।

२ हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर, सन् १८६०ई०, पृ०५

३ 'शिवशम्भु के चिट्ठे', पृ०४८ ।

का उल्लेख करते समय हिन्दी गद्य-लेखकों ने आक्रोश, क्षोभ, खिन्नता और ग्लानि के भाव व्यक्त किए हैं।[1]

उन्नीसवीं शताब्दी के हास्याश्रित गद्य में भी कहीं-कहीं आक्रोश के स्वर सुनाई पड़ते हैं। क्योंकि जब-जब लेखक अनुदार शासकों की कुटिल नीति से अथवा जनता की दुरवस्था से क्षुब्ध हुआ है तब तब उसने शासन के प्रति आक्रोश व्यक्त किया है। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने शासकों की अनुदारतापर आक्रोश व्यक्त करते हुए कहा है कि "... यहां जो अनुशासक आते हैं प्राय: ऐसे चुनाये ऐसे कि जैसे अभागों के लिए आवश्यक हैं।"[2] भारतीयों के लिए 'अभागा' शब्द का प्रयोग करके प्रेमघन ने जनता की दलितावस्था के प्रति अपने यथार्थिक क्षोभ को व्यक्त किया है। इसी प्रकार भारतेन्दु ने अपने लेख 'वैद्यनाथ की यात्रा' में ट्रेन की दुरवस्था की

---

१ (क) "विदेशियों का यह दांव है कि अन्न और जल भी हम उनके हाथ बेचा करें और उधर हिन्दुस्तानियों की यह इच्छा है कि मिट्टी और हवा भी विलायत से आवे तो खरीदना चाहिए।"

-- प्रतापनारायण ग्रन्थावली, पृ० ३७२।

(ख) "देश की कारीगरी को देश वाले ही नहीं पूछते विशेषत: जो छाती ठोंक ठोंक कर ताली बजवा बजवा कर कागज़ के तख्ते रंग रंग कर देश हित के गीत गाते फिरते हैं, वह और भी देशी वस्तु का व्यवहार करना अपनी शान से बईद समझते हैं।"

--'निबन्ध नवनीत', पृ० ८ ६२।

२ प्रेमघन सर्वस्व : 'हमारे देश की भाषा और अक्षर', द्वि भाग २, पृ०५२।

शिकायत और अंग्रेजों की धांधली पर आक्रोश, क्षोभ और ग्लानि मिश्रित भाव व्यक्त करते हुए लिखा है कि "गाड़ी भी ऐसी टूटी-फूटी जैसे हिन्दुओं की किस्मत और हिम्मत।"[1] अपने इसी लेख में भारतेन्दु ने अन्यत्र एक स्थल पर रेलवे की कुव्यवस्था से उद्विग्न होकर आक्रोश व्यक्त किया है।[2] इसी प्रकार चुंगी वसूल करने वालों की धृष्टता पर रोष व्यक्त करते हुए भारतेन्दु ने उन्हें 'चुंगी के राक्षस' और 'यमदूत' कहा है। 'राक्षस' और 'यमदूत' शब्द आलम्बन की क्रूरता और अपराध के प्रति लेखक की उग्रता के प्रतीक हैं। प्रतापनारायण मिश्र ने भी शासकों के अन्याय और अत्याचार से खिन्न होकर आक्रोश व्यक्त करते हुए कहा है कि "हिन्दुओं को तो कोल्हू में पेर डालना चाहिए था।" अपने दमन को वैधानिक स्वरूप देने के लिए और उसे न्यायोचित ठहराने के उद्देश्य से सरकार नित्य नये कानूनों की सृष्टि किया करती थी। यह कानून कठोर भी होते थे। अतः बालकृष्ण भट्ट ने कानूनों की कठोरता और उनके आधिक्य से उद्विग्न और क्षुब्ध होकर आक्रोश मिश्रित स्वर में लिखा है कि "हम राजा होते तो कानून के लकड़े[3] से देश भर की जकड़ देते और इतना टैक्स लगाते कि लोगों के चिथरे उड़ जाते।" अन्यत्र एक स्थल पर कराधिक्य से

---

१ 'भारतेन्दु के निबन्ध', पृ०१८,

२ "इस कमबख्त गाड़ी से तीसरे दर्जे की गाड़ियों से कोई फर्क नहीं सिर्फ एक एक धोखे की टट्टी का शीशा खिड़कियों में लगा था न चौड़े बेंच न गद्दा न बाथ रूम जो लोग मामूली से तिगुना रुपया दें उनको ऐसी मनहूस गाड़ी पर बिठलाना जिसमें कोई बात भी आराम की न हो रेलवे कम्पनी का सिर्फ बेइन्साफी ही नहीं वरंच धोखा देना है क्यों नहीं ऐसी गाड़ियों को कम्पनी आग लगाकर जला देती या कलकत्ते में नीलाम कर देती अगर मारे मोह के न छोड़ी जाय तो उससे तीसरे दर्जे का काम ले नाहक अपने गाहकों को बेवकूफ बनाने से क्या हासिल" -- 'भारतेन्दु के निबन्ध' -- वैद्यनाथ की यात्रा', पृ०७१,७२।

३ हिन्दी प्रदीप, सितम्बर, १८८५, पृ०१६।

उद्विग्न होकर अति उग्र स्वर में रोष व्यक्त करते हुए भारतेन्दु ने लिखा है कि "टैक्सपर टैक्स, अकाल पर अकाल, मरी पर मरी यहां देखा जाता है, नित्य नये आईनों से बांधा जाता है, और नित्य नई व्याधों से नोच लिया जाता है।"[1] इसीप्रकार लाइसेन्स टैक्स के प्रति अपना रोष व्यक्त करते हुए भारतेन्दु ने कहा है कि "इधर तो तेली-तमोली, नाई-धोबी, घसियारे-नालबन्द और हाड़ी मोची तक कोई न छूटा। पर उधर देखो तो सर जान स्ट्रैची आदि बड़ी बड़ी तलब और वेतनभोगी महाभाग्य महाशयों को इस लाइसन्स का हवा नहीं लगी।"[2]

साम्राज्य विस्तार की नीति देश के लिए अहितकर और अनिष्टकारी थी। अतः सरकार की इस नीति के प्रति खिन्नता, आवेग और उद्विग्नता के भाव उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। काबुल युद्ध में भारतीय धन जन का दुरुपयोग करने की नीति से उद्विग्न और क्षुब्ध होकर आक्रोश व्यक्त करते हुए व्यंग्यात्मक भाषा में भट्ट जी ने लिखा है कि "आप बड़ा न्याय कर रहे हैं जो हमारे देश के मनुष्यों का प्राण और धन वृथा युद्ध में होम किये देते हैं।"[3]

स्वच्छन्द वाणिज्य के नाम पर अबाध गति से भारत का अन्न निर्यात करने की नीति पर भी भट्ट जी ने आक्रोश व्यक्त किया है। क्योंकि अन्न निर्यात से भारत की बुभुक्षित प्रजा और भी बुभुक्षित होती जा रही थी। जनता की दुरवस्था से उत्पन्न खिन्नता ने जागरूक लेखक के मन में शासन के प्रति जिस उग्र भाव की उद्भावना की उसकी अभिव्यक्ति

---

१ 'राइज़ एण्ड ग्रोथ आफ हिन्दी जर्नलिज़्म', पृ०५३७

२ ,, ,, ,, पृ०२३७

३ (भारतवर्ष में प्रतिनिधि शासन की आवश्यकता, १जुलाई, सन् १८८०ई०)

३ हिन्दी प्रदीप, सितम्बर सन् १८८४ई०, पृ०११।

करते हुए कुशल लेखक ने आक्रोश के स्वर में कहा है कि "इस भारत भूमि को खोद खोद जहाजों में लाद लाद इंगलैण्ड भेज दो और समुद्र पाट पाट कर इंगलैण्ड की भूमि कर डालो जिसमें भारत की भांति इंगलैण्ड की धरती भी उर्वरा और रत्नगर्भा हो जावेगी परन्तु भारत का नाम उसमें न लगा रहे व तदनन्तर सेलिबरों को इसी तरह जहाजों में लाद लाद इंगलैण्ड पहुंचा दो बाकी लोगों को यहां के यहीं डुबो[1] कर आप भी इस सेवा का पुण्य भोगने को स्वर्ग सदृश वहीं जाकर बसिये ।" म्युनिसिपैलिटी के द्वारा नल लगवाने की नीति पर भी भट्ट जी ने आक्रोश व्यक्त किया है[2] क्योंकि उससे गरीब प्रजा की बेकारी बढ़ी थी । इसी प्रकार सरकार की हिन्दी विरोधी नीति और उर्दू का पक्षपात हिन्दी गद्य लेखकों की चिन्ता और क्षोभ का विषय बना । शिक्षा कमीशन द्वारा हिन्दी की उपेक्षा होती देखकर राधाचरण गोस्वामी ने रोष व्यक्त करते हुए कहा है कि "कई सौ मेमोरियलों के ढेर के ढेर क्या हम्माम में जला दिये गये । "हिन्दी बनाम उर्दू", "उर्दू अखबारों से हानि", "भाषा दीपिका", "देवनागरी की पुकार" आदि पुस्तकें क्या फाड़ फाड़ कर रामनाम की गोलियां बनाकर मछलियों को डाल दी गई ? न मालूम हिन्दी की कल्पलता पर यह अभ्र वज्रपात[3] कहां से हुआ ? न जाने हिन्दी अबला पर दुष्ट दैव क्यों इतना प्रतिकूल है?" उक्त कथन में भारतीयों की असमर्थता पर खिन्नता का भाव स्पष्ट परिलक्षित होता है । उन्नीसवीं शताब्दी के लेखक ने उर्दू के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त करने के लिए "डाकिनी" "पिशाचिनी" आदि शब्द और सरकार की उर्दू के प्रति पक्षपात की नीति का

---

१ "फ्रीट्रेड" - हिन्दी प्रदीप -जनवरी, फरवरी, मार्च, सन् १८८८, पृ०११

२ "प्रजा का रक्त काढ़ काढ़ पानी न मंगवाइये नहीं तो आपको कलंक है निश्चय कलंक है अवश्य कलंक है कलंक है ।" -- हिन्दी प्रदीप, जुलाई, अगस्त, सन् १८८९ ई०, पृ०३ ।

३ "शिक्षा कमीशन की शिक्षा" -- भारतेन्दु, १२ जनवरी, सन् १८८४ ई०, पृ० ८९ ।

उपहास करने के लिए `उरदू बीबी` आदि शब्दों का प्रयोग किया है। सरकार का उर्दू को विशेष संरक्षण देने की नीति का उपहास करते हुए बालकृष्ण भट्ट ने लिखा है कि "अदालत गवर्नमेण्ट का दफ्तर है गवर्नमेण्ट वालों की जांग अपने माथे पर जमा ले इसे क्या पड़ा है... ।"[1]

धन अपहरण से हुई आर्थिक क्षति, अन्न निर्यात से उत्पन्न अकाल और कराधिक्य से उत्पन्न दारिद्र्य में भारतीय जनता की दुरवस्था से क्षुब्ध होकर खिन्नता के भाव व्यक्त करते हुए बालकृष्ण भट्ट ने एक स्थल पर लिखा है कि "लक्ष्मी तो गई सरस्वती गई, अन्नपूर्णा बच रही थीं सो भी यहां एक बेबस प्राण महा जाते न जानिये क्या साफ अटके हुए हैं।[2] अन्यत्र एक स्थल पर जनता की दुरवस्था से क्षुब्ध होकर उन्होंने खिन्नता का भावव्यक्त करते हुए लिखा है कि "प्रजा बेचारी भूखों मर रही है जुगान जुग बीत गये देश में आधे से भी ज़ियादह लोग ऐसे हैं कि दोनों जून पेट भर न खाया होगा।"[3] भट्ट जी के समान ही प्रतापनारायण मिश्र और बदरी नारायण चौधरी `प्रेमघन` ने भी देश-दारिद्र्य से उत्पन्न दुःखस्था के प्रति खिन्नता के भाव व्यक्त किए हैं। -- "इस सुराज्य में सौ ही बरस के बीच यह दशा हो गई कि देश भर में चौथाई से अधिक जन केवल एक बेर खा पाते हैं, सो भी पेट भर नहीं।"[4]

"अँग्रेजी राज्य में दरिद्रता और दुख बहुत बढ़ गया है, यदि उसका कुछ शीघ्र प्रतीकार न हुआ तो यह देश नष्ट हो जायगा। दुष्काल मंहगी तथा रोग बढ़ता चला जाता है और प्रजा अधिक उच्छिन्न

---

१ `म्युनिसिपैलिटी का दफ्तर हिन्दी में क्यों न हो`-हिन्दी प्रदीप, मई, जून, १८८०, पृ०३।

२ हिन्दी प्रदीप-जनवरी, फरवरी, मार्च, सन् १८८०, पृ०४८।

३ ,, अगस्त, सितम्बर, सन् १८८०, पृ०१६०।

४ प्रतापनारायण ग्रन्थावली, पृ०२७२

होता चला जाता है[१]। लेखक के उक्त कथन से क्षुब्धता का भाव व्यक्त होता है। इसी प्रकार कांग्रेस की फूट पर क्षुब्ध होकर 'प्रेमघन' ने कहा है कि "निदान कांग्रेस टूट गई उसके लिखते लेखनी कम्पित होता है। सुनने के अर्थ श्रवण सन्नद्ध नहीं होते। सुनकर वरञ्च वास्तव में टूट जाने पर भी जिसके चित्त विश्वास करने पर तत्पर नहीं होता, किन्तु हाय भारत के भाग्य ? दीन सन्तानों ने इस परम अनिष्ट कृत्य को कर डाला जिस कारण समस्त भारत लज्जित और शोकमूर्छित हुआ है[१अ]। देशवासियों की अज्ञता से क्षुब्ध होकर खिन्नता का भाव व्यक्त करते हुए बालकृष्ण भट्ट ने भी लिखा है कि "हाय! शोक !! महाशोक आज हम टेबिल(मेज) पर हाथ टेक कर देशी कपड़े पहनने की प्रतिज्ञा करते हैं कल कहते हैं यह तो महंगा मिलता है अच्छा नहीं लगता गढ़ियाता है।.....[२]"

उक्त कुछ मनोभावों के साथ ही १९ वीं शताब्दी के राजनीति विषयक हिन्दी गद्य में हर्ष, ग्लानि, आत्मतोष आदि के भाव भी मिलते हैं। जब देश हित का कोई कार्य होता है, जैसे कांग्रेस की स्थापना तो लेखक भारत के उज्ज्वल भविष्य, सुख और कल्याण की कामना से हर्ष विभोर हो उठता है[३]। हर्ष के भाव विशेषरूप से राजभक्ति के प्रसंगों में और देश-प्रेम के भावों की अभिव्यक्ति में मिलते हैं। इसी प्रकार दलित मानवता के करुण क्रन्दन में पराधीनता से उत्पन्न ग्लानि के भावों का

---

१ 'प्रेमघन सर्वस्व', भाग २ पृ० ५११

१अ 'प्रेमघन सर्वस्व', भाग २, भूमिका, पृ०५

२ हिन्दी प्रदीप, जून सन् १८८६, पृ० १०

३ "कांग्रेस की जय ? क्यों न हो, कांग्रेस साक्षात् दुर्गा जी का रूप है क्योंकि वह देश हितैषी देव प्रकृति के लोगों की स्नेह शक्ति से आविर्भूत हुई है। ..... फिर हम ब्राह्मण होकर उसकी जय क्यों न बोलें।" 'कांग्रेस की जय' निबन्ध 'नवनीत', पृ० ८१

स्पष्ट दिग्दर्शन किया जा सकता है ।

बीसवीं सदी की बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों में हास्य रस का स्थान प्राय: करुण और वीभत्स रस ने ले लिया है । दीन दलित मानवता के प्रति करुणा और नौकरशाही के निरंकुश दमन से जो भयंकर स्थिति उत्पन्न हुई उससे बीसवीं शताब्दी के गद्य में वीभत्स रस का परिपाक हुआ । सरकार की दमन नीति की प्रतिक्रिया स्वरूप आक्रोश की उद्भावना हुई । हिन्दी गद्य-लेखकों ने सरकार शासक, शासन नीति, साम्प्रदायिकता, पक्षपात आदि विषयों पर आक्रोश व्यक्त करके अपने उद्गारों को शासक और जनता के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । पुलिस की स्वेच्छाचारिता से खिन्न और उद्विग्न होकर उस विभाग के प्रति आक्रोश व्यक्त करते हुए श्री दत्तात्रेय बापुराव ने कहा है कि पुलिस का साधारण चपरासी भी वर्दी पहन लेने पर स्वयं सम्राट का प्रतिनिधि नहीं, शायद साक्षात् सम्राट ही बन जाता है । उसके विरुद्ध कुछ कहना राजद्रोह है और षड्यन्त्र है ।[1]

अंग्रेजों की शासन-नीति स्वार्थ की भित्ति पर खड़ी थी । उनका प्रत्येक कार्य प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उनके किसी न किसी जातीय स्वार्थ की पूर्ति करता था और साम्राज्य को दृढ़ता और स्थायित्व प्रदान करता था । जाति भेद और रंगभेद की नीति में शासकों की स्वार्थ परता का सजीव स्वरूप देखा जा सकता है । रंगभेद की नीति देश की एकता के लिए अनिष्टकर थी, अत: तिक्त स्वर में आक्रोश व्यक्त करते हुए 'विशाल भारत' के सम्पादक ने कहा है कि '.... जहां रुपये का सवाल आता है, वहां तो भारत से भरपूर रकम वसूल की जाती है, और जहां पदों का० सवाल होता है वहां भारतीयों के लिए भिक्षु और भक्षक का नुस्खा बता

---

१ 'भारतीय पुलिस' - 'विशाल भारत', दिसम्बर सन् १९२९ई०, पृ०७४१ ।

दिया जाता है ? रक़म के हिसाब से भारतीयों को कम से कम ३८ पद मिलने चाहिए थे, परन्तु मिले कितने ? ढूंढ़ ढूंढ़ भी उनमें भी तीन अदद।[1] ...

जातीय स्वार्थ से उत्पन्न साम्प्रदायिकता भारत और भारतवासी दोनों के लिए हानिकारक था, अतः हिन्दी गद्य-लेखकों ने साम्प्रदायिकता पर आक्रोश, क्षोभ और घृणा के भाव व्यक्त किए हैं। साम्प्रदायिकता के लिए भूत, सत्यानाशिनी, पिशाचिनी आदि उपमानों का प्रयोग करके लेखक ने बढ़ती हुई साम्प्रदायिकता से उत्पन्न अनिष्ट की शंका से उद्विग्न होकर आक्रोश व्यक्त किया है,[2] साम्प्रदायिकता की तुलना मवाद भरे फोड़े से करके जुगुप्सा के भाव व्यक्त किए हैं और घुन से उसकी उपमा देकर साम्प्रदायिकता से होने वाली क्षति के प्रति क्षोभ या खिन्नता के भाव व्यक्त किए हैं। इसी प्रकार पृथक् निर्वाचन के दुष्परिणामों की कल्पना करके सरकार द्वारा पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों के निर्माण और उसके अनुसार निर्वाचन करवाने की नीति को स्वीकृति देने पर आक्रोश व्यक्त करते हुए लेखक ने कहा है कि जब तक पृथक् निर्वाचन का भूत जिन्दा नहीं गाड़ दिया जायगा तब तक भारत स्वतंत्र राष्ट्रों की पंक्तियों में नहीं बैठ सकता। यह भूत यदि आज नहीं गाड़ा जाता तो कल गाड़ा जायगा, क्योंकि घटना-प्रवाह उसी ओर है।[3]

बीसवीं शताब्दी के लेखक ने यदि एक ओर शासक और शासन नीति पर रोष व्यक्त किया है तो दूसरी ओर वह जनता की असमर्थता, उसकी उपेक्षा और दुरवस्था से क्षुब्ध भी हुआ है। नौकरशाही की दमन नीति के विरुद्ध आवाज़ न उठा सकने की स्थिति पर क्षोभ व्यक्त करते हुए एक स्थल पर कहा गया है कि हमारी इन आह भरी शिकायतों का

---

1. 'विशालभारत'-अक्टूबर, १९३४ई०, सम्पादकीय विचार 'लीग आफ नेशन्स और हिन्दुस्तान', पृ०४८७।
2. 'सत्यानाशिनी साम्प्रदायिकता ऐसा राज्य में भी घर कर लेगी।' 'विशाल-भारत', सितम्बर, सन् १९३१ई०, सम्पादकीय विचार, 'काश्मीर के मुसलमान' पृ०३७९
3. 'विशाल भारत' मई सन् १९३३ई०, पृ०६२०

सुनी का आवाज़ सरकार के कारखाने में कौन सुनता है ?" इसी प्रकार बंगाल के अकाल में पीड़ित जनता के कष्टों से क्षुब्ध होकर 'विशाल भारत' के सम्पादक ने अति करुण स्वर में कहा है कि " .... हमारी आंखों के सामने धीरे-धीरे गुलामों का यह देश भिखमंगों का देश बनता जा रहा है और हम असहाय असहाय बैठे बैठे यह सब देख रहे हैं ? विदेशी शासन का अभिशाप और स्वदेशी पूंजीवाद का पाप मानो भुखमरों की ठठरियों और लाशों के रूप में आज मुंह खोल रहा है ?[1] इसी प्रकार प्रकाशचन्द्र गुप्त ने बंगाल के अकाल में क्षुधा से पीड़ित जनता के प्रति दैन्य के भाव व्यक्त करते हुए करुण स्वर में कहा है कि " आदमी और कुत्ते कूड़े के ढेर पर खाने की तलाश में एक साथ टूटते हैं, कुत्ता जीतता है, आदमी हारता है--क्योंकि उसके बदन में नाम को भी जान नहीं । जीते आदमियों को स्यार गांवों में घसीट ले जाते हैं और जीते जी खा डालते हैं । मां बच्चों को मुट्ठी भर अन्न के लिए बेच डालती है और पुरुष स्त्रियों को ।"[2]

इस प्रकार राजनीतिक चेतना की प्रेरणा से लिखे गए गद्य के अन्तर्गत हम प्रमुखतः (1) आक्रोश, क्षोभ एवं क्षुब्ध के भाव पाते हैं, जिनका आलम्बन शासक वर्ग अथवा शोषक होता है, (२) दैन्य, खिन्नता उदासी, ग्लानि, परिताप के भाव पाते हैं, जिनका आलम्बन शासित अर्थात् भारत का दैन्य, कमज़ोरी और बबूपन होता है ।

-0-

---

१ 'विशालभारत' -अक्टूबर, सन् १९४३ ई०, सम्पादकीय विचार, पृ०२८९

२ प्रकाशचन्द्र गुप्त, 'बंगाल का अकाल', पृ०२२८ ।

उपसंहार

उपसंहार

अंग्रेज़ों के साम्राज्यवादी शासन से उद्बुद्ध राजनीतिक चेतना ने हिन्दी गद्य का सम्बन्ध सामयिक राजनीतिक चिन्तन से जोड़कर साहित्य और सामयिकता के तथ्य को स्थापित किया । किन्तु बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों की अभिव्यक्ति के लिए मध्ययुगीन काव्य-परम्परा और ब्रजभाषा का काव्य-सौष्ठव नितान्त अधूरा और अनुपयुक्त था । नए परिवर्तन, सन्दर्भ और परिवेश की मांग थी यथार्थ दृष्टि, उसकी वाहिका बनी खड़ी बोली और गद्य की परम्परा आरम्भ हुई । राजनीतिक परिस्थितियों के वशीभूत होकर जिस गम्भीर गद्य साहित्य की उद्भावना हुई, वह राजनीतिक गतिविधियों और विचारधाराओं के विकसित होने के साथ ही विकास को प्राप्त होता गया । राजनीतिक तत्व के साहित्य में समाहित होने से वर्ण्य-विषय विस्तार को प्राप्त हुए और जन-सामान्य में राजनीतिक चेतना उद्बुद्ध करने की दृष्टि से हिन्दी पत्रकारिता का जन्म और विकास हुआ । हिन्दी के गण्यमान लेखकों ने अपने राजनीतिक विचारों को विभिन्न -पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से व्यक्त करके विदेशी शासन में जनता की दुरवस्था, शासन की क्रूरता, शासकों के अत्याचार पक्षपात आदि का चित्रण विभिन्न स्तम्भों के अन्तर्गत संक्षिप्त टिप्पणियों के रूप में अथवा विभिन्न लेखों और निबन्धों में किया । सामयिक राजनीतिक सन्दर्भों में लिखे गए यह निबन्ध और लेख रोचक और चित्ताकर्षक होने के साथ ही देशव्यापी जन-जागृति और ज्ञान वर्द्धन के उपकरण थे । अतः प्रारम्भिक वर्षों में हिन्दी गद्य-लेखकों ने जनता की भाषा में अपने साहित्य का सृजन करके जन-सामान्य की रुचि हिन्दी भाषा और साहित्य के पठन-पाठन की ओर आकर्षित की । तत्पश्चात् राजनीतिक

चेतना ने भाषा को गति प्रदान की और व्यंग्य शैली की उद्‌भावना हुई । प्रारम्भ में छोटे-छोटे फड़कते हुए लेख लिखे गए जो उत्तरोत्तर गम्भीर होते गए । जन-सामान्य की राजनीति जैसे शुष्क विषय में रुचि उत्पन्न करने और लोकतांत्रिक आदर्शों एवं सिद्धान्तों का प्रचार करने के उद्देश्य से हिन्दी गद्य-लेखकों ने जन-सामान्य के मनोरंजन के लिए साहित्य-रचना करना प्रारम्भ कर दिया । गद्य साहित्य में व्यंग्य और विनोद के माध्यम से राजनीतिक गतिविधियों का विश्लेषण करने का एकमात्र उद्देश्य जन-सामान्य की इस विषय में रुचि उत्पन्न करना ही था । किन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति के साथ ही परोक्ष रूप से भाषा और शैली भी विकास को प्राप्त हुए । एक ओर यदि राजनीतिक तत्व ने व्यंग्य,विनोद,चुलबुलाहट और फड़कती हुई भाषा को जन्म दिया तो दूसरी ओर जन-सामान्य के मानसिक विकास के साथ ही साथ भाषा और शैली के विकास में भी राजनीतिक तत्व का अपना विशेष स्थान है । पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से युगीन राजनीति की अभिव्यक्ति के लिए जिस साहित्य की रचना हुई उसने उत्तरोत्तर भाषा को समृद्ध और सशक्त किया । भाषा के उत्तरोत्तर विकास का क्रम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र,बालकृष्ण भट्ट प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त और महावीर प्रसाद द्विवेदी की भाषा से स्पष्ट हो जाता है । भाषा का परिष्कार बालमुकुन्द गुप्त से ही प्रारम्भ हो गया था और महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उसे पूर्णता प्रदान की ।

राजनीति विषयक यह सामयिक साहित्य ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है । इतिहास केवल राजाओं की वंशावलियों और घटनाओं का क्रम ही नहीं है, जातीय जीवन का जो अंश इतिहास की धरोहर है उसका साकार स्वरूप युगीन साहित्य में ही दृष्टिगत होता है । विजेता शासक सदैव से ही विजित देश के इतिहास का निर्माण अपने स्वार्थ और आदर्श के अनुरूप करवाते रहे हैं । अंग्रेजी शासन-काल में भी अंग्रेज इतिहासकारों ने जिस इतिहास की रचना की,उसमें न तो शासन के कुत्सित पक्ष का

चित्रण किया गया और न ही जातीय संस्कृति का निरूपण । उसका स्वर्णिम पक्ष आज भी इतिहास की धरोहर है किन्तु जिस शोषण, दमन, क्रूरता और अत्याचार को इस राज्य में प्रश्रय दिया गया, उसका चित्रण इतिहास में नहीं किया गया है । भारतीय इतिहासकारों को अंग्रेजी शासन की निष्पक्ष आलोचना करने और वास्तविकताओं की गहराई में प्रवेश करने के लिए तथा भारतीय जन-चेतना के जागरण का इतिहास लिखने के लिए इस समय के साहित्य ने जो सुदृढ़ आधार प्रदान किया, वह निश्चय ही महत्वपूर्ण है । इस साहित्य ने इतिहासवेत्ताओं को चिन्तन और मनन की अगाध सामग्री प्रदान कर इतिहास के निर्माण में साहित्य के योगदान को सिद्ध कर दिया है । विदेशी शासन के दो सौ वर्षों में देश की जो स्थिति थी, उसकी सच्ची अभिव्यक्ति हिन्दी के गद्य-साहित्य में हुई है । देश के दो सौ वर्षों की जीवन-गाथा के सच्चे प्रतीक के रूपमें यह साहित्य अपना विशेष महत्व रखता है । इस सामयिक साहित्य के अभाव में इतिहास के तथ्यों का सही विश्लेषण यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है । ऐतिहासिक संघर्ष और उनके राजनीतिक विश्लेषण की अभिव्यक्ति इस साहित्य की महती विशेषता है । जिस इतिहास और राजनीति से प्रेरणा लेकर हिन्दी के इस सामयिक साहित्य की रचना की गई वही साहित्य युगीन राजनीतिक घटनाओं और गतिविधियों को अपने में समेट कर युग-युग तक इतिहासकारों की प्रेरणा का स्रोत और राजनीतिज्ञों के व्यावहारिक ज्ञान का प्रतीक बन गया । शासकों की शासन-प्रणाली, उनकी शासन-नीति, देशवासियों की वास्तविक स्थिति आदि का सच्चा स्वरूप इस साहित्य के अध्ययन से भली भांति जाना जा सकता है ।

स्वप्न कथाओं के रूप में, लेख, अग्रलेख, निबन्ध और सम्पादकीय टिप्पणियों के रूप में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में शासक वर्ग के कृत्यों

की आलोचना के माध्यम से देश की सामाजिक,धार्मिक,आर्थिक और राजनीतिक दशा का सजीव चित्र प्रस्तुत करके हिन्दी-गद्य-लेखकों ने जन-जागृति उत्पन्न करने के साथ ही देश-प्रेम के भावों का प्रचार किया, देशवासियों के मन में अपने देश की संस्कृति और स्वतन्त्रता से प्रेम करने की उत्कण्ठा उत्पन्न की, अधिकारों के प्रति चेतना तथा लोकतंत्र की भावना का प्रसार और प्रचार करके ब्रिटिश साम्राज्यशाही के विरुद्ध बगावत का बिगुल बजाया था । इस समय साहित्यकार और जन-नेता दोनों ही अपने-अपने ढंग से देशोत्थान के कार्य में दृढ़-संकल्प थे । जन-नेतृत्व करने वाले देश के सूत्रधारों के मार्ग प्रदर्शन के हेतु पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों ने और स्वयं लेखक वर्ग ने राजनीति से सम्बन्धित साहित्य की रचना कर राजनीति के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही पक्षों को सबल बनाया । कर्मठ राजनीतिक कार्यकर्ताओं ने भी देश-विदेश की सामयिक राजनीति पर हिन्दी भाषा में अपने विचार व्यक्त करके भाषा की उपादेयता में वृद्धि करने के साथ ही हिन्दी वाङ्मय को अपने साहित्य की अमूल्य निधि देकर समृद्ध किया । फलतः राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति का क्षेत्र विकसित होता गया । गम्भीर गद्य-साहित्य में राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति करने के साथ ही नाटक,कहानी,उपन्यास आदि साहित्य की विभिन्न विधाओं में राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति करके साहित्यकारों ने साहित्य के वर्ण्य-विषय में वैविध्य उत्पन्न किया । साहित्य की समस्त विधाओं में निरन्तर राजनीतिक तत्व की अभिव्यक्ति हिन्दी वाङ्मय के विकास में सामयिक राजनीति के योगदान को सिद्ध करती है ।

-0-

परिशिष्ट-१

हिन्दी साहित्य का इतिहास- रामचन्द्र शुक्ल

(आधुनिक काल- प्रकरण-१, पृ० ४२८-४२९)

पत्र का नाम	वर्ष	स्थान	प्रकाशक
अल्मोड़ा अखबार	सन् १९२८		पं० सदानन्द सनवाल
हिन्दी दीप्ति प्रकाश	,, १९२९	कलकत्ता	कार्तिक प्रसाद खत्री
बिहार बन्धु	,, १९२९		केशवराम भट्ट
सदादर्श	,, १९३१	दिल्ली	लाला श्रीनिवासदास
काशी पत्रिका	,, १९३३		बालेश्वर प्रसाद बी०ए० (शिक्षा संबन्धी मासिक)
भारतबन्धु	,, १९३३	अलीगढ़	तोताराम
भारत मित्र	,, १९३४	कलकत्ता	रुद्रदत्त
मित्र विलास	,, १९३४	लाहौर	कन्हैयालाल
हिन्दी प्रदीप	,, १९३४	प्रयाग	पं०बालकृष्ण भट्ट(मासिक)
आर्य दर्पण	,, १९३४	शाहजहाँपुर	मु० बख्तावर सिंह
सार सुधा निधि	,, १९३५	कलकत्ता	सदानन्द मिश्र
उचित वक्ता	,, १९३५	,,	दुर्गाप्रसाद मिश्र
सज्जन कीर्ति सुधाकर	,, १९३६	उदयपुर	वंशीधर
भारत सुदशा प्रवर्तक	,, १९३६	फर्रुखाबाद	गणेशप्रसाद
आनन्द कादंबिनी	,, १९३८	मिर्जापुर	उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी, (मासिक)
देश हितैषी	,, १९३६	अजमेर	
दिनकर प्रकाश	,, १९४०	लखनऊ	रामदास वर्मा
धर्म दिवाकर	,, १९४०	कलकत्ता	देवी सहाय
प्रयाग समाचार	,, १९४०		देवकीनन्दन त्रिपाठी
ब्राह्मण	,, १९४०	कानपुर	प्रतापनारायण मिश्र
शुभचिन्तक	,, १९४०	जबलपुर	सीताराम

पत्र का नाम	वर्ष	स्थान	प्रकाशक
सदाचार मार्तण्ड	सन् १८९०	जयपुर	लालचन्द्र शास्त्री
हिन्दोस्थान	,, १८९०	इंगलैण्ड	राजा रामपाल सिंह (दैनिक)
पीयूष प्रवाह	,, १८९१	काशी	अम्बिकादत्त व्यास
भारत जीवन	,, १८९२		रामकृष्ण वर्मा
भारतेन्दु	,, १८९१	वृंदावन	राधाचरण गोस्वामी
कालिकुल कंज दिवाकर	,, १८९२	बस्ती	रामनाथ शुक्ल

सहायक ग्रन्थ-सूची

अध्यापक पूर्ण सिंह के श्रेष्ठ निबन्ध-- प्रभात शास्त्री, कौशाम्बी प्रकाशन, प्रयाग ।

अभिज्ञानशाकुन्तल -- कालिदास

अष्टछाप के कवियों का सांस्कृतिक मूल्यांकन -- डा० मायारानी टण्डन(प्रबन्ध)

आज की समस्यायें--राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद ।

आत्मनेपद -- अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६०

आधुनिकताबोध और आधुनिकीकरण-- रमेश शुक्ल कुन्तल 'मेघ'

✓आधुनिक भारत-- रतिभानुसिंह 'नाहर', किताब महल, इलाहाबाद, १९५७

✓आधुनिक साहित्य -- नन्ददुलारे वाजपेयी, भारती भण्डार, लीडर, प्रयाग सं० २००७।

आधुनिक हिन्दी साहित्य(१८५०-१९००)-- डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, हिन्दी परिषद्,
प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग ।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास -- श्रीकृष्णलाल, हिन्दी परिषद् प्रयाग वि०वि०
१९५२ ।

इंगलैण्ड का संसदीय शासन-- हैराल्ड जे० लास्की, अनु०विश्वप्रकाश, एस०चन्द एण्ड कंपनी,
लखनऊ, १९५७ ।

इंडिया एण्ड द वेस्ट(भारत और पश्चिम)--बारबारा वार्ड, अनु०आर०एस० भारद्वाज,
आत्माराम एंड संस, दिल्ली, १९६० ।

उत्तरी भारत की सन्त परम्परा -- परशुराम चतुर्वेदी, भारती भंडार, प्रयाग, सं० २००८।

एन इनसाइक्लोपीडिया आफ वर्ल्ड हिस्ट्री(१८५०-१९५०)--विलियम एल०लैंगर

कबीर ग्रन्थावली -- पारसनाथ तिवारी, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रया०
सन् १९६१ ।

कवितावली -- इन्द्रदेव नारायण, गीता प्रेस, गोरखपुर

कवि विद्यापति -- गंगाधर मिश्र, सरस्वती मन्दिर, वाराणसी, सं० २०१८

कल्पलता--हजारीप्रसाद द्विवेदी, ज्ञानमण्डल लि० बनारस ।

काँग्रेस का इतिहास -- पट्टाभि सीतारमैय्या, सस्ता साहित्य मण्डल, इलाहाबाद
काव्य समीक्षा -- आचार्य गिरिजादत्त त्रिपाठी, पुस्तक भण्डार, पटना ।
किरातार्जुनीय-- भारवि, व्याख्याकार--आदित्यनारायण पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी ।
कुछ -- पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, इण्डियन प्रेस, प्रयाग
कुमार सम्भव -- कालिदास, नारायणदत्त सहायक एण्ड संस, दिल्ली सन १९५६
केशव काव्य कौमुदी--लाला भगवानदीन, साहित्य भूषण कार्यालय, गोविन्दपुर, काशी संवत् १९८० ।
खण्डित भारत -- राजेन्द्र प्रसाद, ज्ञान मण्डल, पुस्तक भण्डार, काशी
खरगोश के सींग -- प्रभाकर माचवे, नीलाभ प्रकाशन, गृहप्रयाग, १९५१
गणेशशंकर विद्यार्थी के श्रेष्ठ निबन्ध--सं० राधाकृष्ण-आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, १९६४
गद्यकार बालमुकुन्द गुप्त -- नत्थन सिंह, विनोद पुस्तक मंदिर, हास्पिटल रोड, आगरा, १९५८-५९
गान्धीवाद की रूपरेखा - श्री रामनाथ सुमन, साधना सदन, काशी
गुप्त निबन्धावलि, प्रथम भाग, सं० झाबरमल्ल शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी
गुरु ग्रन्थ साहिब -- तरनतारन संस्करण
गीतावली -- तुलसीदास
चक्कर क्लब -- यशपाल ।
चिन्तामणि, भाग१-- रामचन्द्र शुक्ल, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, १९५१
जैनेन्द्र के विचार -- जैनेन्द्र कुमार, हिन्दी साहित्य रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९४५
तुलसी और उनका युग -- राजपति दीक्षित, ज्ञानमण्डल, लि०, बनारस, सं०२००६
दीपशिखा -- महादेवी वर्मा, किताबिस्तान, प्रयाग
देशी राज्यशासन -- भगवानदास केला, भारतीय ग्रन्थालय, वृन्दावन, १९४२
देशी राज्यों की जन-जागृति-- भगवानदास केला, भारतीय ग्रन्थालय, इलाहाबाद, सन् १९५६
दोहावली--अनु० हनुमानप्रसाद पोद्दार--गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् १९९६
द्विवेदी मीमांसा -- प्रेमनारायण टण्डन, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद
द्विवेदी युग की हिन्दी गद्य शैलियों का अध्ययन--शंकरदयाल चौऋषि, भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली, १९६५
द्विवेदी युगीन निबन्ध साहित्य-- गंगाबख्श सिंह, हिन्दी विभाग, लखनऊ वि०वि०, लखनऊ

धर्मशास्त्र का इतिहास -- द्वितीय भाग, अर्जुन चौबे, काश्यप मुद्रक-सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

नई समीक्षा--अमृतराय--हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन हाउस, बनारस
निबन्ध नवनीत, भाग १--प्रतापनारायण मिश्र, अभ्युदयप्रेस, इला० १९१९
पद्मपराग, प्रथम खण्ड, --पद्मसिंह शर्मा, भारतीय पब्लिशर, मुरादाबाद, सं० १९८८

पद्मावत -- जायसी-- साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी, सं० २०१२

पाश्चात्य राजदर्शन का इतिहास-- राजनारायण गुप्त, राधानाथ चतुर्वेदी, किताबमहल, इला० १९५४।

पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा का इतिहास--डा० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, पटना विश्व-
विद्यालय, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ०प्र०, लखनऊ।

पूर्वोदय -- जैनेन्द्रकुमार-- पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, १९५०

पृथिवीपुत्र -- वासुदेवशरण अग्रवाल, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १९४९

प्रतापनारायण ग्रन्थावली--सं० विजयशंकर मल्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी सं० २०१६

प्रतापनारायण मिश्र -- डा० सुरेशचन्द्र शुक्ल, अनुसंधान प्रकाशन, आचार्यनगर, कानपुर।

प्रताप समीक्षा-- प्रेमनारायण टण्डन, साहित्य रत्न भण्डार, आगरा, १९३९

प्रतिज्ञायौगन्धरायण -- भास

प्रबन्ध प्रभाकर -- गुलाबराय

प्रस्तुत प्रश्न -- जैनेन्द्र कुमार, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, इला० १९३६

प्रेमचन्द -- डा० रामविलास शर्मा, सरस्वती प्रेस, बनारस, १९४१

प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग, सं० प्रभाकरेश्वर उपाध्याय, और दिनेशनारायण उपाध्याय,
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००७।

बिहारी रत्नाकर -- जगन्नाथदास रत्नाकर, व ग्रन्थकार प्रकाशन, सन् १९५१

बीसवीं सदी की राजनीतिक विचारधारायें-- गुर्ती सुब्रह्मण्यम, एम०ए०, साहित्य रत्न,
हि०सा०स०, प्रयाग। २००६सं०

ब्रिटिशकालीन भारत का इतिहास -- पां०ई०राबर्ट्स, एस०चन्द एण्ड कं०, लखनऊ, १९५५

भट्ट निबन्ध माला -- नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

भट्ट निबन्धावली -- हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग सं० १९९८

भारत का वैधानिक इतिहास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन--विद्याधर महाजन, एस०चन्द एण्ड कं०
बम्बई।

भारत १५२६ से आगे -- विद्याधर महाजन, सावित्री महाजन, एस०चन्द एंड कं० दिल्ली।

भारत में अंग्रेजी राज -दासरा जिल्द--सुन्दरलाल,ओंकार प्रेस,इलाहाबाद,१९३८
भारत में दुर्भिक्ष -- पं० गणेशदत्त शर्मा,गौड़ ,गांधी हिन्दी पुस्तक भंडार,कालबादेवी रोड
बम्बई,सं०१९७७ ।
भारत में सशस्त्र क्रांति चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास,प्रथम खंड,मन्मथनाथ गुप्त,नागरी प्रेस
दारागंज,प्रयाग ।
भारतवर्ष का सम्पूर्ण इतिहास,द्वितीय भाग,--ओमित्र पाण्डेय
भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका --रांगेय राघव,भारत पब्लिशिंग हाउस,अलीगढ़
भारतीय राजनीति और शासन -- कृपाराम अग्रवाल,आत्माराम एण्ड संस,कश्मीरी गेट
दिल्ली,१९५५ई० ।
भारतीय राजनीति के अस्सी वर्ष-सर सी०वाई०चिन्तामणि,अनु०केशवदेव शर्मा,हिन्दुस्तानी
एकेडमी,इलाहाबाद,१९४० ।
भारतीय राजनीति विक्टोरिया से नेहरू तक-- रमेशचन्द्र दत्त
भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन--हरिहरप्रसाद राय,भारती भवन
भारतीय संस्कृति-- शिवदत्त ज्ञानी
भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन--डा० कीर्तिलता--हिन्दुस्तानी एकेडमी,इलाहाबाद१९६७
भारतेन्दुकालीन व्यंग्य परम्परा-- व्रजेन्द्रनाथ पाण्डेय,कल्याण दास एण्ड ब्रदर्स,ज्ञानवापी
बनारस,सं०२०१३ ।
भारतेन्दु की विचारधारा -- डा०लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय,शक्ति कार्यालय,दारागंज,इला०१९३८
भारतेन्दु के निबन्ध -- केसरी नारायण शुक्ल,सरस्वती मंदिर,बनारस,सं०२००८
भारतेन्दु ग्रन्थावली,द्वितीय खण्ड,ना०प्र०सभा,वाराणसी
महात्मागांधी और विश्वशान्ति -- रामपूर्ति सिंह
महाभारत-कुंभ कोणम की छपी प्रति
महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग--डा०उदयभानु,लखनऊ वि०वि०,लखनऊ,सं०२००८
मालविकाग्नि मित्र
मिट्टी की ओर-- रामधारी सिंह दिनकर,उदयाचल,पटना ,१९५३
मुद्राराक्षस--विशाख--डा० सत्यव्रत सिंह,चौखम्भा;संस्कृत सीरीज,वाराणसी

मुद्राराक्षसम् -- महाप्रभु लाल गोस्वामी, चौखम्बा, संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी।
मेरे निबन्ध जीवन और जगत-- गुलाबराय, गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा, सन् १९५५
रघुवंश -- कालिदास
राइज एण्ड ग्रोथ आफ हिन्दी जर्नलिज्म--डा०रामरतन भटनागर, किताबमहल, प्रयाग
राजतरंगिणी-- कल्हण, टीकाकार, पाण्डेय रामतेज शास्त्री, पण्डित पुस्तकालय, काशी
राजनीतिक विचारों का इतिहास, भाग१-- ज्योतिप्रसाद सूद ।
राजनीति दर्शन का इतिहास -- जार्ज एच० सेबाइन--अनु०विश्वप्रकाश गुप्त, एस०चन्द एंड
कम्पनी, दिल्ली १९६६।
राजनीति विज्ञान -- आशाराम तथा सम्मालाल श्रीवास्तव
राजनीति विज्ञान एवं संगठन के मूल सिद्धान्त--गुरुमुख निहालसिंह, किताबमहल, सन० १९५५
राजनीति शास्त्र-- आशीर्वादम्, अनु०नरोत्तमभार्गव, अपरइण्डिया पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ १९६०
राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त -- के०के० कुलश्रेष्ठ
राजनीति शास्त्र के आधार--शम्भादत्त पंत, मदनगोपाल गुप्त, हरीमोहन जैन, सेंट्रल बुक डिपो,
इलाहाबाद, सन् १९५७ ।
राजशास्त्र के मूल सिद्धान्त-- डा० बृजमोहन शर्मा
राज्य विज्ञान और शासन-- जेम्स विलफर्ड गार्नर, अनु०-रामनारायण यादवेन्दु
रामचरितमानस--तुलसीदास--गीताप्रेस, गोरखपुर
रेखाचित्र -- प्रकाशचन्द्र गुप्त, विद्यार्थी ग्रन्थागार, लीडर रोड, प्रयाग, सन् १९४१
लाजपतराय -- रामनाथ सुमन, साधना सदन, हुकरगंज, इलाहाबाद
लौह पुरुष सर्वार वल्लभभाई पटेल--दीनानाथ व्यास, काव्यालंकार ।
विनयपत्रिका-- तुलसीदास, इण्डियनप्रेस, प्रयाग
विरामचिन्ह-- रामविलास शर्मा, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, १९५७
विविध प्रसंग, भाग२, ३, संकलन और रूपान्तरकर्ता--अमृतराय
व्यक्ति और राज --श्री सम्पूर्णानन्द, हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, ज्ञानवापी, वाराणसी, १९४८
शिल्प और दर्शन -- सुमित्रानन्दन पंत
शिवपूजनसहाय रचनावली, भाग१, --शिवपूजनसहाय; बिहार रा०भा०परिषद्, पटना, १९५७

शिवशम्भु के चिट्ठे -- बालमुकुन्द गुप्त,भारतमित्र प्रेस,कलकत्ता
शिवा बावनी -- भूषण,साहित्य भवन,प्रयाग
शिशुपालवध-- माघ,हरगोविन्दशास्त्री,चौखम्बा विद्याभवन,वाराणसी
शिक्षा में स्वराज्य-- गौरीशंकर मिश्र
शैली और कौशल--आचार्य पं०सीताराम चतुर्वेदी-हिन्दीसाहित्य सा०कु०,बनारस,१९५६
सन्त कबीर-- डा० रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन लि०प्रयाग,सं०१९४४
समालोचना और नैतिक मान-- अज्ञेय(निबन्ध)
संस्कृत साहित्य का इतिहास--आचार्य बलदेव उपाध्याय,शारदा मन्दिर,वाराणसी
संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास--वाचस्पति गैरोला,चौखम्बा विद्याभवन,वाराणसी
समाजवाद--सम्पूर्णानन्द,काशी विद्यापीठ,सम्वत् २००२
साम्यवाद ही क्यों-- राहुल सांकृत्यायन,किताब महल,इला०
साहित्य और इतिहास-- सुलभा पाण्डेय
साहित्य और जीवन-- बनारसीदास चतुर्वेदी,सस्ता साहित्य मण्डल,इलाहाबाद
साहित्यिक निबन्ध प्रबोध-- शिवदत्त शर्मा,सरोजनी शर्मा,साहित्य प्रकाशन,दिल्ली, १९६१
साहित्य का उद्देश्य-- प्रेमचन्द,हंस प्रकाशन,इलाहाबाद १९५४ ।
साहित्य चिन्ता-- डा० देवराज,गौतम बुक डिपो,दिल्ली
साहित्य सुमन-- सं० श्री नन्ददुलारे लाल
सूरसागर -- सं० नन्ददुलारे बाजपेयी,नागरी प्रचारिणी सभा,वाराणसी,सं०२०११
सूरसारावली-- सूरदास
स्फुट विचार--सम्पूर्णानन्द,हिन्दी समिति,सूचना विभाग,उ०प्र०,लखनऊ,१९५९
स्वतन्त्रता की ओर -- हरिभाऊ उपाध्याय,सस्ता साहित्य म०ल०,दिल्ली
स्वप्नवासवदत्ता-- भास,भगवतशरण उपाध्याय,राजपाल एण्ड संस,दिल्ली
हिन्द स्वराज्य-- महात्मागांधी,अनु०महावीरप्रसाद पोद्दार
हिन्दी गद्य के निर्माता-- पं०बालकृष्ण भट्ट--जीवन और साहित्य--डा०राजेन्द्र शर्मा,
विनोद पुस्तक मन्दिर,हास्पिटलरोड,आगरा,१९५९-६० ।
हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास--राधाकृष्ण दास

हिन्दी साहित्य: बीसवीं सदी -- नन्ददुलारे वाजपेयी, इंडियन बुक डिपो, लखनऊ, १९४९

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास -- डा० रामकुमार वर्मा, रामनारायण लाल, प्रयाग

हिन्दी साहित्य का इतिहास -- डा० जगदीश प्रसाद [illegible] वीरेन्द्रप्रताप सिन्हा, पुस्तक मन्दिर, इलाहाबाद, १९६५ ।

हिन्दी साहित्य का इतिहास -- रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २००९

हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास -- गुलाबराय, साहित्य रत्न भंडार, आगरा

हिन्दी साहित्य कोश (पारिभाषिक शब्दावली) भाग१- सं० धीरेन्द्र वर्मा, व्रजेश्वर वर्मा, धर्मवीर भारती, रामस्वरूप चतुर्वेदी, डा० रघुवंश, वाराणसी ज्ञानमंडल लि० सं० २०२० ।

✓ हिन्दी साहित्य परिवर्तन के सौ वर्ष -- ओंकार नाथ श्रीवास्तव

हिन्दी साहित्य में हास्य रस -- डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी, दिल्ली, हि०सा०सं० १९५७

हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का ऐतिहासिक विश्लेषण -- केशवप्रसाद शर्मा

हिन्दू राजतंत्र, पहला खण्ड, -- अनु० रामचन्द्र वर्मा

क्षणदा -- महादेवी वर्मा, प्रयाग, भारती सं० २०१३

[illegible] दशक -- [illegible]

पत्र-पत्रिकाएं

इन्दु -- अम्बिकाप्रसाद सं०

चांद -- सं० रामरख सिंह सहगल, महादेवी वर्मा, चांद कार्यालय, इलाहाबाद

जागरण -- प्रेमचन्द

जीवन साहित्य

त्यागभूमि -- हरिभाऊ उपाध्याय, श्री क्षेमानन्द 'राहत'

प्रताप (साप्ताहिक) सं० गणेशशंकर विद्यार्थी

प्रभा -- सं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, प्रताप कार्यालय, कानपुर

भारतमित्र -- सं० बालमुकुन्द गुप्त

भारतेन्दु -- राधाचरण गोस्वामी, राधारमणजी का घेरा, वृन्दावन।

भारतोद्धारक -- मुन्नालाल शर्मा, केसर ब्रह्म गंज, अजमेर

मर्यादा -- अभ्युदय प्रेस, प्रयाग

विप्लव -- यशपाल

विशाल भारत -- सं० बनारसीदास चतुर्वेदी, श्रीराम शर्मा।

विश्वमित्र -- सं० हेमचन्द्र जोशी, इलाचन्द्र जोशी

विश्ववाणी -- सं० विशम्भरनाथ

वीणा -- सं० अम्बिकाप्रसाद त्रिपाठी, कालिकाप्रसाद दीक्षित

सरस्वती --- सं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

साहित्य और जीवन

साहित्य संदेश

सुधा -- श्री दुलारेलाल भार्गव, रूपनारायण पाण्डेय

हंस -- प्रेमचन्द

हिन्दी प्रदीप --- बालकृष्ण भट्ट

हिमालय -- सं० जगन्नाथप्रसाद मिश्र

मॉडर्न इण्डिया पत्रिका -- रविवासरीय परिशिष्ट, फरवरी, १९७१९०